शुद्धि-पत्र

पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६	अनन्नान्त	अनन्तानन्त
४	त्रिक्षला	त्रिसला
१२-१३	अवधिसान	अवधिज्ञान
१६	मूत	मूर्त
१३	संघताश्रु तज्ञान	संघातश्रु तज्ञान
६	अर्थ चिन्तित	अर्ध चिन्तित
१	नेमिनाथ	नमिनाथ
६	अनुवन्ध	अनुवन्ध
११	यपाँ	यहाँ
३५	म्लेच्छ खण्डन	मलेच्छ खण्ड
१०	ईरान	ईशान
३०	वह्ी	वही
३१	संयम	संवर
२३	पर	यह
१३	भाय होते सन्त	भाव होते सन्ते
२३	भागों	भावों
२२	निरोध	विरोध
१३	युगयत्	युगपत्
१८	अवस्वान	अवस्थान
७	समुद्रवात	समुद्घात
१६	हुआ ह एसे कथना स	हुआ है ऐसे कथनों से
१५	भ्नान	ज्ञान
५	मनुष्यानुपूर्वा	मनुष्यगत्यानुपूर्वा
२२	अनुभाव	अनुभाग

दो शब्द

जन्म से मैं ढूढक स्थानक वासी श्वेताम्बर मत का अनुयायी था। सन् १९३५ में मैंने प्रथम बार ही ग्रन्थ पढ़ा तब मेरी आत्मा में वैराग्य की भावना जाग्रत हुई। मेरी आत्मा में ऐसी भावना उत्पन्न हुई कि शरीर के लिए आहार लिया जाता है तो रोजाना आहार न लेकर यदि एक दिन छोड़कर एक दिन आहार लिया जाये तो भी शरीर की रक्षा हो सकती है। इसी भावना से मैंने एक दिन आहार लेना और एक दिन चार प्रकार के आहार का त्याग नियमित रूप से किया। यह अभी तक चल जाता है। इतना ही नहीं परन्तु दो-दो वर्ष के लिए मैंने सब प्रकार की वनस्पति का त्याग किया। पक्के आम, पक्के केले को इस सम्प्रदाय में हरीतकाय माना नहीं जाता था जिससे वही मैं आहार लेता था। परन्तु मिथ्यात्व क्या है—धर्म किसका नाम है उसका मुझको ज्ञान भी नहीं था। मैं तो उपवास करना, हरितकाय का त्याग करना, और दिन में दो दफे सामायिक प्रतिक्रमण करना यही धर्म समझता था, परन्तु परमार्थ- धर्म का ज्ञान भी नहीं था—ऐसी मेरी स्थिति तीन वर्ष तक चली।

एक दिन मेरे भाई शान्तिलाल को व्योपार के लिए अम्बाला (पंजाब) जाना पड़ा। हमारे घर के सभी प्राणियों में धर्म की रुचि तो थी जिसके कारण शान्तिलाल दिगम्बर जैन मन्दिर में शास्त्र सुनने को अम्बाला में जाता था वे दिन भाद्र मास के थे। शान्तिलाल ने एक पण्डित जी से पूछा कि मुझको कलकत्ते जाना है कहाँ ठहरने से पर्यूषण पर्व व्यतीत करूँ कि जिससे मुझको लाभ हो। पण्डित जी ने कहा आप इसरी ठहर जायँ वहाँ हमारी समाज के एक विशेष ज्ञानी ब्र० गणेशप्रसाद जी वर्णी रहते हैं, वहाँ पर्यूषण पर्व सानन्द व्यतीत होगा। यह सुनकर शान्तिलाल जी इशरी आश्रम में ठहर गया। वहाँ ज्ञान गोष्ठी विशेष रूप होने से उनको आनन्द आया। वहाँ से लौटकर जब वह कलकत्ता आया तब मुझसे कहा कि भाई साहब! इशरी आश्रम में एक महान ज्ञानी ब्रह्मचारी जी हैं उनसे आप भेंट करो, आपको विशेष लाभ होगा। मेरी भावना इशरी आश्रम जाने की बहुत हुई और मैं नौरात्रि में इशरी पहुँच गया। श्री वर्णी जी का प्रवचन सुना आनन्द आया परन्तु तत्व की बातें समझने में आती नहीं थीं। वर्णीजी ने कहा भैया! यदि ज्ञान प्राप्त करना हो तो शास्त्र स्वाध्याय कीजिये। मैंने पूछा महाराज! कौन सा ग्रन्थ का स्वाध्याय करूं? वर्णीजी ने कहा समयसार, प्रवचन सार, पंचास्तिकाय आदि आध्यात्मिक ग्रन्थ का स्वाध्याय करो आपको विशेष लाभ होगा। उन्हीं ग्रन्थों का मैंने स्वाध्याय शुरू किया तब से मेरी श्वेताम्बर मान्यता का ह्रास हुआ और दिगम्बर मान्यता का मैं अनुयायी बना। इसको आज बीस वर्ष हो गये। वर्णी जी का मेरी आत्मा पर महान उपकार है उसे मैं कभी भूल नहीं सकता हूं। श्री वर्णी जी के सन्त समागम के लिए मैं कलकत्ता से इशरी एक मास में दो तीन दफै नियमित जाता रहा और वर्णी जी के साथ पत्र व्यवहार भी शुरू किया। अनेक शंकाओं की ओर मेरा ज्ञान का विकास होता रहा। उनके बाद मैंने श्री कानजी स्वामी से मुलाकात की। इतने मे लड़ाई शुरू होगई, कलकत्ता में भी भय उत्पन्न हुआ जिससे मैंने बाल-बच्चों को सोनगढ़ में रक्खा। जिस कारण मुझको सोनगढ़ जाने का भी अवसर मिलता रहा। श्री कान जी स्वामी एवं उनके अनुयायी ऐसा समझने लगे कि यह तो (मैं) श्री वर्णी जी का अनुयायी है। एवं श्री वर्णी जी के संघ के त्यागी गण ऐसा मानने लगे कि यह तो श्री कान जी स्वामी का अनुयायी है। जिससे वही दोनों पक्ष वाले मुझको द्वेष से देखते रहे। उनकी यह मान्यता अभी तक बनी रही है।

वर्णी जी को प्रश्न पूछने में मैंने कभी संकोच नहीं किया। जैसे पुत्र पिता से पूछने में संकोच नहीं करता। ऐसी मेरी भावना श्री वर्णी जी के प्रति थी। मैं उनको अपना महान उपकारी मानता था और अभी भी मानता हूँ।

मैं वर्णी जी को हफ्ते में एक पत्र नियमित रूप से लिखता था और कोई प्रश्न जरूर पूछता था। श्री वर्णी जी सागर में थे और मैं सोनगढ़ था। वर्णी जी के संघ के त्यागी ने वर्णी जी की ऐसी धारणा बना दी कि "मूलशंकर तो कानजी स्वामी का अनुयायी है। आपका नहीं है।" यह बात श्री वर्णी जी ने मान ली हो इतना नहीं परन्तु वह बात प्रगट आगई। मैंने पत्र में प्रश्न पूछा जिसका उत्तर श्री वर्णी जी ने नहीं दिया परन्तु लिखा कि "आपकी हमारे पर श्रद्धा नहीं है तो आप हम से प्रश्न क्यों पूछते है ? हमने उस पत्र का उत्तर लिखा कि महाराज ! आपके ऊपर मेरी श्रद्धा नहीं, वह आप दूसरे लोगों के कहने से लिखते हो या अनुमान से लिखते हो या अनुभव हुआ है कृपया खुलासा करें। वर्णी जी का जवाब आया आप अपनी आत्मा से पूछो हमसे क्यों पूछते हो ?

इस प्रकार के पत्र-व्यवहार के एक मास पहले मेरी आत्मा में ऐसी भावना जाग्रत हुई कि श्री वर्णी जी का मेरे ऊपर महान् उपकार है। उनका कुछ न कुछ बदला देना चाहिए। इस भावना से प्रेरित होकर हमने एक पत्र स्याद्वाद महाविद्यालय बनारस के मन्त्री को लिखा कि मेरी भावना श्री वर्णी जी के नाम से जैन धर्म के पढ़ने वाले विद्यार्थियों को प्रति वर्ष पारितोषक देने का विचार है। आप यह शर्त स्वीकार करें तो मैं एक हजार रुपया प्रदान करूँगा और उनका जो ब्याज आवे वह जैन धर्म के पढ़ने वाले विद्यार्थी को श्री वर्णी जी के नाम से पारितोषक में वितरण किया जाय। श्री मन्त्री ने यह शर्त स्वीकार कर ली और वही पत्र मैंने श्री वर्णी जी के पत्र के जवाब में सागर भेज दिया और लिखा कि आपके प्रति मेरी श्रद्धा है या नहीं इसका स्पष्टीकरण यह पत्र ही कर देगा विशेष में कुछ कहना नहीं चाहता। श्री वर्णी जी का तुरन्त जवाब आया कि "मूलशंकर जी, आपकी मेरे प्रति श्रद्धा है आप प्रश्न पूछते रहें। वर्णी जी अभी कषाय से मुक्त नहीं हुए हैं।" देखिये वर्णी जी की सरलता इस पत्र ने मेरी भक्ति में विशेष प्रोत्साहन दिया-श्री वर्णी जी भोली आत्मा हैं परन्तु कान के कच्चे हैं वही श्रद्धा अभी तक मेरी बनी हुई है।

श्री वर्णी जी का विहार सोनागिर से ग्वालियर हुआ—मैं भी वर्णी जी की आज्ञा मंगवाकर ग्वालियर सन् १९४८ में गया। चातुर्मास मुरार में हुआ। वहां श्री वर्णी जी ने अपनीं लिखी हुई जीवनी "मेरी जीवन गाथा" प्रकाशित करने को श्री फूलचन्द जी सिद्धान्त शास्त्री को दी। वह पुस्तक प्रकाशित कराने में एक प्रति का तीन रुपया खर्च होगा ऐसा अनुमान किया गया। बाद में श्री फूलचन्दजी साहब ने कहा कि महाराज ! तीन रुपये में यह पुस्तक प्रकाशित नहीं होगी परन्तु अन्दाज चार रुपये लग जावेंगे। वर्णी जी ने कहा भैया तुम जानो। मैंने वर्णी जी महाराज से कहा यदि यह पुस्तक प्रकाशित करने के लिए मुझको दी जावे तो मैं बिना मूल्य से एक हजार प्रति प्रकाशित करवा दूंगा ? वर्णी जी ने कहा भैया ! पंडित फूलचन्द जी को मैंने दी है वह जाने। मैं लाचार बन गया। बाद में वही पुस्तक प्रकाशित होगई। उस पुस्तक में ग्वालियर चातुर्मास तक का वर्णन है।

ग्वालियर से श्री वर्णी जी का संग विहार कर सहारनपुर जाने को रवाना हुआ। मैं भी साथ में था। पैदल बिहार होता था। बहुत दफे वर्णीजी संघ के त्यागी की ओर दृष्टि कर कहते थे कि "हमारे साथ आप क्यों घूमते हैं ?" यह शब्द मुझको तीर के समान लगे। मैंने एक दिन कहा महाराज संघ से ही आपकी शोभा है। बिना पंख के मयूर अच्छा नहीं लगेगा। आपसे हमारी शोभा है और हमसे आपकी शोभा है। वर्णीजी कुछ बोले नहीं। थोड़े दिन बाद वही का वही शब्द कहा—"हमारे साथ आप क्यों घूमते हो"

हमने कहा महाराज यहाँ से रेल्वे स्टेशन बहुत दूर है मैं सहारनपुर से चला जाऊँगा। आप वही शब्द हर दफे क्यों सुनाते हैं। क्या रोटी के टुकड़े के लिए हम आपके पीछे घूमते हैं।" वर्णीजी कुछ बोले नहीं और हम सहारनपुर पहुँच गए। मैंने कहा महाराज कल मेरा विचार यहाँ से विहार करने का है। श्री वर्णीजी ने कहा, भैया ! एक हफ्ता और ठहरजा। मैं उनके वचन को ठुकरा न सका परन्तु शिर पर चढ़ा लिया। बाद में मैंने पूछा, महाराज ! मुनिराज के संघ में रहने की भावना है। कौनसे मुनिराज के चरण में जाऊँ। श्री वर्णीजी ने कहा, सूर्य सागर महाराज के पास जावो और वहाँ आपको स्थान न मिले तो आचार्य शान्ति सागर महाराज के चरण में जाना। वहाँ आपको स्थान अर्थात् उनके सानिध्य में रहने की आज्ञा मिल जावेगी।

एक हफ्ता बाद हमने श्री वर्णीजी महाराज का संघ छोड़ने का विचार किया और श्री वर्णीजी महाराज के पास मैं एकान्त में गया और प्रार्थना की मैं आज जारहा हूँ। यदि आज्ञा दो तो एक शंका है सो खुलासा कर लूँ ? वर्णीजी महाराज ने कहा क्या कहना है खुशी से पूछिए। हमने कहा, महाराज आपकी आत्मा में मेरे लिए एक शल्य है ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि आपने "अपनी जीवन गाथा में" सबकी बात लिखी महतर तक की बात लिखो, हमारे लिए दो शब्द क्यों न लिखे ? मेरे विषय में लिखने के लिए आपके पास बहुत सामग्री थी। वर्णीजी ने कहा, अरे भैया ! मैं तो आपको भूल गया आपने मुझको याद क्यों न कराया ? मैंने कहा, महाराज ! महतर आदि ने आपको याद कराया था ? कि स्वयं इच्छा से लिखा। महाराज चुप होगये कुछ बोले नहीं। मैंने कहा महाराज ! आपके पास में भी मेरे लिए स्थान न रहा क्योंकि आपके भीतर ऐसी बात जमी है कि मैं "कानजी स्वामी" का अनुयायी हूँ। और कानजी स्वामी के भीतर यह अभिप्राय है कि "मैं वर्णीजी का अनुयायी हूँ।" मेरे लिए दोनों में से एक भी स्थान न रहा। अब तो मुझको अपने पैर पर हीं खड़ा होना होगा। इतना कहकर अश्रु से वर्णीजी के चरण धोकर मैंने विदा ली।

वर्णीजी के संघ में से विहार कर सीधा इन्दौर में आचार्य श्री सूर्य सागर महाराज के चरणों में आया और प्रार्थना की कि महाराज एक चातुर मास आपकें सानिध्य में रहने का विचार है आप आज्ञा देवें। महाराज ने सहर्ष स्वीकार किया और चार मास की एवज में दश मास रहा। हमने कभी शास्त्र सभा में प्रवचन नहीं दिया था। मैं प्रवचन देने में घवराता था। सूर्य सागर महाराज ने कहा, तुम शास्त्र प्रवचन दो। मैंने प्रार्थना की, महाराज मेरे में ऐसी शक्ति नहीं है। मैं बहुत हीं घवराता हूँ। महाराज ने जोर दिया क्यों घवराते हो, मैं रक्षा करूँगा और मैंने प्रवचन देना प्रारम्भ किया।

श्री सूर्य सागर महाराज का संघ जब हम छोड़ रहे थे तब हम उज्जैन में थे। शास्त्र सभा तीन दफे होती थी। स्त्री समाज विशेष रूप में आती थी। जब हमने संघ छोड़ विदाई ली तब स्त्री समाज ने कहा, महाराज ! हमारे हित की बात कुछ लिख दीजिए उनको पढ़कर हम कल्याण के पथ पर खड़ी रहें। हमने थोड़े से पन्नों में तत्व का स्वरूप लिख दिया। स्त्री समाज ने कहा, महाराज ! आज्ञा दो तो हम उनको छपा लेवें ? हमने कहा ऐसा छपाया नहीं जाता है यदि छपाना हो तो कुछ विस्तार से लिखना होगा और शास्त्रों की साख भी देनी होगी। तब दो तीन सेठानी जो लखपति घराने की थीं उसने कहा, महाराज ! आप छपा लीजिए जो खर्च होगा वह हम देवेंगे ? हमने प्रथम वही पुस्तक छपाई जिसका नाम "पंच लब्धि" रखा। पुस्तक छप गई बाद में एक-एक प्रति हमने सेठानी को भेंट भेजी और कहा कि, कुल इतने रुपए खर्च हुए हैं जो आपकी भावना हो सो भेजना। पत्र का जवाव सेठ साहब की ओर से मिला कि "सेठानी की अब भावना नहीं है।" तब से मेरी आत्मा में ऐसी श्रद्धा हुई कि सेठ लोगों के वचन पर कुछ काम नहीं

करना। ऐसी अवस्था हमारे धनी वर्ग की है। यदि हमारे पास में धन नहीं होता तो हमारी कौनसी अवस्था होती सो पाठक स्वयं विचार करें।

संन् १९५० में मैंने प्रथम चातुर मास इन्दौर छावनी में किया। समाज ने खूब ही प्रेम एवं भक्ति दिखाई।

"श्री पंचलब्धि" समालोचनार्थ जैन मित्र, जैन गजट, जैन सन्देश एवं जैन दर्शन पत्र के सम्पादक महाशय को भेजी। जैन दर्शन पत्र के सम्पादक श्री मक्खन लाल शास्त्री ने उस पर टीका-टिप्पणी की—सवस्त्र सातवां गुणस्थान कैसे हो सकता है। "स्त्री का छठवां गुणस्थान कैसे हो सकता है।" हमने तीन चार पत्रों में लेख लिखकर प्रतिकार के रूप में श्री मक्खन लाल शास्त्री को भेज दिया परन्तु उन्होंने वह लेख प्रकाशित नहीं किया। हमारा तकाजा चालू रहा कि आप हमारे लेख प्रकाशित क्यों नहीं करते हैं। जवाव आया कि आपका लेख गुम हो गया है आप उसकी दूसरो नकल भेजिए। हमने दूसरी नकल रजिस्ट्री से श्री मक्खन लाल शास्त्री को भेजी, परन्तु दुःख के साथ कहना पड़ता है कि उन्होने वह लेख भी प्रकाशित नहीं किया। हमारा तकादा चालू रहा कि आप हमारे लेख प्रकाशित क्यों नहीं कराते हो तव ज़बाव आया कि पत्र अब देहली से प्रकाशित होता है। आपकी दूसरी नकल भी गुम हो गई है आप तीसरी नकल देहली भेज दीजिए। हमने उसी लेख की तीसरी नकल रजिस्ट्री से श्री मक्खन लाल शास्त्री को भेज दी साथ में एक रुपए का नोट भी भेजा और सूचना दी कि जिस तारीख के पत्र में यह लेख प्रकाशित हो उसी पत्र की आठ कापी हमको भिजवाने की कृपा करें। किन्तु दुःख के साथ कहना पड़ता है कि वह लेख अभी तक प्रकाशित न हुआ एवं एक रुपया भी आज तारीख तक वापिस नहीं आया यही दशा हमारे संपादक महाशय की है।

भाद्र मास में हमने एक विज्ञप्ति जैन पत्रों में भेजी कि जिन महाशय को पंचलब्धि की जरूरत हो वह भाद्र मास के उपलक्ष में निःशुल्क मंगवालें जिससे समाज ने वही पुस्तक बड़े ही प्रेम से अपनाई।

सन् १९५१ में हमारा चातुर मास परतापगढ़ में हुआ। वहाँ भी धर्म की प्रभावना बहुत हुई।

एक दिन की बात है कि हमको रात्रि में स्वप्न आया। स्याद्वाद महा विद्यालय के एक विद्यार्थी ने हमको कहा कि, "महाराज आपने जो एक हजार रुपया पारितोपिक रूप में दिया है उसकी व्याज की रकम जैन धर्म के पढ़ने वाले छात्रों को पारितोषिक में नहीं दी जाती है कृपया आप तलाश करें। हमने दूसरे दिन एक पत्र स्याद्वाद विद्यालय के मन्त्री जी साहब को लिखा कि, "आप नियमित जैन धर्म के विद्यार्थी को वर्णीजो महाराज के नाम से पारितोषिक देते हो या नहीं कृपया खुलासा करें। मन्त्री जो साहब ने जबाव नहीं दिया। हमने दूसरा पत्र लिखा उसका भी जबाव नहीं आया। हमने एक पत्र श्री वर्णीजी महाराज को ललितपुर को लिखा कि यह लोग जबाव क्यों नहीं देते हैं कृपया आप उनको लिखें एवं आपके नाम से जो रकम हमने एक हजार की प्रदान की है उनका व्याज की रकम जैन धर्म के पढ़ने वाले प्रथम कक्षा के छात्रों को पारितोषिक में वितरण होता है या नहीं कृपया लिखें। वर्णीजी महाराज का पत्र आया हम नहीं लिख सकते हैं आप जानो। हमने एक रजिस्ट्री पत्र श्री मन्त्री जो को लिखा आप जबाव नहीं देते तो हम यह बात पत्र में प्रकाशित करावेंगे। तब श्री मन्त्री जी का पत्र आया कि, "आपने जो एक हजार दिया है उसका व्याज जैन धर्म के प्रथम श्रेणी के कक्षा के छात्रों को पारितोषक में नहीं बांटा जाता, परन्तु उनका और कार्य में अच्छा उपयोग होता हैं। हमने उनको लिखा कि जिस शर्त से रकम आपको दी गई है उसका आपको ठीक पालन करना चाहिए। मन्त्री साहब का पत्र आया कि आयन्दा से हम ठीक जैन धर्म के प्रथम कक्षा के छात्रों को पारितोषिक में दिया करेंगे। दो वर्ष बाद हमने पूछा कि क्या आप मेरी प्रदान की

हुई रकम में से जैन धर्म के छात्रों को पारितोषिक में ब्याज की रकम वितरण करते हो ? उनका जबाव आया कि अभी तक हमने किया नहीं है यह दशा हमारी उत्तम से उत्तम संस्था की है। दातार दान करते वक्त खूब विचार कर दान देवे जिससे भविष्य में उनका विकल्प उठे नहीं एवं रकम देकर दुश्मन बनने का प्रसंग न आवे।

सन् १६५२ में हमारा चातुर्मास जयपुर नगरी में हुआ। हमने भेद ज्ञान नाम की पुस्तक प्रकाशित की। समालोचनार्थ जैन पत्रों मे भेज दी कोई भी सम्पादक ने टीका टपणी नहीं की। हमने एक पुस्तक भेद ज्ञान की श्रीमान दानवीर सेठ हुक्मचन्द जी साहेब को इन्दौर भेजी। उनका पत्र आया कि पुस्तक हमको एवं सेठानी साहेब को बहुत ही पसन्द आयी। आप दस पुस्तक वहां श्री धेवरचन्द्रजी गोधा जी को देकर दाम ले लेना जी। दाम मे कुछ कमीशन देना। हमने पत्र लिखा कि सेठ साहेब ? यह हमारा व्यापार नहीं है लागत दाम लिया जाता है यदि श्री मंदिर जी के लिये चाहते हो तो लिखना मै बिना मूल्य में दे दूंगा। परन्तु कमीशन की गुंजायश नहीं है। तुरन्त सेठ साहेब का पत्र आया हमको बिना मूल्य से देना और श्री धेवर चन्द जी गोधाजी को लिखा कि मूल्य से मत लेना वह बिना मूल्य से देवे सो हमको भेज देना। यही दशा दानवीर सेठों की है।

हमारे प्रकाशन की समस्त पुस्तक हम भाद्र मास में बिना मूल्य से श्री मन्दिरों में वितरण करते हैं। उसी प्रकार पंचलब्धि और भेद ज्ञान वितरण की थीं और उनकी सूची जैन पत्रों में प्रकाशित करवा दते थे।

सन् १६५२ में हमारा चातुर्मास सीकर राजस्थान में हुआ था। वहां भी धर्म की प्रभावना बहुत ही अच्छी रही। हमको विदाई देने में समस्त दिगम्बर समाज ने सानंद भाग लिया था।

सन् १६५३ में हमने पंचलब्धि का दूसरा सर्वद्धित संस्करण प्रकाशित किया और उनको समालोचनार्थ भेजी परन्तु कोई भी सम्पादक जी ने टीका टीपणी नहीं की। प्रथम सस्करण पंचलब्धि का १०७ पन्ना का था जब दूसरे संस्करण ३०४ पन्ना का हुआ था।

सन् १६५३ में हमारा चातुर्मास कुचामन ग्राम में हुआ। स्त्री एवं पुरुष समाज ने खूब धर्म लाभ लिया। धर्म की प्रभावना भी बहुत हुई। इन चारमास में एकादवक्त श्री मान सेठ गम्भीरमल जी पांड्या शास्त्र सभा में आया होंगे। कुचामन में बीस पन्थ की मान्यता का द्वेष भाव विशेष रूप में है।

श्रीमान मूलचन्द जी पहाड़िया के घर में पुत्र जन्म हुआ। और उसने सूतक में श्री जी का अभिषेक कर डाला। विरोधी पार्टी ने जैन पत्रों में गलत समाचार भेज दिया कि ब्र० मूलशंकर ने अपनी रूबरू में मूलचन्द जी पास में अभिषेक करवाया। यथार्थ में मुझको पता भीं नहीं था कि मूलचन्द जी ने ऐसा कार्य किया है। वही रात्रि में श्री मन्दिर जी में मीटिङ्ग हुई। श्री मूलचन्द जी से पूछा गया कि आपने सूतक में अभिषेक क्यों किया ? उसने उत्तर दिया कि मैं आदिनाथ पुराण का स्वाध्याय करता था। ठीक उस दिन में पर्व नम्बर २५ पढ़ रहा था उसमें लिखा था कि भरत महाराज को एक ही साथ तीन शुभ समाचार मिले। (१) घर पर पुत्र रत्न की प्राप्ति (२) भगवान आदिनाथ को केवल ज्ञान की प्राप्ति (३) आयुद्ध शाला में चक्ररत्न की उत्पत्ति। यह तीनों शुभ समाचार होते सन्ते भरत महाराज ने प्रथम समयसरण में जाकर भगवान आदिनाथ की पूजा की जिससे मैने भी भगवान का अभिषेक किया है, ब्रह्मचारी मूलशंकर जी ने मुझको आदेश नहीं दिया है एवं यह कार्य करने की समति भी नही दी है इतना नहीं परन्तु इस विषय का उनको अभी तक पता भी नही है। रात्रि में समाज ने आदिनाथ पुराण मंगवाया

और वह पढ़ने से वह मौन रहे परन्तु द्वेषशील जीवों ने जैन गजट में समाचार प्रकाशित करवा दिया कि ब्र० मूलशंकर ने यह कार्य करवाया है। समाज के झगड़े में बिना प्रयोजन त्यागी दंडा जाता है। यही धर्म की अधोगति का कारण है।

विरोधी पार्टी ने कुचामन के अगल बगल ग्रामों में प्रोपेगन्डा फैलाया कि ब्र० मूलशंकर को बुलवाना नहीं। परन्तु हमने सब ग्रामों में विहार किया और जीवों को समाधान करवाया कि यह केवल प्रोपेगन्डा ही है।

वहाँ से विहार कर मैं दाता में गया था। वहाँ शास्त्र सभा में ज्ञान दान की बहुत महिमा सुनकर श्री रामचन्द्र भोंवरलाल ने अपनी भावना प्रकट की "हमारी तरफ से एक हजार प्रति", "जैन सिद्धान्त प्रवेशिका छपवालें।" हमने उनको धन्यवाद दिया।

ततपश्चात् जीजोट वाले श्री गुलाबचन्द जी काला जिनकी पेठी अलवर में है उनकी मुलाकात हुई। हमने कहा श्री रामचन्द्र जी दाता वालों ने एक हजार प्रति जैन सिद्धान्त प्रवेशिका की अपनी ओर से प्रकाशित करवाने की मंजूरी दी है आपकी कुछ भावना है। उन्होंने कहा हमारी ओर से ५०० प्रति छपवा लेना। १५०० प्रति आज्ञा मिल जाने से ५०० प्रति हमने अपने पुत्र भानूलाल प्रवीणचन्द के नाम से छपवाली। जब पुस्तक छप गयी तब हमने एक पत्र श्री रामचन्द्रजी को कलकत्ता लिखा कि पुस्तक कहां भेजनी है सूचना देवें और उनकी कीमत का रुपया २८५) लगा है वह भिजवा दें। उन्होंने रुपया तुरन्त भिजवा दिया और सूचना भेजी कि १०० एक सौ पुस्तक कलकत्ता भिजवा दीजिए और एक सौ पुस्तक दाता भिजवा दीजिए। बाकी के आठसों पुस्तक आप स्वयं बेच कर उनकी जो रकम आवे वह अपने प्रकाशन में स्थायी फन्ड रूप में जमा कर लेना। उनकी आज्ञा अनुकूल दो सो पुस्तक भेज दी, और पुस्तकें हमने बेचकर उस रकम को दान में जमा करली।

उसी प्रकार श्री गुलाबचन्द्र जी काला ने भी लिखा कि २५० पुस्तक हमको भेज दीजिए और २५० पुस्तक को बेचकर जो रकम आवे सो अपने प्रकाशन में जमा कर लेना। उनके पास से भी पुस्तक का रुपया आगया। और २५० पुस्तक अलवर भेज दी बाकी की पुस्तकों को बेचकर रकम दान खाते में जमा करली। पुस्तक का दाम पांच आना था जो पुस्तक बाजार में बारह आना में बिकती है।

हमारे पुत्र के नाम की पुस्तक का पैसा हमने ही हमारे परिग्रह में से लगवा दिया जिसका पता भी हमारे पुत्र को नहीं था।

बाद में हमने "देव का स्वरूप तथा भक्ति" तथा "गुरु का स्वरूप" की पुस्तक के दो दो हजार प्रकाशित करवाई जो बात बात में वितरण हो गई जिससे और पांच पांच हजार पुस्तकें प्रकाशित करवानी पड़ी।

यह प्रकाशन हम हमारे परिग्रह में से ही करवाते हैं, और कभी विशेष रकम की जरूरत पड जावे तो हमारे पुत्र के पास से मंगवा लेते थे। हमारे दो पुत्र हैं। (१) भानूलाल देसाई (२) प्रवीणचन्द देसाई। दोनों कलकत्ते में मोटर पार्टस् का व्यापार करते हैं। उनकी फर्म का नाम 'डेसको मोटर्स सिन्डीकेट है।' वही उसके प्रोप्राइटर (मालिक) हैं।

सन् १९५४ में मेरा चातुर्मास गयाजी में हुआ। वहाँ धर्म की प्रभावना बहुत हुई। शास्त्र सभा में पुरुषों की संख्या बहुत होती थी। लोग कहने लगे कि जो महाशय श्री वर्णीजी के प्रवचन में नहीं आते थे वह लोग भी शास्त्र सभा में आते थे। स्त्री समाज भी काफी लाभ उठाती थी।

हमने शास्त्र सभा में कहा कि जो सज्जन अपने बच्चे को धार्मिक ज्ञान प्राप्त कराने को चाहते हैं वह सज्जन अपने बच्चे को एक घन्टा पढ़ने के लिए मेरे पास में शाम को चार बजे भेजे। दश-बारह बच्चे आने लगे उनको प्रथम तत्व एवं द्रव्य का ज्ञान शुरु कराया। भाद्र मास में रात्रि की शास्त्र सभा बाद बच्चे की समाज के समक्ष परीक्षा ली। समाज बहुत खुश होगया और भावना प्रकट की। आपने जो बच्चों को पढ़ाया है वह पुस्तक रूप में प्रकाशित करवाइयें। हमने "तत्व सार" नाम की पुस्तक लिखी और ३००० प्रति प्रकाशित करवाई।

हमने नियमानुसार भाद्र मास के उपलक्ष में अपने प्रकाशन शास्त्रों को बिना मूल्य श्री मंदिरजी में वितरण करने की घोषणा जैन पत्रों में भेजी थी, जैन पत्रकारों ने निःशुल्क प्रकाशन की। पुस्तक अंदाज ६५० रुपए की कीमत की वितरण की जो रकम स्त्री समाज की ओर से शास्त्र दान में मुझको मिल गई अर्थात् वही पुस्तकें स्त्री समाज की ओर से ही वितरण की थीं।

हमने "जिन सिद्धान्त" नाम की एक पुस्तक लिखना शुरू किया और समाज से कहा कि "तत्व सार" तथा "जिन सिद्धान्त" नाम की पुस्तक हमने लिखी है। उनको मैं प्रकाशित करवाना चाहता हूँ। आपकी कुछ भावना हो तो प्रकट करना।

समाज ने पुस्तक प्रकाशन में लगभग एक हजार रुपए की सहायता की थी। "जिन सिद्धान्त" नाम की पुस्तक में लिख रहा था तब एक धनी गृहस्थ (जिनके घर मेरे भोजन का निमंत्रण था) भोजन को बुलाने आये और पूछा महाराज क्या लिखते हो। हमने कहा, "जिन सिद्धान्त" नाम की पुस्तक लिख रहा हूँ। उनने पूछा कितने दाम की एक पुस्तक होगी ? हमने कहा प्राय एक रुपए की एक पुस्तक होगी। उनने अपनी भावना प्रकट की, कि पाचसौ पुस्तक का दाम मैं दूंगा। अर्थात् पांचसौ रुपए मैं ज्ञान दान में देता हूँ। मैंने कहा जैसी आपकी भावना। दान के लिए पैसा मांगना भी मैं पाप समझता हूँ। मैं जीवों को अपना प्रकाशन शास्त्र खरीदने की प्रेरणा भी नहीं देता हूँ। शास्त्र सभा में शास्त्र की चौकी पर शास्त्र रखता हूँ जिसको जरूरत हो वह ले लेवें। मैंने उसका हिसाब रखा नहीं है एवं तकादा कभी किया नहीं है। जितना रुपया आया वह विकरी समझता हूँ और जो रुपया नहीं आया उसको दान में लगा ऐसा समझता हूँ।

जब "जिन सिद्धान्त" नाम की पुस्तक छप गई तब हमने गया वाले सेठजी को पत्र लिखा, पुस्तक छप गई है कहाँ रवाना करना है और पांचसौ रुपए भिजवाने की कृपा करें। सेठ साहब का पत्र आया हमने इस साल यहाँ रुपया दान में लगाया है जिससे अभी रुपया नहीं है। हमने उनको जवाब दिया जब दान में रुपए लिखाते हो उससे पहले विचार क्यो नहीं करते हो, यदि आपके भरोसे हम पुस्तक छपवा लेंवे तो हमारी कौनसी दशा होती शान्ति से विचार करना चाहिए। भविष्य में इस प्रकार की गलती नहीं करना। ऐसी अवस्था हमारे धनी वर्ग की है।

गया में धर्म की प्रभावना बहुत हुई जिसकी प्रशंसा गया के सज्जनों ने इसरी में की जो बात द्वेषी त्यागी गण से सुनी नहीं गई। उसके प्रतिकार में हमको समाज में गिरा देने के लिए "तत्वसार" नाम की हमारी लिखी पुस्तक पर समालोचना लिख कर 'जैन मित्र' आदि पत्रों में भेजी और लिखा कि 'ब्र० मूल शंकर जी अरहन्त भक्ति को मिथ्यात्व दिखाता है।" यथार्थ में यह बात नहीं थी। हमने "तत्वसार" की पुस्तक में २५ पन्ने पर मिथ्यात्व का वर्णन कर लिखा है कि—"अरहन्त भक्ति में धर्म मानना मिथ्यात्व है, क्योंकि, अरहन्त भक्ति का राग कर्म चेतना है और धर्म ज्ञान चेतना का नाम है। कर्म चेतना में ज्ञान चेतना -

मानना मिथ्यात्व है।" इतनी बात पर पत्रकारों ने समालोचना करना भी शुरू कर दिया। पूर्व में छपी हुई पुस्तक "पंच लब्धि" "भेद ज्ञान" आदि की भी समालोचना की। दुःख की बात है कि पत्रों के सम्पादक महाशयों ने हमारा प्रतिकार छापा ही नहीं। हम लाचार बन गए, समाज में हमको हीन बतलाने के लिए सम्पादकों ने सर्व चेष्टा की। उनके प्रतिकार में हमने "दृष्टि दोष" नाम की पुस्तक प्रकाशित की। उस पुस्तक पर भी जैन गजट के सम्पादक श्री अजित कुमार शास्त्री ने बहुत समलोचना की।

गया जी में चातुर मास पूर्ण हुआ। समाज ने अभिनन्दन पत्र भी दिया। वहाँ से विहार कर हजारी बाग, डालटनगंज, कोडरमा जाना हुआ। कोडरमा में धर्म प्रभावना बहुत अच्छी हुई। सवेरे-शाम शास्त्र सभा में जन संख्या अधिक बढ़ने लगी। जीवों में भी रुचि विशेष प्रकार होने लगी। एक लखपती सेठ ने दान में ५००) रुपया देने की अपनी भावना प्रकट की। साथ ही साथ पाठशाला के बच्चों को अपनी ओर "तत्वसार" नाम की पुस्तक वितरण की। बीस लड़के और पन्द्रह लड़कियों को पुस्तक वितरण की। परन्तु दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि वह वितरण की हुई पुस्तक का दाम उन सेठ साहब ने अभी तक नहीं दिया एवं ५००) रु० भी ज्ञान दान में नहीं दिए।

वहाँ से विहार कर श्री वर्णीजी महाराज की जयन्ती में श्री शिखर जाने का अवसर प्राप्त हुआ। श्री वर्णीजी महाराज के डेरे में ठहर गया। एक दिन वर्णीजी अपने बदन में तेल मालिश करवाते थे हम भी वहाँ पहुँच गए। श्री मनोहरलाल वर्णी तथा श्री हुक्मचन्दजी पंडित भी वहाँ मौजूद थे। वर्णीजी ने कहा, हुक्मचन्द जी तथा मनोहरलाल जी, भगत सुमेरचन्द्र जो तथा ब्र० मूलशंकर जी के सिद्धान्त में कुछ मत भेद है आप दोनों को समझा देवे। क्या श्री वर्णीजी हमको नहीं समझा सकते थे? परन्तु वह कथन हाथी के दाँत के माफिक थे। जैसे हाथी के दाँत दिखाने के और होते हैं और खाने के और। यही भावना श्री वर्णीजी महाराज की रही। बाद में इस विषय में कभी भी बातचीत नहीं हुई।

वर्णी जयन्ती पर जैन मित्र के सम्पादक महाशय श्री मूलचन्द्र कापड़ियाजी अपने सुपुत्र के साथ आये थे। मेरी मुलाकात होते मैंने श्री कापड़ियाजी साहेब को पूछा कि—जब भगत सुमेरचन्द वर्णी ने हमारा विरोधकिया तब आपने प्रतिकार रूप हमारा लेख प्रकाशित क्यों नहीं किया? उसने जबाव दिया कि आपका पक्ष लेना हमको इष्ट नही था जिससे आपका प्रतिकार छापा नहीं। हमने पूछा क्या यह आपका न्याय है? जबाव दिया न्याय नहीं है। परन्तु ऐसा ही चलता है। हम भी तो रागी जीव हैं। यह दशा सम्पादक श्री अजित कुमार शास्त्री जी की हैं उसने भी प्रतिकार छापा नहीं। जैन दर्शन के सम्पादक मखनलाल जी शास्त्री भी उसी चाल के हैं। जिसके विषय में मैं आगे लिख चुका हूँ।

शिखर जी से जयपुर आना हुआ। जयपुर में तत्वार्थ सूत्र की टीका, दृष्टि दोष, निमित्त, "जिन सिद्धान्त" तथा "पंच भाव" नाम की प्रत्येक तीन-तीन हजार पुस्तक प्रकाशित करवाई और शास्त्र स्वरूप की पांच हजार पुस्तक प्रकाशित करवाई।

जयपुर से मेरा कुचामन में जाना हुआ। वहाँ लगभग बीस दिन ठहरना हुआ। कुचामन में धर्म की भावना बहुत है। वहाँ १०-५ घर बीश पंथी आमनाय के है जो हमेशा विरोध करते ही रहते हैं। एक दिन श्रीमान् सेठ गंभीरमल जी पांड्या तीन-चार व्यक्तियों को लेकर आया। और पूछा कि शास्त्र के स्वरूप में आपने कैसे लिखा कि सूतक लगता नहीं है। हमने कहा उसमें ही आगम की शाख दी है। अर्थात् एक ही ग्रन्थ में दो प्रकार की परस्पर विरोधी गाथा है। कौनसी गाथा सत्य मानोगे? तब उनने कहा बाल मरण में सूतक नहीं लगता परन्तु बड़े मरण में सूतक लगता है ऐसी गाथा का अर्थ होता है। हमने कहा जिनागम में बाल मरण मिथ्यादृष्टि के मरण को कहा है छोटी उमर का नाम बाल मरण नहीं है।

वह अपने घर पर गये और एक चिट्ठी भेजी कि देव गुरु शास्त्र के स्वरूप की दो-दो पुस्तकें भेजना हमको परिडतजी को भेजनी हैं। हमने दो-दो पुस्तक दीं। बाद में चिट्ठी आई कि देव गुरु शास्त्र की जिल्दवन्धी पुस्तक दो-दो भेजना। हमने वही दो-दो प्रति भेजीं। बाद में चिट्ठी आई कि आपने जो-जो पुस्तक प्रकाशित किया है सब की दो-दो प्रति भेजना। उस चिट्ठी के उत्तर में हमने जवाब दिया कि पुस्तक के दाम लगते हैं यदि सव पुस्तक की जरूरत हो तो दाम से आप मोल ले सकते हो। यही जवाव उनको अच्छे न लगे। वह पुस्तक पंडित खूबचन्द्र जी को इन्दौर भेजी। थोड़े दिन बाद सेठ साहब ने चिट्ठी लिखी कि आपको हमारे परिडतजी के साथ शास्त्रार्थ करना होगा। उसी पत्र का जवाव श्री लादूराम पहाड़ीया ने दिया कि ब्र० मूलशंकरजी कल सीकर जारहे हैं। आप अपने पंडितजी को बुलवा लीजिये और मुझको खबर देना मैं ब्र० मूलशंकर जी को भी शास्त्रार्थ करने को बुलवा लूंगा। दूसरे दिन सीकर से एक आदमी बुलाने को आने से मैं सीकर चला गया। और सीकर से एक पोस्ट कार्ड श्री खूबचन्द्रजी शास्त्री को इन्दौर लिखा कि क्या आप धर्म बुद्धि से मेरे साथ चर्चा करने को चाहते हो? कृपया जवाब देवें। परन्तु उनका कोई जवाव नहीं आया।

इधर सेठ गंभीरमलजी ने जैन मित्र, जैन दर्शन, जैन गजट आदि पत्रों में समाचार छपवाया कि—

(१) मूलशंकरजी द्वारा लिखित पंचलब्धि, भेदज्ञान, दृष्टिदोष आदि कई पुस्तकें प्रकाशित की हैं। उनमें पूजा, प्रक्षाल, दान, व्रत, नियम, तीर्थ वंदना, सूतक, पातक आदि धर्म कार्यो को धर्म विरुद्ध ठहराया है।

(२) दिगम्वरत्व की ओट में स्थानक वासियों का प्रचार करते हैं।

(३) हमने शास्त्रार्थ करने को कहा था परन्तु वह डर कर यहाँ से चले गये।

(४) यहाँ के एक व्यक्ति से एक हजार रुपये लेकर अपनी पुस्तक छपाई और कीमत लेकर बेचते हैं।

यह चार तो आक्षेप किया है और अपना अभिमत प्रगट किया है कि "शास्त्र वेचना वह मां की भाड़ खाना है"। मां की भाड़ खाना उसी का यह अर्थ है कि मां व्यभिचार करे और जिस पुरुष के साथ में व्यभिचार करती है उस पुरुष के पास से दलाली लेना उसी को मां की भाड़ खाना मारवाड़ी भाषा में कहते हैं।

सेठ गंभीरमल जी प्रतिमाधारी श्रावक हैं। उनके मुख से "मां की भाड़ खाता है" ऐसा शब्द निकलना उचित ही नहीं है परन्तु उसने अपनी सज्जनता का भी लोप किया है। ऐसा शब्द अखबार में छापते भी सम्पादक महाशय को शर्म न आई यह विशेष विचित्रता है। किये हुए आक्षेप का खुलासा—

(१) मेरे प्रकाशन में कहाँ गलती है यह धर्म बुद्धि से दिखाने के लिए किसी भी सज्जन, परिडत एवं त्यागी ने अभी तक मुझको पत्र लिखा नहीं है।

(२) जैन धर्म के अनुयायी के साथ शास्त्रार्थ होता ही नहीं है परन्तु धर्म बुद्धि से जिज्ञासा भाव से धर्म की चर्चा होती है। हमने धर्म बुद्धि से चर्चा करने की सम्मति दी है तो भी लिखना कि "डर से भाग गया है" कहाँ तक उचित है।

हमने तीन पत्र श्रीमान पंडित खूबचन्द्र जी शास्त्री को लिखे हैं कि "क्या आप धर्म बुद्धि से मेरे साथ में चर्चा करना चाहते हो?" परन्तु पंडित जी ने जवाव तक नहीं दिया है। पंडित जी मौजूद हैं समाज उनको पूछ सकती हैं।

(३) दिगम्बरत्व की आड़ में स्थानकवासियों का प्रचार करता है तो अभी तक हमनें कितने दिगम्बर जैन को स्थानकवासी बनवा दिया ? कुचामन में हमने चातुर्मास किया, कितने जीव स्थानकवासी बन गये ? शान्ति से विचार करना चाहिए। गलत उहापो करने से कुछ लाभ नहीं है।

(४) "यहाँ के एक व्यक्ति से एक हजार रुपये लेकर अपनी पुस्तक छपाई और कीमत लेकर वेचते है" उनका इतना ही जवाब है कि यह गलत लिखा है। कोई व्यक्ति ने मुझको हजार रुपये दिये ही नहीं हैं। व्यक्ति का नाम लिखना उचित था। परन्तु ऐसा किया नहीं और अपनी गलत कल्पना प्रकाशित करवाई।

दिगम्बर सम्प्रदाय में अनेक जैन ग्रन्थ माला चलती है। धवल आदि ग्रन्थों श्रावक ने भी प्रकाशित करवाया है। कौनसी संस्था या गृहस्थ शास्त्र बिना मूल्य से वेचते हैं ? क्या यह सब अन्याय करते हैं ? यदि नहीं तो मैंने कौनसा अन्याय किया कि मेरे लिए "मां की भाड़ खाते है" ऐसे कटु निन्दनी वचन का प्रयोग किया जाता है। उसका इतना ही जवाब है कि मैं एक साधारण मनुष्य हूँ और सेठ गंभीरमलजी धनी मनुष्य हैं। उनके धन के लोभ में पत्रों के सम्पादक महाशय भी वह गये। अपने विचार विवेक सब गमा दिए।

मैं धर्म बुद्धि से धार्मिक चर्चा करने को निरन्तर तैयार हूं जिस महानुभाव को चर्चा करने की भावना हो सो रूबरू चर्चा कर सकते हैं या पत्र द्वारा शंका समाधान कर सकते हैं।

दिगम्बर सम्प्रदाय की अधोगति का मूल कारण यह है कि कोई जीव कोई की उन्नति देख ही नहीं सकते हैं। समाज की सेवा करते हैं तो भी उस जीव की उन्नति देखकर अनेक जीव जल जाते हैं, जिससे उस आत्मा को हीन बताने के लिए अनेक प्रकार के पत्रों द्वारा प्रोपेगण्डा किया हैं। जैसे ब्र० शीतल प्रसाद जी ने समाज की बहुत सेवा की। जनता ने क्या किया ? केवल उनका तिरस्कार। पं० गोपालदासजी बरैया की भी यह दशा समाज ने की। और दूर की बात छोड़िए। वर्तमान में श्री वर्णी जी एक महान् व्यक्ति हैं ज्ञान एवं त्याग में। तो भी एक साधारण बात में उनका भी ऐसा तिरस्कार किया कि "उनकी पीछी खेंच लो, कमण्डल ले लो" यह तो दिगम्बर समाज है। हमारी निन्दा होवे, तिरस्कार होवे तो कौनसी विशेषता हैं। परन्तु यदि मैं सच्चा हूँ, सच्चे मार्ग पर चलता हूँ, सच्चा उपदेश देता हूँ तो द्वेष करने वाले जीव मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते हैं। मैं उनके सामने सिर ऊंचा लेकर ही चलूंगा। यदि मैं गलत उपदेश देता हूं, गलत ही प्रचार करता हूँ तो मेरे ही मलिन परिणाम के द्वारा मैं ही स्वयं नरक गति का पात्र बन जाऊंगा ?

श्री गम्भीरमल सेठ के मुनीम श्री रतनलाल जी आगरा में रहते है। मेरा चातुर्मास आगरा में न हो इस विषय में सेठ गम्भीर मल ने सब प्रकार की चेष्टा की परन्तु दिगम्बर जैन मन्दिर धूलियागंज पंचायत का मंत्री श्री नेमीचन्द जी वरवासिया टस से मस नहीं हुआ। उसने साफ जवाब दिया कि: ब्र० मूलशंकर का यहां ही चातुर मास होगा। श्रीमान रतनलालजी मुन्शी ने शुरूआत में शास्त्र सभा एवं और टाईम में मेरा काफी विरोध किया परन्तु उनका विरोध न चल सका क्योंकि मैं सत्य था। डेढ़ महीना वाद श्री रतनलाल जी अन्दाज डेढ़ वजे दिन में मेरे पास में आये और उनने कहा महाराज ? मेरा अपराध माफ करना। मैंने आपका विरोध बहुत किया। आप सच्चे हो। आपके उपदेश में जैनत्व झलकता हैं। आप श्वेताम्बर मत का प्रचार करते हो ऐसा आपके ऊपर जो आक्षेप श्री गम्भीरमलजी सेठ ने किया हैं वह गलत है। हमने कहा आपकी आत्मा ने जो गलती स्वीकार की वही ही क्षमा है। मैं क्षमा देने-वाला कौन ? आपकी ही आत्मा आपकी ही रक्षा करेगी और वही आपकी दुश्मन बन सकती है। आगरा में हमने

गुण स्थान तथा भक्तामर नाम की दोनों पुस्तकें तीन-तीन हजार प्रकाशन करवाईं। आगरा में धर्म प्रभावना हुई। श्री धूलियागंज जैन पंचायत तथा श्री नमक मन्डी जैन पंचायत ने अभिनन्दन पत्र भी दिया।

समाज के पास से रुपया ले मैं खा जाता हूँ। शास्त्र दाम से बेचते हैं ऐसा आक्षेप सम्पादक महाशय ने अखबार में छापा तब उस आक्षेप से बचने के लिए हमने आगरा में, जहाँ मेरा चातुर मास था वहां तुरन्त कोर्ट में मैंने अपना वसीयत नामा रजिस्टर करवाया और उसकी नकल अनेक ग्रामों में भेज दी साथ ही साथ जैन मित्र, जैन गजट, जैन दर्शन तथा जैन सन्देश के सम्पादक महाशय को अपने पत्र में प्रकट करने के लिए भेज दिया। जिसकी नकल निम्न प्रकार है।

मैं कि ब्रह्मचारी मूलशंकर पुत्र कालीदास हाल निवास स्थान आगरा का हूँ। मै अपने स्वस्थ चित्त और स्थिर बुद्धि तथा इन्द्रियों की अवस्था में निम्नलिखित निष्ठा करता हूँ:—

१—इस समय मेरे पास १००००) रु० की चल सम्पत्ति है जिसमें से ८०००) रु० मेरा निजी द्रव्य है और २०००) रु० ज्ञान विकास के लिये दान से प्राप्त हुआ। मैने ७०००) रु० की कीमत की दिगम्बर जैन धर्म सम्बन्धी पुस्तकों की स्थापना की है व प्रकाशित की है, और २०००) रु० मेरे नाम से पोस्ट आफिस सेविंग बैङ्क जयपुर अकाउण्ट नं० ८६०५७ में जमा हैं और १०००) रु० मेरे पास खर्च के लिए मौजूद हैं।

२—मैने अपने जीवन काल में कुछ दि० जैन धर्म सम्बन्धी पुस्तकों की रचना की है और प्रकाशित की है, और भविष्य में भी मेरा विचार इसी प्रकार की रचना करके प्रकाशित करने का है। मेरी आयु इस समय लगभग ५८ वर्ष की है, न जाने किस समय देहवसान हो जाय अब दूरदर्शिता के विचार से मैं उचित समझता हूँ कि मै एक निष्ठा पत्र लिखूँ जिससे कि मेरी मृत्यु के पश्चात् मेरे अध्यक्ष जिनको कि मैं अपने संकल्प की पूर्ति का कार्य सौंपता हूँ मेरी इच्छा के अनुसार कार्य करे जो कुछ इस समय मेरे पास सम्पत्ति है या भविष्य में जो मुझे किसी रूप से मिले, उसे धार्मिक रूप में व्यय करने का मुझे पूर्ण अधिकार होगा।

३—मैने अपने जीवन काल में ब्रह्मचारी होने के पश्चात् जहाँ चतुर्मास किया वहाँ की पंचायत की आज्ञा लेकर हमने शास्त्र स्टाक में रखा है। उस शास्त्र पर मेरी ही मालिकी रहेगी और ऐसे शास्त्र रखने के लिए अलमारी आदि बनाई जावे उस पर मेरा ही अधिकार होगा।

४—मेरे दो पुत्र हैं जिनका नाम भानूलाल तथा प्रवीणचन्द्र हैं, जिनको कि उपरोक्त सम्पत्ति या और जो भविष्य में मेरे पास आवेगी उससे उनका किसी प्रकार का सम्बन्ध व अधिकार नहीं होगा। मेरी मृत्यु के पश्चात् वह अध्यक्ष जिनको में नियत करता हूँ पुस्तकें जो मेरी मृत्यु तक प्रकाशित हों उनको देश विदेश में विना मूल्य लिए हुए, जिनको वह उचित समझें, प्रदान कर दें और जो रुपया शेष रहे उसे ज्ञान दान में लगा दें तथा जो फर्नीचर है वह भी धार्मिक संस्था में प्रदान कर देवें।

५—मैं निम्नलिखित महानुभावों को अपना अध्यक्ष नियुक्त करता हूँ।

(१) श्री फतहलाल संघी, जयपुर (२) श्री माधोदास मुलतानी, जयपुर (३) श्री लादूराम जैन, जयपुर (४) श्री हीरालाल जैन, काला कुचामन सिटी (५) श्री गुलाबचन्द जी गंगवाल, किशनगढ़ रेनवाल (६) श्री रतनलाल जी जैन छावड़ा, सीकर (७) श्री धर्मचन्दजी सेठी, गया (८) श्री नैमीचन्द जी वरवासिया आगरा।

६—यह कि मुझे उपर्युक्त अध्यक्षों में से किसी अध्यक्ष को अपने जीवन काल में बदलने का अधिकार रहेगा।

मैं उपरोक्त अध्ययवर्षों में से पी० ओ० एस० बी० में से रुपया निकालने का अधिकार श्री फतहलाल जी, माधोदास जी व हीरालाल जी को देता हूँ।

अतः मैने यह निष्ठापत्र (वसीयत नामा) लिख दिया कि प्रमाण रहे। तहरीर तारीख २१-५-५६ ई०। व मसौदा बा० हजारीलाल जैन वकील, टाइप हुआ टाइपिस्ट इन्द्रसैन जैन, दीवानी कचहरी, आगरा।

सन् १९५७ में मेरा चातुरमास भिण्ड हुआ। भिण्ड में जैन समाज की करीब ७०० घर की बस्ती है। आठ वड़े-वड़े मन्दिर है। हमारे नियमानुसार हमने "भाद्र मास के उपलक्ष में हमारा प्रकाशन श्री मंदिर जी में विना मूल्य के दिया जावेगा" ऐसी सूचना जैन मित्र, जैन सन्देश आदि पत्रों में भेज दी। जैन मित्र के सम्पादक महोदय से पत्र आया कि—"आपकी रचनाओं में आगम विरोधी कथन मिलता है। कहीं-कहीं स्खलित रहता है। गत वर्ष मैने ही आपके तत्वार्थ सूत्र के अर्थ में वड़ा विरोधी लेख लिखा था। अतः आपकी विज्ञप्ति छापने में असमर्थ है।" इस पत्र के जवाव में हमने लिखा है कि वड़े-वड़े आचार्य के दो मत हैं। हमारा और आपके मत में फर्क है तो कौनसी बाधा है। यशोधर चरित्र जो आपने प्रकाशित करवाया है उनके पृष्ठ २०४ में सिद्धान्त विरोध वात है आप क्यों वेचते हो ? यदि आपकी चर्चा करके की भावना हो तो, मैं आपको सहर्ष निमंत्रण भेजता हूँ कि आप शीघ्र पधारें मैं आपको सैकिण्ड क्लास का खर्च दूंगा। परन्तु आपने जवाव ही नहीं दिया। अभी कुछ विगड़ा नहीं है पत्र द्वारा शंका समाधान हो सकती हैं। परंतु धर्म बुद्धि होवे तव तो पत्र द्वारा समाधान करें।

जैन सन्देश ने भी हमारी सूचना अपने पत्र में प्रकाशित नहीं की, तव हमने श्रीमान् पण्डितजी जगमोहनलाल शास्त्री को कटनी लिखा कि जैन सन्देश हमारी सूचना क्यों प्रकाशित नहीं करता है ? पण्डितजी का जवाव आया कि आप दूसरी दफे सूचना लिखकर मथुरा भेज देवें वे प्रकाशित कर देवेंगे। हमने दूसरी दफे सूचना भेजी परन्तु प्रकाशित नहीं हुई। भाद्र मास के वाद जवाव आया कि आपने विज्ञापन की फीस नही भेजी है जिससे प्रकाशन नहीं हो सकी। यदि यह सूचना पहले से दे दी जाती तो मैं खर्च भेज देता। धार्मिक सूचना छापने का भी चार्ज लेने की भावना कितनी गन्दी है। वह पाठक विचार करें। इतने वर्षो से सूचना निःशुल्क प्रकाशित होती थी इस साल क्यों विज्ञापन फीस मांगनी पड़ी शान्ति से विचार करना चाहिए। हमारे प्रकाशन की प्रसिद्धि न होवे वही अन्तरंग भावना है। यदि जैन पत्रकारों से हमारी सूचना निःशुल्क शास्त्र वितरण की प्रकाशित नहीं करेगा तो क्या भारत में और पत्र नहीं है ? मैं सर्व साधारण पत्र में सूचना दे सकता हूँ फिर सम्पादक जी क्या करेंगे। मेरा विचार जब जैन धर्म का प्रचार करने का है तो क्या सम्पादक जी मुझको रोक सकते है ? कभी भी नहीं।

यदि मेरा प्रकाशन में सचमुच जिनागम से विपरीत बातें हैं तो अभी तक कोई पण्डित त्यागी एवं गृहस्थ ने क्यों न लिखा ? अपना स्थितिकर उपव्रहण अङ्ग का पालन करना था। सचमुच में मेरी गलती नहीं है आपके अभिप्राय में गलती है। अपना शास्त्र भण्डार खोलकर देखिये कि उसमें कौन सी बातें नहीं है। एक ही आगम से एक जीव स्त्री प्रक्षाल की सिद्धि करते हैं। दूसरे जीव वही आगम से स्त्री पक्षाल का निषेध करते हैं। तो यथार्थ में है क्या कभी विचार करते ही नहीं है। विचार करे कहाँ से ? अन्तरंग में कपाय वैठी है विचार करने को कैसे देवेगी। मेरी ही गलती है या अपने अनेक अनेक मत है वह दिखाने के लिये ही श्री जिनागम की उत्पत्ति हुई है। और कोई प्रयोजन नहीं है। यदि पापाचरण करने का मैं समर्थन करता तो मैं जरूर पापी था परन्तु मेरा अभिप्राय तत्व का निर्णयका ही है। "श्रीमान् पंडित

खूबचन्द जी शास्त्री सेठ गम्भीरमल जी के पत्र में लिखते हैं कि "ब्र० मूलशंकर पुण्य को धर्म मानते ही नहीं हैं।" देखिए पंडित जी पुण्य को धर्म मनाने की चेष्टा करते हैं जब आचार्य कुन्द कुन्द स्वामी पुण्य भाव को कुशील भाव मोक्ष मार्ग में है ऐसा प्रतिपादन करते हैं किसकी मानोंगे? सत्य का विरोध नहीं हो सकता है विरोध असत्य का ही होता है। जब तक मेरा सत्य का पक्ष है तब तक मेरा अहित करने को कोई समर्थ नहीं है और यदि मेरा पक्ष असत्य का है तो मेरे ही भावों से मेरा पतन हो जावेगा।

शेष में मैं धर्म बुद्धि से चर्चा करने को हमेशा तैयार हूँ। छल का कोई काम नहीं है। आप पत्र लिखिए मैं जवाब जरूर दूंगा। परन्तु धर्म बुद्धि को भूलना नहीं चाहिए इतना ही मेरा नम्र निवेदन है।

अभी तक हमने निम्न पुस्तकें प्रकाशित करवाई हैं :—

१—पंच लब्धि	प्रथमावृति १०००	द्वितीयावृति २०००	तृतीयावृति २०००	५०००
२—भेद ज्ञान	प्रथमावृति १०००	द्वितीयावृति २०००		३०००
३—देव का स्वरूप तथा भक्ति	प्रथमावृति २०००	द्वितीयावृति ५०००	तृतीयावृति ५०००	१२०००
४—शास्त्र का स्वरूप	प्रथमावृति २०००	द्वितीयावृति ५०००	तृतीयावृति ३०००	१००००
४—शास्त्र का स्वरूप	प्रथमावृति ५०००	द्वितीयावृति ३०००		८०००
५—योग सार पद्यानुवाद	प्रथमावृति ४०००	द्वितीयावृति ५०००		९०००
६—तत्वसार	प्रथमावृति ३०००	द्वितीयावृति ५ ००		८०००
७—दृष्टि दोष				३०००
८—जिन सिद्धान्त प्रवेशिका				२०००
९—जिन सिद्धान्त				३०००
१०—तत्वार्थ सूत्र सटीक				३०००
११—निमित्त				३०००
१२—पंच भाव				३०००
१३—गुणस्थान				३०००
१४—भक्तामर टीका सहित				३०००
१५ Essencial Principals in a Nutshell				२०००
१६—आत्म स्मरण				३०००
१७—पुरुषार्थ सिद्धोपाय भाषा टीका सहित				३०००
१८—आराधना				३०००
१९—जिनागम				२०००

छप रही हैं:—

२०—देव भक्ति	३०००
२१—दृष्टि दोष (अंग्रेजी में)	२०००
२२—पंच लब्धि (अंग्रेजी में)	१०००
२३—पंचस्तिकाय (हिन्दी में)	२०००
२४—मोक्ष मार्ग	३०००

यदि समाज इन पुस्तकों को नहीं अपनाती तो इतना प्रकाशन कैसे हो सकता है वह समाज स्वयं विचार करें।

समाज का सेवक
ब्रह्मचारी मूलशंकर देशाई



विषय-सूची



श्री अनेकान्तायनमः  श्री परमात्मने नमः

॥ श्री परमपारिणामिकभावायनमः ॥



जिनागम

मंगलाचरण

अनेकान्त की रक्षा कर वचन कहे स्याद्वाद।
सोही सम्यग्दृष्टि है अन्यथा मिथ्यावाद ॥

जिनागम में पदार्थ का स्वरूप अनेकान्त से प्रतिपादन किया है। अनेकान्त वस्तु धर्म है। धर्म गुण पर्याय को कहा जाता है। जिस द्रव्य का जो गुण पर्याय है वही गुण पर्याय उस ही द्रव्य का कहना, जानना-मानना वही अनेकान्त है। अनेकान्त एक-एक द्रव्य को स्वतंत्र दिखाता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता कभी बन नहीं सकता है। जब वह दूसरे द्रव्य का कर्ता नहीं है तब वह दूसरे द्रव्य को परिणमन कैसे करा सकता है? एक ही द्रव्य में गुण अनंत होते सन्ते एक गुण का दूसरे गुण में अन्योन्य अभाव है तो भी प्रदेश भेद नहीं है। यही अनेकान्त कहता है या दिखाता है। जैसे ज्ञान गुण में दर्शन गुण का अभाव है, तब ज्ञान गुण दर्शन गुण को परिणमन कैसे करा सकता है। उसी प्रकार श्रद्धा गुण में चारित्र गुण का अभाव है। श्रद्धा गुण चारित्र गुण को परिणमन नहीं करा सकता है। श्रद्धा गुण शुद्ध परिणमन करे तब चारित्र गुण अशुद्ध परिणमन करता है। चारित्र गुण में योग गुण का अभाव है। चारित्र गुण शुद्ध परिणमन करता है तब योग गुण अशुद्ध परिणमन करता है। उसी प्रकार पुद्गलादि द्रव्यों का गुण स्वतंत्र परिणमन करता है। आम में रूप गुण हरा रूप परिणमन करता है जब रस गुण मीठा रूप परिणमन करता है। आम में रुप गुण पीला रूप परिणमन करता है तब रस गुण खट्टा रूप परिणमन करता है, क्योंकि हरेक गुण स्वतन्त्र है और स्वतन्त्र रूप से परिणमन करता है। उसी प्रकार एक-एक पर्याय भी स्वतन्त्र है। वर्तमान पर्याय बिना द्रव्य कभी रह नहीं सकता है। क्योकि पर्याय एक समय की ही है जिससे हरेक द्रव्य वर्तमान पर्याय रूप ही परिणमन करता है। इससे वर्तमान पर्याय में भूतकाल की पर्याय का प्राग भाव है। जब वर्तमान पर्याय में भूतकाल की पर्याय का अभाव है तब द्रव्य भूतकाल की पर्याय का वर्तमान में भोग कैसे कर सकता है? उसी प्रकार वर्तमान पर्याय में भविष्य पर्याय का प्रध्वंसा भाव है। जब वर्तमान पर्याय में भावी पर्याय का अभाव है तब द्रव्य भावी पर्याय का वर्तमान में भोग कैसे कर सकता है? यही हमको अनेकान्त सिखलाता है या श्रद्धा कराता है। पर्याय एक समयवर्ती

होते सन्ते उनमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होते हैं। उत्पाद पर्याय में व्यय का अभाव है। और व्यय पर्याय में उत्पाद पर्याय का अभाव है। उसी प्रकार ध्रौव्य में उत्पाद-व्यय का अभाव है तो भी व्यय भी सत् है उत्पाद भी सत् है और ध्रौव्य भी सत् है अर्थात् तीनों स्वतंत्र जरूर हैं कोई माने कि यह कल्पना मात्र है सो नहीं यथार्थ में है। इसी कारण उसे सत् कहा जाता है। द्रव्य में गुण नित्य तादात्म है अर्थात् गुण का कभी नाश नहीं होता है तो भी गुण समय समय परिणमन कर रहा है। परिणमन विना गुण एक समय भी कुटस्थ रह सकता नही है ऐसा वस्तु स्वभाव है। पर्याय के साथ में द्रव्य का अनित्य तादात्म सम्बन्ध है। कोई माने कि पर्याय के साथ में द्रव्य का संयोग सम्बन्ध है सो मान्यता मिथ्या मान्यता है। जिस समय सोना ने कड़ा रूप पर्याय धारण किया है उसी समय सोना कड़ा से अभिन्न है तो भी काल पाकर कड़ा पर्याय का नाश हो जाता है तब अन्य पर्याय विना सोना कभी नहीं रह सकता है। तव सोना जिस पर्याय को धारण करता है तब उसी समय उस पर्याय से तन्मय अर्थात् अभिन्न है। उसी प्रकार जव आत्मा अर्थात् चारित्र गुण क्रोध रूप परिणमन करता है। तव चारित्र गुण क्रोध से तन्मय है अर्थात् अभिन्न है, और जव चारित्र गुण माया रूप परिणमन करता है तव माया से तन्मय है। कोई माने कि क्रोधादि आत्मा का नही है पुद्गल का है तो वह जीव अज्ञानी है। उसको अनेकान्त का ज्ञान नही है। जिसको अनेकान्त का ज्ञान नही है वही मूढ मिथ्या दृष्टि ही है। द्रव्य में जो शक्ति है वह त्रिकाल शक्ति है। शक्ति का नाश कभी नहीं होता है। शक्ति अनन्त रूप होते संते सब शक्तियां एक साथ में प्रगट होती नहीं है। जब स्वभाव रूप शक्ति प्रगट होगी तव विभाव रूप शक्ति अप्रगट है। जब विभाव रूप शक्ति प्रगट है तव स्वभाव रूप शक्ति अप्रगट है। जव विभाव में भी एक शक्ति प्रगट है तब दूसरी विभाव रूप शक्ति अप्रगट है। अर्थात् जब क्रोध शक्ति प्रगट है तब मानादि शक्तियां अप्रगट रूप हैं। जव मनुष्य रूप पर्याय प्रगट है तव देव-तिर्यंच नारकी और सिद्ध रूप पर्याय अप्रगट है। द्रव्य में अनन्तान्त पर्याय की शक्ति होते संते वर्तमान पर्याय में अमुक शक्ति प्रगट रूप है तव और शक्तियां शक्ति रूप है अर्थात् अप्रगट हैं। जैसे संसारी जीव में संसार रूप पर्याय प्रगट है तब सिद्ध रूप पर्याय शक्ति रूप है। उसी प्रकार जव द्रव्य को सिद्ध पर्याय प्रगट है तव संसार रूप सब विकार शक्ति अप्रगट है। जो शक्तियां है उसी का नाश कभी नहीं होता है। अर्थात् सिद्धात्माओं में भी विकार करने की शक्ति है अप्रगट है। उसी प्रकार जब आम में हरी पर्याय प्रगट है तव पीली-काली पर्याय शक्ति रूप अप्रगट है। जब आम में पीली पर्याथ प्रगट होती है तव हरी-काली पर्याय शक्ति रूप अप्रगट है। उसी प्रकार हरएक द्रव्य वर्तमान पर्याय में प्रगट है तव अन्य अनंत पर्याय रूप शक्ति अप्रगट है। शक्ति विना द्रव्य कभी रह सकता नहीं है। द्रव्य का लक्षण भी निम्न प्रकार किया है—

एयद वियम्मि जे अत्थपज्जया वयणपज्जया चावि।
तीदाणागद भूदा तावदियं तं हवदि दव्वं ॥ ४ ॥ ध. ग्रन्थ पृष्ट ५-६ पु-३

अर्थ—एक द्रव्य में अतीत अनागत और "अपि" शब्द से वर्तमान पर्याय रूप जितने अर्थ पर्याय और व्यंज्जन पर्याय है तत्प्रमाण द्रव्य होता है। एवं आत्म मिमांसा में भी कहा है कि—

नयोपन यैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः
अविभ्राड् भाव सम्बन्धो द्रव्यमेकमनेकधा ॥ १०७ ॥

अर्थ—जो नैगमादिनय और उनकी साखा उपसाखा-रूप उपनयों के विषयभूत त्रिकालवर्ती

पर्यायों का अभिन्न सम्बन्ध रूप समुदाय है उसे द्रव्य कहते हैं। वह द्रव्य कथंचित एक रूप और कथंचित अनेक रूप है।

वह त्रिकाल पर्याय की शक्ति रूप द्रव्य केवल ज्ञान में झलकता है इस अपेक्षा से कहा जाता है -कि केवल ज्ञानी तीन कालकी पर्याय देखता है परन्तु वहाँ तीन कालकी पर्याय प्रत्यक्ष प्रगट रूप नहीं है। वर्तमान पर्याय प्रगट रूप और अतीत अनागती पर्याय शक्तिरूप द्रव्य झलकता है। उनमें अतीत अनागतका भेद डाला जायतो समय रहता नही है। समय समय में द्रव्य अक्रम रूप से झलकता है। अमुक काल में यह पर्याय प्रगट होगी ऐसा झलकता नहीं। ऐसा माना जाय तो समय नहीं रहता। और वर्तमान में मात्र एक वर्तमान पर्याय ही होती है। वर्तमान में भूत और भावी पर्याय का अभाव है। तब अभाव पर्याय प्रगट रूप कैसे झलक सकती है? परन्तु शक्ति रूप झलकती है। ज्ञान की साथ में ज्ञेयका ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है न की ज्ञायक ज्ञेय सबंध है। जिस प्रकार ज्ञेय है उस प्रकारही ज्ञान में झलकता है। जब आत्मा मनुष्य पर्याय रूप है तब मनुष्य पर्याय प्रगट रूप और और पर्याय शक्तिरूप झलकती है। अमुक पर्याय अमुक काल बाद प्रगट होगी ऐसा झलकता नहीं है। ऐसा झलके तो समय रहता नहीं यह बाधा आती है और पदार्थ समय समय झलक रहा है। वहाँ त्रिकाली पर्याय शक्ति रूप झलकती है यही अनेकान्त कहता है। केवली की वाणी भी अक्रम निकलती है। आत्माके प्रदेश असंख्यात है और लोक में शब्द भी असंख्यात हैं। एक एक प्रदेश से एक एक शब्द सत्य वचन रूप तथा अनुभय वचन रूप निकल रहे है। भगवानकी वाणी में कोई भी शब्द बाकी नहीं रहता जिससे केवली की वाणी को अनअक्षरी कहा जाता है। वह सत्य वचन तथा अनुभय वचन स्वयं अनेक भाषा रूप परिणमन कर जाता है। अनेक भाषाओं के कारण खास कोई भाषा कही नहीं जा सकती है, जिससे उस भाषा को ध्वनि कहा जाता है। केवली की वाणी समय समय में द्वादशांग रूप निकलती है। जैसे रागी जीव एक पीछे दूसरा शब्द बोलते हैं ऐसे केवली बोलते ही नहीं। केवली व्यक्तिगत बात नहीं करते है वह तो रागी का लक्षण है। केवली ने अमुक जीवों का भव का वर्णन किया ऐसा जो कथन पुराणमें देखने में आते हैं यह तो मात्र उपचारका कथन है। वीतरागी आत्मा व्यक्तिगत बोलते ही नहीं तब अमुक भवका कथन वीतरागी आत्मा कैसे करे? केवली का देखना जानना भी अक्रम है उसी प्रकार उनकी वाणी भी अक्रम है।

स्याद्वाद कथन करने की रीत है। द्रव्य सामान्य विशेष रूप है। जब हम सामान्य का कथन करते है, उसी काल में विशेष का कथन नहीं हो सकता। इसका यह अर्थ नहीं है कि द्रव्य में विशेष धर्म है ही नहीं। जब हम विशेष का कथन करते हैं इसका यह अर्थ नहीं है कि द्रव्य में सामान्य धर्म है ही नही। द्रव्य तो जो है सोही है परन्तु कथन अलग-अलग अपेक्षा से अर्थात् अभेद वस्तु में भेद डालकर कथन करना उसीका नाम व्यवहार है। जिस प्रकार कथन किया जाता है उसी प्रकार यदि कोई जीव वस्तु को मान लेवे तो वह मान्यता मिथ्यात्व की है। वस्तु को अर्थात् द्रव्य को अभेद रूप श्रध्यान करना उसका नाम सम्यग्दर्शन है। संसारी जीवात्मा के साथ पुद्गल द्रव्य कर्म तथा नौकर्म का संयोग सम्बन्ध है। संयोग सम्बन्ध को संयोग सम्बन्ध कहना या मानना सम्यक्ज्ञान है। परन्तु संयोग सम्बन्ध को तादात्म कहना व्यवहार है। व्यवहार बोलने मात्र ही है परन्तु संयोग को तादात्म मान लेवे तो वह मान्यता का नाम मिथ्या मान्यता है। जैसे ज्ञानावरणादि अष्ट द्रव्य कर्म का कर्ता आत्मा को कहना व्यवहार है अर्थात् व्यवहार से आत्मा को ज्ञानावरणादि अष्टकर्म को कर्ता कहा जाना है और निश्चय से कार्माण वर्गणा ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म की कर्ता है तो भी जो जीव आत्मा को ही ज्ञानावरणादि कर्म का कर्त्ता मानता हैं तो वही मान्यता का नाम मिथ्या मान्यता है। उसी प्रकार आत्मा कर्म का भोग करता है वह व्यवहार

से कहा जाता है निश्चय से आत्मा अपने सुख-दुःख रूप भाव का ही भोगता है। तो भी जो जीव आत्मा को कर्म का भोगता मानता है वही मान्यता मिथ्यात्व की है। चारित्र मोहनीय कर्म आत्मा को राग कराता है यह कहना व्यवहार का कथन है निश्चय से आत्मा में चारित्र नाम का गुण है वह स्वयं रागरूप परिणमन करता है तो भी चारित्र मोहनीय कर्म को राग का कर्ता मानना वह मान्यता मिथ्यात्व की है। रागादिक परिणाम होने में चारित्र मोहनीय कर्म को निमित्त कहना वह निश्चय है और चारित्र मोहनीय कर्म को राग का कर्त्ता कहना वह व्यवहार है। अर्थात निमित्त को निमित्त कहना निश्चय है और निमित्त को कर्त्ता कहना व्यवहार है। और निमित्त को कर्त्ता मानना यह मान्यता मिथ्यात्व की है। उसी प्रकार पुन्य भाव को पुन्य भाव कहना निश्चय है और पुन्य भाव को धर्म कहना व्यवहार है और पुन्य भाव को धर्म माने तो वह मान्यता का नाम मिथ्या मानता है। पुन्य भाव मिथ्यात्व नहीं हैं पुन्य भाव तो पुन्य ही है। पुन्य भाव तो न सम्यग्दर्शन है न मिथ्यात्व है परन्तु पुन्य भाव को धर्म मानना मिथ्यात्व है अर्थात् धर्म रूपी जो मान्यता है वह मान्यता का नाम मिथ्यात्व है। शास्त्रों में व्यवहार का कथन बहुत है व्यवहार कथन को व्यवहार रूप अर्थात् उपचार मानना सम्यग्ज्ञान है परन्तु व्यवहार को निश्चय अर्थात् सत्य मानना मिथ्यात्व है। देव दर्शन, देव पूजा करना, शास्त्र स्वाध्याय करना, चार प्रकार के आहार का रात्रि में खाने का त्याग करना, उपवास करना, पानी छानकर पीना, इत्यादि श्रावक का धर्म है यह व्यवहार से कहा जाता है। निश्चय से यह धर्म नहीं है परन्तु पुन्य भाव है अर्थात् संवर निर्जरा तत्व नहीं है परन्तु पुन्य तत्व है, तो भी जो जीव उस भाव को धर्म अर्थात् संवर निर्जरा तत्व मानता है तो वह मान्यता का नाम मिथ्यात्व है। पुन्य भाव मिथ्यात्व नहीं है पुन्य भाव तो पुन्य है परन्तु पुन्य भाव को संवर निर्जरा मानना वही मान्यता का नाम मिथ्यात्व है। शास्त्रों में अनेक कथन कारण मे कार्य का उपचार कर किया जाता है उनको सत्य मान लेना मिथ्यात्व है क्योंकि कारण अलग वस्तु है और कार्य अलग वस्तु है जिस कारण से कारण को कार्य मान लेना मिथ्या मानता है। उपचार को उपचार मानना सम्यक्ज्ञान है और उपचार को सत्य मानना मिथ्या ज्ञान है। शास्त्रों में अनेक अपेक्षा से कथन किया जाता है यदि सब कथनों को सत्य माना जाय तो उपचार अलंकारादि सभी कथन सत्य हो जायँ सो तो बने नहीं। शास्त्रों में अनेक विषयों में आचार्यों के अलग-अलग मत देखने में आते हैं सब सत्य कैसे माना जा सकता है? वहाँ अपने ज्ञान द्वारा आपको निर्णय करना होगा कि कौन-सा कथन सत्य है और कौन-सा कथन उपचार का है ऐसा निर्णय किये बिना सब कथन को सत्य मान लेवे तो मिथ्यात्व रह जाता है। एक ही आचार्य ने एक जगह पर कुछ लिखा है वही आचार्य दूसरी जगह पर कुछ लिखता है ऐसी अवस्था में दोनों कथन सत्य नहीं हो सकते हैं। उनमें से एक कथन सत्य हो सकता है दूसरा कथन उपचार मात्र है ऐसा निर्णय न किया जावे तो मिथ्यात्व छूट नहीं सकता है। किसी जगह पर जीव द्रव्य का लक्षण कुछ लिखा है और किसी जगह पर जीव द्रव्य का लक्षण कुछ लिखा है वहाँ विवेक करना होगा कि लक्षण ऐसा होना चाहिए जिसमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव नाम का दोष न आवे वही लक्षण मानना चाहिये। जो लक्षण सदोष है उनको सत्य माना जाय तो मिथ्यात्व का दोष रह जाता है। सत्य को सत्य जानना, मानना सम्यक्ज्ञान है और उपचार को सत्य मान लेना मिथ्याज्ञान है। जिनागम में निमित्त का कथन बहुत हैं, निमित्त को निमित्त मानना सम्यक्ज्ञान है और निमित्त को कर्त्ता मान लेना मिथ्या ज्ञान है। उसी प्रकार जिनागम में कारण में कार्य का आरोप कर अनेक कथन किये हैं उस कथन को उपचार से न मानकर सत्य मान लिया जाय तो मिथ्याज्ञान है। आगम का जो कथन प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित देखने में आते हैं या अनुमान से बाधित देखने में आते हैं तो भी रूढ़ी भक्त जीव ऐसा कदाग्रह करते हैं कि "यह आगम में लिखा है आप मानते हो या नहीं" यदि ना कहा जाय तो तुरन्त जवाब मिलेगा कि यह आगम को मानते नहीं हैं, परन्तु यहाँ विचार

नहीं करते हैं कि यह कथन आगम में किस अपेक्षा से लिखा है। मात्र आगम ही प्रमाण मानना और प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाण नहीं मानना यह तो एकान्त पक्ष आता है और एकान्त पक्ष जहाँ है वहाँ ही अज्ञान भाव है। जैसे आगम में लिखा है कि पंचम काल में उतकृष्ट मनुष्य की आयु १२० वर्ष की है और प्रयत्क्ष में १३०, १५०, १५५ वर्ष के मनुष्य देखने में आते हैं वहाँ आगम को प्रमाण कैसे माना जाय। ऐसी अवस्था में आगम प्रमाण नहीं है परन्तु प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। हमारे पास में जो वर्तमान आगम है वह गौतम गणधर कृत बना हुआ नहीं है परन्तु अल्पज्ञ आचार्यों ने बनाया है उनमें भूल रह जाना सम्भव है जो ऐसी बात न होती तो आचार्य स्वयं क्यों लिखते कि "हमारी गलती कोई जगह पर देखने में आवे तो विशेष ज्ञानी सुधार लें।" इससे सिद्ध होता है कि साधारण मनुष्य से गलती हो जाना सम्भव है। ऐसा माना जाता है कि मूल सूत्रो गणधर कृत है परन्तु लिखने वाले की गलती हो जावे तो उनको गण-धर कृत कैसे माना जावे। जो सूत्र तर्क की कसौटी पर चढ़ाने से यथार्थ सिद्ध नहीं होता है उनको सत्य कैसे माना जावे जिस कारण से ऐसे सूत्रों के उपचार का कथन कहकर आचार्य के कथन की रक्षा की जाती है, परन्तु उपचार को उपचार न मानकर सत्य ही माना जावे तो परस्पर विरोध आते हैं ऐसी अवस्था में उन सूत्रों को सत्य कैसे माना जा सकता है उनको उपचार मानना ही सम्यक्ज्ञान है। आचार्य वीरसेन स्वामी ने धवल ग्रन्थ की टीका करते हुए वहुत से आचार्य के कथन को आगम विपरीत सिद्ध किया है। अमुक लक्षण को भी सदोष सिद्ध किया है। अनेक कथन को उपचार मात्र सिद्ध किया है। ऐसा सत्य वक्ता बहुत ही कम देखने में आते हैं। उन्होंने अपनी कलम चलाने में सत्य को छुपाया नहीं है। अनेक विषयों में आचार्य के दो-दो मत दिखाये हैं वहाँ साफ लिख दिया है "यह दोनों कथन में से एक ही कथन सत्य हो सकता है दोनों सत्य नहीं हो सकते"। इससे सिद्ध होता है कि मात्र आज्ञानुसारी बनना यथार्थ मार्ग नहीं है परन्तु परीक्षा प्रधानी बनना विशेष आत्म हित के लिए साधक है।

आयु के विषय में "जन्म-भूमि" पत्र जो मुंबई से प्रकाशित होता है उसके ता० ७-४-५८के पत्र में लिखा है कि—"गोहीलवाड की भाल प्रदेश के गोरासु ग्राम में १४५ वर्ष की उम्र का महंत भीमपुरी जी का अवसान हुआ है। उनके अनुयायी लिखते है कि महंत भीमपुरी जी की आयु १४५ वर्ष की थी। उन्होंने सं० १८५७ की क्रांति प्रत्यक्ष देखी थी। वह उत्तर प्रदेश के थे परन्तु शेष २० वर्ष से सौराष्ट्र में थे।"

एवं "जयहिन्द" पत्र राजकोट से प्रकाशित होता है, उसके ता० २-४-५८ के पत्र में लिखा है कि "विश्वका सबसे वृद्ध मानवी की मृत्यु"

१७८९ की साल में जन्म लिया और विश्व में सबसे वृद्ध होने वाले जे० वी० यरपरेस नाम का मनुष्य का उत्तर कोलंविया का मोन्टेरीया ग्राम में रविवार शाम को मृत्यु हुआ है।

इससे सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष प्रमाण के सामने आगम प्रमाणहीन हो जाता है।

एक विषय में आचार्य का अलग अलग अभिप्राय

(१) लोक के स्वरूप में दो मत—

शंका—लोक किसे कहते हैं ?

समाधान—जगछ्रेणी के घन को लोक कहते हैं।

शंका—जगछ्रेणी किसे कहते हैं ?

समाधान—सात रज्जू प्रमाण आकाश प्रदेशों की लंबाई को जगछ्रेणी कहते हैं।

शंका—रज्जु किसे कहते हैं ?

समाधान—तिर्यग्लोक के मध्यम विस्तार को रज्जु कहते हैं।

शंका—तिर्यग्लोक की चौड़ाई कैसे निकाली जाती है ?

समाधान—जितना द्वीपों और सागरों का प्रमाण है उनको तथा एक अधिक जम्बू द्वीप के छेदों को विरलित करके तथा उस विरलित रासी के प्रत्येक एक को दो रूप करके परस्पर गुणा करने से जो रासी उत्पन्न हो उसे अर्ध छेद करने के पश्चात् अविशिष्ट रासी को गुणित कर देने पर रज्जु का प्रमाण उत्पन्न होता है। अथवा कितने ही आचार्यों के उपदेश से जितना द्वीपों और सागरों का प्रमाण है उसको और संख्यात अधिक जम्बू द्वीप के छेदों को विरलित करके और उस विरलित रासी के प्रत्येक एक को दो रूप करके परस्पर गुणा करने से जो रासी उत्पन्न हो उससे छेद करने के पश्चात् अविशिष्ट रासी को गुणा कर देने पर रज्जु का प्रमाण उत्पन्न होता है। यह जगछ्रेणी का सातवां भाग है।

शंका—तिर्यग्लोक का अन्त कहां पर होता है ?

समाधान—तीनों वात बलयों के बाह्य भाग में तिर्यग्लोक का अन्त होता है।

शंका—यह कैसे जाता है ?

समाधान—"लोक वातबलयों से प्रतिष्ठित है" इस व्याख्या प्रज्ञप्ति के वचन से जाना जाता है, कि तीनों वातबलयों के वाह्य भाग में लोक का अन्त होता है।

स्वयंभूरमण समुद्र की बाह्य बेदी का से उस ओर कितना स्थान जाकर तिर्यग्लोक की समाप्ति होती है, ऐसा पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि असंख्यात समुद्रों और द्वीपों के व्यास से जितने योजन रुके हुए है, उनसे संख्यात गुणा जाकर तिर्यग्लोक की समाप्ति होती है।

शंका—यह किससे जाना जाता हैं ?

समाधान—ज्योतिपी देवों के दौसो छप्पन अंगुलों के वर्गमात्र भाग हार के प्ररूपक सूत्र से और "तिर्यग्लोक में दो के वर्ग से लेकर उत्तरोत्तर दूना दूना है" इस त्रिलोक प्रज्ञप्ति के सूत्र से जाना जाता है कि, असंख्यात द्वीपों और समुद्रों के व्यास से रुके हुए क्षेत्र से संख्यात गुणा जाकर तिर्यग्लोक की समाप्ति होती हैं। और यह व्याख्यान "जितने द्वीपों और सागरों की संख्या है और जम्बू द्वीप के रूपाधिक जितने छेद है, उतने रज्जु के अर्ध छेद है" परिकर्म सूत्र से इस व्याख्यान के साथ भी विरोध को प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि वहाँ पर रूप से अधिक अर्थात् एक से अधिक ऐसा ग्रहण न करके रूप से अधिक अर्थात् वहुत प्रमाण से अधिक ग्रहण किया है।

शंका—यह व्याख्यान अन्य आचार्यों के व्याख्यान के साथ तो विरोध को प्राप्त होता है ?

समाधान—नहीं क्योंकि यह व्याख्यान जिस लिये संगत है इसलिये दूसरे व्याख्यान भासों से इसके विरुद्ध पढ़ने पर भी यह व्याख्यान प्रमाण रूप अवस्थित ही रहता है।

शंका—अन्य आचार्यों का व्याख्यान, व्याख्यान भास है यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—ज्योतिपियों के भाग हारके प्ररुपक सूत्र से और चन्द्र और सूर्य के बिम्बों के प्रमाण प्ररुपक त्रिलोक प्रज्ञप्ति के सूत्र से जाना जाता हैं, कि पूर्वोक्त व्याख्यान के विरुद्ध जो अन्य आचार्यों का व्याख्यान पाया जाता है वह व्याख्यान भास है। और सूत्र विरुद्ध व्याख्यान ठीक नहीं कहा जा सकता है, अन्यथा अति प्रसंग दोप आ जायगा। तथा वह अन्य आचार्यों का व्याख्यान घटित भी तो नहीं होता है,

क्योंकि उस व्याख्यान के अवलम्बन करने पर जगच्छेणी से सप्तम भाग का जो प्रमाण बतलाया है उसके अन्त में आठ सून्य दिखाई देते हैं। परन्तु जगच्छेणी के सप्तम भाग रूप प्रमाण मे अन्त में आठ सून्य नहीं पाये जाते है, क्योंकि अन्त में आठ सून्यों के अस्तित्व का विधायक कोई सूत्र नहीं पाया जाता है, इसलिए रज्जु के प्रमाण के अन्त में बतलाये हुए आठ सून्यों के नष्ट करने के लिए जो कुछ भी रासी हो वह अधिक ही होना चाहिए। अधिक होती हुई भी वह रासी असंख्यातवां भाग अधिक अथवा संख्यातवां भाग अधिक तो हो नही सकती है, क्योंकि इस प्रकार के कथन की पुष्टि करने वाला कोई सूत्र नहीं पाया जाता है। इसलिये जितने क्षेत्र-विस्तार को द्वीपों और समुद्रों ने रोक रखा है, उससे संख्यात गुणा बाहिरी अर्थात् अन्त के समुद्र से उस ओर का क्षेत्र होना चाहिए। अन्यथा पहले कहे हुए सूत्रों के साथ विरोध का प्रसङ्ग आ जायगा।

जो एक हजार योजन का महामत्स है, वह वेदना समुद्घात पीड़ित स्वयंभूरमण समुद्र के बाह्य तटपर कापोत लेश्या अर्थात् तनुवात वलय से लगता है, इस वेदना खन्ड के सूत्र के साथ पूर्वोक्त व्याख्यान विरोध को क्यों नहीं प्राप्त होता है, ऐसा किसी के पूछने पर आचार्य कहते हे, कि फ़िर भी इस कथन का पूर्वोक्त कथन के साथ विरोध नहीं आता हैं, क्योंकि यहां पर "बाह्य तट" इस पद में स्वयंभूरमण समुद्र की बाह्य वेदीका के पर भाग में स्थित पृथ्वी का ग्रहण किया गया है।

शंका—यदि ऐसा है तो महामत्स्य कापोत लेश्या से संयुक्त नही हो सकता है ?

समाधान—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि पृथ्वी स्थित प्रदेशों में अधस्तन वातवलय का अवस्थान रहता है। यद्यपि यह अर्थ पूर्वाचार्यो के संप्रदायके विरुद्ध है, तो भी आगम के आधार पर युक्ति के बल से हमने (वीरसेनाचार्य ने) इस अर्थ का प्रतिपादन किया है। इसलिए यह अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है, इस विकल्प का संग्रह यहाँ पर छोड़ना नहीं चाहिए, क्योंकि अतिन्द्रिय पदार्थो के विपय में छद्मस्थ जीवों के द्वारा कल्पित युक्तियों के विकल्प रहित निर्णय के लिए हेतुता नही पाई जाती हैं। इसलिए उपदेश को प्राप्त करके इस विपय में विशेप निर्णय करना चाहिये। पृ० ३५—३८ पुस्तक नम्बर ३.

(२) काल के विपय में दो मत—

असंख्यात समयों की एक आवली होती है। संख्यात आवलीयां के सम्रूह को एक उच्छ्वास कहते हैं। सात उच्छ्वासों का एक स्तोक होता है। और सात स्तोकों का एक लव होता है। ३३। गो. जी. ५७४।

साढ़े अड़तीस लवों की एक नाली होती है, और दो नालियों का एक मुहुर्त होता है। तथा एक मुहुर्त में से एक समय कम करने पर भिन्न मुहुर्त होता है. और शेप अर्थात् दो-तीन आदि समय कम करने पर अन्त मुहुर्त होते हैं। ३४।। गो. जी. ५७५

जो सुखी है आलस्य रहित है और रोगादिक की चिन्ता से मुक्त है ऐसे प्राणी के स्वासोच्छ्वास को एक प्राण कहते हैं ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है। ३५।। गो, जी, ५७४

सभी मनुष्यों के तीन हजार सात सौ तेहत्तर उच्छ्वासों का एक मुहुर्त होता है। ३६ ।। गो, जी,. जी; प्र, टी, १२५ अनुपृष्ठ १६४ प्या, प्र, पृ ५००

कितने ही आचार्य सात सौ वीस प्राणों का एक मुहुर्त होता है ऐसा कहते है, परन्तु प्राकृत अर्थात् रोगादि से रहित स्वस्थ मनुष्य के उच्छ्वासों को देखते हुए उन आचार्यो का इस प्रकार कथन करना घटित

नहीं होता है, क्योंकि जो केवली भाषित अर्थ होने के कारण प्रमाण है, ऐसे अन्य सूत्र के कथन के साथ उक्त कथन का विरोध आता है।

शंका—सूत्र के कथन से उक्त कथनमें कैसे विरोध आता है ?

समाधान—क्योंकि ऊपर कहे गये सात सौ बीस प्राणी को चार से गुणा करके जो गुणनफल आवे उसमें सात कम नौ सौं अर्थात् आठ सौ तिरानवे और मिलाने पर सूत्र में कहे गये मुहूर्त के उच्छ्वासों का प्रमाण आता है। इसलिए प्रतित होता है कि उपयुक्त मुहूर्त के उच्छ्वासों का प्रमाण सूत्र विरुद्ध है। यदि सात सौ बीस प्राणों का एक मुहूर्त होता है ऐसा मान लिया जाय तो केवल इकीस हजार छह सौ प्राणी को द्वारा ही ज्योतिषीयों के द्वारा माने हुए दिन अर्थात् अहोरात्र का प्रमाण होता है। किन्तु यहाँ आगमानुकूल कथन के अनुसार तो एक लाख तेरह हजार और एक सौ नव्वे उच्छ्वासों के द्वारा एक दिन अर्थात् अहोरात्र होता है।

शंका—इस प्रकार प्राणों के द्वारा दिवस के विषय में विवाद को प्राप्त हुए ज्योतिपीयों के काल व्यवहार कैसे वन सकता है ?

समाधान—नहीं क्योंकि केवली के द्वारा कथीत दिन और मुहुर्त के समान ही ज्योतिपीयों के दिन और मुहूर्त माने गए हैं, इसलिए उपयुक्त कोई दोष नहीं है। पृष्ठ ६५-६७ पु, ३

(३) वर्धमान तीर्थ की उत्पत्ति के विषय में दो मत :

अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के भेद से काल दो प्रकार का है। जिस काल में बल, आयु व उत्सेध का उत्सर्पण अर्थात् वृद्धि होती है वह उत्सर्पिणी काल है। जिस काल में उनकी हानि होती है वह अवसर्पिणी काल है। उनमें प्रत्येक सुखमा सुखमा दिक के भेद से छह प्रकार है। उनमें इस भरत क्षेत्र के अवसर्पिणी के चतुर्थ दुखमा सुखमा काल में नौ दिन वह छह मासों से अधिक तेतीस वर्षों के शेष रहने पर तीर्थ की उत्पत्ति हुई। कहा भी है कि—

इम्मिस्से वसप्पिणीए चउत्थ कालस्स पच्छिमे माए।
चौतीस वाससे से किंचि विसे सूण कालम्मि ॥२५॥

अर्थ—इसी अवसर्पिणी के चतुर्थ काल के अन्तिम भाग में कुछ कम चौतीस वर्ष प्रमाण काल के शेष रहने पर धर्म तीर्थ की उत्पत्ति हुई ॥ २५ ॥

वह इस प्रकार है—पन्द्रह दिन और आठ मास अधिक पचहत्तर वर्ष चतुर्थ काल में शेष रहने पर (७५ व, ८ मा, १५ दि) पुष्पोत्तर बिमान से आषाढ़ शुक्ल पष्टी के दिन बहत्तर वर्ष प्रमाण आयु से युक्त और तीन ज्ञान के धारक महावीर भगवान गर्भ में अवतीर्ण हुए। इसमें तीस वर्ष कुमार काल, बारह वर्ष उनका छद्मस्थ काल, केवली काल भी तीस वर्ष, इस प्रकार इन तीनों कालों का योग बहत्तर वर्ष होते हैं। इनको पचहत्तर वर्षो में से कम करने पर वर्धमान जिनेन्द्र के मुक्त होने पर जो शेष चतुर्थ काल रहता है उसका प्रमाण होता है। इसमें छयासठ दिन कम केवली काल के जोड़ने पर नौ दिन और छह मास अधिक तेतीस वर्ष चतुर्थ काल में शेष रहते हैं।

शंका—केवली काल में छयासठ दिन कम किसलिए किए जाते हैं ?

समाधान—क्योंकि केवल ज्ञान के उत्पन्न होने पर भी उनमें तीर्थ की उत्पत्ति नहीं हुई।

शंका—इन दिनों में दिव्य ध्वनि की प्रवृति किसलिए नहीं हुई ?

समाधान—गणधर का अभाव होने से उक्त दिनों में दिव्यध्वनी की उत्पत्ति (प्रवृत्ति) नहीं हुई।

शंका –सौधर्म इन्द्र ने उसी क्षण में गणधर को उपस्थित क्यों नहीं किया ?

समाधान—नहीं किया, क्योंकि काल लब्धि के बिना असहाय सौधर्म इन्द्र के उनको उपस्थित करने की शक्ति का उस समय अभाव था।

शंका—अपने पादमूल में महाव्रत को स्वीकार करने वाले को छोड़ अन्य का उद्देशकर दिव्यध्वनी क्यों नहीं प्रवृत होती ?

समाधान—नहीं होती, क्योंकि, ऐसा स्वभाव है। और स्वभाव दूसरों के प्रश्न के योग्य नहीं होता, क्योंकि, ऐसा होने पर अव्यवस्था कीं आपत्ति आती है।

इस कारण चतुर्थ काल में कुछ कम चौतीस वर्ष शेष रहने पर तीर्थ की उत्पत्ति हुई यह सिद्ध है।

अन्य कितने ही आचार्यों पाँच दिन और आठ मासों से कम बहत्तर वर्ष प्रमाण वर्धमान जिनेन्द्र की आयु वतलाते हैं। (७१ व, ३ मा, २५ दिन) उनके अभिप्रायानुसार गर्भस्थ, कुमार, छद्मस्थ, और केवल ज्ञान के कालों की प्ररूपणा करते हैं। वह इस प्रकार है:—

अषाढ़ शुक्ल पक्ष षष्टी के दिन कुण्डलपुर नगर के अधिपति नाथ वंसी सिद्धार्थ नरेन्द्रकी त्रिशला देवी के गर्भ में आकर और वहाँ आठ दिन अधिक नौमास रह कर चैत्र शुक्ल पक्षकी त्रियोदसीके दिन रात्रि में उत्तराफालगुनी नक्षत्र में गर्भ से वाहर आये। यहां अषाढ़ शुक्ल पक्षकी षष्टमी से आदिकरके पूर्णमातक दश दिन होते हैं। पुनः श्रावण मास को आदि करके आठ मास गर्भ में बिताकर चैत्र मास में शुक्ल पक्षकी त्रियोदशी को उत्पन्न हुए थे, अतः अट्ठाईस दिन चैत्र मास में प्राप्त होते हैं। इनको पूर्योक्त दश दिनों में मिला देने पर आठ दिन सहित एक मास प्राप्त होता है। उसे आठ मासों में मिलाने पर आठ दिन अधिक नौमास गर्भस्थ काल होता है। उसकी संदृष्टि (९ मा ८ दिन) यहाँ उपयुक्त गाथायें—

सुरमहिदो च्चुदकप्पे भोगं दिवाणु भागमणु भूदो।
पुप्फुत्तरणामादो विमाणदो जो चुदो संतो॥ २६॥
बाहत्तरि वासाणि य थोवविहूणाणि लद्धपरमाऊ।
आसाढ़ जोण्णपक्खे छट्ठीए जोणि मुवयादो॥ २७॥
कुंडपुर पुरवरिस्सरसिद्धत्थकखत्तियस्स णाहकुले।
तिसिलाए देवीए देवीसदसेवमाणाए॥ २८॥
अच्छित्ता णवमासे अट्ठ य दिवसे चइत्तसियपक्खे।
तेरसिए रत्तीए जादुत्तर फग्गुणीए दु॥ २९॥
एवं गब्भ ट्ठिद काल परुवणा कदा॥

अर्थ—वर्धमान भगवान अच्युत कल्प में देवोंसे पूजित हो दिव्य प्रभाव से संयुक्त भोंगों का

अनुभव कर पुनः पुष्पोत्तर नामक विमान से च्युत हो कर कुछकम बहत्तर वर्ष प्रमाण उत्कृष्ट आयु को प्राप्त करते हुए आषाढ़ शुक्ल पक्ष की षष्ठी के दिन योनि को प्राप्त हुए अर्थात् गर्भ में आये। २६-२७॥

अर्थ—तत्पश्चात् कुण्डलपुर रूप उत्तम पुरके ईश्वर सिद्धार्थ क्षत्रिय के नाथकुल में सैंकड़ों देवियों से सेव्यमान त्रिशला देवी के (गर्भ मे) नौमास और आठ दिन रह कर चैत्र मास के शुक्ल पक्ष में त्रयोदशी की रात्रि में उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में उत्पन्न हुए॥ २८-२९ इस प्रकार गर्भस्थ कालकी प्ररूपणा की है—

अब कुमार काल को कहते हैं—चैत्र मास के दो दिन (२), वैशाख को आदि लेकर अट्ठाईस वर्ष (२८), पुनः वैशाख को आदि करके कार्तिक तक सात मास को (७), कुमार स्वरूप से बिताकर पश्चात् मगसिर कृष्ण पक्ष की दशमी के दिन दीक्षार्थ निकले थे। अतः इस काल का प्रमाण बारह दिन और सात मास अधिक अट्ठाईस वर्ष मात्र होता है। (२८ वर्ष, ७ मास, १२ दिन)। यहाँ उपर्युक्त गाथाएँ—

मणुवत्तण सुहमउलं देवकयं सेविऊण वासाइं।
अट्ठावीसं सत्त य मासे दिवसे य बारसयं ॥३०॥
आहिणि बोहिय बुद्धो छट्ठेण य मग्गसीस बहुले दु।
दसमीए णिक्खंतो सुरमहिदो णिक्खमणपुज्जो ॥३१॥
एवं कुमारकाल परुपणा कदा॥

अर्थ—वर्धमान स्वामी अट्ठाइस वर्ष सात मास और बारह दिन देवकृत श्रेष्ठ मानुषिक सुख का सेवन करके आभिनिबोधिक ज्ञान से प्रबुद्ध होते हुए षष्टोपवास के साथ मगसिर कृष्णा दशमी के दिन गृह त्याग करके सुरकृत महिमा का अनुभव कर तप कल्याण द्वारा पूज्य हुए॥३०-३१॥ इस प्रकार कुमार काल की प्ररूपणा की।

अब छद्मस्थ काल कहते हैं—वह इस प्रकार है—मगसिर कृष्ण पक्ष की एकादशी को आदि करके मगसिर की पूर्णिमा तक बीस दिन (२०), पुनः पोष मास को आदि करके बारह वर्ष (१२), पुनः उसी मास को आदि करके चार मास (४), और वैशाख शुक्ल पक्ष की दशमी तक वैशाख के पच्चीस दिनों को छद्मस्थ स्वरूप से बिताकर वैशाख शुक्ल पक्ष की दशमी के दिन ऋजुकूला नदी के तट पर जृंभिका ग्राम के बाहर षष्टोपवास के साथ शिला पट्ट पर आतापन योग सहित होकर अपराह्न काल में पाद परिमित छाया होने के पर केवल ज्ञान उत्पन्न किया। इसलिये इस काल का प्रमाण पन्द्रह दिन और पाँच मास अधिक बारह वर्ष मात्र होता है। (१२ वर्ष ५ मास १५ दिन) यहाँ उपर्युक्त गाथाएँ—

गमइय छदुमत्थत्तं बारसवासाणि पंचमासेय।
पण्णरसाणि दिणाणि य तिरयणसुद्धो महावीरो ॥३२॥
उजुकूल णदीतीरे जंभिय गामे बहिं सिलावट्टे।
छट्ठेणादावेंतो अवरण्हे पायाछायाए ॥३३॥
वइसाहजोण्णपक्खे दसमीए खवगसेढिमारूढो।
हंतूण घाइकम्मं केवलणाणं समावण्णो ॥३४॥
एवं छदुमत्थकालो परुविदो॥

अर्थ—रत्नत्रय से विशुद्ध महावीर भगवान बारह वर्ष पाँच मास और पन्द्रह दिन छद्मस्थ अवस्था में बिताकर ऋजुकूला नदी के तीरपर जृम्भिका ग्राम में बाहर शिलापट्ट पर षष्टोपवास के साथ आतापन योग्य युक्त होते हुए अपराह्न काल में पाद परिमित छाया के होने पर वैसाख शुक्ल पक्ष की दशमी के दिन क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर एवं घातियाँ कर्मो को नष्ट कर केवल ज्ञान को प्राप्त हुए ।।३२-३४।। इस प्रकार छद्मस्थ काल की प्ररूपणा की ।

अब केवल काल कहते हैं—वह इस प्रकार है—वैशाख शुक्ल पक्ष की एकादशी को आदि करके पूर्णिमा तक पाँच दिन (५) पुनः जेष्ट से लेकर उनतीस वर्ष (२९) उसी मास को आदि करके आसोज तक पाँच मास (५) पुनः कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष के चौदह दिनों को भी केवल ज्ञान के साथ वहाँ बिता कर मुक्ति को प्राप्त हुए । (१४) चूं कि अमावस्या के दिन सब देवोन्द्र ने परि निर्वाण पूजा की थी । अतः उस दिन को भी इसी में मिलाने पर पन्द्रह दिन होते हैं । इस कारण इसका प्रमाण बीस दिन और पाँच मास अधिक उनतीस वर्ष मात्र होता है । (२९ वर्ष-५ मास-२० दिन) यहाँ उपर्युक्त गाथाए—

वासाणूणतीसं पंच य मासे य बीस दिवसे य ।
चउविह अणगारेहिं बारहहि गणेहि विहरंतो ।।३५।।
पच्छा पावाणयरे कत्तियमासे य किण्ह चोद्दसिए ।
सादीए रत्तीए सेसरयं छेतु णिव्वाओ ।।३६।।
एवं केवली कालो परुविदो ।

अर्थ—भगवान महावीर उनतीस वर्ष पाँच मास और बीस दिन चार प्रकरा के अनगारों व बारह गणों के साथ विहार करते हुए पश्चात् पावा नगर में कार्तिक मास में कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को स्वाति नक्षत्र में रात्रि को शेष रज अर्थात् अघातिया कर्मो को नष्ट करके मुक्त हुए ।।३५-३६।। इस प्रकार केवली काल की प्ररूपणा की ।

परिणिव्वुदे जिणिंदे चउत्थ कालस्स जं भवे सेसं ।
वासाणि तिण्णि मासा अट्ठ य दिवसा वि पण्णरसा ।।३७।।

अर्थ—महावीर जिनेन्द्र के मुक्त होने पर चतुर्थ काल का जो शेष है वह तीन वर्ष आठ मास और पन्द्रह दिन प्रमाण है ।।३७।।

अब भगवान महावीर के निर्वाणगत दिन से कार्तिक मास में पन्द्रह दिन मगसर को आदि लेकर तीन वर्ष और आठ मासों के बीतने पर श्रावण मास की प्रतिपदा के दिन दुखमां काल अवतीर्ण हुआ । (३ वर्ष ८ मास १५ दिन) इस काल को वर्धमान जिनेन्द्र की आयु में मिला देने पर दश दिन अधिक पचत्तर वर्ष मात्र चतुर्थ काल के शेष रहने पर वर्धमान जिनेन्द्र के स्वर्ग से अवतीर्ण होने का काल होता है । (७५ वर्ष १० दिन)

उक्त दो उपदेशों में कौनसा उपदेश यथार्थ है । इस विषय में एलाचार्य का शिष्य (वीरसेन स्वामी) अपनी जीभ नहीं चलाता अर्थात् कुछ नहीं कहता, क्योंकि न तो इस विषय का कोई उपदेश प्राप्न है । और न दोनों में से एक में कोई बाधा ही उत्पन्न होती है । किन्तु दोनों में से एक ही सत्य होना चाहिए, उसे जान कर कहना उचित है । धवलग्रन्थ पृष्ठ नम्बर ११९-१२६ पुस्तक नं० ९

(४) वर्धमान जिनके मुक्त होने के बाद कब शक शाल हुआ ? इसके विषय में तीन मत हैं—

वीर जिनेन्द्र के निर्वाण प्राप्त हुए बाद ६०५ वर्ष और पाँच मास वाद शक काल शुरू होता है अर्थात् शक नरेन्द्र के काल में ६०५ वर्ष ५ मास मिलाने से वर्धमान जिनके मुक्त होने का काल आता है। कहा है कि—

पंच य मासा पंच य वासा छच्चेव होंति वाससया।
सगकालेण य सहिया थावेयव्वो तदो रासो ॥४१॥ ति. प. ४-१४९९

अर्थ—पाँच मास और पाँच दिन और छहसौ वर्ष होते हैं। इसलिए शक काल से सहित राशि स्थापित करना चाहिए ॥४१॥

अन्य कितने ही आचार्य वीर जिनेन्द्र के मुक्त होने के दिन से चौदह हजार सात सौ तिरानवें वर्षों के वीत जाने पर शक नरेन्द्र की उत्पत्ति को कहते हैं। (१४७९३) कहा भी है कि—

गुत्ति पयत्थ भयाइं चोद्दस रयणाइ समइकंताइं।
परिणिव्वुदे जिणिदे तो रज्जं सगणरिंदस्स ॥४२॥ ति. प. ४-१४९८

अर्थ—वीर जिनेन्द्र के मुक्त होने के पश्चात् गुप्ति[३] पदार्थ[९] भय[७] और चौदह[१४] रत्नों अर्थात् चौदह हजार सात सौ तिरानवें वर्षों के वीतने पर शक नरेन्द्र का राज्य हुआ ॥४२॥

अन्य कितने ही आचार्य इस प्रकार कहते हैं—जैसे वर्धमान जिनके मुक्त होने के दिन से पाँच मास अधिक सात हजार नौ सौ पंचानवें वर्षों के वीतने पर शक नरेन्द्र के राज्य की उत्पत्ति हुई। कहा भी है कि—

सत्तसहस्सा णवसद पंचाणउदी सपंच मासा य।
अइक्कंता वासाणं जइया तइया सगुप्पत्ती ॥४३॥

अर्थ—जब सात हजार नौ सौ पंचानवें वर्ष और पाँच मास बीतने पर शक नरेन्द्र की उत्पत्ति हुई। (७९९५ वर्ष. ५ मास)

इन तीन उपदेशों में एक होना चाहिए। तीनों उपदेशों की सत्यता सम्भव नहीं है, क्योंकि, इनमें परस्पर विरोध है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १३२-१३३ पुस्तक नं० ९

(५) उपशम सम्यक्त्व में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है या नहीं इन विषय में दो मत हैं—

महाबन्धे परिमाणाणुगम प्ररुपणा में लिखा है कि—सूत्र नं० २७०

"अवधि दर्शन और उपशम सम्यक्त्व में इसी प्रकार जानना चाहिए। विशेष उपशम सम्यक्त्व में तीर्थंकर के बन्धक संख्यात-अबन्धक असंख्यात है। विशेषार्थ कुछ आचार्यो का मत है कि—प्रथमोपशम सम्यक्त्व का काल अल्प होने से उसमें तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नहीं होता किन्तु द्वितियोपशम में तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध के विषय में मत-भेद नहीं है। गो. क. गाथा ९३ मे कहा है कि—

पढमउवसमिये सम्मे सेसतिये अविरदादिचत्तारि।
तित्थयरं बंध परिभया ण रा केवलि दुगंते ॥

धवलग्रन्थ पृष्ठ १८३ पुस्तक नम्बर १

(६) सातवी नरक से निकला जीव तिर्यंच गति में सम्यक्त्व की प्राप्ति करते है या नहीं इन विषय में दो मत है ।—

सूत्र—एक्कं हि चेव लिरिक्खगदि मागच्छंति त्ति ।।२०४।। तिरिक्खेसु उववण्णल्लया तिरिक्खा छण्णो उप्पाएंति, आभिणिबोहिय णाणं णो उप्पाएंति, सुदणाणं णो उप्पाएंति, ओहिणाणं णो उप्पाएंति, सम्मामिच्छतं णो उप्पाएंति, सम्मतं णो उप्पाएंति, संजमासंजम णो उप्पाएंति ।।२०५।।

अर्थ—सातवी पृथ्वी से निकले हुए नारकी जीव केवल एक तिर्यच गति में ही जाते है। ।।२०४।। तिर्यचों में उत्पन्न होने वाले तिर्यंच इन छह की उत्पत्ति नहीं करते। आभिनिवोधिक ज्ञान को उत्पन्न नही करते, श्रुत ज्ञान को उत्पन्न नहीं करते, अवधि ज्ञान को उत्पन्न नहीं करते, सम्यग्मिथ्यात्व गुण को उत्पन्न नहीं करते, सम्यक्त्व को उत्पन्न नहीं करते, और संयमा संयम को उत्पन्न नहीं करते हैं। ।।२०५।।

शंका– (तिर्यचों में तीर्थंकर आदि भी तो उत्पन्न नहीं होते है अतएव) तीर्थंकर आदि का यहाँ प्रतिषेध क्यों नहीं किया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि तीर्थकरादिकों का तो तिर्यचों में उत्पन्न होना सम्भव ही नहीं है। सर्व प्रतिषेध में पहले प्रतिषेध्य वस्तु की उपलब्धि पाई जाती है।

शंका—उपर्युक्त तिर्यंचों में सासादन गुण स्थान की प्राप्ति का प्रतिषेध क्यों नहीं किया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, सम्यक्त्व का प्रतिषेध कर देने पर सम्यक्त्व से उत्पन्न होने वाला सासादन सम्यक्त्व गुण के प्रतिषेध की सिद्धी विना कहे ही हो जाती है।

विशेपार्थ—यहाँ सप्तम नरक से आये हुए तिर्यंच जीवों के सम्यक्त्व की प्राप्ति का सर्वथा प्रतिषेध किया गया है किन्तु तीलोयपण्णत्ति (२-२९२) पथा प्रज्ञापना (२०-१०) में उनमें से कितने ही जीवों द्वारा सम्यक्त्व ग्रहण किये जाने का विधान पाया जाता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४८४ पुस्तक नं० ६.

(७) केवली का समुद्घात सहेतुक है या निर्हेतुक है इन विषय में दो मत है—

शंका—केवलियों के समुद्घात सहेतुक होता है या निर्हेतुक ? निर्हेतुक होता है यह दूसरा विकल्प तो बन नहीं सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर सभी केवलियों को समुद्घात करने के अनन्तर ही मोक्ष प्राप्ति का प्रसङ्ग प्राप्त हो जायगा। यदि यह कहा जावे कि सभी केवली समुद्घात पूर्वक ही मोक्ष को जाते है, ऐसा मान लिया जावे इसमें क्या हानि है ? सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंक ऐसा मानने पर लोक पूरण समुद्घात करने वाले केवलियों की बीस संख्या वर्ष पृथक्त्व के अनन्तर होती है यह नियम वन नही सकता है। केवलियों के समुद्घात सहेतुक होता है यह प्रथम पक्ष भी नहीं बनता है, क्योंकि केवली समुद्घात का कोई हेतु नहीं पाया जाता है। यदि यह कहा जावे कि तीन अघातियाँ कर्मो की स्थिति से आयु कर्म की स्थिति की असमानता ही समुद्घात का कारण है, सोभी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, क्षीण कपाय गुणस्थान की चरम अवस्था मे संपूर्ण कर्म समान नहीं होते है, इसलिए सभी केवलियों के समुद्घात का प्रसङ्ग आ जायगा ?

समाधान—यतिवृषभाचार्य के उपदेशानुसार क्षीण कषाय गुणस्थान के चरम समय में संपूर्ण अघातियाँ कर्मो की स्थिति समान नहीं होने से सभी केवली समुद्घात करके ही मुक्ति को प्राप्त होते हैं। परन्तु जिन आचार्यों के मतानुसार लोक पूरण समुद्घात करने वाले केवलियों की बीस संख्या का नियम है, उनके मतानुसार कितने ही केवली समुद्घात करते हैं और कितने ही नहीं करते हैं।

शंका—कौन से केवली समुद्घात नहीं करते हैं ?

समाधान—जिनकी संसार व्यक्ति अर्थात् संसार में रहने का काल वेदनीय आदि तीन कर्मों की स्थिति के समान है वह समुद्घात नहीं करते शेष केवली करते हैं।

शंका—अनवृति आदि परिणामों के समान रहने पर संसार व्यक्ति स्थिति और शेष तीन कर्मों की स्थिति में विषमता क्यों रहती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, संसार की व्यक्ति और कर्म स्थिति के घात के कारण भूत अनिवृत्ति रूप परिणामों के समान रहने पर संसार को उसके अर्थात् तीन कर्मों की स्थिति के समान मान लेने में विरोध आता है।

शंका—संसार के विच्छेद का क्या कारण है ?

समाधान—द्वादशांग का ज्ञान, उनमें तीव्र भक्ति, केवली समुद्घात और अनिवृति रूप परिणाम ये सब संसार के विच्छेद का कारण है। परन्तु यह सब कारण समस्त जीवों में संभव नहीं है, क्योंकि दश पूर्व और नौ पूर्व के धारी जीवों को भी क्षपक श्रेणी पर चढ़ना देखा जाता है। अतः वहाँ पर संसार व्यक्ति के समान कर्म स्थिति नहीं पाई जाती है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त में नियम से नाश को प्राप्त होने वाले पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण या संख्यात आवली प्रमाण स्थितिकाण्डों का विनाश करते हुए कितने ही जीव समुद्घात के बिना ही आयु के समान शेष कर्मों को कर लेते हैं। तथा कितने ही जीव समुद्घात के द्वारा शेष कर्मों को आयु कर्म के समान करते हैं। परन्तु यह संसार का घात केवली में पहले सम्भव नहीं है, क्योंकि पहले स्थितिकाण्डक के घात के समान सभी जीवों के समान परिणाम पाये जाते हैं।

शंका—जबकि परिणामों में कोई अतिशय पाया नहीं जाता है, अर्थात् सभी केवलियों के परिणाम समान होते हैं तो पीछे भी संसार का घात मती होओ ?

समाधान—नहीं, क्योंकि वीतराग रूप परिणामों के समान रहने पर भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु कर्म की अपेक्षा से आत्मा के उत्पन्न हुए अन्य विशिष्ट परिणामों से संसार का घात बन जाता है।

शंका—अन्य आचार्यों के द्वारा व्याख्यान नहीं किये गये इस अर्थ का इस प्रकार व्याख्यान करते हुए आप सूत्र के विरुद्ध जा रहे हो ऐसा क्यों न माना जाय ?

समाधान—नहीं, क्योंकि वर्ष पृथक्त्व के अन्तराल का प्रतिपादन करने वाले सूत्र के वशवर्ती आचार्यों का ही पूर्वोक्त कथन से विरोध आता है।

शंका—छम्मासा उवसेसे उप्पण्णं जस्स केवलं णाणं।
सःसमुग्घाओ सिज्झइ सेसा भज्जा समुग्घाए ॥१६७॥

अर्थ—छः मास प्रमाण आयु कर्म के शेष रहने पर जिस जीव को केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ है वह समुद्घात को करके ही मुक्त होता है। शेष जीव समुद्घात करते भी हैं और नहीं भी करते हैं।

इस पूर्वोक्त गाथा का उपदेश क्यों नहीं ग्रहण किया है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इस प्रकार के विकल्प के मानने में कोई कारण नहीं पाया जाता है, इसलिए पूर्वोक्त गाथा का उपदेश नही ग्रहण किया है। कहा भी है कि—

जेसिं आउ समाइं णामा गोदाणि वेयणीयं च ।
ते अकय समुग्घाया वच्चतियरे समुग्घाए ॥६८॥

अर्थ—जिन जीवों के नाम गोत्र और वेदनीय कर्म की स्थिति आयु कर्म के समान होती है वे समुद्घात नहीं करके ही मुक्ति को प्राप्त होते है। दूसरे जीव समुद्घात करके ही मुक्त होते हैं।

इस प्रकार पूर्वोक्त गाथा में कहे गये अभिप्राय को तो किन्हीं जीवों के समुद्घात होने में और किन्हीं जीवों के समुद्घात के नहीं होने में कारण नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि, संपूर्ण जीवों में समान निवृत्ति रूप परिणामों के द्वारा कर्म स्थितियों का घात पाया जाता है, अतः उनका आयु के समान होने में विरोध आता है। दूसरे क्षीण कषाय गुणस्थान के चरम समय में तीन अघातियाँ कर्मों की जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग सभी जीवों के पाई जाती है इसलिये भी पूर्वोक्त अर्थ ठीक प्रतीत नहीं होता है।

शंका—आगम तो तर्क का विषय नहीं है इसलिए इस प्रकार तर्क के बल से पूर्वोक्त गाथाओं के अभिप्राय का खण्डन करना उचित नही है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इन दोनों गाथाओं का आगम रूप से निर्णय नहीं हुआ है। अथवा यदि इन दोनों गाथाओं का आगम रूप में निर्णय हो जाय तो इनका ही ग्रहण रहा आये। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३०१-३०४ पुस्तक नम्बर १

(८) असंज्ञी के कौनसी लेश्या होती है उन विषय में दो मत है—

श्री धवल ग्रन्थ में सर्वत्र असंज्ञियों के तेजो लेश्या का अभाव या तेजो लेश्या में असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव समास का अभाव ही वतलाया है। जब गोम्मट्टसार जीव काण्ड में संज्ञी मार्गणा के आलाप वतलाते हुए असंज्ञियों के जो चार लेश्याएं बतलाई हैं वह कथन धवलाकार की मान्यता से विरुद्ध है, परन्तु गोम्भट्टसार जीव काण्ड के मूल अलाप अधिकार में ही जो दो मान्यताएँ पाई जाती है उसका कारण क्या होगा इसका ठीक निर्णय समझने में नहीं आता। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ७६६ पुस्तक नं० २।

(९) असंयत सम्यग्दृष्टि के अपर्याप्ति काल में लेश्या के विषय में दो मत—

असंयत सम्यग्दृष्टि को अपर्याप्त काल में भाव से छहों लेश्या होती है। परन्तु गोमट्ठसार जीव काण्ड के आलाप अधिकार में सम्यक्त्व मार्गणा के अपर्याप्त आलाप बताते हुए एक कापोत और तीन शुभ इस प्रकार चार लेश्याए ही वतलाई है परन्तु गोमट्टसार में एसा कथन क्यों किया समझने में नहीं आता, क्योंकि आगे उसी में वेदक सम्यक्त्व के आलाप वतलाते हुए छहों लेश्याए कही गई है। धवलग्रन्थ पृष्ट ८०६ पुस्तक नं० २

(१०) क्षपक श्रेणी चढ़ने वाला जीव कोनसा उपयोग में श्रेणी चढ़ता है, इस विषय में दो मत—

क्षपण प्रारम्भ करने के भी अन्तर्मुहूर्त पूर्व से अनन्त गुणी विशुद्ध के द्वारा विशुद्ध होते हुए चारों मनो योग में से किसी एक मनो योग, चारों वचन योगों में किसी एक वचनयोगवाला, और औदारिक काययोगी होता है। चारों कषायों में से किसी एक कषायके उदय से संयुक्त है। नियम से हीयमान कषाय वाला होता है - कौनसा उपयोग वाला है। इस विषय में दो उपदेश हैं। (१) नियम से श्रुतज्ञान रूप उपयोग से उपयुक्त हो कर ही क्षपक श्रेणी चढ़ता है। (२) श्रुतज्ञान से या मतिज्ञान से, चक्षुदर्शन से अथवा अचक्षुदर्शन से उपयुक्त हो कर क्षपक श्रेणी चढ़ता है। चारित्र मोहकी क्षपणा

करने वाले के नियम से शुक्ल लेश्या होती है, वह भी वर्धमान लेश्या होती है। क्षपक श्रेणी चढ़ने वाले जीव के तीनों वेदों में से एक वेद होता है। कषाय पाहुडसूत सूत्रनाँ ४-२१० पृष्ट ७३६ पुस्तक नं १.

(११) जलका स्वाभाविक वर्ण के विषय में दो मत—

सूक्ष्म अपकायिक जीवों के पर्याप्त काल में द्रव्य से कापोत लेश्या कहना चाहिए, तथा बादर कायिक जीवों के स्फटिक वर्णवाली शुक्ल लेश्या कहना चाहिये, क्योंकि, घनोदधिवात और घनवलयबात द्वारा आकास से गिरे हुए पानी का धवल वर्ण देखा जाता है। यहाँ पर कितने ही आचार्य ऐसा कहते है कि धवल, कृष्ण, नील, पीत, रक्त और आताम्र वर्ण का पानी देखा जाने से पानी धवल वर्ण ही होता है ऐसा कहना नहीं बनता ? परन्तु उनका यह कहना युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि, आधार के होने पर मट्ठी के संयोग से जल अनेक वर्ण वाला हो जाता है ऐसा व्यवहार देखा जाता है परन्तु जल का स्वभाविक वर्ण धवल ही हैं। धवल ग्रन्थ पृष्ट ५०६-५१० पुस्तक नं० २

(१२) संक्लेश और विशुद्धि से प्रदेश विन्यास होता है या नहीं इस विषय में दो मत—

तीर्थकरादिकों की आसादना रूप मिथ्यात्व के विना तीव्र कषाय होती नहीं, क्योंकि, ऐसा पाया नहीं जाता। तथा इस प्रकारकी कषायस्थिति उत्कर्षण और स्थितिवन्ध की निमित न हो सो भी नहीं है, क्योंकि, ऐसा होने पर उनके निष्कारण होने का प्रसंग आता है। इसलिये तीव्र संक्लेश विलोम रूप से प्रदेश विन्यासका कारण है और मन्द सँक्लेश अनुलोम रूप से प्रदेश विन्यास का कारण हे ऐसा मानना चाहिए।

शंका—इस प्रदेश रचना का क्या फल है ?

समाधान—बहुत कर्म स्कन्धों का संचय करना ही इसका फल है।

शंका—संक्लेश और विशुद्धि इन दोनों से अनुलोम रूप से ही प्रदेश विन्यास होता है, ऐसा क्यों नहीं मानते ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, विरुद्ध कारणों से एक कार्य होता है, ऐसा मानने में विरोध आता है। यह उच्चारणाचार्य का मत है।

शंका—इससे क्या सिद्ध होता है ?

समाधान—इससे त्याग के बल से जघन्य सत् कर्म को प्राप्त हुए जीव के मिथ्यात्व का जो अपना जघन्य सत्व प्राप्त होता है उससे नरक गति में उसका सत्व असंख्यातवाँ भाग अधिक सिद्ध होता है। किन्तु भूतवली भट्टारक के अभिप्राय से विलोम विन्यास का कारण गुणित कर्मांशिकत्व और अनुलोम विन्यास का कारण क्षपित कर्मांशिकत्व है, न कि संक्लेश और विशुद्धि। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४४ पुस्तक नं० १०।

(१३) आयु के बन्ध के विषय में दो मत—

सूत्र—कमेण कालगदसमाणो पुव्व कोडाउएसु जल चरेसु उववण्णो ॥३६॥

अर्थ—क्रम से काल को प्राप्त होकर पूर्व कोटी आयु वाले जलचरों में उत्पन्न हुआ ॥३६॥

परभव सम्बन्धी आयु के बन्धने के पश्चात् भुज्यमान आयु का कदली घात नहीं होता किन्तु वह जितनी थी उतनी का ही वेदन करता है। इस बात का ज्ञान कराने के कारण "क्रम से" काल को प्राप्त होकर कहा गया है।

शंका—परभविक आयु को बाँधकर भूज्यमान आयु का घात मानने में कोन सा दोप है?

समाधान—नहीं क्योंकि, जिसकी भूज्यमान आयु की निर्जरा हो चुकी है, किन्तु अभी तक जिसके परभव की आयु का उदय प्रात नहीं हुआ है उस जीव का चतुर्गति के बाह्य हो जाने से अभाव प्रात हो जाता है।

शंका—हे भगवान्? आयु में कितने भाग शेप रहने पर जीव परभव की आयु कर्म को बाँधते हुए बाँधते हैं? हे गौतम! जीव दो प्रकार के कहे गये हैं, संख्यात वर्षायुष्क और असंख्यात वर्षायुष्क। उनमें जो असंख्यात वर्षायुष्क है वे आयु के अंशों में छह मास शेष रहने पर परभव की आयु को बाँधते हुए बाँधते हैं। और जो संख्यात वर्षायुष्क जीव हैं वे दो प्रकार के कहे गये हैं। सोपक्रमायुष्क और निरूपक्रमायुष्क। उनमें जो निरूपक्रमायुष्क है वे आयु में त्रीभाग शेष रहने पर परभविक आयु को बाँधते हैं। और जो सोपक्रमायुष्क जीव हैं वे कथंचित त्रिभाग (अर्थात् कथंचित त्रिभाग का त्रिभाग, और कथंचित त्रिभाग, त्रिभाग, त्रिभाग) शेष रहने पर परभव सम्बन्धी आयु को बाँधते हैं। इस व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र के साथ कैसे विरोध नहीं होगा?

समाधान—नहीं क्योकि-इस सूत्र से वह सूत्र भिन्न आचार्य के द्वारा बनाया हुआ होने के कारण पृथक है-अतः उससे इसका मिलान नहीं हो सकता है। धवलग्रन्थ पृष्ठ २३८ पुस्तक नं० १०

(१४) उत्कृष्ट आयु को बांधने वाला कौन हैं और उनको आयु को अपवर्तनाघात होती है या नहीं इस विषय में दो मत—

आयु का उत्कृष्ट बन्ध संयत के होता है। ऐसा कहने पर अपूर्व करण अनिवृतिकरण और सूक्ष्म साम्परायिक उपशामकों का तथा उपशांत कषाय व प्रमत संयतो का ग्रहण किया गया है।

शंका—प्रमत संयतो में उत्कृष्ट अनुभाग का सत्त्व कैसे पाया जाता है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि आयु के उत्कृष्ट अनुभाग को बांधकर प्रमत संयत गुणस्थान को प्राप्त हुए जीव के उसका सत्त्व पाया जाता है।

शंका—संयता संयतादिक नीचे के गुणस्थान में स्थित जीव उत्कृष्ट अनुभाग के स्वामी क्यों नहीं होते?

समाधान—नहीं, क्योंकि-उत्कृष्ट अनुभाग के साथ आयु को बांधने पर संयता-सयतादि अधस्तन गुणस्थानों में गमन नहीं होता।

शंका—उत्कृष्ट अनुभाग को बांधकर उसे अपवर्तना घात के द्वारा घातकर पश्चात अधस्तन गुणस्थान को प्राप्त होने पर उत्कृष्ट अनुभाग का स्वामी क्यों नहीं होता?

समाधान—नहीं क्योंकि घातित अनुभाग के उत्कृष्ट होने का विरोध है। उत्कृष्ट अनुभाग को बांधने पर उसका अपवर्तना घात नहीं होता ऐसा कितने हीं आचार्य कहते हैं, किन्तु वह घटित नहीं होता। क्योंकि ऐसा मानने पर एक तो उत्कृष्ट आयु को बांधकर पश्चात उसका घात करके मिथ्यात्व को प्राप्त

हो अग्निकुमार देवों में उत्पन्न हुए द्वीपायन मुनि के साथ व्यभिचार आता है, दूसरे उसका घात माने बिना महाबन्ध में प्ररुपित उत्कृष्ट अनुभाग का उपार्ध पुद्गल प्रमाण अन्तर भी नहीं बन सकता। धवलग्रन्थ पृष्ठ २०-२१ पुस्तक नं० १२

(१५) जीव संयम को प्राप्त कब करता है इस विषय में दो मत—

गर्भ में आने के प्रथम समय से लेकर आठ वर्षो के बीतने पर संयम ग्रहण के योग्य होता है ऐसा कितने ही आचार्य कहते है, किन्तु वह घटित नहीं होता है, क्योंकि ऐसा मानने पर "योनि निष्क्रमण रुप जन्म से" यह सूत्र वचन नहीं बन सकता। यदि गर्भ में आने के प्रथम समय से लेकर आठ वर्ष ग्रहण किये जाते है तो "गर्भ पतन रुप जन्म से आठ वर्ष का हुआ" ऐसा सूत्रकार कहते, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं कहा है। इसलिये सात मास अधिक आठ वर्ष का होने पर संयम को प्राप्त करता है यही अर्थग्रहण करना चाहिये क्योंकि अन्यथा सूत्र में "सर्वलघु" पद का निर्देश, घटित नहीं होता। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २७६ पुस्तक नं० १०

(१६) अवधि ज्ञान का जघन्य क्षेत्र के विषय में दो मत—

सूक्ष्म निगोद जीव की जघन्य अवगाहना मात्र यह सब ही जघन्य अवधि ज्ञान का क्षेत्र अवधि ज्ञानी जीव और उसके द्वारा ग्रहण किये जाने वाले द्रव्य का अन्तर है ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं, परन्तु यह घटित नहीं होता, क्योंकि ऐसा मानने से सूक्ष्म निगोदिया जीव की जघन्य अवगाहना से जघन्य अवधिज्ञान के क्षेत्र के असंख्यात गुणे होने का प्रसंग आवेगा।

शंका—असंख्यात गुण कैसे होगा ?

समाधान—क्योंकि जघन्य अवधिज्ञान के विषय भूत क्षेत्र के विस्तार और उत्सेध से आयाम को गुणा करने पर उससे असंख्यात गुणत्व सिद्ध होता है। और असंख्यात गुणत्व सम्भव है नहीं क्योंकि "जितनी सूक्ष्म निगोद जीव की जघन्य अवगाहना हो उतना ही जघन्य अवधिज्ञान का क्षेत्र है" ऐसा कहने वाले गाथा सूत्र के साथ विरोध होगा। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २२ पुस्तक नं० ६

(१७) अवधिज्ञानी क्या एक श्रेणी में ही जानता है इन विषय में दो मत—

अवधिज्ञानी एक श्रेणी में ही जानता है अतएव सूत्र विरोध नहीं होगा। ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं। परन्तु यह भी घटित नहीं होगा, क्योंकि ऐसा मानने पर चक्षु इन्द्रिय जन्य ज्ञान से संख्यात सूच्यंगुल विस्तार उत्सेध और आयाम रुप क्षेत्रके भीतर स्थित वस्तु का ग्रहण देखा जाता है। तथा वैसा मानने पर इस जघन्य अवधि ज्ञान के क्षेत्र का आयाम असंख्यात योजन प्राप्त होगा।

शंका—यदि उक्त अवधिज्ञानका आयाम असंख्यातगुणा प्राप्त होता है तो होने दीजिये क्योंकि वह इष्ट ही है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसके कालसे असंख्यातगुणे अर्ध मास काल से अनुमित असंख्यात गुणे भरत रूप अवधि क्षेत्र में भी असंख्यात योजन प्रमाण आयाम नहीं पाया जाता। दूसरे उत्कृष्ट देशावधिज्ञानी संयत अपने उत्कृष्ट द्रव्य को आदि करके एक परमाणु आदि अधिक क्रम से स्थित घनलोक के भीतर रहने वाले सब पुद्गल स्कन्धों को क्या युगपत जानता है या नहीं ? यदि नहीं जानता है तो उसका अवधि क्षेत्र लोक नहीं हो सकता क्योंकि वह एक आकाश श्रेणी मे स्थित पुद्गल स्कन्धों को ग्रहण करता है। और यह एक

आकाश पंक्ति-घन लोक प्रमाण हो नहीं सकती, क्योंकि घन लोक के असंख्यात में भाग रूप घन लोक प्रमाणत्वका विरोध है इसके अतिरिक्त वह कुलाचल, मेरू पर्वत, भवन विमान, आठ पृथिवियाँ देव, विद्याधर, गिरगिट और सरी सृपादिकों को भी नहीं जान सकेगा क्योंकि इनका एक आकाश में अवस्थान नहीं है। और वह उनके अवयव को भी नहीं जानेगा क्योंकि अवयवी के अज्ञात होने पर "यह उसका अवयव है" इस प्रकार जानने की शक्ति नहीं हो सकती। यदि वह युगपत् सब घनलोक को जानता है तो हमारा पक्ष सिद्ध है क्योंकि वह प्रतिपक्ष से रहित है।

सूक्ष्म निगोद जीवकी अवगाहना को घन प्रतरकार से स्थापित करने पर एक आकाश विस्तार रूप अनेक श्रेणी को ही जानता है ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं परन्तु यह भी घटित नहीं होता क्योंकि ऐसा होने पर "जितनी सूक्ष्म निगोद जीवकी जघन्य अवगाहना है उतना ही जघन्य अवधिका क्षेत्र है "ऐसा कहने वाले गाथा सूत्र के साथ विरोध होगा। और छद्मस्थों के अनेक श्रेणीयोंका ग्रहण विरुद्ध नहीं है क्योंकि चक्षु इन्द्रिय जन्य ज्ञान से अनेक श्रेणियों में स्थित पुगद्लस्कन्धों का ग्रहण पाया जाता हैं। धवलग्रन्थ पृष्ठ २३-२४ पुस्तक नं० ६

(१८) नरकगति नाम कर्म प्रकृति के साथ जिन प्रकृतियों का युगपत उदय होता है वे प्रकृतियाँ नरकगति नाम कर्म के साथ बंध को प्राप्त होती हैं इस विषय में दो मत—

शंका—नरक गति के साथ एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रीय जाति नाम वाली प्रकृतियाँ क्यों नहीं बंधती हैं ?

समाधान—नहीं क्योंकि नरकगति के बन्ध के साथ इन द्वीन्द्रिय जाति आदि प्रकृतियों के बन्ध का विरोध है।

शंका—इन प्रकृतियों के सत्व का एक साथ एक जीव में अवस्थान देखा जाता है। इसलिये बन्ध का विरोध नहीं होना चाहिए ?

समाधान—सत्व की अपेक्षा उक्त प्रकृतियों के एक साथ रहने का विरोध भले ही न हो क्योंकि ऐसा माना गया है। किन्तु बन्ध की अपेक्षा उन प्रकृतियों के एक साथ रहने में विरोध का अभाव नहीं है। अर्थात् विरोध ही है क्योंकि इस प्रकार का उपदेश नहीं पाया जाता है। और सत्व में विरोध का अभाव देखकर बंध में भी उनका अभाव नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि बंध और सत्व में एकत्व का विरोध है अर्थात् बंध और सत्व ये दोनों एक वस्तु नहीं हैं।

कितने ही आचार्य यह कहते हैं कि नरक गति नामक नाम कर्म की प्रकृति के साथ जिन प्रकृतियों का युगपत उदय होता है वे प्रकृतियाँ नरक गति नाम कर्म के साथ बंध को प्राप्त होती हैं। किन्तु उनका यह कथन घटित नहीं होता है, क्योंकि ऐसा मानने पर ध्रुव उदयशील होने से नरक गति नाम प्रकृति के साथ उदय में आने वाले स्थिर और शुभ नाम कर्मों का नरकगति के साथ बंध का प्रसंग आता है। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि शुभ प्रकृतियों का अशुभ प्रकृतियों के साथ बंध का अभाव है। इसलिये नरक गति के साथ जिन प्रकृतियों का उदय नहीं है एकान्त से उनका बन्ध नहीं ही होता है। किन्तु जिन प्रकृतियों का एक साथ उदय होता है उनका नरक गति के साथ कितनी ही प्रकृतियों का बंध होता है और कितनी ही प्रकृतियों का बंध नहीं होता है ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए। धवलग्रन्थ पृष्ठ १०२-१०३ पुस्तक नं० ६।

(१९) बादर पृथिवी कायिक प्रत्येक शरीर में जीव अधिक से अधिक कितने काल तक रहता है इस विषय में दो मत—

सूत्र—अधिक से अधिक कर्म स्थिति प्रमाण काल तक जीव बादर पृथिविकायिक प्रत्येक शरीर पर्याय में रहते है ।।७७।।

सूत्र में जो कर्म स्थिति शब्द है उससे सत्तर सागरोपम कोड़ाकोड़ी मात्र काल का ग्रहण करना चाहिये, क्योकि विशेष कर्मो की स्थिति को छोड़कर कर्म सामान्य की आयु स्थिति का ही यहाँ ग्रहण किया गया है। कितने ही आचार्य ऐसा कहते हैं कि सत्तर सागरोपम कोड़ाकोड़ी को आवली के असंख्यातवें भाग से गुणा करने पर बादर पृथिविकायादि जीवों की काय स्थिति का प्रमाण आता है किंतु उनकी यह कर्म स्थात संज्ञा कार्य में कारण के उपचार से ही सिद्ध होती है।

शंका—ऐसा व्याख्यान है यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—"कर्म स्थिति को आवली के असंख्यात भाग से गुणित करने पर बादर स्थिति होती है" ऐसे परिकर्म के वचन की अन्यथा उपपति वन नहीं सकती इसी से उपर्युक्त व्याख्यान जाना जाता है।

वहां पर यद्यपि सामान्य से "बादर स्थिति होती है" ऐसा कहा है तो भी पृथिवि कायादिक बादर प्रत्येक शरीर जीवों की स्थिति ग्रहण करना चाहिये क्योकि सूत्र में बादर स्थिति का प्ररुपण असंख्यात-असंख्यात अवसर्पिणी प्रमाण किया गया है। धवलग्रन्थ पृष्ठ १४४-१४५ पुस्तक नं० ७

(२०) बन्ध व्युच्छिति के विषय में दो मत—

संज्वलन क्रोध के विनिष्ट होने पर जो शेष अनिवृति बादर काल का संख्यातवां भाग रहता है उसके संख्यात खण्ड करने पर उनमें बहु भागों को बिताकर एक भाग शेष रहने पर संज्वलन मान का बन्ध व्युच्छेद होना है। पुनः एक खण्ड के संख्यात खण्ड करने पर उनमें बहुत खण्डों को बिताकर एक खण्ड शेष रहने पर संज्वलन माया का बन्ध व्युच्छेद होता है।

शंका—यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—"शेष शेष में संख्यात बहुभाग जाकर" इस वीप्सा अर्थात् दो वार निर्देश से उक्त प्रकार दोनों प्रकृत्तियों का व्युच्छेद काल जाना जाता है।

शंका—कषाय प्राभृत के सूत्र से तो यह सूत्र विरोध को प्राप्त होता है ?

समाधान—ऐसी आशंका होने पर कहते हैं कि—सचमुच में कषाय प्राभृत के सूत्र से यह सूत्र विरुद्ध है परन्तु यहां एकांत ग्रहण नहीं करना चाहिये क्योंकि "यही सत्य है" या "वही सत्य है" ऐसा श्रुत केवलीयों अथवा प्रत्यक्ष ज्ञानियों के विना निश्चय करने पर मिथ्यात्व का प्रसंग होगा।

शंका—सूत्रों के विरुद्ध कैसे हो सकता है।

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि अल्प श्रुत के धारक आचार्यों ने परतंत्र सूत्र व उपसंहारों के विरोध की सम्भावना देखी जाती है।

शंका—उपसंहारों के सूत्रपना कैसे उचित है ?

समाधान—यह भी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि अलिंजर (घटविशेष) घंट, घंटी, शराव व उदंचन आदि में स्थित भी अमृत सागर के जल में अमृतत्त्व पाया ही जाता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ५६ पुस्तक नं० ८

(२१) कौनजीव बाईस प्रकृति रुप सत्व स्थान की विभक्ति करने वाला होता है इन विषय में दो मत—

कौनजीव बाईस प्रकृति रुप सत्त्व स्थान की विभक्ति करने वाला होता है ? मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व के क्षपित हो जाने पर तथा सम्यक्त्व प्रकृति के शेष रहने पर मनुष्य अथवा मनुष्यनी कृत्य कृत्य वेदक सम्याट्टष्टि जीव बाईस प्रकृति रुप सत्त्व स्थान की विभक्ति करने वाला होता है। सूत्र नं० ६५

विशेपार्थ—शंका—कृत्य कृत्य वेदक सम्यग्ट्टष्टि तो मरणकर चारों गतियों में उत्पन्न हो सकता है फिर यहाँ पर मनुष्य अथवा मनुष्यनी को ही बाईस प्रकृति की विभक्ति का स्वामी कैसे कहा ?

समाधान—कुछ आचार्यों के उपदेशानुसार कृत्य-कृत्य वदेक सम्यग्ट्टष्टि जीव का मरण होता ही नहीं हैं इसीलिये सूत्र में मनुष्य पद दिया है। कुछ आचार्यों का यह मत है कि कृत्य-कृत्य वदेक का मरण होता हैं और वह चारों ही गति में उत्पन्न हो सकता है उनके मतानुसार सूत्र में दिये गये मनुष्य पद का अर्थ यह लेना चाहिये कि दर्शन मोह के क्षपण का प्रारम्भ मनुष्य के ही होता है। हां निष्टापन चारों गतियों में हो सकता हैं। महाधवल पृष्ठ ६० पुस्तक नं० १

नोट:—यह प्रकरण क्षपक श्रेणी का कौन स्वामी है उसमें मात्र दर्शन मोह का ही क्षपण का जवाब समाधान में दिया गया है जो उचित नहीं है।

(२२) दूरा प्रकृष्टि एक विकल्प रूप है या अनेक विकल्प रूप इन विषय में दो मत—

शंका—दूरा प्रकृष्टि एक रूप है या अनेक विकल्प रूप है ?

समाधान—कितने आचार्यों के मत से एक विकल्प रूप है अर्थात् वह कहते हैं कि आगे आवली प्रमाण स्थिति सत्व रहने तक स्थितिकाण्डक घात का प्रमाण सर्वत्र ही समान ही रहता है। परन्तु जय धवलाकार ने इस मत का खण्डन करके यह सयुक्ति सिद्ध किया है कि दूरा प्रकृष्टि अनेक विकल्प रूप है।

शंका—दूरा प्रकृष्टि किसे कहते हैं ?

समाधात—पल्य प्रमाण स्थिति सत्त्व से अत्यन्त दूर तक अपकर्षण कर अर्थात् स्थिति को घटाते-घटाते जब वह पल्क के असंख्यातवें भाग मात्र रह जाय ऐसे सबसे अन्तिम स्थिति सत्व को दूरा प्रकृष्टि कहते हैं। दूरा प्रकृष्टि का दूसरा अर्थ यह भी किया गया है कि इस स्थल से आगे अवशिष्ट स्थिति सत्व के असंख्यात बहुभागों को ग्रहण करके एक-एक स्थिति काण्डक घात होता है। कपाय पाहुड सुत्त पृष्ठ ६४८ पुस्तक नम्बर १

(२३) देवों कितना क्षेत्र को रोक कर विक्रिया करते हैं इस विषय में दो मत—

शंका—असंख्यात योजन क्षेत्र को रोक कर विक्रिया करने वाले देव पाये जाते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, असंख्यात योजन प्रमाण विक्रिया करने वाले देव सामान्य देवों के असंख्यातवें भाग मात्र ही होते हैं। कितने ही आचार्य ऐसा कहते हैं कि सभी देव अपने अवधिज्ञान के क्षेत्र

प्रमाण विक्रिया करते है, परन्तु उनका यह कथन घटित नहीं होता है। क्योंकि वैक्रियिक समुद्घात को प्राप्त हुई राशि "तिर्यग्लोक के संख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्र में रहती हैं" ऐसा व्याख्यान देखा जाता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३८, पुस्तक नं० ४

(२४) औदारिक शरीर की जघन्य संघातनकृति किसके होती हैं इस विषय में दो मत हैं—

शंका—औदारिक शरीर की जघन्य संघातन कृति किसके होती है ?

समाधान – जो कोई जीव सूक्ष्म है, अपर्याप्त है, प्रत्येक शरीरी है, अनादिलम्भ में पतित है, अर्थात् जिसने अनेक बार इस पर्याय को ग्रहण किया है, प्रथम समय में तद भवस्थ हुआ है। प्रथम समय से अहारक है और सबसे जघन्य योगवाला है, उसके औदारिक शरीर की जघन्य संघातन कृति होती है। इससे भिन्न अजघन्य संघातन कृति होती है।

शंका—"अनादि लम्भ में पतित" यह किस लिए कहा जाता है ?

समाधान—यह ठीक नहीं है, चूंकि प्रथम लम्भ में सर्व जघन्य उपपाद योग नहीं पाया जाता अतः "अनादि लम्भ में पतित" ऐसा कहा गया है। "प्रत्येक शरीर के" यह सत्कर्म प्रकृति प्राभृत का वचन है और पूर्व कोटि प्रमाण आयु के अन्तिम समय में उत्कृष्ट स्वामित्व का निर्देश ये दोनों वचन चूंकि सूत्र विरुद्ध हैं। इसलिए इनका अनादर नहीं करना चाहिए, क्योंकि दो सूत्रों में मध्य में विरोध होने पर चुप्पी का अवलम्बन करना ही न्याय है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३३२ पुस्तक नं० ६

(२५) संक्लेश तथा विसुद्धि किसको कहते हैं इस विषय में दो मत—

शंका—संक्लेश नाम किसका है ?

समाधान—असाता का बन्ध योग्य परिणाम को सँक्लेश कहते हैं।

शंका—विशुद्धि नाम किसका है ?

समाधान—साता के बन्ध योग्य परिणाम को विशुद्धि कहते है।

कितने ही आचार्य ऐसा कहते हैं कि उत्कृष्ट स्थिति से अधस्तन स्थितियों को बाँधने वाले जीव का परिणाम "विशुद्धि" इस नाम से कहा जाता है, और जघन्य स्थिति से उपरिम द्वितीय, तृतीय आदि स्थितियों को बांधने वाले जीव के परिणाम "संक्लेष" कहलाता है। किन्तु उनका यह कथन घटित नहीं होता, क्योंकि जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति के बांधने के योग्य परिणाम को छोड़कर शेष मध्यम स्थितियों के बांधने योग्य सर्व परिणामों के भी संक्लेष और विशुद्धिता का प्रसङ्ग आता है। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि एक परिणाम के लक्षण भेद के बिना द्विभाव अर्थात् दो प्रकार के होने का विरोध है।

शंका—वर्धमान स्थिति को संक्लेश का तथा हीयमान स्थिति को विशुद्धि का लक्षण मान लेने से भेद विरोध को प्राप्त नहीं होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, परिणाम स्वरूप होने से जीव द्रव्य में अवस्थान् को प्राप्त और परिणामान्तरों में असंभव ऐसे वृद्धि और हानि इन दोनों धर्मों के परिणाम लक्षणत्व का विरोध है।

कषाय की वृद्धि भी संक्लेश का लक्षण नहीं है क्योंकि अन्यथा स्थिति बन्ध की वृद्धि बन नहीं सकती है, तथा विशुद्धि के काल में वर्धमान कषाय वाले जीव के भी संक्लेशत्व का प्रसङ्ग आता है। और विशुद्धि के काल में कषायों की वृद्धि नहीं होती है ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर

साता आदि के भूजाकर बन्ध के अभाव का प्रसङ्ग प्राप्त होगा। तथा असाता और साता इन दोनों के बन्ध का संक्लेश और विशुद्धि इन दोनों को छोड़कर अन्य कोई कारण नहीं है, क्योंकि ऐसा कोई कारण पाया नहीं जाता है। कषायों की वृद्धि केवल असाता के बन्ध का कारण नहीं है, क्योंकि, उसके अर्थात् कषायों की वृद्धि के काल मे साता का बन्ध भी पाया जाता है। इसी प्रकार कषायों की हानि केवल साता के बन्ध का कारण नहीं है, क्योंकि, वह भी साधारण है, अर्थात् कषायों की हानि के काल में असाता का बन्ध भी पाया जाता है।

विशेषार्थ—पूर्व में थोड़ी प्रकृतियों का बन्ध होकर पश्चात् अधिक प्रकृतियों के बन्ध होने को भुजाकार बन्ध कहते हैं। जैसे उपशांत कषाय गुणस्थान में केवल एक साता वेदनीय कर्म का बन्ध होता है। वहाँ से दशवें सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान में आने पर आयु और मोह को छोड़कर शेष छह मूल प्रकृतियों का बन्ध होने लगता है। दशवें से नवमें व आठवें गुणस्थान में आने पर आयु को छोड़कर शेष सात मूल प्रकृतियों का बन्ध होने लगता है। आठवें गुणस्थान से नीचे आने पर आठों ही प्रकृतियों का बन्ध संभव हो जाता है। यह भूजाकार बन्ध है। यहाँ पर भुजाकार बन्ध के उक्त स्थानों में विशुद्धि होने पर भी कषायों की वृद्धि है और इससे वे भुजाकार बन्ध स्थान सम्भव होते है। कषायों की वृद्धि होने पर भी वहाँ साता वेदनीय कर्म का बन्ध होता है। तथा कषायों की हानि होने पर भी छटवें गुणस्थान तक असाता का बन्ध होता रहता है। अतः कषाय वृद्धि को संक्लेश का लक्षण नहीं माना जा सकता है।

दूसरी बात यह है कि विशुद्धियाँ उत्कृष्ट स्थिति में अल्प होकर गणनाकी अपेक्षा बढ़ती हुई जघन्य स्थिति तक चली जाती हैं। किन्तु संक्लेश जघन्य स्थिति में अल्प होकर ऊपर प्रक्षेप उत्तर क्रमसे अर्थात् सदृश प्रचय रूप से बढ़ते हुए उत्कृष्ट स्थितितक चले जाते हैं। इसलिए संक्लेशों से विशुद्धियाँ प्रथग्भूत होती है ऐसा अभिप्राय जानना चाहिये, अतएव यह स्थित हुआ कि साताके बन्ध योग्य परिणाम का नाम—विशुद्धि है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १८-८३ पुस्तक नं० ६ (८४)

(२६) स्वयंम्भूरमण समुद्र के बाह्य तटके विषय में दो मत—

स्वयंम्भूरमण समुद्र के बाह्य तट का अर्थ उसकी अंगभूत बाह्य वेदिका है, वहाँ, स्थित महामत्स्य, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं। किन्तु वह घटित नहीं होता, क्योंकि, वैसा स्वीकार करने पर आगे कहे जाने वाले "तन वात वलय से संलग्न हुआ" इस सूत्र के साथ विरोध आता है। कारण कि स्वयंम्भूरमण समुद्र की बाह्य वेदिका से तीनों ही वात वलय सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर तिर्यग्लोक समवन्धी विस्तार प्रमाण के एक राजुसे हीन होने का प्रसंग आता है।

शंका—वह कैसे जाना जाता है?

समाधान—चूं कि जम्बूद्वीप सम्बन्धी एक लाख योजन प्रमाण विस्तार की अपेक्षादुगुणे क्रम से गये हुए सब द्वीप समुद्रों के विस्तारों को मिलाने पर जग श्रेणी का सातवाँ भाग(राजु) उत्पन्न नहीं होता, अतः इससे जाना जाता है कि, तीनों वातबलय स्वयंम्भूरमण समुद्रकी बाह्य वेदीका से सम्बन्ध नहीं है।

शंका—वह भी कैसे जाना जाता है?

समाधान—एक अधिक द्वीप समुद्र सम्बन्धी रूपोंका बिरलन कर दुगणा करके परस्पर गुणित करने पर जो प्राप्त हो उसमें तीन रूपों का क्रम करके एक लाख योजन से गुणित करने

पर द्वीप समुद्रों द्वारा रोके गये तिर्यग्लोक क्षेत्र का आयाम उत्पन्न होता है, अतः इससे जाना जाता है कि उक्त प्रकार से जग श्रेणी का सातवाँ भाग नहीं उत्पन्न होता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १७ पुस्तक नं० ११

(२७) महामत्स्य मुख और पूछमें अति सूक्ष्म है इस विषय में दो मत—

महामत्स्य मुख और पूंछ में अति सुक्ष्म है ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं। किन्तु यहाँ के मत्स्यो के देख कर यह घटित नहीं होता तथा कहीं कहीं मत्स्यों के अंगों में व्यभिचार देखा जाता है। अथवा ये विष्कम्भ और उत्सेध समकरण सिद्ध हैं, ऐसा कितने ही आचार्य कहते है। दूसरी बात यह है कि अतिशय सूक्ष्म मुख से संयुक्त महामत्स्य एक सौ योजन की अवगाहना वाले अन्य तिमिंगल आदि मत्स्यों के निगलने में समर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि, उसमें विरोध आता है। धवलग्रन्थ पृष्ठ १६ पुस्तक नं० ११

(२८) सर्वार्थ सिद्धि देव की संख्या में तीन मत—

धवल ग्रन्थ पुस्तक नम्वर ३ पृष्ठ २८६ में लिखा है कि—"सर्वार्थ सिद्धि विमान वासी देव मनुष्यनियों के प्रमाण से तिगुणे है" जब वही पुस्तक के पृष्ठ नम्बर २९८ मे लिखते है कि—"सर्वार्थसिद्धि विमान वासी देव मिथ्यादृष्टि मनुष्यनियों से तिगुणे अथवा सात गुणे है।" जब धवलग्रन्थ पुस्तक नम्बर ७ के पृष्ठ नम्वर ५७७ में लिखा है कि "मनुष्यनियों से सर्वार्थ सिद्धि विमान वासी देव संख्यात गुणे है।" सूत्र नं० ४॥

कोई आचार्य सात रुप, कोई आचार्य चार रुप और कितने ही आचार्य संख्यात रुप गुणकार है ऐसा कहते है। तीनों के मध्य में एक जात्य (श्रेष्ठ) उपदेश है परन्तु वह जाना नहीं जाता, क्योंकि इस विषय में विशिष्ट उपदेश का अभाव है। इस कारण तीनों का ही संग्रह करना चाहिये। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ५७६-५७७ पुस्तक नम्बर ७॥

(२९) मनुष्य तथा मनुष्यनिनी की संख्या में मूल-सूत्र में दो बातें—

धवलग्रन्थ पुस्तक नम्वर ३ पृष्ठ २९८ में लिखा है कि—"पर्याप्त मिथ्यादृष्टि मनुष्य असंयत सम्यग्दृष्टि मनुष्यों से संख्यात गुणा हैं। मिथ्यादृष्टि मनुष्यनि पर्याप्त मिथ्यादृष्टि मनुष्यों से संख्यात गुणे है।" जब धवलग्रन्थ पुस्तक नम्बर ७ में खुदाबन्धो विशेष अल्प बहुत्व में लिखते है कि—"सूत्रनं. ८ मनुष्यनी सबसे स्तोक है। सूत्र नं० ९ मनुष्यनी से मनुष्य असंख्यात गुणे है" जब वही पुस्तक नम्बर ७ में महादण्डक मे अल्प बहुत्व दिखाते मूल सूत्र में लिखा है कि—"मनुष्य पर्याप्त गर्भोक्रान्तिक सबसे स्ताके है। सूत्र नं०२॥ पर्याप्त मनुष्यों से मनुष्यणी संख्यात गुणी है। सूत्र नं० ३।"

नोट—जिन सूत्रों को हम गणधर कृत मानते है इसमें भी इस प्रकार की बातें कैसे हो सकती है? यथार्थ में यह गणधर कृत नहीं हैं।

(३०) संयतोकी संख्या में दो मत—

प्रमत संयत जीव द्रव्य प्रमाण की अपेक्षा कितने है? कोटि पृथक्त्व प्रमाण है। सूत्र नं० ७॥

शंका—पृथक्त्व इस पद से तीन कोटि के ऊपर और नौ कोटि के नीचे जितनी संख्या है वह लेना चाहिये। परन्तु वह मध्य की संख्या अनेक विकल्प रूप होने से यही संख्या यहां ली गई है। यह नहीं जाना जाता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यह परमगुरु के उपदेश से जाना जाता है। उसमें प्रमत्त संयत जीवों का प्रमाण पांच करोड़ तिरानवै लाख अट्ठानवे हजार दो सौ छह है। ५९३९८२०६ है।

शंका—यह संख्या इतनी ही है यह कैसे जाना जाता है?

समाधान—आचार्य परंपरा से आये हुए जिनेन्द्र देव के उपदेश से यह जानाजाता है कि यह संख्या इतनी ही है।

अब गुरु उपदेश से अप्रमत्त जीवों का प्रमाण कहते है?

अप्रमत्त संयत जीवों का प्रमाण दो करोड़ छयानवें लाख निन्यानवें हजार एक सौ तीन है। अङ्कों से भी अप्रमत्त संयत २९६९९१०३ इतने ही है। कहा भी है कि—

तिगहिय मद णवणउदी छण्णउदी अप्पमत्त वे कोडी।
पंचेव य तेणउदी णवट्ठ विसया छउत्तरा चेय ॥४१॥ गो. जी. ६२५

अर्थ—प्रमत्त संयत जीवों का प्रमाण पाँच करोड़ तिरानवें लाख अट्ठानवें हजार दो सौ छह है, और अप्रमत्त जीवों का प्रमाण दो करोड़ छयानवें लाख निन्यानवे हजार एक सौ तीन है।

शका—अप्रमत्त संयत के द्रव्य से प्रमत्त संयत का द्रव्य किस कारण से दूना है?

समाधान—क्योंकि, अप्रमत्त संयत के काल से प्रमत्त संयत का काल दुगुणा है।

क्षपक जीवों का प्रमाण ६०७ है और उपशमक जीवों का प्रमाण ३०४ है यह उत्तर मान्यता है। ६०७ में से दश निकाल देने से दक्षिण मान्यता होती है।

उपशमक तथा क्षपक जीवों के प्रमाण की प्ररूपणा करने वाली गाथा देते हैं—

तिसर्दि वदंति केई चउरुत्तरमत्थपंचयं केई।
उवसा मगेसु एदं खवगाणं जाण तद्‌ दुगुणं ॥४५॥ गो. जी. ६२८
चउरुत्तर तिण्णिसयं पमाण मुवसामगाण केई तु।
सं चेव य पंचूणं भणंति केई तु परिमाणं ॥४६॥ सं. पं. ६९

अर्थ—कितने ही आचार्य उपशमक जीवों का प्रमाण तीन सौ कहते हैं, कितने ही आचार्य तीन सौ चार कहते हैं, और कितने ही आचार्य तीन सौ चार में से पाँच कम अर्थात् दो सौ निन्यानवे कहते हैं। इस प्रकार यह उपशमक जीवों का प्रमाण है। क्षपकों को इससे दूना जानों ॥४५॥

कितने ही आचार्य उपशम जीवों का प्रमाण तीन सौ चार कहते हैं, और कितने ही आचार्य पाँच कम तीन सौ चार अर्थात दो सौ निन्यानवे कहते हैं ॥४६॥

संयोगी जीवों की सख्या आठ लाख अट्ठानवे हजार पाँच सौ दो है। कहा भी है कि—

अट्ठेव सयसहस्सा अट्ठाण उदी तहा सहस्साइं।
संखा जोगि जिणाणं पंचसद विउत्तरं जाण ॥४८॥ गो०जी० ६२९

अर्थ—संयोगी जीवों की संख्या आठ लाख अट्ठानवे हजार पाँच सौ दो जानो ॥४८॥

अत्र अयाख्यात संयतो की संख्या आठ लाख निन्यानवे हजार नौ सौ सत्तानवे है। कहा भी है कि–

अट्ठेय सयसहस्सा णवणउ दिसहस्स चेव णवयसया
सत्ताणउदी य तहा जहक्खादा होंति ओघेण ॥४९॥गो०जी० ६२९

इस रासी में से उपशमक तथा क्षपक जीवों के प्रमाण को निकाल देना चाहिये। उपशमक तथा क्षपक जीवों के प्रमाण की प्ररूपणा करने वाली गाथा इस प्रकार है।

णव चेव सयसहस्सा छव्वीससया य होंति अडसीया।
परिमाणं णायव्वं उवसम-खवगाण मेदं तु ॥५०॥

अर्थ–उपशमक तथा क्षपक जीवों का परिमाण नौ लाख दो हजार छह सौ अट्ठासी जानना चाहिये ॥५०॥

संयतों की सम्पूर्ण रासी में से उपशम तथा क्षपक जीव रासी को निकाल कर तीन का भाग देना चाहिए। जो तीसरा भाग लब्ध आया उतना अप्रमत्त जीव रासी का प्रमाण है। इसे दूना करने पर प्रमत्त संयत जीव रासी का प्रमा होता है। कहा भी है कि–

सत्तादी अट्ठंता छण्णवमज्झा य संजदा सव्वे।
तिग भजिदा विगगुणि दापमत्त रासी पमत्तादु ॥५१॥गो०जी०६३३

अर्थ–जिस संख्या की आदि में सात हैं अन्त में आठ है और मध्य में छह वार नौ हैं उतने अर्थात् आठ करोड निन्यानवे लाख निन्यानवे हजार नौ सौ सत्तानवे सर्व सयत हैं ॥५१॥

यह दक्षिण मान्यता है। यह पूर्वोक्त गाथा ठीक नहीं है, ऐसा कितने ही आचार्य युक्ति के वल से कहते हैं।

शंका—यह कौनसी युक्ति है ? आगे शंकाकार उसी युक्ति का समर्थन करता है। कि सपूर्ण तीर्थंकरों की अपेक्षा पद्मप्रभभट्टारक का शिष्य परिवार अधिक था, क्योंकि, वे तीन लाख तीस हजार मुनिगणोंसे वेष्टित थे। इस संख्या को एक सौ सत्तर से गुणा करने पर पाँच करोड़ इकसठ लाख संयत होते हैं। परन्तु यह संख्या पूर्व गाथा में कहे गये संयतो के प्रमाण को नहीं प्राप्त होती है इसलिये पूर्व गाथा ठीक नहीं है ?

समाधान—संपूर्ण अवसर्पिणियों की अपेक्षा यह हुंडावसर्पिणि है, इसलिये युगके महात्म से घटकर वह स्वभाव को प्राप्त हुए हुंडावसर्पिणि काल सम्बन्धी तीर्थंकरों के शिष्य परिवार को ग्रहण करके गाथा सूत्रको दुषित करना शक्य नहीं है, क्योंकि, शेष अवसर्पिणीयों के तीर्थंकरों के बड़ा शिष्य परिवार पाया जाता है। दूसरे भरत और ऐरावत क्षेत्र में मनुष्यों की अधिक संख्या नहीं पाई जाती है, जिससे उन दोनों क्षेत्र सम्बन्धी एकतीर्थंकर के संघ के प्रमाण से विदेह सम्बन्धी एक तीर्थंकर का समान माना जाया किन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्र के मनुष्यों से विदेह क्षेत्र के मनुष्य संख्यात गुणे है। उसका स्पष्टिकरण इस प्रकार है।

अन्तर द्वीपों के मनुष्य सब से थोड़े है। उत्तर कुरु और देव कुरु के मनुष्य उनसे संख्यातगुणे हैं। हरि और रम्यक क्षेत्रों के मनुष्य उत्तर कुरु और देव कुरु के मनुष्यों से संख्यात गुणे हैं। हेमवत और हिरयवत क्षेत्रों के मनुष्य हरि और रम्यक के मनुष्यों से संख्यात गुणे हैं। भरत और ऐरावत क्षेत्रों के मनुष्य हरि और रम्यक के मनुष्यों से संख्यात गुणा है। विदेह क्षेत्र के मनुष्य भरत और

ऐरावत के मनुष्यों से संख्यात गुणे हैं। बहुत मनुष्यों में क्योंकि संयत बहुत ही होंगे इसलिये इस क्षेत्र सम्बन्धी संयतों के प्रमाण को प्रधान करके जो दूषण कहा गया है वह दूषण नहीं हो सकता हैं, क्योंकि वह बुद्धि रहित आचार्यों के मुख से निकला हुआ है।

आगे उत्तर मान्यता को बतलाते हैं—

उत्तर मान्यताके अनुसार संयतों में प्रमत्त संयतों का प्रमाण केवल चार करोड़ छयासठलाख छयासठ हजार छह सौ चौसठ है। कहा भी है कि—

चउसट्ठी छच्च सया छासट्ठि सहस्स चेव परिमाणं।
छासट्ठि सयसहस्सा कोडि चउक्कं पमत्ताण ॥५२॥

अर्थ—प्रमत्त संयतो का प्रमाण चार करोड़ छयासठ लाख छयासठ हजार छसौ चौसठ है। ४६६६६६६४ है।

दो करोड़ सत्ताईस लाख निन्यानवे हजार चार सौ अट्ठानवे अप्रमत्त संयत जीव हैं। कहा भी है कि—

वेकोडी सत्तवीसा होंति सहस्सा तहेव णवणउदी।
चउसद अट्ठाणउदी परिसंखा होदि बिदियगुणा ॥५३॥

अर्थ—द्वितीय गुण स्थान अर्थात् अप्रमत्त संयत जीवों की संख्या दो करोड़ सत्ताईस लाख निन्यानवे हजार चार सौ अट्ठानवे हैं। ५३॥ धवल ग्रन्थ पृष्ठ ८९ से १०० पुस्तक नम्बर ३

(३१) राजुका अर्धच्छेद कहां होता है ? दो मत—

शंका—स्वयंभूरमण समुद्र के परभाग में राजु के अर्धच्छेद होते है, यह कैसे जाना ?

समाधान—ज्योतिष्क देवों का प्रमाण निकालने के लिये दो सौ छप्पन सूच्यंगुल के वर्ग प्रमाण जगत प्रतरका भाग हार बतलाने वाले, सूत्र से जाना जाता है कि स्वयंभूरमण समुद्र के परभाग में भी राजु के अर्धच्छेद होते है।

शंका—"जितनी द्वीप और सागरों की संख्या है, तथा जितने जम्बू द्वीप के अर्धच्छेद होते हैं, एक अधिक उतने ही राजु के अर्धच्छेद होते हैं" इस प्रकारके परि कर्म सूत्र के साथ यह उपर्युक्त व्याख्यान क्यों नहीं विरोध को प्राप्त होगा ?

समाधान—भले ही परिकर्म सूत्र के साथ उक्त व्याख्यान विरोध को प्राप्त होवे, किन्तु प्रस्तुत सूत्र के साथ तो विरोधको प्राप्त नही होता है। इसलिए इस ग्रन्थ के व्याख्यान को ग्रहण करना चाहिये। परिकर्म के व्याख्यान को नहीं, क्योंकि, वह व्याख्यान सूत्र से विरुद्ध है। और जो सूत्र विरुद्ध हो उसे व्याख्यान नहीं माना जा सकता है। अन्यथा अति प्रसंग दोष प्राप्त होता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १५५-१५६ पुस्तक नं० ४

विशेषार्थ—धवलाकार ने यहां स्पष्ट कहा है कि उक्त कथन सूत्र विरुद्ध होने से ग्राह्य नहीं हैं। किन्तु द्रव्य प्रमाणानुगम में उस विरोध का भी एक प्रकार से परिहार किया हैं। देखो तृतीया भाग सूत्र४ पृष्ठ ३३-३६

यह तो थोड़ा सा नमूना दिखाया है। विशेष देखना होय तो धवल ग्रन्थ से देख लीजिये। आचार्य का अनेक मत होने से हम निर्णय या समाधान कर लेते हैं तब हमारे और आपके मत में विरोध मालूम पड़े तो समाधान न कर डुंडी क्यों पीटी जाती है ? शान्ति से विचार तो कीजिये। परन्तु विचार करे कौन ? क्योंकि यह डुंडी केवल कषाय भाव से ही पीटी जाती है। यदि उनमें धर्म की गन्ध होती तो स्याद्वादका

जानकार नियम से समाधान कर लेता। परन्तु कहे किसको ! कोई जीव किसी की उन्नति देख नहीं सकता है।

श्रीकानजी स्वामी श्रावक हैं। श्रावक के नाते से उनका सत्कार करना यह दूसरे श्रावक का कर्त्तव्य हैं। तो भी वीतरागी कहलाने वाले आचार्य ऐसा आदेश करते हैं कि श्री कानजी स्वामी का सत्कार नहीं करना। वीतरागी मुनि को ऐसा भाव क्यों हुआ ? शान्ति से विचार कीजिये तो आपसे आप मालूम होगा कि यह आदेश केवल कषाय भाव से ही दिया गया है। जिसका यह नतीजा हुआ कि आचार्य के इस आदेश का समाज ने यथार्थ पालन न किया। क्योंकि वह आदेश यथार्थ में कषाय गर्भित था। वीतरागी पुरुषों को साम्य भाव होता है जो शत्रु मित्र को समदृष्टि से देखते है। सत्कार या तिरस्कार में साम्य भाव है वह जीव इस प्रकार का आदेश कैसे दे सकते है। अस्तु:

सदोष लक्षणाधिकार

(१) धवलग्रन्थ पृष्ठ २ पुस्तक नम्बर ३ में जीव द्रव्य का लक्षण लिखा है कि—

"जीव द्रव्य उसे कहते है जो पाँच प्रकार के वर्ण से रहित है, पाँच प्रकार के रस से रहित है, दो प्रकार के गन्ध से रहित हैं, आठ प्रकार के स्पर्श से रहित है, सूक्ष्म है, अमूर्तिक है, अगुरु लघु है, असंख्यात प्रदेशी है और जिसका कोई संस्थान अर्थात् आकार निर्दिष्ट नहीं हैं वह जीव है। यह जीवका साधारण लक्षण है। अर्थात् यह लक्षण जीव को छोड़कर दूसरे धर्मादि अमूर्त द्रव्यों में पाया जाता है, इसलिये इसे जीव का साधारण लक्षण कहा है। परन्तु उर्ध्वगतिस्वभावत्व, भोक्तृत्व और स्व पर प्रकाशकत्व यह जीवका असाधारण लक्षण है अर्थात् यह लक्षण जीव द्रव्य को छोड़कर दूसरे किसी भी द्रव्य मे नही पाया जाता है इसलिए उसे जीव द्रव्य का असाधारण लक्षण कहा है।

नोट—यहाँ उर्ध्वगतिस्वभावत्व जीव द्रव्य का असाधारण लक्षण किया है। और असाधरण उसे कहा जाता है कि वह दूसरे द्रव्य में पाया नहीं जावे परन्तु पुद्गल द्रव्य में भी उर्ध्वगति देखी जाती है इसलिये वह सदोष लक्षण है। लक्षण ऐसा होना चाहिये कि जिसमें अतिव्याप्ति अव्याप्ति और असम्भव नाम का दोष न आवे। परन्तु जीव का उर्ध्वगति स्वभावत्व लक्षण करने में दोष आता है। क्योंकि वह पुद्गल द्रव्य मे भी पाया जाता है।—

(२) लेश्या का लक्षण "कषाय से अनुरंजित योग प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं" यह लक्षण सदोष है क्योंकि इस लक्षण करने पर सयोगि केवली को लेश्या रहित पने की प्राप्ति आती है अर्थात् सयोगि केवली को कषाय नहीं है जब लेश्या है इससे सिद्ध होता है कि कषाय से अनुरंजित योग की प्रवृत्ति यह लेश्या का लक्षण सदोष है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३८६ पुस्तक नम्बर १ में लिखा है कि—

शंका—"लेश्या" इस शब्द से क्या कहा जाता है ?

समाधान—जो कर्म स्कन्ध से आत्मा को लिप्त करती है उसे लेश्या कहते हैं। यहाँ पर "कषाय से अनुरंजित योग प्रवृत्ति को लेश्या कहते है" यह अर्थ नहीं ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि इस अर्थ के ग्रहण करने पर सयोगि केवली को लेश्या रहित पने की आपत्ति प्राप्त होती है।"

(३) क्षयोपशम भाव का यह लक्षण किया जाता है कि "सर्वघाती स्पर्धकों के उदय क्षय से उन्हीं के सदवस्था रूप उपशम से और देशघाती कर्मोंके उदय से होने वाला भाव क्षयोपशम है" यह लक्षण सदोष हैं। जैसे चतुर्थ गुण स्थान में यदि अनन्तानुबन्धी का उपशम हुआ हो तब तो यह लक्षण घटित

होता है कि—"अनन्तानुबन्धी कषाय के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय क्षय से, उन्ही के सद्‌वस्था रूप उपशम से और अप्रत्याख्यानावरण कषाय के देशघाती स्पर्धकों के उदय से चारित्र गुण का क्षयोपशम भाव कहा जाता है। परन्तु यदि चतुर्थ गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी कषाय का क्षय हुआ हो अथवा उनका विसंयोजन हुआ हो तो यह लक्षण घटित नहीं होता है जिससे क्षयोपशम भाव का यह लक्षण सदोष है। क्षयोपशम भाव का यथार्थ लक्षण यह घटित होता है कि गुण की अंश में शुद्धता अंश में अशुद्धता है यह क्षयोपशम भाव है अर्थात् मिश्र भाव है।

धवलग्रन्थ पृष्ठ १६६ पुस्तक नम्बर ५ में सम्यग्मिथ्यादृष्टि कौनसा भाव है इसका स्पष्टिकरण करते लिखा है कि—

"तीसरे गुणस्थान में अवयवी के निराकरण और अवयव के अनिराकरण की अपेक्षा वह क्षायोपशमिक भाव है। अर्थात् सम्यग्मिथ्यात्व के उदय रहते हुए अवयवी रूप शुद्धात्मा का तो निराकरण रहता है और अवयव रूप सम्यक्त्व गुण का अंश प्रगट रहता है। इस प्रकार क्षायोपशमिक भी वह सम्यग्मिथ्यात्व द्रव्य कर्म सर्वघाती ही होवे, क्योंकि, जात्यन्तर भूत सम्यग्मिथ्यात्व कम के सम्यक्त्व का तो अभाव है। किन्तु श्रद्धान भाग अश्रद्धान भाग नहीं हो जाता है, क्योकि श्रद्धान और अश्रद्धान के एकता का विरोध है। और श्रद्धान भाग कर्मोदय जनित भी नही है, क्योकि इसमें विपरीतता का अभाव है। और न उनमें सम्यग्मिथ्यात्व संज्ञा का ही अभाव है, क्योंकि, समुदायों में प्रवृत हुए शब्दों की उनके एक देश में भी प्रवृति देखी जाती है,इससे सिद्ध हुआ कि सम्यग्मिथ्यात्व क्षायोपशमिक भाव है।"

कितने ही आचार्य ऐसा कहते है कि मिथ्यात्व के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय क्षय से उन्हीं के सद्‌वस्था रुप उपशम से, सम्यक्त्व प्रकृति के देशघाती स्पर्धको के उदय क्षय से, उन्ही के सद्‌वस्था रुप उपशम से अथवा अनुदय रुप उपशम से और सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के सर्वघाती स्पर्धको के उदय से सम्यग्मिथ्यात्वभाव होता है इसलिये सम्यग्मिथ्यात्व के क्षायोपशमिकता सिद्ध होती है। किन्तु उनका यह कथन घटित नही होता है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो मिथ्यात्व भावके भी क्षायोपशमिकता का प्रसंग प्राप्त होगा। क्योकि, सम्यग्मिथ्यात्व के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय क्षय से उन्ही के सद्‌वस्था रुप उपशम से और सम्यक्त्व देशघाती स्पर्धकों के उदय क्षय से उन्ही के सद्‌वस्था रुप उपशम से अथवा अनुदय रुप उपशम से तथा मिथ्यात्व के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय से मिथ्यात्व भाव की उत्पत्ति पायी जाती है। इससे यह लक्षण सदोष हैं।

(४) त्रस तथा स्थावर जीव का जो लक्षण "गमन करे सो त्रस तथा जो स्थिर रहे अर्थात् गमन न करे सो स्थावर जीव है" यह लक्षण सदोष है यह दिखाया जाता है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ २७५-२७६ पुस्तक नम्बर १ में लिखा है कि—

शंका—स्थावर जीव कौन कहलाता है?

समाधान—एकेन्द्रिय जीव स्थावर जीव कहलाता है।

शंका—स्थावर कर्म का क्या कार्य है?

समाधान—एक स्थान पर अवस्थित रखना स्थावर कर्म का कार्य है।

शंका—ऐसा मानने पर गमन स्वभाव वाले अग्नि कायिक तथा वायुकायिक और जल कायिक जीवों को अस्थावरपना प्राप्त हो जायगा?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिस प्रकार वृक्ष में लगे हुए पत्ते वायु से हिला करते हैं और टूटने पर

इधर उधर उड़ जाते है उसी प्रकार अग्नि कायिक और जल कायिक के प्रयोग से गमन मानने में कोई विरोध नहीं आता है । तथा वायु के गति पर्याय से परिणत शरीर को छोड़कर कोई दूसरा शरीर पाया नहीं जाता है इसलिये उसके गमन करने में भी कोई विरोध नहीं आता है।

एवं धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३६५ पुस्तक नं० १३ में लिखा है कि--

"जिस कर्म के उदय से जीवों के गमनागमन भाव होता है वह त्रस नाम कर्म है। जिस कर्म के उदय से जीवों के स्थावरपना अर्थात् गमनागमन नहीं होता है वह स्थावर नाम कर्म है।

जल-अग्नि और वायु कायिक जीवों में जो संचरण देखा जाता है उससे उन्हें त्रस नहीं समझ लेना चाहिये क्योंकि उनका वह गमन रूप परिणाम पारिणामिक होता है।"

नोट—देखिये, स्थावर का लक्षण गमनागमन नहीं करना बताया यह गलती को छुपाने के लिये जल-अग्नि वायु के गमन को पारिणामिक भाव कहना पड़ा। एक गलती छुपाने के लिए और अनेक गलतियाँ करनी पड़ती हैं यदि जल-अग्नि वायुकायिक जीव पारिणामिक भाव से गमन करते हैं तो उनको उनसे बन्ध नहीं पड़ना चाहिये परन्तु उस गमन से उनको बन्ध पड़ता है जिससे सिद्ध होता है कि गमन करना परिणामिक भाव नहीं है परन्तु औदयिक भाव है।

जब धवल ग्रन्थ पृष्ठ ६१ पुस्तक नम्बर ६ में लिखा है कि—

स्थावर नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव स्थावरपने को प्राप्त होता है उस कर्म की "स्थावर" यह संज्ञा है। यदि स्थावर नाम कर्म न हो, तो स्थावर जीवों का अभाव हो जाय किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि स्थावर जीवों का सद्‌भाव पाया जाता है।

एवं धवल ग्रन्थ पृष्ठ २६५ पुस्तक नं० १ में लिखा हैं कि--

स्थावर नाम कर्म के उदय से उत्पन्न हुई विशेषता के कारण ये पाँचों ही स्थावर कहलाते हैं।

शंका—स्थान शील अर्थात ठहरना ही जिनका स्वभाव है उन्हें स्थावर कहते हैं ऐसी व्याख्या के अनुसार स्थावरों का स्वरूप क्यों नहीं कहा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वैसा लक्षण मानने पर वायु कायिक अग्नि कायिक और जल कायिक जीवो की एक देश से दूसरे देश में गति देखी जाने मे उन्हें अस्थावर का प्रसंग प्राप्त हो जायगा ।

स्थान शील स्थावर होता है यह निरुक्ति व्युत्पतिमात्र ही हैं, इसमें गो शब्द की व्युत्पति की तरह प्रधानता से अर्थ का ग्रहण नहीं है। त्रस नाम कर्म के उदय से जिन्होने त्रस पर्याय को प्राप्त कर लिया है उनको त्रस कहते हैं।

शंका—"त्रसी उद्वेगे" इस धातु से त्रस शब्द की सिद्धि हुई है जिसका यह अर्थ होता हैं कि जो उद्विग्न अर्थात भयभीत होकर भागते हैं वह त्रस हैं!

समाधान—नहीं, क्योंकि, गर्भ में स्थित् अण्ड़े बन्द, मूर्छित और सोते हुए जीवो में उक्त लक्षण घटित नहीं होने से उन्हें अत्रसत्व का प्रसंग आ जायगा। इसलिए चलने और ठहरने की अपेक्षा त्रस और स्थावरपना नहीं समझना चाहिए।

नोट—देखिए एक जगह पर क्या लक्षण दिया जाता है और दूसरी पर क्या लक्षण दिया जाता हैं। क्या दोनों लक्षण को सत्य मानना चाहिए ? पाठकगण स्वयं विचार करें। गमन करे सो त्रस और गमन न करे सो स्थावर यह लक्षण जैन बाल बोध में बालकों को पढ़ाया जाता है। क्या यह उचित मार्ग है ? जन्म

से हो गलत लक्षण सीखने से उन जीवों का क्या संस्कार बन जायगा उन पर समाज का लक्ष नहीं है। यही समाज की अधोगति का कारण है। सूत्रकी सिद्धि करना यही टीकाकार आचार्यों की दृष्टि रही हैं परंतु वहाँ नोट लिख देते कि यह सूत्र ठीक नहीं हैं तो समाज गलत धारणा में पड़ कर मिथ्यादृष्टि न रहती जिस शास्त्र के आधार पर हमको सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करना है, वहीं शास्त्र हमको मिथ्यात्व पुष्ट करा देते हैं उनका मूल कारण मात्र आज्ञा प्रधानी रहना ही है परन्तु परीक्षा प्रधानी बनने से तो हमारी गलत मान्यता कभी नहीं रहती।

जीवद्रव्य

द्रव्य का स्वरूप—

एय दवियम्मि जे अत्थ पज्जया वयण पज्जया वावि।
तीदाणागय-भूदा तावदियं तं हवइ दव्वं ॥ गो-जी० ५८२ स० त० १–३३

अर्थ—एक द्रव्य में अतीत अनागत और गाथा में आये हुए "अपि" शब्द से वर्तमान पर्याय रूप जितनी अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय है तत्प्रमाण वह द्रव्य होता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३८६ पुस्तक नम्बर १

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ५–६ पुस्तक नम्बर ३ में लिखा है कि—

त्रिकाल गोचर अनन्त पर्यायों की परस्पर अपृथग्वृत्ति द्रव्य है। कहा भी है कि—

नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः।
अविभ्राड्भाव सम्बन्धो द्रव्य मेकमनेकधा ॥३॥ आ० मी० १०७

अर्थ—जो नैगमादिनय और उनकी साखा उपसाखा रुप उपनयों के विषयभूत त्रिकालवर्ती पर्यायों का अभिन्न सम्बन्ध रुप समुदाय है उसे द्रव्य कहते हैं। वह द्रव्य कथंचित एक रुप और कथंचित अनेक रूप है।

द्रव्य की एक पर्याय संख्यान है इसलिए द्रव्य और प्रमाण में एकत्व अर्थात् सर्वथा अभेद नहीं है। कहा भी है कि—

एयदवियम्मि जे अत्थपज्जया वयणपज्जया चावि।
तीदाणागद भूदा तावदियं तं हवदि दव्वं ॥४॥ गो० जी० ५८२

अर्थ—एक द्रव्य में अतीत अनागत और "अपि" शब्द से वर्तमान पर्याय रूप जितने अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय हैं तत्प्रमाण वह द्रव्य होता है ॥

यद्यपि इस प्रकार द्रव्य और प्रमाण में भेद रहा आवे फिर भी द्रव्य के गुणों की प्ररुपणा के द्वारा ही द्रव्य की प्ररुपणा हो सकती है, क्योंकि, द्रव्य के गुणों की प्ररुपणा के बिना द्रव्य प्ररुपणा का कोई उपाय नहीं है। कहा भी है कि

नानात्मतामप्रजहत्तदेकमेकात्मतामप्रजहच्च नाना।
अंगांगि भावात्तव वस्तु यत्तत् क्रमेण वाग्वाच्यमनन्त रूपम् ॥५॥

अर्थ—अपने गुणों और पर्यायों की अपेक्षा नाना स्वरूपता को न छोड़ता हुआ वह द्रव्य एक है और अन्वय रूप से एकपने को नहीं छोड़ता हुआ वह अपने गुणों और पर्यायों की अपेक्षा नाना है। इस प्रकार अनन्त रूप जो वस्तु है वही, हे जिन ! आपके मत में क्रमशः अंगागी भाव से वचनों द्वारा कही जाती है।

जीव द्रव्य का लक्षण—

धवलग्रन्थ पृष्ठ २ पुस्तक नम्बर ३ में लिखा है कि—

"जीव द्रव्य उसे कहते हैं जो पाँच प्रकार के वर्ण से रहित है, पाँच प्रकार के रससे रहित है, दो प्रकार के गन्ध से रहित है, आठ प्रकार के स्पर्श से रहित है, सूक्ष्म है, अमूर्तिक है, अगुरु लघु है, असंख्यात प्रदेशी है, और जिसका कोई संस्थान अर्थात आकार निर्दिष्ट नहीं है वह जीव है। यह जीवका साधारण लक्षण है। अर्थात यह लक्षण जीव छोड़ कर दूसरे धर्मादि अमूर्त द्रव्यों में पाया जाता है। इसलिये इसे जीवका साधारण लक्षण कहा है। परन्तु उर्ध्वगति स्वभावत्व भोक्तृत्व और स्वपर प्रकाशत्व यह जीव का असाधारण लक्षण है अर्थात यह लक्षण जीव द्रव्य को छोड़ कर दूसरे किसी भी द्रव्य में नहीं पाया जाता है इसलिये उसे जीव द्रव्य का असाधारण लक्षण कहा है।

नोट—यहां पर जीवका 'उर्ध्वगति स्वभावत्व' जीव द्रव्य का असाधारण लक्षण बताया है। यह लक्षण सदोष है क्योंकि "उर्ध्वगति स्वभावत्वं" पुद्गल द्रव्य में भी पाया जाता है। जैसे एक परमाणु एक समय में चौदहरजु चला जाता है। यथार्थ में जीवका असाधारण लक्षण चेतना या उपयोग है जो लक्षण दूसरे द्रव्य में कभी भी पाया नहीं जाता है ऐसा श्रद्धान करना चाहिये।

करुणा जीव का स्वभाव है ?

इस विषय में धवल ग्रंथ पृष्ठ ३६२ पुस्तक नंबर १३ में लिखा है कि—

शंका—करुणा का कारण भूत कर्म करुणा कर्म है यह क्यों नहीं कहा ?

सामाधान—नहीं, क्योंकि, करुणा जीवका स्वभाव है अतएव उसे कर्म जनित मानने में विरोध आता है।

शंका—तो फिर अकरुणा का कारण कर्म कहना चाहिये ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, उसे संयम घाती कर्मों के फल रूप से स्वीकार किया गया है।"

नोट—यहाँ पर करुणा जीव का "स्वभाव" कहा है यह उपचार का कथन है। करुणा दया भाव का नाम है। दया राग है। राग जीव का स्वभाव कभी भी बन नहीं सकता है। प्रशस्त राग को धर्म कहना व्यवहार है। प्रशस्त राग को पुण्य कहना निश्चय है और प्रशस्त राग को धर्म मानना यह मान्यता मिथ्यात्व है। पुण्य भाव मिथ्यात्व नही है या सम्यग्दर्शन भी नहीं है परन्तु पुण्य भाव तो पुण्य ही हैं।

औपशमिकादि भाव जीव का गुण है ?

धवलग्रन्थ पृष्ठ १६१ पुस्तक नंबर १ में लिखा है—

शंका—जीव समास किसे कहते हैं ?

समाधान—जिसमें जीव भले प्रकार रहते अर्थात् पाये जाते हैं इसे जीव समास कहते हैं।

शंका—जीव कहां रहते हैं ?

समाधान—गुणों में जीव रहते हैं।

शंका—वेगुण कौन से हैं ?

समाधान—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और परिणामिक यह पाँच प्रकार के गुण हैं। कहा भी है कि—

जेहिं दुलक्खि जंते उदयादिसु संभवेहि भावेहि।
जीवा ते गुण सण्णा णिदिट्ठा सव्वदरिसीहिं ॥१०४॥ गो. जी. ८

अर्थ—दर्शन मोहनीय आदि कर्मों के उदय उपशम आदि अवस्थाओं के होने पर उत्पन्न हुए जिन परिणामों से युक्त जो जीव देखे जाते हैं उन जीवो को सर्वज्ञ देव ने उसी गुण संज्ञा वाला कहा है।

नोट—औदयिकादि पाँचों ही भाव जीव का गुण नहीं है परन्तु पर्याय है। पर्याय को गुण कहना उपचार है परन्तु पर्याय को पर्याय कहना निश्चय है। पर्याय को गुण मानना वह मान्यता मिथ्यात्व की है। गुण का कभी भी नाश नहीं होता है जब पर्याय नाश वान है एक समय वर्त्ती है। कहा भी है कि—सहवर्ती गुण है और क्रमवर्ती पर्याय है।" जो जीव गुण को पर्याय मान लेता है वह जीव पर्याय का नाश होने से, नियम से अपना भी नाश मानेगा यही मान्यता का नाम "पर्याय मूढ" जीव है। पर्याय मूढ जीव को मिथ्यादृष्टि अज्ञानी शास्त्रों में कहा गया है। इसलिये श्रद्धा यथार्थ करना वही सम्यक् श्रद्धा है अन्यथा मिथ्या श्रद्धा है।

जीव द्रव्य मूर्त है ?

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ११ पुस्तक नम्बर १३ में लिखा है कि—

शंका—जीव द्रव्य अमूर्त है और पुद्गल द्रव्य मूर्त है। इनका एक मेक सम्बंध कैसे हो सकता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, संसार अवस्था में जीवों के अमूर्तपना नहीं पाया जाता।

शंका—यदि संसार अवस्था में जीव मूर्त है तो मुक्त होने पर वह अमूर्तपने को कैसे प्राप्त होता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जीव में मूर्तत्व का कारण कर्म है अतः कर्म का अभाव हो जाने पर तज्जनित मूर्तत्व का भी अभाव हो जाता है इसलिये सिद्ध जीवों के अमूर्तपने की सिद्धि हो जाती है।

शंका—जीव और पुद्गलों का आदि बंध कैसे है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि प्रवाह रूप से जीव और पुद्गल अनादिबंधन बद्ध है अतः उसका आदि नहीं बनता। पर इसका यह अर्थ नहीं कि कर्म व्यक्ति रूप बंधन की अपेक्षा वह अनादि हैं, क्योंकि, ऐसा मानने पर कर्म का कभी नाश नहीं होने से जीव के मरण के अभाव का प्रसङ्ग आता है और उपजीवी औषधियों के निमित्त से व्याधि विनाश के अभाव का प्रसङ्ग प्राप्त होता है।

नोट—यहाँ पर जीव को मूर्त कहा हैं वह तो व्यवहार से कहा है अर्थात् निमित्त की अपेक्षा से

कहा है। निश्चय से जीव अमूर्त ही है। जीव को मूर्त मानना यह मान्यता मिथ्यात्व की है। उपादान को उपादान मानना और निमित्त को निमित्त मानना सम्यक् ज्ञान है परंतु निमित्त को उपादान मान लेना वही मान्यता मिथ्यात्व की है।

जीवके साथ में शरीर का समवाय सम्बन्ध है ?

धवल ग्रंथ पृष्ठ २३३ पुस्तक नम्बर १ में लिखा है कि—

शंका—कर्म स्कंधों के साथ जीव के सम्पूर्ण प्रदेशों के भ्रमण करने पर जीव प्रदेशों से "समवाय सम्बन्ध को" प्राप्त शरीर का भी जीव प्रदेशों के समान भ्रमण होना चाहिए ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, जीव प्रदेशों की भ्रमण रूप अवस्था में शरीर का उनसे समवाय सम्बन्ध नहीं रहता है।

शंका—भ्रमण के समय शरीर के साथ जीव प्रदेशों का समवाय सम्बन्ध नहीं मानने पर मरण प्राप्त हो जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, आयु कर्म के क्षय को मरण का कारण माना है।

शंका—तो जीव प्रदेशों का शरीर के साथ फिर से समवाय सम्बन्ध कैसे बन जाता है ?

समाधान—इसमें कोई बाधा नहीं है। क्योंकि जिन्होंने नाना अवस्थाओं का उपसंहार कर लिया है, ऐसे जीवों के प्रदेशों का शरीर के साथ फिर से समवाय का सम्बन्ध उपलब्ध होता हुआ देखा जाता है। तथा दो मूर्त पदार्थों के सम्बन्ध होने में कोई विरोध भी नही आता है। अथवा जीवप्रदेश और शरीर संगठन के हेतु रूप कर्मोदय के कार्य की विचित्रता से यह सब होता हैं। और जिसके अनेक प्रकार के कार्य अनुभव में आत हं ऐसे कर्म का सत्व पाया ही जाता है।

नोट—यहाँ पर शरीर के साथ जीव का समवाय सम्बन्ध माना हैं।यथार्थ में समवाय सम्बन्ध एक प्रदेश में ही होता है। जीव अलग द्रव्य है शरीर अलग द्रव्य है दोनो का एक प्रदेश कभी भी बन नहीं सकता है। दोनों ही अलग अलग जाति के हैं। १ चेतन जाति है। २ जडस्वभावी मूर्त जाति है। दोनों द्रव्य अत्यन्त भिन्न हैं उसका समवाय सम्बन्ध कहना मात्र व्यवहार का कथन है। निश्चय से दोनों द्रव्य भिन्न भि न हैं। दोनों का संयोग सम्बन्ध कहना निश्चय हे। दोनों का समवाय सम्बन्ध मानना यह मान्यता मिथ्यात्व की है। बोलना यह व्यवहार है। परन्तु तथा प्रकार की मान्यता करना वह मान्यता मिथ्यात्व है।

आहार पर्याप्ति के साथ में जीव का समवाय सम्बन्ध है !

जो पर्याप्त नाम कर्म के उदय से युक्त है उन्हे पर्याप्त कहते है।

शंका—पर्याप्त नाम कर्म के उदय से युक्त होते हुए भी जब तक शरीर निष्पन्न नहीं हुआ है तब तक उन्हे पर्याप्त कैसे कह सकते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, नियम से शरीर को उत्पन्न करने वाले जीवों के होने वाले कार्य में यह कार्य हो गया हैं। इस प्रकार उपचार कर लेने से पर्याप्त संज्ञा करने में कोई विरोध नहीं आता है। अथवा पर्याप्त नाम कर्म के उदय से युक्त होने के कारण पर्याप्त संज्ञा दी गई है।

शंका—यदि पर्याप्त शब्द निस्पति वाचक हैं तो यह बतलाइये कि ये यह पर्याप्त जीव किन से निष्पन्न होते हैं ?

समाधान—पर्याप्तियों से निष्पन्न होते हैं।

शंका—वे पर्याप्तियाँ कितनी है !

समाधान—सामान्य की अपेक्षा छह हैं । १ आहार पर्याप्ति २ शरीर पर्याप्ति ३ इन्द्रिय पर्याप्ति ४ आनापान पर्याप्ति ५ भाषा पर्याप्ति ६ मन पर्याप्ति । इनमें से पहले आहार पर्याप्ति का अर्थ कहते हैं । शरीर नाम कर्म के उदय से जो परस्पर अनन्त परमाणुओं के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए और जो आत्मा से व्याप्त आकाश क्षेत्र में स्थित हैं, ऐसे पुद्गल विपाकी आहार वर्गणा सम्बन्धी पुद्गल स्कन्ध के कर्म सम्बन्ध से कथंचित मूर्त पने को प्राप्त हुए आत्मा के साथ "समवाय" रुप से सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं । उन खल भाग और रस भाग के भेद से परिणमन करने रुप शक्ति से बने हुए आगत पुद्गल स्कन्धों की प्राप्ति को आहार पर्याप्ति कहते हैं। वह आहार पर्याप्ति अन्तमुंहूर्त के विना केवल एक समय में उत्पन्न नहीं हो जाती है, क्योंकि आत्मा का एक साथ आहार पर्याप्ति रूप से परिणमन नहीं हो सकता है। इसलिये शरीर को ग्रहण करने के प्रथम समय से ले कर एक अन्तमुंहूर्त में आहार पर्याप्ति निष्पन्न होती है। तिलके खली के समान उस खल भाग को हड्डी आदि कठीन अवयव रूप से और तिल के तेल समान रस भाग को रस, रुधिर, वसा, वीर्य आदि द्रव्य अवयव रूप से परिणमन करने वाले औदारिक आदि तीन शरीरों की शक्ति से युक्त पुद्गल स्कन्धो की प्राप्ति को शरीर पर्याप्ति कहते हैं। वह शरीर पर्याप्ति आहार पर्याप्ति के पश्चात एक अन्तमुंहूर्त में पूर्ण होती है। योग्य देश में स्थित रूपादिसे युक्त पदार्थो के ग्रहण करने रूप शक्ति के उत्पत्ति के निमित्त भूत पुद्गल प्रचयकी प्राप्ति को इन्द्रिय पर्याप्ति कहते हैं । यह इन्द्रिय पर्याप्ति भी शरीर पर्याप्ति के पश्चात एक अन्तमुंहूर्त में पूर्ण होती है। परन्तु इन्द्रिय पर्याप्ति के पूर्ण हो जाने पर भी उसी समय बाह्य पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान उत्पन्न नही होता है। क्योंकि उस समय उसके उपकरण रूप द्रव्येन्द्रिय नहीं पाई जाती है। उच्छ्वास और निःस्वास रूप शक्ति की पूर्णताके निमित्त भूत पुद्गल प्रचयकी प्राप्ति को आनापान पर्याप्ति कहते हैं। यह पर्याप्ति भी इन्द्रिय पर्याप्ति के अनन्तर एक अन्तमुंहूर्त काल व्यतीत होने पर पूर्ण होगी। भाषा वर्गणाके स्कंधो के निमित्त से चार प्रकार के भाषा रूप से परिणमन करने की शक्ति के निमित्त भूत नोकर्म पुद्गल प्रचय की प्राप्ति को भाषा पर्याप्ति कहते हैं। यह पर्याप्ति भी आनापान पर्याप्ति के पश्चात एक अन्तमुंहूर्त में पूर्ण होती है। यह अनुभूत अर्थ के स्मरण रूप शक्ति के निमित्त भूत मनोवर्गणा के स्कन्धों से निष्पन्न पुद्गल प्रचय को मनःपर्याप्ति कहते हैं। अथवा, द्रव्य मन के आलम्बन से अनुभूत अर्थ के स्मरण रूप शक्ति की उत्पत्ति को मनःपर्याप्ति कहते हैं। उन छहों पर्याप्ति का प्रारंभ युगपत होता है, क्योंकि जन्म समयों से लेकर ही इनका अस्तित्व पाया जाता है परंतु पूर्ण तो क्रम से होती है। तथा इन पर्याप्तियों की अपूर्णता को अपर्याप्ति कहते हैं। धवल ग्रंथ पृष्ठ २५४-२६६ पुस्तक नंबर १

नोट—यहाँ पर "पुद्गल विपाकी आहार वर्गणा सम्बंधी पुद्गल स्कंध का कर्म स्कंध के सम्बंध से कथंचित मूर्त पने को प्राप्त हुए आत्मा के साथ "समवाय" रूप से सम्बंध को प्राप्त होते हैं" यह कथन उपचार का है व्यवहार है अभूतार्थ है। परमार्थ से आत्मा की साथ में पुद्गल का "समवाय" संबन्ध नहीं है। केवल बोलने मात्र है। परंतु जैसा बोलता है ऐसी ही श्रद्धा करे तो वहीं श्रद्धा का नाम मिथ्यात्व है। बोलना व्यवहार है मानना व्यवहार नहीं है।

पर्याप्ति और प्राण में क्या भेद है ?

धवल ग्रन्थ पृष्ठ २५६-२५७ पुस्तक नम्बर १ में लिखा हैं कि—

शंका—पर्याप्ति और प्राण में क्या भेद हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इनमें हिमवान्, और विध्यांचल पर्वत के समान भेद पाया जाता है। आहार, शरीर, इन्द्रिय, आनापान, भाषा और मनरूप शक्तियों की पूर्णता के कारण को पर्याप्ति कहते हैं। और जिन के द्वारा आत्मा जीवन संज्ञा को प्राप्त होता है उन्हें प्राण कहते हैं। यही इन दोनों में भेद है। वे प्राण पांच इन्द्रियां, मनोबल, वचनबल, कायबल, आनापान, और आयु के भेद से दस प्रकार के हैं।

शंका—पाँचो इन्द्रियां आयु और कायबल ये प्राणसंज्ञा को प्राप्त हो सकते हैं, क्योंकि, जन्म से लेकर मरण तक भव (पर्याय) को धारण करने रुप से पाये जाते हैं। और उनमें से किसी एक के अभाव होने पर मरण भी देखा जाता है। परन्तु उच्छ्वास, मनोबल और वचनबल इनको प्राण संज्ञा नहीं दी जा सकती है, क्योंकि इनके बिना भी अपर्याप्त अवस्था में जीवन पाया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि-उच्छ्वास, मनोबल और वचनबल के विना अपर्याप्त अवस्था में जीवन नहीं पाया जाता है, इसलिये उन्हें प्राण मानने में कोई विरोध नहीं आता है। कहा भी है कि—

बाहिर पाणेहि जहा तहेव अब्भंतरेहि पाणेहि।
जीवंति जेहि जीवा पाणा ते होंति बोद्धव्वा ॥१४१॥ गो० जी० १२९

अर्थ—जिस प्रकार नेत्रों को खोलना, वन्द करना, वचन प्रवृति आदि बाह्य प्राणों से जीव जीते हैं, उसी प्रकार जिन अभ्यन्तर इन्द्रियावरण कर्म के क्षायोपशमादि के द्वारा जीव में जीवितपना का व्यवहार हो उनको प्राण कहते है ॥१४१॥

शंका—पर्याप्ति और प्राण के नाम में अर्थात् कहने मात्र में विवाद है, वस्तु में कोई विवाद नहीं है, इसलिये, दोनों का तात्पर्य एक ही मानना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कार्य और कारण के भेद से उन दोनों में भेद पाया जाता है, तथा पर्याप्तियों में आयु का सद्भाव नहीं होने से और मनोबल, वचन बल, तथा उच्छ्वास इन प्राणो के अपर्याप्त अवस्था में नहीं पाये जाने से पर्याप्ति और प्राण में भेद समझना चाहिए।

शंका—वे पर्याप्तियां भी अपर्याप्त काल में नहीं पाई जातीं हैं, इसलिये अपर्याप्त काल में उनका सद्भाव नहीं रहेगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि अपर्याप्त काल में अपर्याप्त रुप से उनका सद्भाव पाया जाता है।

शंका—अपर्याप्त रूप इसका क्या तात्पर्य है ?

समाधान—पर्याप्तियों की अपूर्णता को अपर्याप्ति कहते हैं। इसलिये पर्याप्ति अपर्याप्ति और प्राण इनमें भेद सिद्ध हो जाता है। अथवा इन्द्रियादि में विद्यमान जीवन के कारण पने की अपेक्षा न करके इन्द्रियादि रूप शक्ति की पूर्णता मात्र को पर्याप्ति कहते हैं और जीवन के कारण हैं उन्हें प्राण कहते हैं। इस प्रकार इन दोनों में भेद समझना चाहिये।

अपर्याप्त अवस्था में भाव मनका सद्भाव है या नहीं !

धवल ग्रन्थ पृष्ठ २५९ पुस्तक नं० १ में लिखा है कि—

शंका—जीव के नवीन भवको धारण करते समय ही भावेन्द्रियों की तरह भाव मनका भी सत्व पाया जाता हैं इसलिये जिस प्रकार अपर्याप्त काल में भावेन्द्रियों का सद्भाव कहा जाता हैं। उसी प्रकार वहाँ पर भाव मनका सद्भाव क्यों नही कहा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, बाह्य इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नही करने योग्य वस्तु भूत मनका अपर्याप्त रूप अवस्था में अस्तित्व स्वीकार करने पर जिसका निरूपण विद्यमान है ऐसे द्रव्य मनके असत्व का प्रसंग आ जायगा।

शंका—पर्याप्ति के निरुपण से ही द्रव्य मनका अस्तित्व सिद्ध हो जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, बाह्य अर्थ की स्मरण शक्ति की पूर्णता में ही पर्याप्ति इस प्रकार व्यवहार मान लेने से द्रव्य मनके अभाव में भी मन: पर्याप्ति का निरुपण बन जाता है। बाह्य पदार्थो की स्मरण रुप शक्ति के पहले द्रव्य-मनका सद्भाव बन जायगा ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, द्रव्य मनके योग्य द्रव्य की उत्पत्ति के पहले उसका सत्त्व मान लेन में विरोध आता है। अत: अपर्याप्त रुप अवस्था में भाव मनके अस्तित्व का निरुपण करना द्रव्य मनके अस्तित्व का साधक हैं ऐसा जानना चाहिए।

शरीर की अपर्याप्त अवस्था में पर्याप्त कैसे कहलाता हैं ?

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३३१ पुस्तक नं० १ में लिखा है।

शंका—पर्याप्तकों में अपर्याप्तपना तो बन नही सकता है, क्योंकि इन दोनों अवस्थाओं का परस्पर विरोध है। इसलिए "इसी प्रकार पर्याप्त होते है" यह कथन कैसे घटित होगा ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, शरीर की अनिष्पत्ति की अपेक्षा पर्याप्तकों में भी अपर्याप्तपना बन जाता है।

शंका—जिसके शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं हुई है उसे पर्याप्तक कैसे कहा जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा उसके भी पर्याप्तपना बन जाता है। भात पक रहा है, यहाँ पर जिस प्रकार चावलों को भात कहा जाता है उसी प्रकार जिसके सभी पर्याप्तियाँ पूर्ण होने वाली हैं ऐसे जीव के अपर्याप्त अवस्था में भी पर्याप्तपने का व्यवहार विरोध को प्राप्त नहीं होता है। अथवा पर्याप्त नाम कर्म के उदय की अपेक्षा उनके पर्याप्तपना समझ लेना चाहिये।

अपर्याप्त अवस्था में कार्मण शरीर क्यों न माना जावे ?

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३१६ पुस्तक नम्बर १ में लिखा हैं कि:—

शंका—पर्याप्त अवस्था में कार्मण शरीर का सद्भाव होने के कारण वहां पर भी कार्मण और औदारिक शरीर के स्कन्धों के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में परिस्पन्द होता है इसलिये वहां पर भी औदारिक मिश्र काय योग क्यों नहीं कहा जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, पर्याप्त अवस्था में यद्यपि कार्मण शरीर विद्यमान है फिर भी वह जीव प्रदेशों के परिस्पंद का कारण नहीं है। यदि पर्याप्त अवस्था में कार्मण शरीर परम्परा से जीव प्रदेशों के परिस्पन्द का कारण कहा जावे सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, कार्मण शरीर को परम्परा से निमित्त मानना उपचार है। यदि कहें कि—उपचार का भी यहां पर ग्रहण कर लिया जावे सो भी ठीक नहीं हैं। क्योंकि, उपचार से परम्परा रुप निमित्त के ग्रहण करने की यहां विवक्षा नही है।

नोट—कर्म के जथ्था का नाम कार्मण शरीर कहनां उपचार है। औदारिक शरीर के साथ कार्मण शरीर का विद्यमान मानना यह भी उपचार हैं। औदारिक शरीर के साथ कार्मण शरीर का उदय नहीं हो सकता है। यथार्थ में कार्मण शरीर नामा नाम कर्म की प्रकृति का ही नाम कार्मण शरीर है परन्तु कर्मों के समूह का नाम कार्मण शरीर कहना उपचार हैं।

कार्मण शरीर का स्वरूप—

धवल ग्रन्थ पृष्ठ २९५ पुस्तक नम्बर १ में लिखा हैं कि कर्म ही कार्मण शरीर है, अर्थात् आठ प्रकार के कर्म स्कन्धों को कार्मण शरीर कहते है। अथवा कर्म में जो शरीर उत्पन्न होता है, उसे कार्मण शरीर कहते है। यहाँ पर नाम कर्म के अवयव रूप कार्मण शरीर का ग्रहण करना चाहिये। उस शरीर निमित्त से जो योग होता है उसे कार्मण काय योग कहते है। इसका तात्पर्य यह है कि अन्य औदारिक आदि शरीर वर्गणाओं के विना केवल एक कर्म से उत्पन्न हुए वीर्य के निमित्त से आत्म प्रदेश परिस्पन्द रूप जो प्रयत्न होता है उसे कार्मण काय योग कहते है। कहा भी है कि—

कम्मेव च कम्म-भव कम्मइयं तेणजो दु संजोगो।
कम्मइय कायजोगो एग-विग तिगेसु समएसु ॥१६६॥ गो. जी. २४१

अर्थ—ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्म स्कन्ध को ही कार्मण शरीर कहते हैं। अथवा जो कार्मण शरीर नाम कर्म के उदय से उत्पन्न होता है उसे कार्मण शरीर कहते हैं। और उसके द्वारा होने वाले योग को कार्मण काय योग कहते हैं। यह योग एक-दो अथवा तीन समय तक होता है।

नोट—यदि कर्म प्रकृतियों के समूह को कार्मण शरीर माना जाय तो चौदहवें गुणस्थान में वह कर्म प्रकृतियों का समूह तो है वहां योग क्यों नहीं होता है? यथार्थ में पाँच शरीर नामा नाम कर्म की कोई भी प्रकृति का वहाँ उदय नहीं है जिससे उसका फल रूप शरीर वहाँ नहीं होने से अयोगि केवली को योग नहीं होता है।

पाँच इन्द्रियों की उत्पत्ति कैसे होती है?

धवल ग्रन्थ पृष्ठ २४८ पुस्तक नम्बर १ में लिखा है कि—

शंका—पाँचों इन्द्रियों की उत्पत्ति कैसे होती है?

समाधान—वीर्यान्तराय और स्पर्शन-रसना, घ्राण-चक्षु और श्रोत्रेन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर आंगो-पांग, नाम कर्म के आलम्बन होने पर तथा पंचेन्द्रिय जाति नाम कर्म के उदय की वशवर्तता के होने पर पाँचों इन्द्रियों की उत्पत्तिहोती है। फिर भी वीर्यान्तराय और स्पर्शन इन्द्रियांवरण आदि के क्षायोपशम से ऐकेन्द्रिय आदि जीव होते है, वह व्याख्यान यहाँ पर प्रधान नहीं है, क्योंकि, ऐकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जाति नाम कर्म के उदय से एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव होते हैं, भावानुगम के इस कथन से पूर्वोक्त कथन का विरोध होता है। इसलिये ऐकेन्द्रिय जाति नाम कर्म के उदय से एकेन्द्रि, द्विन्द्रिय जाति नाम कर्म के उदय से द्विन्द्रिय, त्रिन्द्रिय जाति नाम कर्म के उदय से त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति नाम कर्म के उदय से चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जाति नाम कर्म के उदय से पंचेन्द्रिय जीव उत्पन्न होता है। यही अर्थ यहाँ पर प्रधान है, क्योंकि यह कथन निर्दोष है।

नोट—इन्द्रियाँ मिलना यथार्थ में नाम कर्म का फल है उनमें वीर्यान्तराय कर्म का क्षायोपशम की क्या जरूरत है? चक्षु इन्द्रिया वरण कर्म का क्षायोपशम होते सन्ते यदि नाम कर्म के फल रूप चक्षु इन्द्रिय बिगड़ जावे तो देख नहीं सकता है? वहाँ वीर्यान्तराय आदि का क्षायोपशम तो है? परन्तु यह सब कथन करने की रीति है। इसी का नाम तो स्याद्वाद है। अर्थात् व्यवहार नय का कथन है।

द्रव्येइन्द्रिय प्रमाण जीव प्रदेशों का भ्रमण होता है ?

इस विषय में धवल ग्रन्थ पृष्ठ २३४ पुस्तक नम्बर १ में लिखा है कि—

शंका—द्रव्येन्द्रिय प्रमाण जीव प्रदेशों का भ्रमण नहीं होता ऐसा क्यों नहीं मान लेते हो ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यदि द्रव्येन्द्रिय प्रमाण जीव प्रदेशों का भ्रमण नहीं माना जावे तो अत्यन्त द्रुतगति से भ्रमण करते हुए जीवों को भ्रमण करती हुई पृथ्वी आदि का ज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिए आत्म प्रदेशों के भ्रमण करते समय, द्रव्येन्द्रिय प्रमाण आत्म प्रदेशों का भी भ्रमण स्वीकार कर लेना चाहिए।

शंका—वाह्य निवृत्ति किसे कहते हैं ?

समाधान—इन्द्रिय व्यपदेश को प्राप्त होने वाले उन आत्म प्रदेशों में जो प्रति नियत आकार वाला, और नाम कर्म के उदय से अवस्था विशेष को प्राप्त पुद्गल प्रचय है उसे बाह्य निवृत्ति कहते हैं।

मन को इन्द्रिय संज्ञा क्यों न दी गई ?

शंका—मन को इन्द्रिय संज्ञा क्यों न दी गई ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इन्द्र अथवा आत्मा के लिंग को इन्द्रिय कहते हैं। जिसके कर्मों का सम्बन्ध दूर नहीं हुआ है, जो परमेश्वर रूप शक्ति के सम्बन्ध से इन्द्र संज्ञा को धारण करता है, परन्तु जो स्वतः पदार्थों को ग्रहण करने में असमर्थ हैं, ऐसे उपभोक्ता आत्मा के उपयोग के उपकरण को लिंग कहते हैं। परन्तु मन के उपयोग का उपकरण पाया नहीं जाता है इसलिए मन को इन्द्रिय संज्ञा नहीं दी गई।

शंका—उपयोग का उपकरण द्रव्यमन तो है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिस प्रकार शेष इन्द्रियों की बाह्य इन्द्रियों से ग्रहण होता है उस प्रकार मन का नहीं होता है, इसलिये उसे इन्द्र का लिग नहीं कह सकते हैं।

शंका—पदार्थ, प्रकाश, मन, चक्षु इनसे उत्पन्न होने वाला रूप ज्ञान, समनस्क जीवों में पाया जाता है यह तो ठीक है, परन्तु अमनस्क जीवों में उस रुप ज्ञान की उत्पत्तिकैसे हो सकती है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, समनस्क जीवों के रुप ज्ञान से अमनस्क जीवों का रुप ज्ञान भिन्न जातीय है—धंवलग्रन्थ पृष्ठ २६० पुस्तक नं० १

मोक्ष मार्ग में शरीर साधन है या नहीं ?

धवलग्रन्थ पृष्ठ ३२५ पुस्तक नम्बर ६ में लिखा है कि—करणों में जो पांच शरीर रुप प्रथम करण है वह मूल करण है।

शंका— शरीर के मूलपना कैसे सम्भव है ?

समाधान—चूंकि शेष, करणों की प्रवृति इस शरीर से होती है, अतः शरीर को मूलकरण मानने में कोई विरोध नहीं है।

शंका—कर्ता रूप जीव से शरीर अभिन्न है अतः कर्तापने को प्राप्त हुए शरीर के करण पना कैसें सम्भव है ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं हैं, क्योंकि जीव से शरीर का कथंचित भेद पाया जाता है। यदि जीव से शरीर को सर्वथा अभिन्न माना जावे तो चेतनता और नित्यत्व आदि जीव के गुण शरीर में भी होना चाहिये। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि शरीर में इन गुणों की उपलब्धि नहीं होती। इस कारण शरीर के करण पना विरूद्ध नहीं हैं।

शंका—शरीर में शेष कारक भी सम्भव है, ऐसी अवस्था में शरीर करण ही हैं ऐसा क्यों कहा जाता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि सूत्र में "शरीर करण ही हैं" ऐसा नियत नहीं किया गया है।

नोट—शरीर को करण कहना केवल व्यवहार है। सब जीवों को शरीर मिलता है तोभी कुछ जीव नरक में जाते हैं, कुछ जीव स्वर्ग में जाते हैं और कितने ही जीवों की मोक्ष हो जाती है क्यों ? सबका शरीर रुप करण तो है ?-अनन्त निगोदिया जीव को शरीर एक है तो भी एक जीव परिणाम सुधारकर मनुष्य बन जाता है और जांव मनुष्य क्यों नहीं हुए ? शरीर का नाम नोकर्म है, नोकर्म को करण कहना उपचार है यथार्थ में करण द्रव्य कर्म ही है।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य एक समय में कैसे होते हैं ?

इस विषय में धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३३६ से ३३८ पुस्तक नम्बर ४ में लिखा हैं कि—

शंका—मिथ्यात्व का नाश और सम्यक्त्व की उत्पत्ति इन दोनों विभिन्न कार्यों का एक समय कैसे हो सकता है ?

समाधान—नही, क्योंकि, जैसे एक ही समय में पिण्ड रुप आकार से विनिष्ट हुआ और घट रुप आकार से उत्पन्न हुआ मृतिका रुप द्रव्य पाया जाता है उसी प्रकार।

शंका—मिथ्यात्व नाम पर्याय का है। वह पर्याय उत्पाद और विनाश लक्षण वाला है, क्योंकि, उसमें स्थिति का अभाव है। और यदि उसकी स्थिति भी मानते हैं, तो मिथ्यात्व के द्रव्यपना प्राप्त होता है, क्योंकि उत्पाद, स्थिति, और भंग अर्थात् व्यय ही द्रव्य का लक्षण है इस प्रकार आर्ष वचन है।

समाधान—यह कोई दोष नहीं हैं, क्योंकि, जो अक्रम से (युगपत्) उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य इन तीनों लक्षणों वाला होता है वह द्रव्य है। और जो क्रम से उत्पाद स्थिति और व्यय वाला होता है वह पर्याय है ऐसा जिनेन्द्र देव का उपदेश है।

शंका—यदि ऐसा है तो पृथ्वी, जल, तेज, वायु के पर्यायपना प्राप्त होता है ?

समाधान—भले ही उनके पर्याय पना प्राप्त हो जावे क्योंकि वह हमें इष्ट है।

शंका—परन्तु उन पृथ्वी आदिकों में तो द्रव्य का व्यवहार लोक में दिखाई देता है ?

समाधान—नहीं, वह व्यवहार शुद्धाशुद्धात्मक संग्रह-व्यवहार रूप नय द्वय निबन्धतक नैगमनय के निमित्त से होता है। शुद्ध द्रव्यार्थिक नयके अवलम्बन करने पर छहों ही द्रव्य हैं। और अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयके अवलम्बन करने पर पृथ्वी, जल आदि अनेक द्रव्य है, क्योंकि, व्यंजन पर्याय के द्रव्य पना माना गया है। किन्तु शुद्ध पर्यायार्थिक नयकी विवक्षा करने पर पर्याय के उत्पाद और विनाश दो ही लक्षण होते हैं। किन्तु अशुद्ध पर्यायार्थिक नय के आश्रय करने पर क्रम से तीनों ही पर्याय के लक्षण होते हैं, क्योंकि वज्र शीला, स्तम्भादिक में व्यंजन संज्ञिक उत्पन्न हुई पर्याय का अवस्थान पाया जाता है। मिथ्यात्व भी व्यंजन

पर्याय है, इसलिए इसके उत्पाद-स्थिति और भंग ये तीनों ही लक्षण क्रम से अविरूद्ध है ऐसा जानना चाहिये।

पर्याय नय के नियम से पदार्थ उत्पन्न भी होते है, और व्यय को भी प्राप्त होते है, किन्तु द्रव्यार्थिक नयके नियम से सर्व वस्तु सदा अनुत्पन्न और अविनष्ट है अर्थात् ध्रौव्यात्मक है । कहा है कि—

उप्पज्जंति वियंति य भावा णियमेण पज्जवणयस्सा।
दव्वट्ठियस्स सव्वं सदा अणुप्पण्णमविणट्ठं ॥२९॥

उक्त गाथा भी विरोध को प्राप्त नहीं होती है, क्योंकि, इसमें किया गया व्याख्यान शुद्ध द्रव्यार्थिक नय को अवलम्बन करके स्थित है।

असंख्यात प्रदेशी लोक में जीव अनन्त कैसे रहते हैं ?

धवल ग्रन्थ पृष्ठ २२-२४ पुस्तक नंबर ४ में लिखा है कि—

शंका—असंख्यात प्रदेशी लोक में अनन्त संख्या वाले जीव कैसे रह सकते हैं ? यदि एक आकाश के प्रदेश में एक ही जीव रहे तो भी सर्व लोक में असंख्यात जीवों की स्थिति होकर अवशिष्ट अनन्त जीवों का अलोकाकाश में रहना प्राप्त होता है । अथवा उन शेष जीवों का अभाव प्राप्त होता है। किन्तु उनका अभाव है नहीं, क्योंकि, उक्त कथन का "जीव अनन्त है" इस सूत्र के साथ विरोध आता है। और न अलोकाकाश में भी शेष जीवों का रहना बनता है, क्योंकि, ऐसा मानने पर लोक और अलोक के विभाग का अभाव प्राप्त होता है। दूसरी बात यह है कि आकाश के एक प्रदेश में एक जीव रहता भी नहीं है, क्योंकि, "एक जीव की जघन्य अवगाहना भी अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र होती है" ऐसा वेदना खण्ड के वेदना क्षेत्र विधान नामक अनुयोग द्वार में प्रतिपादन किया गया है । इसलिये यदि लोक के मध्य में जीव रहते तो वे लोक के असंख्यातवें भाग मात्र ही होने चाहिये ?

समाधान—शंकाकार का उक्त कथन घटित नहीं होता है, क्योंकि, उक्त कथन के मान लेने पर पुद्गलों के भी असंख्यातपने का प्रसङ्ग आ जाता है।

शंका—पुद्गलों के असंख्यात होने का प्रसंग कैसे आजायगा ?

समाधान—इसशंका का परिहार इस प्रकार है—लोकाकाश के एक एक प्रदेश में यदि एक-एक ही परमाणु रहे तो लोकाकाश के प्रदेश प्रमाण ही परमाणु होंगे, और शेष पुद्गलों का अभाव हो जावेगा। क्योंकि जिन पुद्गलों को अवकाश नहीं मिला उनका अस्तित्व मानने में विरोध आता है । तथा उन लोक मात्र परमाणुओं के द्वारा कर्म, शरीर, घर, पट और स्तम्भ आदिकों में से एक भी वस्तु निष्पन नहीं हो सकती है, क्योंकि, अनन्तानन्त परमाणु के समुदायका समागम हुए बिना एक अवसन्नासन्न संज्ञक भी स्कन्ध का होना संभव नहीं है।

शंका—एक भी वस्तु निष्पन नहीं होवे तो भी क्या हानि है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ऐसा मानने पर समस्त पुद्गल द्रव्य की अनुपलब्धि का प्रसंग आता है, तथा सर्व जीवों के एक साथ ही केवल ज्ञान की उत्पत्ति का प्रसंग प्राप्त होता हैं।

इस प्रकार का अति प्रसंग दोष न होवे इसलिए अवगाह्य मान जीव और अजीव द्रव्यों की सत्ता

अन्यथा न बन सकने से क्षीर कुंभ का मधु कुंभ में समान अवगाहन धर्मवाला लोकाकाश है ऐसा मान लेना चाहिये।

जीव से पृथक क्रोधादि हो सकता है ?

शंका—सूत्र नम्बर १११ में क्रोध कषायी आदि के स्थान पर क्रोध कषाय, मानकषाय, माया-कषाय, लोभ कषाय और अकषाय कहना चाहिये, क्योंकि, कषायों से कषाय वालों में भेद पाया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जीवों से पृथक क्रोधादि कषाय नहीं पाई जाती है।

शंका—यदि कषाय और कषाय वान में भेद नही है तो भिन्न रूप से उनका निर्देश कैसे बन सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अनेकान्त में भिन्न निर्देश के बन जाने में कोई विरोध नहीं आता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३४८ पुस्तक नम्बर १।

दर्शन ज्ञानाधिकार

ज्ञायक स्वभाव आत्मा का अभेद रूप हैं। अनादि काल से अपनी अज्ञान दशा के कारण वह ज्ञायक स्वभाव को भूल कर शरीर आदि पर वस्तु में अपनी कल्पना कर आत्मा संसार में परिभ्रमण कर रही है। चैतन्य स्वभाव हूँ ऐसी अन्तरंग श्रद्धा न हो तब तक सम्यग्दर्शन होता ही नहीं है। वह चैतन्य स्वभाव में जब व्यवहार से भेद किया जाता है तब दर्शन ज्ञान आत्मा के स्वरूप है ऐसा कहा जाता है। उसी दर्शन ज्ञान का जब तक स्वरूप जाना न जावे तब तक चैतन्य स्वभाव को भी जान नही सकता। श्री धवल ग्रन्थ में अनेक अपेक्षा से वही दर्शन ज्ञान का प्रतिपादन किया गया है वह यहाँ दिखाया जाता है।
धवल ग्रन्थ पृष्ठ १४५-१४६ पुस्तक नं० १ में लिखा है कि--

शंका-जिसके द्वारा देखा जाय, जाना जाय उसे दर्शन कहते हैं। दर्शन का इस प्रकार लक्षण करने पर ज्ञान और दर्शन में कोई विशेषता नहीं रह जाती है अर्थात दोनों एक हो जाते हैं।

समाधान—नहीं, क्योंकि, अन्तर्मुख चित्प्रकाश को दर्शन और बहिर्मुख चित्प्रकाश को ज्ञान माना है, इसलिए इन दोनो के एक होने में विरोध आता है।

शंका—वह चैतन्य क्या वस्तु है ?

समाधान—त्रिकाल विषयक अनन्त पर्याय रुप जीव के स्वरूप का अपने क्षयोपशम के अनुसार जो संवेदन होता है उसे चैतन्य कहते है।

शंका—अपने से भिन्न वाह्य पदार्थों के ज्ञान को प्रकाश कहते है इसलिये अन्तर्मुख चैतन्य और बहिर्मुख प्रकाश के होने पर जिसके द्वारा यह जीव अपने स्वरूप को और पर पदार्थों को जानता है उसे ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार की व्याख्या के सिद्ध हो जाने से ज्ञान और दर्शन में एकता आ जाती है इसलिये उनमें भेद सिद्ध नही हो सकता है ?

समाधान—ऐसा नही है, क्योकि, जिस तरह ज्ञान के द्वारा यह घट है, यह पट है इत्यादि विशेष रूप से प्रतिनियत कर्म की व्यवस्था होती है, उसी तरह दर्शन के द्वारा नहीं होती हैं, इसलिए इन दोनों में भेद है।

शंका—यदि ऐसा है तो अन्तरंग सामान्य और बहिरंग सामान्य को ग्रहण करने वाला दर्शन है तथा अन्तर्बाह्य विशेष को ग्रहण करने वाला ज्ञान है ऐसा मान लेना चाहिए ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सामान्य विशेषात्मक वस्तु का क्रम के बिना ही ग्रहण होता है?

शंका—यदि सामान्य विशेषात्मक वस्तु का क्रम के बिना ही ग्रहण होता है, तो वह भी रहा आवे ऐसा मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, छद्मस्थों के दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते है इस कथन के साथ पूर्वोक्त कथन का विरोध आता है।

दूसरी बात यह है कि—सामान्य को छोड़कर केवल विशेष अर्थ क्रिया करने में असमर्थ होता है और अवस्तु रूप पड़ता है, अतएव उसका ग्रहण करने वाला होने के कारण ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता है। क्योंकि, सामान्य रहित अवस्तुरूप केवल विशेष में कर्ता कर्म रूप व्यवहार नहीं बन सकता है। इस तरह केवल विशेष को ग्रहण करने वाले ज्ञान में प्रमाणता सिद्ध नहीं होने से केवल सामान्य को ग्रहण करने वाले दर्शन को भी प्रमाण नहीं मान सकते हैं। अर्थात् जबकि सामान्य रहित विशेष और विशेष रहित सामान्य वस्तु रूप से सिद्ध ही नहीं होते हैं तो केवल विशेष को ग्रहण करने वाला ज्ञान और केवल सामान्य को ग्रहण करने वाला दर्शन प्रमाण कैसे माने जा सकते है ।

शंका—यदि ऐसा है तो प्रमाण का अभाव ही क्यों नहीं मान लिया जाय ?

समाधान—यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि, प्रमाण का अभाव मान लेने पर प्रमेय प्रमाता आदि सभी का अभाव मानना पड़ेगा ?

शंका—यदि प्रमेयादि सभी का अभाव होता है तो होओ ?

समाधान—यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि, प्रमेय आदि का अभाव देखने में नहीं आता है, किन्तु उनका सद्भाव ही दृष्टिगोचर होता है। अतः सामान्य विशेषात्मक बाह्य पदार्थ को ग्रहण करने वाला ज्ञान है और सामान्य विशेषात्मक आत्म रूप को ग्रहण करने वाला दर्शन है यह सिद्ध हो जाता है ।

शंका—उक्त प्रकार से दर्शन और ज्ञान का स्वरूप मान लेने पर "वस्तु का जो सामान्य ग्रहण होता है उसको दर्शन कहते हैं" परमागम में इस वचन के साथ विरोध आता हैं ?

समाधान—ऐसा नहीं हैं; क्योंकि, आत्मा सम्पूर्ण बाह्य पदार्थों में साधारण रुप से पाया जाता है, इसलिये उक्त वचन में सामान्य संज्ञा को प्राप्त आत्मा का ही सामान्य पद से ग्रहण किया गया है ।

शंका—यह कैसे जाना जाय कि यहाँ सामान्य पद से आत्मा का ही ग्रहण किया है ?

समाधान—ऐसी शङ्का करना ठीक नहीं है, क्योंकि "पदार्थों के आकार और भेद को नहीं करके" इस वचन से उक्त कथन की पुष्टि हो जाती है। इसी को स्पष्ट करते हैं—भावों के अर्थात् बाह्य पदार्थों के आकार रूप प्रति कर्म व्यवस्था को नहीं करके, अर्थात् भेद रूप से प्रत्येक पदार्थ को ग्रहण नहीं करके जो (सामान्य) ग्रहण होता है उसको दर्शन कहते हैं। फिर भी इसी अर्थ को दृढ़ करने के लिये कहते हैं कि "यह अमुक पदार्थ है, यह अमुक पदार्थ है" इत्यादि रूप से पदार्थों की विशेषता न करके जो ग्रहण होता है उसे दर्शन कहते हैं। इस कथन से यदि कोई ऐसी आशंका करे कि बाह्य पदार्थों में रहने वाले सामान्य को ग्रहण करना दर्शन है तो उसकी ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, विशेष की अपेक्षा रहित

केवल सामान्य अवस्तु स्वरूप है इसलिए वह दर्शन को विषय भाव को नहीं प्राप्त हो सकता है। उसी प्रकार सामान्य के बिना केवल विशेष भी ज्ञान के द्वारा ग्राह्य नहीं हो सकता है, क्योंकि अवस्तु रूप केवल विशेष अथवा केवल सामान्य का ग्रहण मान लिया जावे तो अति प्रसंग दोष आता है।

शंका—दर्शन के लक्षण को इस प्रकार मान लेने पर अनध्यवसाय को दर्शन मानना पड़ेगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, बाह्य अर्थ का निश्चय न करते हुए भी स्वरूप का निश्चय करने वाला दर्शन है, इसलिए वह अनध्यवसाय रूप नहीं है। ऐसा दर्शन अविसंवादी होने के कारण प्रमाण ही है। और अनध्यवसाय रूप जो प्रतिभास है वह प्रमाण भी है, क्योंकि उसमें विसंवाद और अविसंवाद ये दोनों रूप पाये जाते है। जैसे मार्ग में चलते हुए तृण स्पर्श के होने पर "कुछ है" यह ज्ञान निश्चयात्मक है, और "क्या है" यह ज्ञान अनिश्चयात्मक है इसलिए अनध्यवसाय को उभय रूप कहा है।

अथवा आलोकन अर्थात् आत्मा के व्यापार को दर्शन कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि जो अवलोकन करता है उसे आलोकन या आत्मा कहते हैं। और वर्त्तन अर्थात् व्यापार को वृत्ति कहते हैं। तथा आलोकन अर्थात् आत्मा की वृत्ति अर्थात् वेदन रूप व्यापार को आलोकनवृत्ति या स्वसंवेदन कहते हैं और उसी को दर्शन कहते है। यहाँ पर दर्शन इस शब्द से लक्ष्य का निर्देश किया है। अथवा प्रकाश-वृत्ति को दर्शन कहते हैं। इसका अर्थ इस प्रकार है कि—प्रकाश ज्ञान को कहते हैं और उस ज्ञान के लिए जो आत्मा का व्यापार होता है उसे प्रकाश वृत्ति कहते हैं और वही दर्शन है। अर्थात् विषय और विषयी के योग्य देश मे होने को पूर्वावस्था को दर्शन कहते हैं। कहा भी है कि—

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टु आयारं।
अविसेसिऊण अत्थे दंसणमिदि भण्णदे समए ॥९३॥ गो. जी. ४८२

अर्थ—सामान्य विशेषात्मक बाह्य पदार्थों को अलग-अलग भेद रूप से ग्रहण नहीं करके जो सामान्य ग्रहण अर्थात् स्वरूप मात्र का अवभासना होता है उसको परमागम में दर्शन कहा है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ २०७-२०८ पुस्तक नम्बर १३ में लिखा है कि—

शंका—अनाकार उपयोग क्या है ?

समाधान—साकार उपयोग से अन्य अनाकार उपयोग है।

कर्म कर्तृ भाव का नाम आकार है। उस आकार के साथ जो उपयोग रहता है उसका नाम साकार है।

शंका—साकार उपयोग के द्वारा सब पदार्थ विषय किये जाते हैं, अतः विषय का अभाव होने के कारण अनाकार उपयोग नहीं बनता इसलिये निश्चय सहित ज्ञान का नाम, साकार उपयोग है और निश्चय रहित ज्ञान का नाम, अनाकार उपयोग है। यदि ऐसा कोई कहे तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, ऐसा मानने पर संशय-विपर्यय-और अनध्यवसाय को अनाकारता प्राप्त होती है। यदि कोई कहे कि ऐसा ही हो जाओ, सो भी बात नही है, क्योंकि, ऐसा मानने पर केवली जिनके दर्शन का अभाव प्राप्त होता है ?

समाधान—यह कोई दोष नही है, क्योंकि अन्तरंग को विषय करने वाले उपयोग को अनाकार उपयोग रूप से स्वीकार किया है। अन्तरंग उपयोग विशदाकार होता है यह बात भी नही है, क्योंकि, इसमे कर्त्ता द्रव्य से पृथग्भूत कर्म नहीं पाया जाता। यदि कहा जाय कि दोनों उपयोग एक हैं सो भी बात नही है, क्योकि, एक बाहरंग अर्थ को विषय करता है और दूसरा अन्तरंग अर्थ को विषय करता है,

इसलिये इन दोनों को एक मानने में विरोध आता है। यदि कहा जाय कि इस अर्थ के स्वीकार करने पर साकार और अनाकार उपयोग में समानता नहीं रहेगी सो भी बात नहीं है, क्योंकि, परस्पर के भेद से ये अलग हैं इसलिए इनमें सर्वथा असमानता मानने में विरोध आता है।

शंका—यहाँ सामान्यग्रहण का नाम दर्शन और विशेष ग्रहण का नाम ज्ञान है ऐसा अर्थ क्यों नहीं करते ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, सब क्षेत्र और सब काल में उभय नय के विषय के आलम्बन के बिना सब उपयोग की उत्पत्ति मानने में विरोध आता है। यदि कहा जाय कि क्रम से सामान्य और विशेष का अवलम्बन बन जायगा सो भी बात नहीं है, क्योंकि, ऐसा मानने पर संकर का अभाव प्राप्त होता है।

दूसरे यह लक्षण बनता भी नहीं हैं, क्योंकि, ऐसा मानने पर केवली के समान छद्मस्थों के भी ज्ञान और दर्शन की अक्रम वृत्तिका प्रसंग आता है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३३ पुस्तक ६ में लिखा है कि, बाह्य पदार्थ को सामान्य रूप से ग्रहण करना दर्शन है ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं, किन्तु, यह कथन समीचीन नहीं हैं, क्योंकि, सामान्य ग्रहण के अस्तित्व के प्रति कोई विशेषता न होने से श्रुत ज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान इन दोनों को भी दर्शन के अस्तित्व का प्रसंग आता है। अतएव सामान्य ग्रहण के बिना विशेष के ग्रहण का अभाव होने से संसार अवस्था में ज्ञान और दर्शन की अक्रम अर्थात् युगपत् प्रवृत्ति का प्रसंग आता है तथा दर्शन की उपर्युक्त परिभाषा मानने पर ज्ञान और दर्शन की संसारावस्था में क्रमशः प्रवृत्ति भी नहीं बनती है, क्योंकि, सामान्य से रहित विशेष कोई वस्तु नहीं है और अवस्तु में ज्ञान का प्रवृत्ति होने का (निषेध) विरोध हैं। यदि अवस्तु में ज्ञान की प्रवृत्ति माना जायगी तो ज्ञान के प्रमाणता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि वह वस्तु का अपारच्छेदक है। केवल विशेष कोई वस्तु नहीं हैं, क्योकि उसके अर्थ क्रिया की कर्तृताका अभाव है। इसलिए सामान्य नाम आत्मा का है, क्योंकि, वह सकल पदार्थों में साधारण रूप से व्याप्त है। इस प्रकार के सामान्य रूप आत्मा को विषय करने वाला उपयोग दर्शन है ऐसा निश्चय करना चाहिए।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३४ पुस्तक नम्बर ६ में लिखा है कि केवल ज्ञान ही अपने आपका और अन्य पदार्थों का जानने वाला है इस प्रकार मानकर कितने ही लोग केवल दर्शन के अभाव को कहते हैं। किन्तु उनका यह कहना युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि, केवल ज्ञान स्वयं पर्याय है। पर्याय के दूसरी पर्याय होती नहीं है इसलिये केवल ज्ञान के स्व और पर की जानने वाली दो प्रकार की शक्तियों का अभाव है। यदि एक पर्याय के दूसरी पर्याय का सद्भाव माना जायगा तो आने वाला अनवस्था दोष किसी के द्वारा भी नहीं रोका जा सकता है। इसलिये आत्मा ही स्व और पर को जानने वाला है ऐसा निश्चय करना चाहिये। उनमें स्व प्रतिभास को केवल दर्शन कहते हैं और पर प्रतिभास को केवल ज्ञान कहते हैं।

शंका—उक्त प्रकार की व्यवस्था मानने पर केवल ज्ञान और केवल दर्शन में समानता कैसे रह सकेगी ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ज्ञेय प्रमाण ज्ञानात्मक आत्मानुभव के ज्ञान के प्रमाण होने में कोई विरोध नहीं है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३८३ पुस्तक नम्बर १ में लिखा है कि दृष्टान्त अर्थात् देखे हुए पदार्थ का स्मरण करना अचक्षुदर्शन है इस प्रकार कितने ही आचार्य कहते हैं परन्तु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता है,

क्योंकि, ऐसा मानने पर एकेन्द्रिय जीवों में चक्षु इन्द्रिय का अभाव होने से उनके अचक्षु दर्शन के अभाव का प्रसंग आ जायगा।

शंका—दृष्टान्त में "दृष्ट" शब्द उपलम्भक वाचक ग्रहण करना चाहिए ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उपलब्ध पदार्थ को विषय करने वाली स्मृति को दर्शन स्वीकार कर लेने पर मन को विषय रहित पने की आपत्ति आ जाती है। इसलिए स्वरूप संवेदन दर्शन है ऐसा स्वीकार कर लेना चाहिये।

शंका—ज्ञान ही दो प्रकार का क्यों नहीं मान लिया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अपने से भिन्न वस्तु का परिच्छेदक ज्ञान है और अपने से अभिन्न वस्तु का परिच्छेदक दर्शन है इसलिए इन दोनों में एक पना नहीं बन सकता है।

शंका—ज्ञान और दर्शन की युगपत् प्रवृत्ति क्यों नहीं होती ?

समाधान—कैसे नहीं होती है. क्योंकि जिनके आवरण कर्म नष्ट हो गये हैं ऐसे तेरहवें आदि गुणस्थान वर्ती जीवों में ज्ञान और दर्शन इन दोनों की युगपत् प्रवृत्ति पाई जाती है।

शंका—आवरण कर्म से रहित जीवों में जिस प्रकार ज्ञान और दर्शन की युगपत् प्रवृति पाई जाती है उसी प्रकार छद्मस्थ अवस्था में भी उन दोनों की युगपत् प्रवृत्ति हो।

समाधान—नहीं, क्योंकि, आवरण कर्म के उदय से जिनकी युगपत् प्रवृत्ति करने की शक्ति रुक गई है ऐसे छद्मस्थ जीवों के ज्ञान और दर्शन में युगपत् प्रवृत्ति मानने में विरोध आता है।

शंका—अपने आपके संवेदन से रहित आत्मा की तो कभी भी उपलब्धि नहीं होती हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, बहिरंग पदार्थो की उपयोग रूप अवस्था में अन्तरंग पदार्थ का उपयोग नहीं पाया जाता है।

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन के विषय में धवल ग्रन्थ पृष्ठ १००-१९३ पुस्तक नम्बर ७ में लिखा हैं कि—

चक्खुण जं पयासदि दिस्सदि तं चक्खु दंसणंवेंति।
दिट्ठस्स य जं सरणं णायव्वं तं अचक्खु त्ती ॥२०॥
परमाणु आदियाइं अंतिमखंधं ति मुत्तिदव्वाइं।
तं ओहिदंसणं पुण जं पस्सदि ताणि पच्चक्खं ॥२१॥

अर्थ—जो चक्षु इन्द्रियों को प्रकाशित होता है या दिखता है उसे चक्षु दर्शन समझा जाता है। और जो अन्य इन्द्रियों से देखे हुए पदार्थ का ज्ञान होता है उसे अचक्षु दर्शन जानना चाहिए ॥२०॥

अर्थ—परमाणु से लेकर अन्तिम स्कन्ध तक जितने मूर्तिक द्रव्य है उन्हें जो प्रत्यक्ष देखता है वह अवधि दर्शन है ॥२१॥

शंका—इन सूत्र वचनों में दर्शन की प्ररूपणा बाह्यार्थ विषयक रूप से की गई हैं ?

समाधान—ऐसा नही है, क्योंकि, तुमने इन गाथाओं का परमार्थ नहीं समझा।

शंका—वह परमार्थ कौन सा है ?

समाधान—कहते है "जो चक्षुओं को प्रकाशित होता है अर्थात् दिखता है अथवा आंख द्वारा देखा जाता है वह चक्षु दर्शन है" इसका अर्थ ऐसा समझना चाहिए कि -चक्षुइन्द्रिय ज्ञान से जो पूर्व ही सामान्य स्वशक्ति का अनुभव होता है जो कि चक्षुज्ञानकी उत्पत्ति में निमित्ति रूप है वह चक्षुदर्शन है।

शंका—उस चक्षुइन्द्रिय के विषय से प्रतिबद्ध अंतरंग शकि में चक्षुइन्द्रिय की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है?

समाधान—नहीं, यथार्थ में चक्षु इन्द्रिय की अन्तरंग में ही प्रवृत्ति होती है, किन्तु बालक जनों को ज्ञान कराने के लिये अन्तरंग में बहिरंग पदार्थो के उपचार से चक्षुओं को जो दिखता है वही चक्षु दर्शन है ऐसा प्ररुपण किया है।

शंका—गाथा का गला न घोटकर सीधा अर्थ क्यों नहीं करते?

समाधान—नहीं करते, क्योंकि, वैसा करने में तो पूर्वोक्त समस्त दोषों का प्रसंग आता है।

गाथा के उतरार्ध का अर्थ इस प्रकार है- जो देखा गया है अर्थात् जो पदार्थ शेष इन्द्रियों के द्वारा जाना गया है उससे जो सरण अर्थात् ज्ञान होता है उसे अचक्षु दर्शन जानना चाहिये। चक्षु इन्द्रिय को छोड़ शेप इन्द्रिय ज्ञानों की उत्पत्ति से पूर्व ही अपने विषय में प्रतिबद्ध स्व, शक्ति का अचक्षु ज्ञान की उत्पत्ति का निमित्त भूत जो सामान्य से संवेद या अनुभव होता है वह अचक्षु दर्शन है ऐसा कहा गया है।

द्वितीय गाथा का अर्थ इस प्रकार है—परमाणु से लगाकर अन्तिम स्कन्ध पर्यन्त जितने मूर्तिक द्रव्य है उन्हें जिसके द्वारा साक्षात देखता हैं या जानता है वह अवधि दर्शन है ऐसा जानना चाहिये। परमाणु से लेकर अन्तिम स्कन्ध पर्यन्त जो पुद्गल द्रव्य स्थित है उनके प्रत्यक्ष ज्ञान के पूर्व जो अवधि ज्ञान की उत्पत्ति का निमित्त भूत स्वशक्ति विषयक उपयोग होता है वही अवधिदर्शन है ऐसा ग्रहण करना चाहिये अन्यथा ज्ञान और दर्शन में कोई भेद नहीं रहता।

नोट—यहाँ आत्मा को देखना सो दर्शन तथा बाह्य पदार्थ को देखना सो ज्ञान ऐसा प्रतिपादन किया है यह उपचार है। ज्ञान बाह्य पदार्थ को ही देखे और आत्मा को न देखे ऐसी बात नही हैं। यथार्थ में, स्वद्रव्य की अपेक्षा आत्मा को अखण्ड अभेद (गुण गुणीका भेद बिना एवं गुण पर्याय का भेद बिना) देखे उसी का नाम दर्शन हैं और अनन्त गुण तथा अनन्त पर्याय को देखे उसी का नाम ज्ञान है। दर्शन ने अखण्ड आत्मा को देखा और ज्ञान ने भी गुण पर्याय के समूह रुप आत्मा को देखा है। अन्तर भेद और अभेद रुप ही है। पर द्रव्य की अपेक्षा ज्ञान की एक ज्ञेय उपर से उपयोग हटकर दूसरे ज्ञेय पर उपयोग लगे इसके बीच का जो अन्तराल है उसी का नाम दर्शन है और दूसरे ज्ञेय पर दृष्टि पहुन्च जाना उसी का नाम ज्ञान है, यही परमार्थ सत्य है।

धवलग्रन्थ पृष्ठ १४२ पुस्तक नम्बर १ में लिखा हैं कि—सत्यार्थ का प्रकाश करने वाली शक्ति विशेष को ज्ञान कहते हैं।

शंका—मिथ्यादृष्टियों का ज्ञान भूतार्थ का प्रकाशक कैसे हो सकता है?

समाधान—ऐसा नहीं हैं, क्योंकि, सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टियों के प्रकाश में समानता पाई जाती है।

शंका—यदि दोनों के प्रकाश में समानता पाई जाती हैं तो फिर मिथ्यादृष्टि जीव अज्ञानी कैसे हो सकते हैं?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्त्व कर्म के उदय से वस्तु के प्रतिभासित होने पर भी संशय-विपर्यय और अनध्यवसाय की निवृत्ति नहीं होने से मिथ्यादृष्टियों को अज्ञानी कहा है।

शंका—इस तरह मिथ्यादृष्टियों को अज्ञानी मानने पर दर्शनोपयोग की अवस्था में ज्ञान का अभाव प्राप्त हो जायगा ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, दर्शन उपयोग की अवस्था में ज्ञान उपयोग का अभाव इष्ट है।

धवलग्रन्थ पृष्ट २२४ पुस्तक नं० ५ में लिखा हैं कि—

शंका—मिथ्या दृष्टि जीवों के ज्ञान को अज्ञानपना कैसे कहा ?

समाधान—क्योंकि उनका ज्ञान, ज्ञान का कार्य नहीं करता है।

शंका—ज्ञान का कार्य क्या है ?

समाधान—जाने हुए पदार्थ का श्रद्धान करना ज्ञान का कार्य है।

इस प्रकार का ज्ञान का कार्य मिथ्यादृष्टि जीवो में पाया नहीं जाता है। इसलिये उनके ज्ञान को ही अज्ञान कहा है। यहां पर अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं लेना चाहिए। अन्यथा (ज्ञान रूप जीव के लक्षण का विनाश होने से लक्ष्य रूप) जीव के विनाश का प्रसंग प्राप्त होगा।

शंका—दया धर्म से रहित जातियों में उत्पन्न हुए मिथ्यादृष्टि जीव में तो श्रद्धान पाया जाता है। फिर उसके ज्ञान को अज्ञान क्यों माना जाय ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, आप्त-आगम और पदार्थ के श्रद्धान से रहित जीव के दया धर्म आदि में यथार्थ श्रद्धान के होने का विरोध हैं। अतएव उनका ज्ञान अज्ञान ही है। ज्ञान का कार्य नहीं करने पर ज्ञान में अज्ञान का व्यवहार लोक में अप्रसिद्ध भी नहीं हैं। क्योंकि पुत्र कार्य को नहीं करने वाले पुत्र में भी लोक के भीतर अपुत्र कंहने का व्यवहार देखा जाता है।

धवलग्रन्थ पृष्ठ ३५३ पुस्तक नं० १ में लिखा हैं कि—

शंका—ज्ञान मार्गणा के अनुवाद से ज्ञान के प्रतिपक्ष भूत अज्ञान का ज्ञान मार्गणा में कैसे संभव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, मिथ्यात्व सहित ज्ञान को ही ज्ञान का कार्य नहीं करने से अज्ञान कहा है। जैसे पुत्रोचित्त कार्य को नही करने वाले पुत्र को अपुत्र कहा जाता है।

शंका—ज्ञान का क्या कार्य है ?

समाधान – तत्त्वार्थ में रूचि निश्चय श्रद्धा और चारित्र का धारण करना ज्ञान का कार्य है। अथवा प्रधान पद की अपेक्षा अज्ञान को भी ज्ञान कहा जाता है। जैसे जिस वन में आम के वृक्षों की बहुलता होती है उसे आम्रवन कहा जाता है।

धवलग्रन्थ पृष्ट ८४-८८ पुस्तक नं० ७ में लिखा है कि—

शंका—अज्ञान कहने पर क्या ज्ञान का अभाव ग्रहण किया है या नहीं किया ? प्रथम पक्ष तो बन नहीं सकता, क्योंकि, मति ज्ञान का अभाव मानने पर "मति ज्ञान पूर्वक ही श्रु त ज्ञान होता है" इसलिए श्रु त ज्ञान के भी अभाव का प्रसंग आ जायगा ? और ऐसा भी माना जा सकता नहीं है, क्योंकि, मति और

श्रुत दोनों ज्ञानों के अभाव में सभी ज्ञानों के अभाव का प्रसंग आ जाता है। ज्ञान के अभाव में दर्शन भी नहीं हो सकता है, क्योंकि, ज्ञान और दर्शन इन दोनों का परस्पर अविना भावी सम्बन्ध है। तथा ज्ञान और दर्शन के अभाव में जीव भी नहीं रहता, क्योंकि, जीव का तो ज्ञान और दर्शन ही लक्षण है। दूसरा पक्ष भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि अज्ञान कहने पर ज्ञान का अभाव न माना जाय तो प्रतिषेध के फलाभाव का प्रसंग आ जाता है ?

समाधान—प्रथम पक्ष में कहे गये दोष की प्रस्तुत में संभावना नहीं है, क्योंकि यहाँ पर प्रसज्य प्रतिषेध अर्थात् अभाव भाव से प्रयोजन नहीं है। दूसरे पक्ष में कहा गया दोष भी नहीं आता, क्योंकि, यहाँ जो अज्ञान शब्द से ज्ञान का प्रतिषेध किया गया है उसकी आत्मा को छोड़ अन्य समीपवर्ती प्रदेश में स्थित समस्त द्रव्यों में स्व पर विवेक के अभाव रूप सफलता पायी जाती है। अर्थात् स्व पर विवेक से रहित जो पदार्थ ज्ञान होता है उसे ही यहां अज्ञान कहा है।

शंका—तो यहां सम्यग्दृष्टि के ज्ञान का भी प्रतिषेध क्यों न किया जाय, क्योंकि विधि और प्रतिषेध भाव से मिथ्यादृष्टि ज्ञान और सम्यग्दृष्टि ज्ञान में कोई विशेषता नहीं है ?

समाधान—यहां अन्य पदार्थो में परत्व बुद्धि के अतिरिक्त भाव सामान्य की अपेक्षा प्रतिषेध नहीं किया गया है जिससे सम्यग्दृष्टि ज्ञान का भी प्रतिषेध हो जाय। किन्तु ज्ञात वस्तु में विपरीत श्रद्धा उत्पन्न करने वाले मिथ्यात्वोदय के बल से जहां पर जीव में अपने जाने हुए पदार्थ में श्रद्धान नहीं उत्पन्न होता वहाँ जो ज्ञान होता है वह अज्ञान कहलाता है, क्योंकि, उसमें ज्ञान का फल नही पाया जाता है।

शंका—घट, पट स्तम्भ आदि पदार्थो में मिथ्यादृष्टियों के भी यथार्थ और श्रद्धान पाया तो जाता है ?

समाधान—नहीं पाया जाता, क्योंकि, उनके उस ज्ञान में भी अनध्यवसाय अर्थात अनिश्चित देखा जाता है यह बात असिद्ध भी नहीं है, क्योकि "यह ऐसा ही है" ऐसे निश्चय का वहाँ अभाव होता है।

अथवा यथार्थ दिशा के सम्बन्ध में विमूढ जीव वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श इन इन्द्रिय विषयों के सम्बन्ध में ज्ञानानुसार श्रद्धान करता हुआ भी अज्ञानी कहलाता है, क्योंकि, यथार्थ ज्ञान की दिशा में श्रद्धान का अभाव है। उसी प्रकार स्तंभादि पदार्थो में यथा ज्ञान श्रद्धान रखता हुआ भी जीव जिन भगवान् के वचनानुसार श्रद्धान के अभाव से अज्ञानी ही कहलाता है।

शंका—मति अज्ञानी जीव के क्षायोपशमिक भाव या लब्धि कैसे मानी जा सकती है ?

समाधान—क्योंकि, उस जीव के मत्यज्ञानावरण कर्मों के देशघाति स्पर्धकों के उदय से मत्य ज्ञानित्व पाया जाता है।

शंका—यदि देश घाति स्पर्धकों के उदय से अज्ञानित्व होता है तो अज्ञानित्व को औदयिक भाव मानने का प्रसंग आता है ?

समाधान—नहीं आता, क्योंकि, वहां सर्वघाति स्पर्धकों के उदय का अभाव है।

शंका—तो फिर अज्ञानित्व में क्षायोपशमिक भाव क्या है ?

समाधान—आवरण के होते हुए भी, आवरणीय ज्ञान का एक देश वहाँ पर उदय में पाया

जाता है उसी भाव को क्षायोपशमिक भाव दिया गया है। इससे अज्ञान को क्षायोपशमिक भाव मानने में कोई विरोध नहीं आता। अथवा ज्ञान के विनाश का नाम क्षय है। उसी क्षय का उपशम हुआ एक देश क्षय। इस प्रकार ज्ञान के एक देशीय क्षय की क्षायोपशमं संज्ञा मानी जा सकती है। ऐसा क्षायोपशम ज्ञान होने पर जो ज्ञान या अज्ञान उत्पन्न होता है उसी को क्षायोशमिक लब्धि (भाव) कहते हैं।

इसी प्रकार श्रुताज्ञान, विभंगज्ञान, अभिनिबोधिक ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, और मनः पर्यय ज्ञान को भी क्षायोपशमिक भाव कहना चाहिये। विशेषता केवल यह है कि इन सब ज्ञानों में अपने अपने आवरणों के देशघाति स्पर्धकों के उदय से क्षायोपशमिक लब्धि होती है ऐसा जानना चाहिये।

शंका—इन सातों ज्ञानों के सात आवरण क्यों नहीं होते ?

समाधान—नहीं होते, क्योंकि, पांचों ज्ञानों के अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञान पाया नहीं जाता है। किन्तु इससे मतिअज्ञान श्रुताज्ञान और विभंग ज्ञान का अभाव नहीं हो जाता, क्योंकि, उनका यथा क्रम से आभिनिबोधिक ज्ञान, श्रुत ज्ञान और अवधिज्ञान में अन्तर्भाव होता है।

शंका—पहले इन्द्रिय मार्गणा और काय मार्गणा में सर्वघाति स्पर्धक कों के उदय क्षय से उन्हीं स्पर्धकोंके सत्वोपशमसे, तथा देशघाति स्पर्धको के उदय से क्षायोपशमिक भावकी प्ररुपणा की गयी है। किन्तु यहाँ पर सर्वघाति स्पर्धकों के उदय क्षय और सत्वोपशम इन दोनों का प्रतिपेध करके केवल देश घाति स्पर्धकों के उदय से क्षयोपशमिक भाव होता है ऐसा प्ररुपण करने वाले के स्ववचन विरोध दोष क्यों नहीं होता है ?

समाधान—नहीं होता है, क्योंकि, यदि सर्वघाति स्पर्धकों के उदय क्षय से संयुक्त देशघाति स्पर्धकोंके उदय से ही क्षायोपशमिक भाव मानना इष्ट हो तो स्पर्शेन्द्रिय काययोग और मति ज्ञान तथा श्रुत ज्ञान इनके क्षायोपशमिक भाव प्रात नहीं होगा, चूंकि स्पर्शेन्द्रियावरण, वीर्यान्तिराय, और मतिज्ञान श्रुत ज्ञान इनके आवरणों के सर्वघाति स्पर्धकोके उदयका सब काल में अभाव है। अर्थात् उक्त आवरणों के सर्वघाति स्पर्धकों का उदय कभी होता ही नहीं है, इसमें कोई स्व वचन विरोध भी नहीं है, क्योंकि इन्द्रिय मार्गणा और योगमार्गणा में अन्य आचार्यो के व्याख्यान क्रमका ज्ञान कराने के लिये यहाँ वैसा प्ररुपण किया गया है। जो जिससे नियमता उत्पन्न होता है वह उसका कार्य होता है, और वह दूसरा उसको उत्पन्न करने वाला कारण होता है। किन्तु देशघाति स्पर्धकों के उदय क्षय नियम से अपने अपने ज्ञान के उत्पादक नहीं होते, क्योंकि, क्षीण कषायों के अन्तिम समय में अवधि और मनः पर्यय ज्ञानावरणों के सर्वघाति स्पर्धकों के क्षय से अवधि ज्ञान और मनः पर्यय ज्ञान उत्पन्न होते हुए नहीं पाये जाते हैं।

नोट—यथार्थ में ज्ञान अज्ञान मिथ्या ज्ञान होता ही नहीं, क्योंकि, ज्ञानका कार्य देखना है। स्व को देखे या पर को देखे। स्वको देखे तो सम्यक्ज्ञान और परको देखे तो मिथ्या ज्ञान ऐसा वस्तुका स्वरूप नहीं है। ज्ञान तो ज्ञान ही है परन्तु मिथ्या दर्शन के कारण से ज्ञानको मिथ्या ज्ञान कहा जाता है, और सम्यग्दर्शन के कारण से वही ज्ञान सम्यक् ज्ञान कहा जाता है। जैसे मनुष्य के पास में धन होने से मनुष्य को धनी कहा जाता है और धन के अभाव में वही मनुष्य निर्धनी कहा जाता है यह तो परकी अपेक्षा से विशेषण है मनुष्य की अपेक्षा से देखा जाय तो मनुष्य तो वही का वही है। उसी प्रकार ज्ञान को परकी अपेक्षासे मिथ्याज्ञान और सम्यक्ज्ञानः कहा जाता है परन्तु ज्ञान की अपेक्षा से देखा जाय तो ज्ञान तो वही का वही है। ज्ञानका कार्य देखना है। किसको देखना है ? ज्ञेय को। ज्ञेय कौन है ? लोकालोक। जबतक लोकालोक न देखे तबतक ज्ञान ने अपना

देखने का कार्य किया नहीं इसी अपेक्षा से ज्ञान को अज्ञान कहा जावे तो उचित है। और ऐसा अज्ञान भाव बारवाँ गुणस्थान तक रहता है। परन्तु ज्ञान को मिथ्या ज्ञान और सम्यक् ज्ञान तो केवल मिथ्यादर्शन या सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से कहा जाता है। ज्ञान की अपेक्षा से ज्ञान न मिथ्या ज्ञान है न ज्ञान सम्यक् ज्ञान है यह परमार्थ सत्य है।

कर्मों का बन्ध दर्शनोपयोग में होता है या ज्ञानोपयोग में होते है इस विषय में धवलग्रन्थ पृष्ठ ३३२-३३४ पुस्तक नम्बर ११ में लिखा है कि—

सादस्स असादस्स य बिट्ठाणयम्मि णियमा अणागारपा ओग्गट्ठाणाणि ॥सूत्र नं० २०४ ॥ कर्म प्रकृति-१-९६

अर्थ—साता व असाता वेदनीय के द्विस्थानिक अनुभाग में निश्चय से अनाकार उपयोग स्थान होते हैं ॥२०४॥

अनाकार उपयोग योग्य स्थिति बन्धस्थान नियम अर्थात् निश्चय से साता व असाता वेदनीय के द्वि स्थानिक अनुभाग का बन्ध होने पर होते हैं अन्यत्र नहीं होते, क्योंकि, दर्शनोपयोग के समय में अतिशय संक्लेश और विशुद्धि का अभाव होता है।

शंका—दर्शनोपयोग किसे कहते है ?

समाधान—अन्तरंग उपयोग को दर्शनोपयोग कहते हैं। कारण यह है कि आकार का अर्थ कर्म कर्तृत्व है, उसके बिना जो अर्थोपलब्धि होती है उसे अनाकार उपयोग कहा जाता है।

अन्तरंग उपयोग में कर्म कर्तृत्व होता है ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि, उसमें कर्त्ता की अपेक्षा द्रव्य व क्षेत्र से स्पष्ट कर्म का अभाव है।

शंका—ऐसा होने पर भी श्रुतज्ञान व मनःपर्ययज्ञान के भी दर्शनोपयोग होने का प्रसंग आता है ?

समाधान—नहीं आवेगा, क्योंकि यह दोनों ज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होते हैं। अतः उसके दर्शनोपयोग पूर्वक होने में विरोध है। इस कारण बाह्य अर्थ का ग्रहण होने पर जो विशिष्ट आत्मस्वरूप का वेदन होता है वह दर्शन है यह सिद्ध होता है।

बाह्य अर्थ के ग्रहण के उन्मुख होने रुप जो अवस्था होती है वही दर्शन हो ऐसी बात नहीं है, किन्तु बाह्य अर्थ ग्रहण के उपसंहार के प्रथम समय में लेकर बाह्यार्थ के अग्रहण के अन्तिम समय तक दर्शनोपयोग होता है ऐसा ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि इसके बिना दर्शन व ज्ञानोपयोग से भिन्न भी जीव के अस्तित्व का प्रसंग आता है।

सागारपाओग्गट्ठाणा णि सव्वत्थ ॥२०५॥

साकार से अभिप्राय ज्ञानोपयोग का है। क्योंकि उसमें कर्म और कर्तृत्वकी सम्भावना है। उक्त सागार उपयोग के योग्य स्थिति बन्ध स्थान सर्वत्र होते हैं। भावार्थ जो स्थिति बन्ध स्थान दर्शनोपयोग के साथ बन्धते हैं वे ज्ञानोपयोग के साथ भी बन्धते हैं। जो स्थिति बन्ध स्थान दर्शनोपयोग के साथ नहीं बन्धते हैं वे भी ज्ञानोपयोग के, साथ बन्धते हैं यह उसका अभिप्राय है।

मतिज्ञान का स्वरूप।

मतिज्ञान का स्वरूप धवल ग्रन्थ पृष्ठ १४३-१६० पुस्तक नंवर ६ में लिखा है कि—मतिज्ञान चार प्रकार का है। (१) अवग्रह (२) ईहा (६) अवाय (४) धारणा। विपय और विषयी के सम्वन्ध के अनन्तर जो आद्यग्रहण होता है वह अवग्रह है। "पुरुप" इस प्रकार अवग्रह द्वारा गृहीत अर्थ में भापा आयु और रुपादि विशेष से होने वाली आकांक्षाका नाम ईहा है। ईहा से ग्रहीत पदार्थ का भापा आदि विशेषों के ज्ञान से जो यथार्थ स्वरूप से ज्ञान होता है वह अवाय है। जिससे निर्णीत पदार्थ का विस्मरण नहीं होता वह धारणा है।

शंका—क्या अवग्रह निर्णय रूप है अथवा अनिर्णय रूप ? प्रथम पक्षमें अर्थात् निर्णयरूप स्वीकार करने पर उसका अवाय में अन्तर्भाव होना चाहये। परन्तु ऐसा हो नहीं सकता। क्योंकि वैसा होने पर उसके पीछे संशयकी उत्पत्ति के अभाव का प्रसंग आवेगा, तथा निर्णयके विपर्यय व अनध्वसाय रूप होनेका विरोध भी है। अनिर्णय स्वरूप मानने पर अवग्रह प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि, ऐसा होने पर उसका संशयः विपर्यय व अनध्यवसाय में अन्तर्भाव होगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अवग्रह दो प्रकार का है। (१) विशदावग्रह (२) अविशद अवग्रह के भेद से अवग्रह दो प्रकार का है। उनमें विशद अवग्रह निर्णय रूप होता हुआ अनियम से ईहा, अवाय, और धारणा ज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है। यह निर्णय रूप होकर भी अवाय संज्ञा वाला नहीं हो सकता, क्योंकि ईहा प्रत्यय के पश्चात होने वाले निर्णय की अवाय संज्ञा है।

उनमें भाषा, आयु व रूपादि विशेषो को ग्रहण न करके व्यवहार के कारण भूत पुरुप मात्र के सत्यादि विशेप को ग्रहण करने वाला तथा अनियम से जो ईहा आदि की उत्पत्ति में कारण है वह अविशदावग्रह है। यह अविशदावग्रह दर्शन में अन्तभूत नहीं है, क्योंकि, वह दर्शन विषय और विषयी के सम्वन्ध काल में होने वाला है।

शंका—अविशदावग्रह अप्रमाण है, क्योंकि, यह अनध्यवसाय स्वरूप है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, यह कुछ विशेषों के अध्यवसाय से सहित है। उक्त ज्ञान विपर्यय रूप होने से भी अप्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि, उसमें विपरीतता नहीं पायी जाती। यदि कहा जाय कि चूंकि वह विपर्यय ज्ञान का उत्पादक है, अतः अप्रमाण है, सो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि, उससे विपर्यय ज्ञान के उत्पन्न होने का कोई नियम नहीं है। संशय के हेतु होने से भी वह अप्रमाण नहीं है, क्योंकि, कारण गुणानुसार कार्य के होने का नियम नहीं पाया जाता तथा अप्रमाण भूत संशय से प्रमाण भूत निर्णय प्रत्यय की उत्पत्ति होने से उक्त हेतु व्यभिचारी भी है। संशय रूप होने पर भी वह अप्रमाण नहीं है, क्योंकि, स्थाणु और पुरुष आदि रूप दो विपयों में प्रवर्तमान व चल स्वभाव संशय की अचल व एक पदार्थ को विषय करने वाले अविशद अवग्रह के साथ एकता का विरोध है। इस कारण ग्रहण किये गये व स्वंश के प्रति अविशदावग्रह को प्रमाण स्वीकार करना चाहिए क्योंकि वह व्यवहार के योग्य है।

शंका—व्यवहार के अयोग्य भी तो अविशदावग्रह है उसके प्रमाणता कैसे संभव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, "मैने कुछ देखा है" इस प्रकार का व्यवहार वहां भी पाया जाता है। किन्तु वस्तुतः व्यवहार की अयोग्यता के प्रति वह अप्रमाण है।

शंका—अवग्रह से पुरुष को ग्रहण करके क्या यह दक्षिण का रहने वाला है या उत्तर का, इत्यादि विशेप ज्ञान के विना संशय को प्रात हुए व्यक्ति के उत्तर काल में विशेप जिज्ञासा के प्रति जो

प्रयत्न होता है उसका नाम ईहा है। इस कारण अवग्रह से गृहीत विषय को ग्रहण करने तथा संशयात्मक होने से ईहा प्रत्यय प्रमाण नहीं है ?

समाधान—गृहीत ग्रहण अप्रमाण्य का कारण नहीं है, क्योंकि, उसका कारण संशय विपर्यय और अनध्यवसाय है। दूसरे ईहा प्रत्यय सर्वथा गृहीत ग्राही भी नहीं है, क्योंकि, अवग्रह से गृहीत वस्तु के उस अंश के निर्णय की उत्पत्ति में निमित्त भूत लिग को जो कि अवग्रह से नहीं ग्रहण किया गया है, ग्रहण करने वाला ईहा ज्ञान गृहीत ग्राही नहीं हो सकता है। और एकान्ततः अगृहीत को ही प्रमाण ग्रहण करते हों सो भी नहीं है, क्योंकि, ऐसा होने पर अगृहीत होने के कारण खर विषाण के समान असत् होने से वस्तु के ग्रहण का विरोध होगा। ईहा प्रत्यय संशय भी नहीं हो सकता, क्योंकि, निर्णय की उत्पत्ति में निमित्त भूत लिंग के ग्रहण द्वारा संशय को दूर करने वाले विमर्श प्रत्यय के संशय रूप होने में विरोध है। संशय के आधारभूत जीव में समवेत होने से भी वह ईहा प्रत्यय अप्रमाण नहीं हो सकता। क्योंकि संशय के विरोधी और स्वरूपतः संशय से भिन्न उक्त प्रत्यय के अप्रमाण होने का विरोध है। अनध्यवसाय रूप होने से भी ईहा अप्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि कुछ विशेषों का अध्यवसाय करते हुए संशय को दूर करने वाले उक्त प्रत्यय के अनध्यवसाय रूप होने का विरोध है। अतएव परीक्षा प्रत्यय प्रमाण है यह सिद्ध होता है। यहां उपयोगी श्लोक—

अवायावय वोत्पत्ति स्संशया वय विच्छदा।
सम्यग् निर्णय पर्यंता परीक्षे हेति कथ्यते ॥४७॥

अर्थ—संशय के अवयवों को नष्ट करके अवाय के अवयवों को उत्पन्न करने वाली जो भले प्रकार निर्णय पर्यन्त परीक्षा होती है वह ईहा प्रत्यय कहा जाता है। ४७॥

शंका—ईहादिक प्रत्यय मतिज्ञान नहीं हो सकते, क्योंकि, वे श्रुतज्ञान के समान इन्द्रियों से उत्पन्न नहीं होते ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, इन्द्रियों से उत्पन्न हुए अवग्रह ज्ञान से उत्पन्न होने वाले ईहादिकों को उपचार से इन्द्रिय जन्य स्वीकार किया गया है।

शंका—वह औपचारिक इन्द्रिय जन्यता श्रुत ज्ञान में भी मान लेना चाहिए ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिस प्रकार ईहादिक की अवग्रह से गृहीत पदार्थ के विषय में प्रवृत्ति होती है उस प्रकार चूंकि श्रुति ज्ञान की नहीं होती अतः व्यधि करण होने से श्रुतज्ञान के प्रत्यासत्ति का अभाव है। इसी कारण उसमें उपचार से इन्द्रिय जन्यत्व नहीं बनता। और इसलिए श्रुत के मति संज्ञा भी सम्भव नहीं है।

शंका—अवाय ज्ञान मति ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि, वह ईहा से निर्णीत लिंग के आलम्बन बल से उत्पन्न होता है। जैसे अनुमान ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, अवग्रह से गृहीत पदार्थ को विषय करने वाले तथा ईहा प्रत्यय से विषयी कृत लिंग से उत्पन्न हुए निर्णय रूप और अवग्रह से गृहीत पदार्थ को विषय करने वाले अवाय प्रत्यय के मतिज्ञान न होने का विरोध है। और अनुमान अवग्रह से गृहीत पदार्थ को विषय करने वाला नहीं है, क्योंकि यह अवग्रह से निर्णीत लिंग के बल से अन्य वस्तु में उत्पन्न होती है। तथा अवग्रहादिक चारों की सर्वत्र क्रम से उत्पत्ति का नियम भी नहीं है, क्योंकि अवग्रह के पश्चात् नियम से संशय की

उत्पत्ति नहीं देखी जाती है। और संशय के बिना विशेष की आकांक्षा होती नहीं है जिससे कि, अवग्रह के पश्चात् नियम से ईहा उत्पन्न होता है। न ईहा से नियमतः निर्णय उत्पन्न होता है। क्योंकि, कहीं पर निर्णय को उत्पन्न न करने वाला ईहा प्रत्यय ही देखा जाता है। अवाय में धारणा भी नियम से नहीं उत्पन्न होती, क्योंकि, उसमें भी व्यभिचार पाया जाता है। इस कारण अवग्रह से लेकर धारणा तक चारों ज्ञान मति ज्ञान है यह सिद्ध होता है।

वे चारों ज्ञान बहु-बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त, और ध्रुव तथा इनसे विपरीत एक, एक विध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त और अध्रुव के भेद से बारह प्रकार है। उनमें बहु शब्द संख्यावाची और विपुल्यवाची है। संख्या में एक दो बहुत और विपुलता में बहुत ओदन व बहुत दाल इस प्रकार इन दोनों का भी ग्रहण है।

शंका—बहुत पदार्थों का अवग्रह नहीं है, क्योंकि, विज्ञान प्रत्येक अर्थ के वशवर्ती है ?

समाधान नहीं क्योंकि, नगर, वन, व स्कन्धावार (छावनी) में अनेक पदार्थ विषयक प्रत्ययकी उत्पत्ति देखी जाती है। इसके अतिरिक्त बहु-अवग्रहके अभाव में उसके निमित्त से होने वाला बहुवचन का प्रयोग भी नहीं बन सकेगा। इसका कारण यह है कि एक पदार्थ के ग्राहक ज्ञानों से बहुत पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि, वैसा होने में विरोध है।

दूसरे जिसके अभिप्राय से नियमतः एक पदार्थ में ही विज्ञान होता है उसके यहाँ क्या पूर्व ज्ञान के हट जाने पर उत्तर ज्ञान की उत्पत्ति होती है। अथवा उसके होते हुए ? इनमें द्वितीय पक्ष तो बनता नहीं है, क्योंकि, पूर्व ज्ञान के होते हुए उत्तर ज्ञान होता है ऐसा मानने पर "एक मन होने पर ज्ञान एक पदार्थ को विषय करने वाला है" इस वाक्य के साथ विरोध होगा। (अर्थात् जिस प्रकार यहाँ एक मन अनेक प्रत्ययों का आरम्भक है उसी प्रकार एक प्रत्यय अनेक पदार्थों का विषय करने वाला भी होना चाहिये, क्योंकि एक काल में अनेक प्रत्ययोंकी संम्भावना है ही) प्रथम पक्ष भी नहीं बनता है, क्योंकि पूर्व ज्ञान के नष्ट होने पर उत्तर ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा स्वीकार करने पर "यह इससे अन्य है" इस व्यवहार के नष्ट होने का प्रसंग आवेगा। मध्यमा और प्रदेशिनी (तर्जनी) इन दोनों अंगुलियों का एक साथ ज्ञान न हो सकने का प्रसंग आने से उनके विषय में अपेक्षाकृत दीर्घता व ह्रस्वता के व्यवहार के भी लोप होने का प्रसंग आवेगा, तथा ज्ञान के एकार्थ विषयवर्ती होने पर या तो स्थाणु विषयक प्रत्यय होगा या पुरुष विषयक, इन दोनों को विषय न कर सकने से उनके निमित्त से होने वाले संशय के भी अभाव का प्रसंग आवेगा। दूसरे पूर्ण कलश को चित्रित करने वाले तथा चित्र क्रिया में दक्ष चैत्र के क्रिया व कलश विषयक विज्ञान का भेद न होने से उसकी उत्पत्ति न हो सकेगी, कारण कि वह युगपत् दो तीन ज्ञानों के बिना उत्पन्न नही होता, क्योंकि, वैसा होने में विरोध है।

शंका—प्रत्येक द्रव्य में भेद को प्राप्त हुए प्रत्ययों की एकता कैसे सम्भव है ?

समाधान—नहीं; क्योंकि, युगपत् व एक जीव द्रव्य में रहने वाले और ज्ञेय पदार्थों के भेद से प्रचुरता को प्राप्त हुए प्रत्ययों की एकता में कोई विरोध नहीं है।

एक शब्द के व्यवहार का कारण भूत प्रत्यय एक प्रत्यय है। विध का ग्रहण भेद प्रगट करने के लिए है। अतः बहुविध का अर्थ बहुत प्रकार है। जाति में रहने वाली बहु संख्या को अर्थात् अनेक जातियों को विषय करने वाला प्रत्यय बहुविध कहलाता है। गाय, मनुष्य, घोड़ा और हाथी आदि जातियों में रहने वाला अक्रम प्रत्यय चक्षु जन्य बहुविध प्रत्यय है। तत, विततः घन और सुषिर आदि शब्द जातियों को

विषय करने वाला अक्रम प्रत्यय श्रोत्रज बहुविध प्रत्यय हैं। कपूर-अगुरु-तुरुष्क (सुगन्धि द्रव्य विशेष) और चन्दन आदि सुगन्ध द्रव्यों में रहने वाला योगैपद्य प्रत्यय घ्राणज बहुविध प्रत्यय हैं। तिक्त, कषाय, आम्ल, मधुर और लवण रसों में एक साथ रहने वाला प्रत्यय रसनज बहुविध प्रत्यय हैं। स्निग्ध, मृदु, कठिन, उष्ण गुरु, लघु और शीत आदि स्पर्शों में एक साथ रहने वाला स्पर्शज बहुविध प्रत्यय है। यह प्रत्यय असिद्ध नही है, क्योंकि, वह पाया जाता है और जिसकी प्राप्ति है उसका अपह्नव नहीं किया जा सकता है, क्योंकि, ऐसा करने में अव्यवस्था की आपत्ति के साथ जाति विषयक बहु प्रत्यय के निमित्त से होने वाले बहु वचन के भी व्यवहार के अभाव की आपत्ति आवेगी।

एक जाति को विषय करने के कारण इसके प्रतिपक्ष भूत प्रत्यय को एक विध कहते है। इसका अन्तर्भाव एक प्रत्यय में नही हो सकता है, क्योंकि, वह एक प्रत्यय व्यक्तिगत एकता में सम्बन्ध करने वाला हैं और यह अनेक व्यक्तियों में सम्बन्ध एक जाति में रहने वाला है। क्षिप्र वृति अर्थात् शीघ्रता से वस्तु को ग्रहण करने वाला प्रत्यत क्षिप्र कहा जाता है। नवीन सकोरे में रहने वाले जल के समान धीरे वस्तु को ग्रहण करने वाला अक्षिप्र प्रत्यय है। वस्तु के एक देश का अवलम्वन करके पूर्ण रूप से वस्तु को ग्रहण करने वाला तथा वस्तु के एक देश अथवा समस्त वस्तु का अवलम्बन करके वहां अविद्यमान अन्य वस्तु को विषय करने वाला भी अनिःसृत प्रत्यय है। यह प्रत्यय असिद्ध भी नही हैं, क्योंकि, घट के अर्वाग्भाग का अवलम्बन करके कहीं घट प्रत्यय की उत्पत्ति पायी जाती है। कहीं पर "गाय के समान गवय होता है" अर्वाग्भाग के एक देश का अवलम्वन करके उक्त प्रत्यय की उत्पत्ति पायी जाती हैं। कहीं पर गाय के समान गवय होता है इस प्रकार अथवा अन्य प्रकार से एक वस्तु का अवलम्बन करके वहां समीप में न रहने वाली अन्य वस्तु को विषय करने वाले प्रत्यय की उत्पत्ति पायी जाती है। कहीं पर अर्वाग्भाव के ग्रहण काल में ही पर भाग का ग्रहण पाया जाता है और यह असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि, अन्यथा वस्तु विषयक प्रत्यय की उत्पत्ति बन नहीं सकती तथा अर्वाग्भाव वस्तु हो नही सकती क्योकि, उतने मात्र से अर्थ क्रिया कारित्व नहीं पाया जाता है। कहीं पर एक वर्ण के श्रवण काल में ही आगे उच्चारण किये जाने वाले वर्णो का विषय करने वाले प्रत्यय की उत्पत्ति पायी जाती है। कहीं पर अपने अभ्यस्त प्रदेश में एक स्पर्श के ग्रहण काल में ही अन्य स्पर्श विशिष्ट उस वस्तु के प्रदेशान्तरों का ग्रहण होता है, तथा कहीं पर एक रसके ग्रहण काल में ही उन प्रदेशों में नहीं रहने वाले रसान्तर से विशिष्ट वस्तु का ग्रहण होता है। दूसरे आचार्य "निसृत" ऐसा पढ़तें है। उनके द्वारा उपमा प्रत्यय एक ही संग्रहीत होगा अतः वह इष्ट नहीं है। इसका प्रतिपक्ष भूत निःसृत प्रत्यय है, क्योंकि, कहीं पर किसी काल में आलम्वनी भूत वस्तु के एक देश में उतने ही ज्ञान का अस्तित्व पाया जाता है।

इन्द्रिय के प्रति नियत गुण से विशिष्ट वस्तु के ग्रहण काल में ही उस इन्द्रिय के अप्रति नियत गुण से विशिष्ट उस वस्तु का ग्रहण जिससे होता है वह अनुक्त प्रत्यय हैं। यह असिद्ध भी नही है, क्योंकि, चक्षु से लवण, सक्कर व खांड के ग्रहण काल में ही कभी उनके रसका ज्ञान हो जाता हे। दही के ग्रहण काल में ही उसके रस का ज्ञान हो जाता है। दीपक के रुप के ग्रहण काल में कभी उसके स्पर्श का ज्ञान हो जाता है। तथा शब्द के ग्रहण काल में ही संस्कार युक्त किसी पुरुष के उसके रसादिक विषयक प्रत्यय की उत्पत्ति भी पायी जाती है। इससे प्रतिपक्ष रुप उक्त प्रत्यय है।

शंका—निःसृत और उक्त में क्या भेद है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उक्त प्रत्यय निःसृत और अनिःसृत-दोनों रुप है अतः उसका निःसृत के साथ एकत्व होने का विरोध है।

"यह वही है वह मैं ही हूँ"-इस प्रकार का प्रत्यय ध्रुव कहलाता है। उसका प्रतिपक्ष भूत-प्रत्यय अध्रुव है।

शंका—मन से अनुक्त का क्या विषय है ?

समाधान—अदृष्ट और अश्रुत पदार्थ उसका विषय है। और उसका यहां रहना असिद्ध नहीं है, क्योंकि उपदेश के बिना अन्यथा द्वादसांग श्रुत का ज्ञान बन नहीं सकता अतएव उसका अदृष्ट व अश्रुत पदार्थ में रहना सिद्ध है।

अब यह भेद उच्चारण करके दिखाया जाता है। वह इस प्रकार है। चक्षु से बहुत का अवग्रह करता है। चक्षु से एक का अवग्रह करता है। चक्षु से बहुत प्रकार का अवग्रह करता है। चक्षु से एक प्रकार का अवग्रह करता है। चक्षु से क्षिप्र का अवग्रह करता है, चक्षु से अक्षिप्र का अवग्रह करता है, चक्षु से अनिःसृत का अवग्रह करता है, चक्षु से निःसृत का अवग्रह करता हैं। चक्षु से अनुक्त का अवग्रह करता है, चक्षु से ध्रुव का अवग्रह करता है। चक्षु से अध्रुव का अवग्रह करता है इस प्रकार चक्षु इन्द्रियावग्रह बारह प्रकार है।

ईहा, अवाय और धारणा इनमें से प्रत्येक चक्षु के निमित से बारह प्रकार है इस प्रकार चक्षु इन्द्रिय के निमत से अड़तालीस मति ज्ञान के भेद है। मन के निमित्तसे भी इतने ही भेद है—इन दोनों के व्यंजनावग्रह नहीं होते हैं। शेष चार इन्द्रियों में से प्रत्येक के निमित्त से साठ भेद होते है, क्योंकि उनके व्यंजनावग्रह होता है ऐ सब एकत्रित होकर तीन सौ छत्तीस होते हैं।

"धवल ग्रन्थ पृष्ठ २३४ पुस्तक नम्बर १३ सूत्र नम्बर ३५ में मतिज्ञान का, तीन सो चौरासी भेद भी दिखाया है।

"एवमाभिणिबोहिय णाणावरणीयस्स कम्मस्स चउव्विहं वा चदुवीसदिविधं वा अट्ठावीस दिविधं वा बत्तीसदिविधं वा अडदालीसविधं वा चोद्दाल-सदविधं वा अट्ठसट्ठि सदविधं वा बाणउदि-सदविधं वा बेसद-अट्ठासीदिविधं वा तिसद-छत्तीसादि विधं वा तिसद-चुलसीदिविधं-वा णादव्वाणि भवंति ॥३५॥

अर्थ—आभिनिवोधिक ज्ञानावरणीय कर्म के चार भेद—चौबीस भेद-अट्ठाइस भेद-बत्तीस भेद-अड़तालीस भेद-एक सौ चवालीस भेद-एक सौ अडसठ भेद-एक सो बानवे भेद-दो सौ अट्ठासी भेद-तीन सौ छत्तीस भेद और तीन सौ चौरासी भेद ज्ञातव्य है ॥३५॥"

शंका—अर्थावग्रह और व्यजनावग्रह किसे कहते हैं ?

समाधान—अप्राप्त पदार्थ के ग्रहण को अर्थावग्रह और प्राप्त पदार्थ के ग्रहण को व्यंजनावग्रह कहते है।

स्पष्ट ग्रहण को अर्थावग्रह और अस्पष्ट ग्रहण को व्यंजनावग्रह नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि स्पष्ट ग्रहण और अस्पष्ट ग्रहण तो चक्षु और मन के भी रहता है, अतः ऐसा मानने पर उन दोनों के भी व्यंजनावग्रह के अस्तित्व का प्रसंग आयेगा। परन्तु ऐसा हो नहीं सकता क्योंकि, "चक्षु और मन से व्यंजन पदार्थ का अवग्रह नहीं होता" इस प्रकार सूत्र द्वारा उन दोनों के व्यंजनावग्रह का प्रतिषेध किया गया है। यदि कहो कि-धीरे-धीरे जो ग्रहण होता है वह व्यंजनावग्रह है सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, इस

प्रकार के ग्रहण का अस्तित्व चक्षु और मन के भी है, अतः उनके भी व्यंजनावग्रह रहने का प्रसंग आवेगा। और उन दोनों में शनै ग्रहण असिद्ध नहीं है, क्योंकि, ऐसा मानने से अक्षिप्र भंग का अभाव होने पर चक्षु निमित्तक अड़तालीस मतिज्ञान के भेदों के अभाव का प्रसंग आवेगा।

शंका—श्रोतादि चार इन्द्रियों में अर्थावग्रह नहीं है, क्योंकि उनमें प्राप्त ही पदार्थ का ग्रहण पाया जाता है?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, वनस्पतियों में अप्राप्त अर्थ का ग्रहण पाया जाता है।

शंका—वह भी कहां से जाना जाता है?

समाधान—क्योंकि, दूरस्थ निधि (खाद्य आदि) को लक्ष्य कर प्रारोह (शाखा) का छोड़ना अन्यथा बन नहीं सकता।

चत्तारि धणुसयाइं चउसट्ठ सयं च तह य धणुहाणं।
पासे रसे य गंधे दुगुणा दुगुणा असण्णित्ति ॥४८॥
उणतीस जोयणसया चउवण्णा तह य होंति णायव्वा।
चउरिंदियस्स णियमा चक्खु प्फासो सुणियमेण ॥४९॥
उणसट्ठि जोयणसया अट्ठ य तह जायेणा मुणेयव्वा।
पंचिंदिय सण्णीणं चक्खु प्फासो मुणेयव्वो ॥५०॥
अट्ठेव धणुसहसा विसओ सोदस्स तह असण्णिस्स।
इय एदे णायव्वा पोग्गल परिणाम जोएण ॥५१॥
पासे रसे य गंधे विसओ णव जोयणा मुणेयव्वा।
बारह जोयण सोदे चक्खुस्सुड्ढं पवक्खामि ॥५२॥
सत्तेत्ताल सहस्सा वे चेव सया हवंति तवेट्ठा।
चक्खिं दियस्स विसओ उक्कसो होदि अदिरित्तो ॥५३॥ गो. जी. १६७-१६८

अर्थ—चार सौ धनुष, चौंसठ धनुष, तथा सौ धनुष प्रमाण क्रम से एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय और त्रिन्द्रिय जीवों का स्पर्स, रस, एवं गन्ध विषयक क्षेत्र है। आगे असंज्ञी पर्यन्त यह विषय दूना दूना होता गया हैं। ॥४८॥

चतुरिन्द्रिय जीव के चक्षु इन्द्रिय का विषय नियम से उनतीस सो चौवन योजन प्रमाण हैं। ॥४९॥

पंचेन्द्रिय संज्ञी जीवों के चक्षु इन्द्रिय का विषय उनसठ सौ आठ योजन प्रमाण जानना चाहिये। ॥५०॥

असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के श्रोत्र का विषय आठ हजार धनुष प्रमाण है। इस प्रकार पुद्गल परिणाम योग से ये विषय जानना चाहिये ॥५१॥

संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के स्पर्श-रस व गन्ध विषयक क्षेत्र नौ योजन प्रमाण तथा श्रोत्र का बारह योजन प्रमाण जानना चाहिये। चक्षु के विषय को आगे कहते हैं। ॥५२॥

चक्षुइन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय सैंतालीस हजार दो सौ तिरेसठ योजन से कुछ अधिक (३०) है। ।।५३।।

इस आगम से भी उक्त चार इन्द्रियों के अप्राप्त पदार्थ को ग्रहण जाना जाता है । नौ योजन के अन्तर से स्थित पुद्गल द्रव्य स्कन्ध के एक देश को प्राप्त कर इन्द्रिय सम्बन्ध अर्थ को जानते हैं ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं। किन्तु यह घटित नहीं होता, क्योंकि, ऐसा मानने पर अध्वान प्ररूपणा के निष्फल होने का प्रसंग आता हैं। और अध्वान द्रव्य की सूक्ष्मता का कारण नहीं है, क्योंकि, अपने महान् परिणाम को न छोड़कर बहुत योजनों तक गमन करते हुए मेघ समूह के देखे जाने से हेतु अनैकान्तिक होता है। दूसरे यदि इन्द्रियां प्राप्त पदार्थ को ग्रहण करने वाली ही होतीं, तो अध्वान का निरुपण न करके द्रव्य प्रमाण कीं प्ररूपणा ही की जाती, परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, वैसा पाया नहीं जाता । इसके अतिरिक्त नौ योजन के अन्तर में स्थित अग्नि और विष से स्पर्श और इसके तीव्र क्षायोपशम से युक्त जीवों के क्रमशः दाह और मरण होना चाहिए, क्योंकि, इन्द्रियाँ प्राप्त पदार्थ का ग्रहण करने वाली है । और इसी कारण उतने मात्र अध्वान में स्थित अशुचिपदार्थ के भक्षण और उसके गन्ध से उत्पन्न दुःख भी होना चाहिये।

शंका—पुट्ठं सुणेइ सद्दं अप्पुट्ठं चेय पस्सदे रूवं ।
गंधं रसं च फासं बद्धं पुट्ठं च जाणादि ।।५४।। ससि. १-९

अर्थ—श्रोत्र से स्पष्ट शब्द को सुनता है। परन्तु चक्षु से रूप को अस्पृष्ट ही देखता है । शेष इन्द्रियों से गन्ध-रस और स्पर्श को बद्ध व स्पष्ट जानता है।।५४।।

इस सूत्र से इन्द्रियों के प्राप्त पदार्थ का ग्रहण करना जाना जाता है !

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, ऐसा होने पर अर्थावग्रह के लक्षण का अभाव होने से गधे के सींग के समान उसके अभाव का प्रसंग आवेगा ।

शंका—फिर इस गाथा के अर्थ का व्याख्यान कैसे किया जाता हैं ?

समाधान—चक्षु रुप को अस्पृष्ट ही ग्रहण करती है च शब्द से मन भी अस्पृष्ट ही वस्तु को ग्रहण करता है। शेष इन्द्रियां गन्ध-रस और स्पर्श को वध्ध अर्थात अपनी अपनी इन्द्रियों में नियमित व स्पष्ट ग्रहण करती है। च शब्द से अस्पस्ट भी ग्रहण करती है। स्पष्ट शब्द को सुनता हैं यहाँ भी बद्ध और च शब्दों को जोड़ना चाहिए, क्योंकि, ऐसा न करने से दूषित व्याख्यान की आपत्ति आती है। इस प्रकार संक्षेप से मति ज्ञान की प्ररूपणा की। "मति ज्ञान का और वर्णन धवल ग्रन्थ पृष्ठ १६-२१ पुस्तक न० ६ में किया है वहां से भी देखना चाहिए।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ २२० पुस्तक नं० १३ में अर्थावग्रह तथा व्यंजनावग्रह का स्वरूप निम्न प्रकार किया है।

शंका—अर्थावग्रह क्या है ।

समाधान—अप्राप्त अर्थ का ग्रहण अर्थावग्रह है।

शंका—व्यंजनावग्रह क्या है ?

समाधान—प्राप्त अर्थ का ग्रहण व्यंजनावग्रह है ।

स्पष्ट ग्रहण का नाम अर्थावग्रह हैं यह कहना ठीक नही है, क्योंकि, ऐसा मानने पर अस्पष्ट ग्रहण के व्यंजनावग्रह होने का प्रसंग आता है।

शंका—ऐसा हो जाओ ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, चक्षु से भी अस्पष्ट ग्रहण देखा जाता है इसलिए उसे व्यंजनावग्रह होने का प्रसंग आ जाता है। पर ऐसा है नहीं, क्योंकि, "चक्षु और मन से व्यंनावग्रह नही होता" इस सूत्र में उसका निषेध किया है।

आशु ग्रहण का नाम अर्थावग्रह है यह कहना भी ठीक नही है, क्योंकि, ऐसा मानने पर धीरे धीरे ग्रहण होने को व्यंजनावग्रहत्व का प्रसंग आता है। पर ऐसा है नहीं, क्योंकि, ऐसा मानने पर धीरे धीरे ग्रहण करने वाला चाक्षुष अवग्रह भी व्यंजनावग्रह हो जायगा। तथा क्षिप्र और अक्षिप्र ये विशेपण यदि दोनों अवग्रहों को दिये जाते हैं तो मति ज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद नहीं बन सकते हैं।

शंका—मन और चक्षुके सिवाय शेषचार इन्द्रियों के द्वारा अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना नहीं उपलब्ध होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, धववृक्ष अप्राप्त निधिको ग्रहण करता हुआ देखा जाता है, और तुंबड़ी की लता आदि अप्राप्त बाड़ीव वृक्ष आदि को ग्रहण करती हुई देखी जाती है। इससे शेप चार इन्द्रियां भी अप्राप्त अर्थ को ग्रहण कर सकती है यह सिद्ध होता है "तथा पृष्ठ २२५-२२६ में लिखा है कि—

शंका—चक्षुइन्द्रि और नोइन्द्रियके अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना रहा आवे, किन्तु शेप इन्द्रियों के वह नहीं बन सकता, क्योंकि, वे अप्राप्त अर्थ को ग्रहण करती हुई नहीं उपलब्ध होती हैं ?

सामाधान—नहीं, क्योंकि, एकेन्द्रियों में स्पर्शन इन्द्रिय अप्राप्त निधिको ग्रहण करती हुई उपलब्ध होती है और यह वात उस ओर प्रारोह को छोड़ने से जानी जाती हैं।

शंका—शेप इन्द्रियाँ अप्राप्त अर्थ को ग्रहण करती हैं यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

समाधान—युक्ति से जाना जाता है। यथाघ्राणेन्द्रिया जिह्वेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय नौ योजन है। यदि इन इन्द्रियों के उत्कृष्ट क्षयोपशम को प्राप्त हुआ जीव नौ योजनके भीतर स्थित द्रव्यों में से निकलकर आये हुए तथा जिह्वा घ्राण और स्पर्शन इन्द्रिय से लगे हुए पुद्गलों के रस गन्ध और स्पर्श को जानता है तो उसके चारों ओर से नौयोजन के भीतर स्थित विष्टाके भक्षण करने का और उसकी गन्ध के सूँघने से उत्पन्न हुआ दुःख का प्रसंग प्राप्त होगा। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, ऐसा मानने पर इन्द्रयों के तीव्र क्षयोप शम को प्राप्त हुए चक्रवर्तीयोके भी असाता रूपी सागर के भीतर प्रवेश करने का प्रसंग आता है। दूसरे तीव्र क्षयोपशमको प्राप्त हुए जीवों का मरण भी हो जायगा, क्योंकि, नौ यौजन के भीतर स्थित विपका जिह्वा साथ सम्वन्ध होने से घात को प्राप्त हुए और नौ योंजन के भीतर स्थित अग्नि से जलते हुए जीवों का जांना वन नहीं सकता। तीसरे ऐसे जीवों के मधुर भोजन का करना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि अपने क्षेत्र के भीतर तीखे, रस वाले वृक्ष और नीम के वृक्ष के कटुक रस के मिले हुए दूधमें मधुर रसका अभाव हो जायगा। इसलिये शेप इन्द्रियों भी अप्राप्त अर्थ को ग्रहण करती हैं ऐसा स्वीकार करना चाहिये"।

मतिज्ञान का देशघाति और सर्वघाति का वेदन के विषय में "कपाय पाहुड सूत्त" में पृष्ट ८७५-८७६ सूत्र नम्वर १३७२-१३७५ में लिखा है कि—

"अधसुदमदि आवरणे च अंतराइए च दसेमावरणं।
लद्धी य वेदयदे सव्वावरणं अलद्धीयं ॥२११॥

अर्थ—मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्म में जिनकी लब्धि अर्थात् क्षायोपशम विशेप को वेदन करता है। उनके देशघाति आवरण रूप अनुभाग का वेदन करता है। जिनकी अलब्धि है अर्थात् क्षायोपशम विशेप सम्पन्न नहीं हुआ है। उनके सर्वघाति आवरण रूप अनुभाग का वेदन करता है। अन्तराय कर्म का देशघाति अनुभाग वेदन करता है। ॥२११॥

चु-सूत्र—यदि सर्व अक्षरों का क्षायोपशम प्राप्त हुआ है। तो वह श्रुत ज्ञानावरण तथा मति ज्ञानावरण को देशघाति रूप से वेदन करता है, यदि एक भी अक्षर का क्षायोपशम नही हुआ अर्थात् अवशिष्ट रह गया तो मति श्रुत ज्ञानावरण कर्मों को सर्वघाती रूप से वेदन करता है। इसी प्रकार ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों घातिया कर्मो की जिन प्रकृतियों कर क्षायोपशम प्राप्त हुआ है उन प्रकृतियों का देशघाति अनुभागोदय होता है। तथा जिन प्रकृतियों का क्षायोपशम प्राप्त नहीं हुआ है उन प्रकृतियों का सर्वघाति अनुभागोदय होता है।"

श्रुत ज्ञान का स्वरूप—

धवल ग्रन्थ पृष्ठ २१-२५ पुस्तक नम्बर ६ में लिखा है कि—"श्रुत ज्ञान के आवरण करने वाले कर्म को श्रुत ज्ञानावरणीय कहते हैं। उनमें इन्द्रियों से ग्रहण किये पदार्थ से उससे पृथग्भूत पदार्थ का ग्रहण करना श्रुत ज्ञान है। जैसे शब्द से घट आदि पदार्थ का जानना अथवा धूप से अग्नि का ग्रहण करना। यह श्रुत ज्ञान वीस प्रकार का है। जैसे—पर्याय, पर्याय समास, अक्षर, अक्षर समास, पद, पद समास, संघात, संघात समास, प्रतिपति, प्रतिपति समास, अनुयोग, अनुयोग समास, प्राभृत प्राभृत प्राभृत प्राभृत समास, प्राभृत, प्राभृत समास, वस्तु, वस्तु समास, पूर्व और पूर्व समास।

क्षरण अर्थात् विनाश के अभाव होने से केवल ज्ञान अक्षर कहलाता है। उसका अनन्तवा भाग पर्याय नाम का मति ज्ञान है। वह पर्याय नाम का मति ज्ञान केवल ज्ञान के समान निरावरण और अविनाशी है। इस सूक्ष्म-निगोद लब्धि अक्षर से जो श्रुत ज्ञान उत्पन्न होता है वह भी कार्य में कारण के उपचार से पर्याय कहलाता है। इस पर्याय श्रुत ज्ञान से जो अनन्तवें भाग से अधिक श्रुत ज्ञान होता है वह पर्याय समास कहलाता है। अनन्त भाग वृद्धि, असंख्यात भाग वृद्धि, संख्यात भाग वृद्धि, संख्यात गुणी वृद्धि, असंख्यात गुणी वृद्धि, अनन्त गुण वृद्धि, इन छहों वृद्धियों के समुदायात्मक यह एक षड् वृद्धि होती है। इस प्रकार की असंख्यात लोक प्रमाण षड वृद्धियां ऊपर जाकर पर्याय समास नाम का श्रुत ज्ञान का अन्तिम विकल्प होता है। उस अन्तिम विकल्प को अनन्त रूपों से गुणित करने पर एक अक्षर नामक श्रुत ज्ञान होता है।

शंका—उक्त प्रकार से इस श्रुतज्ञान की "अक्षर" ऐसी संज्ञा कैसे हुई!

समाधान—नही, क्योंकि, द्रव्यश्रुत प्रतिबद्ध एक अक्षर से उत्पन्न श्रुतज्ञान उपचार से "अक्षर" ऐसी संज्ञा हैं।

इस अक्षर श्रुत ज्ञान के उपर एक एक अक्षर की ही वृद्धि होती हैं, अन्य वृद्धियां नहीं होती हैं। इस प्रकार आचार्य परंपरागत उपदेश पाया जाता है। कितने ही आचार्य ऐसा ही कहते हैं कि अक्षर श्रुत ज्ञान भी छह प्रकार की वृद्धि मे वढ़ता है किन्तु उनका यह कहना घटित नहीं होता है। क्योंकि समस्त श्रुत ज्ञान के संख्यातवे भाग रुप अक्षर ज्ञान से ऊपर छह प्रकार की वृद्धियों का होना संम्भव नहीं है।

अक्षर श्रुत ज्ञान से उपरिम और पद श्रुत ज्ञान से अधस्तन श्रुत ज्ञान के संख्यात विकल्पों की "अक्षर समास" यह संज्ञा है। इस अक्षर समास श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर ज्ञान के बढ़ने पर पदनामका श्रुतज्ञान होता है।

शंका—उक्त प्रकार से इस श्रुतज्ञान की "पद" यह संज्ञा कैसे है ?

समाधान—सोलह सौ चौतीस करोड़ तेतीस लाख अठत्तहर सौ अट्ठासी (१६३४८३०७८८८) अक्षरों को लेकर द्रव्यश्रुत का एक पद होता हैं। इन अक्षरों से उत्पन्न हुआ भाव श्रुत भी उपचार से "पद" ऐसा कहा जाता है। इस पद नामक श्रुत ज्ञान के ऊपर एक अक्षर प्रमित श्रुत ज्ञान के बढ़ने पर "पद समास" नामका श्रुत ज्ञान होता है। इस प्रकार एक एक अक्षर आदि के क्रम से पद समास नामका श्रुत ज्ञान बढ़ता हुआ तब तक जाता हैं जब तक कि संघात नामका श्रुत ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार संख्यात पदों के द्वारा संघात नामक श्रुत ज्ञान उत्पन्न होता है। चारों गतियों के द्वारा मार्गणा होती है। उनमें जितने पदों के द्वारा नरक गति की एक पृथ्वी निरुपित्त की जाति है, उतने पदों की और उनसे उत्पन्न हुए श्रुत ज्ञान की "संघात ऐसी संज्ञा होती हैं। इस प्रकार सर्व गतियों का और सर्व मार्गणाओं का आश्रय करके कहना चाहिए। संघताश्रुत ज्ञान के ऊपर एक अक्षर प्रमित-श्रुत ज्ञान के बढ़ने पर "संघात-समास" नामक श्रुत ज्ञान होता है। इस प्रकार संघात-समास नामक श्रुत ज्ञान तबतक बढ़ता हुआ जाता है जब तक कि एक अक्षर श्रुत ज्ञान से कम "प्रति पति" नामक श्रुत ज्ञान प्राप्त होता है। जितने पदों के द्वारा एक गति, इन्द्रिय, काय और योग आदि मार्गणा प्ररुपित की जाती है उतने पदों की "प्रति पति" यह संज्ञा है। प्रति पति नामक श्रुत ज्ञान के ऊपर एक अक्षर प्रमाण श्रुत ज्ञान के बढ़ने से "प्रति पति-समास" नामक श्रुत ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार प्रति पति समास श्रुत ज्ञान ही बढ़ता हुआ तब तक चला जाता है कि जब तक कि, एक अक्षर से कम अनुयोग द्वार नामक श्रुत ज्ञान प्राप्त होता है। चौदह मार्गणाओं से प्रतिबद्ध जितने पदों के द्वारा जो अर्थ जाना जाता है उतने पदों की और उनसे उत्पन्न हुए श्रुतज्ञान की "अनुयोग" यह संज्ञा है। उस अनुयोग श्रुत ज्ञान के ऊपर एक अक्षर प्रमाण श्रुत ज्ञान के बढ़ने पर "अनुयोग-समास" नामक श्रुत ज्ञान होता है। इस प्रकार अनुयोग-समास नामक श्रुत ज्ञान एक एक अक्षर की ऊपर वृद्धि से बढता हुआ तब तक जाता है जब तक कि, एक अक्षर से कम प्राभृत प्राभृत नामक श्रुत ज्ञान प्राप्त होता हैं। उसके ऊपर एक अक्षर प्रमाण श्रुत ज्ञान के बढ़ने पर "प्राभृत प्राभृत नामक श्रुत ज्ञान उत्पन्न होता है। संख्यात अनुयोग द्वार रुप श्रुत ज्ञानों के द्वारा एक प्राभृत-प्राभृत नामक श्रुत ज्ञान होता है। उस, प्राभृत प्राभृत श्रुत ज्ञान के ऊपर एक अक्षर प्रमाण श्रुत ज्ञान के बढ़ने पर प्राभृत प्राभृत-समास नामक श्रुत ज्ञान उत्पन्न होता हैं। इसके ऊपर एक अक्षर आदि की वृद्धि के क्रम से प्राभृत-प्राभृत-समास तब तक बढ़ता हुआ जाता है जब तक की एक अक्षर से कम "प्राभृत" नामक श्रुत ज्ञान प्राप्त होता है। उस प्राभृत श्रुत ज्ञान के उपर एक अक्षर के बढ़ने पर प्राभृत-समास" नामक श्रुत ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार एक एक अक्षर की वृद्धि के क्रम से प्राभृत-समास नामक श्रुत ज्ञान तब तक बढ़ता हुआ जाता है जब तक कि एक अक्षर से कम बीसवां प्राभृत प्राप्त होता है। इस बीसवें प्राभृत के ऊपर एक अक्षर प्रमाण श्रुत ज्ञान के बढ़ने पर "वस्तु" नामक श्रुत ज्ञान उत्पन्न होता है। उस वस्तु श्रुत ज्ञान के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि होने पर "वस्तु समास" नामक श्रुत ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार वस्तु-समास नामक श्रुत ज्ञान तब तक बढ़ता हुआ जाता है जब तक कि एक अक्षर से कम अन्तिम वस्तु नामक श्रुत ज्ञान प्राप्त होता है। इस अन्तिम वस्तु श्रुत ज्ञान के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि होने पर "पूर्व" नामक श्रुत ज्ञान उत्पन्न

होता है। उस पूर्वक नामक श्रुत ज्ञान के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि होने पर "पूर्व समास" नामक श्रुत ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार पूर्व-समास श्रुत ज्ञान बढ़ता हुआ तब तक जाता हैं जब तक कि लोक बिन्दुसार नामक चौदह वें पूर्व का अन्तिम अक्षर उत्पन्न होता है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ २३२ पुस्तक नम्बर १ में लिखा है कि—

शंका—जिस प्रकार स्पर्शन इन्द्रिय का क्षयोपशम संपूर्ण आत्म प्रदेशों में उत्पन्न होता है, उसी प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियों का क्षयोपशम क्या संपूर्ण आत्म प्रदेशों में उत्पन्न होता है, या प्रतिनियत आत्म प्रदेशों में? आत्मा के संपूर्ण प्रदेशों में क्षयोपशम होता है, यह तो माना नहीं जा सकता है, क्योंकि, ऐसा मानने पर आत्मा के संपूर्ण अवयवों से रूपादिक की उपलब्धि का प्रसंग आ जायगा। यदि कहा जाय कि संपूर्ण अवयवों से रूपादिक की उपलब्धि होती है, सो यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, सर्वांग से रूपादिक का ज्ञान होता हुआ पाया नहीं जाता। इसलिए सर्वांग में तो क्षयोपशम माना नहीं जा सकता है। और यदि आत्मा के प्रति अवयवों में चक्षु आदि इन्द्रियों का क्षयोपशम माना जाय, सो भी कहना ठीक नहीं बनता है, क्योंकि, ऐसा मान लेने पर "आत्म प्रदेश चल भी है, अचल भी है और चलाचल भी है" इस प्रकार वेदना प्राभृत के सूत्र से आत्म प्रदेशों का भ्रमण अवगत हो जाने पर जीव प्रदेशों की भ्रमण रूप अवस्था में संपूर्ण जीवों को अन्धे पने का प्रसंग आ जायगा, अर्थात् उस समय चक्षु इन्द्रियां रूपादि को ग्रहण नहीं कर सकेगी?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जीव के संपूर्ण प्रदेशों में क्षयोपशम की उत्पत्ति स्वीकार की है। परन्तु ऐसा मान लेने पर भी जीव के संपूर्ण प्रदेशों के द्वारा रूपादिक की उपलब्धि का प्रसंग भी नहीं आता है, क्योंकि, रूपादिक के ग्रहण करने में सहकारी कारण रूप बाह्य निर्वृति जीव के संपूर्ण प्रदेशों में नहीं पाई जाती है।

अवधिज्ञान—

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३५६ पुस्तक नम्बर १ में लिखा है कि

अवहीयदि त्ति ओही सीमाणाणे त्ति वण्णिदं समए।
भव गुण-पच्चय-विहियं तमोहिणाणे त्ति णं वेंति ॥१८४॥ गो. जी. ३७०

अर्थ--द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा जिस ज्ञान के विषय की सीमा हो उसे अवधि ज्ञान कहते हैं। इसीलिए परमागम में इसको सीमा ज्ञान कहा है। इसके भव प्रत्यय और गुण प्रत्यय इस प्रकार जिनेन्द्र देव ने दो भेद कहे हैं।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ २५-२८ पुस्तक नम्बर ६ में लिखा है कि—जो नीचे की ओर प्रवृत हो उसे अवधि कहते हैं। अवधि रूप जो ज्ञान होता है वह अवधिज्ञान कहलाता है। अथवा अवधि नाम मर्यादा का है। इसलिए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा विषय सम्बन्धी मर्यादा के ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं। वह अवधिज्ञान देशावधि, परमावधि और सर्वावधि के भेद से तीन प्रकार का है। इन तीनों भेदों के स्वरूप का निरुपण आगे करेंगे।

शंका—अवधि अर्थात् मर्यादा सहित होने की अपेक्षा अवधि ज्ञान का मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, इन दोनों में कोई भेद नहीं हैं। इसलिए इसका पृथक् निरुपण करना निरर्थक है?

समाधान—यह कोई दोप नहीं है, क्योंकि, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष ज्ञान है किन्तु अवधिज्ञान तो प्रत्यक्ष ज्ञान है। इसलिए उक्त दोनों ज्ञानों से अवधिज्ञान के भेद पाया जाता है।

शंका—मतिज्ञान भी तो प्रत्यक्ष दिखलाई देता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, मति ज्ञान से वस्तु का प्रत्यक्ष उपलम्भ नहीं होता है। मति ज्ञान से जो प्रत्यक्ष जाना जाता है वह वस्तु का एकदेश है, और वस्तु का एक देश सम्पूर्ण वस्तु रूप नहीं हो सकता। जो भी वस्तु हैं वह मति ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नहीं जानी जाती है, क्योंकि, वह प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप परोक्ष मति ज्ञान का विपय है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि मतिज्ञान प्रत्यक्ष रूप से वस्तु का जानने वाला नहीं है।

शंका—यदि ऐसा है तो अवधि ज्ञान के भी प्रत्यक्ष परोक्षात्मकता प्रात होती है, क्योंकि वस्तु की त्रिकाल गोचर अनन्त पर्यायों से उपचित है, किन्तु अवधिज्ञान के प्रत्यक्ष द्वारा उस प्रकार की वस्तु के जानने की शक्ति का अभाव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि अवधिज्ञान में प्रत्यक्ष रूप से वर्तमान समस्त पर्याय विशिष्ट वस्तु का ज्ञान पाया जाता है तथा भूत और भावी असंख्यात पर्याय विशिष्ट वस्तु का ज्ञान देखा जाता है।

शंका—इस प्रकार मानने पर भी अवधिज्ञान से पूर्ण वस्तु का ज्ञान नहीं होता है, इसलिए अवधिज्ञान के प्रत्यक्ष परोक्षात्मकता प्राप्त होती हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, व्यवहार के योग्य एवं द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक इन दोनों नयों के समूहरूप वस्तु में अवधिज्ञान के प्रत्यक्षता पायी जाती हैं।

अवधिज्ञान अनन्त व्यंजन पर्यायों को ग्रहण नहीं करता है इसलिए वह वस्तु के एक देश के जानने वाला है ऐसा भी नहीं जानना चाहिए, क्योंकि व्यवहार नय के योग्य व्यञ्जन पर्यायों की अपेक्षा यहां पर वस्तुत्व माना गया है। यदि कहा जाय कि मतिज्ञान का भी यही क्रम मान लेंगे सो नहीं माना जा सकता है, क्योंकि मतिज्ञान के वर्तमान अशेष पर्याय विशिष्ट वस्तु के जानने की शक्ति का अभाव है, तथा मतिज्ञान के प्रत्यक्ष रूप से अर्थग्रहण करने के नियम का अभाव है इस विषय में यह उपयोगी श्लोक है—

नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः।
अविभाड् भाव सम्बन्धों द्रव्यमेकमनेक धा ॥६॥ आप्त०मी० १०७

अर्थ—जो नैगम आदि नय और उनके भेद प्रभेद रूप उपनयों के विपय भूत त्रिकालवर्ती पर्यायों का अभिन्न सम्बन्ध रूप समुदाय है उसे द्रव्य कहते हैं। वह द्रव्य कथंचित एक रूप और कथंचित अनेक रूप है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ २११-२१२ पुस्तक नंबर १३ में लिखा है कि—

शंका—अवधिज्ञान और आभिनिवोधिकज्ञान ये दोनों एक है, क्योंकि ज्ञान सामान्य की अपेक्षा इनमें कोई भेद नहीं है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अवधिज्ञान प्रत्यक्ष है और आभिनिबोधिक ज्ञान परोक्ष है। तथा अवधिज्ञान इन्द्रिय जन्य नहीं हैं, और आभिनिबोधिक ज्ञान इन्द्रियजन्य है, इसलिए उन्हें एक मानने में विरोध है।

शंका—ईहादि मतिज्ञान भी अनिन्द्रियज उपलब्ध होते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, द्रव्यार्थिक नय का अवलम्बन लेने पर ईहादिक स्वतन्त्र ज्ञान नहीं है इसलिए ये अनिन्द्रियज नहीं ठहरते। तथा नैगमनय का अवलम्बन लेने पर भी वे परम्परा से इन्द्रियजन्य ही उपलब्ध होते हैं।

शंका—आभिनिबोधिक ज्ञान प्रत्यक्ष है, क्योंकि, उसमें अवधिज्ञान के समान विसदता उपलब्ध होती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ईहादिकों में और मानसिक ज्ञानों में विशदता का अभाव है। दूसरे यह विशदता प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं हैं, क्योंकि, ऐसा मानने पर पंचेन्द्रिय विषयक अवग्रह भी विशद होता है, इसलिये उसे भी अवधि ज्ञान की तरह प्रत्यक्षता प्राप्त हो जायगी।

शंका—अवग्रह में वस्तु का एक देश विशद होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अवधिज्ञान में भी उक्त विशदता से कोई विशेषता नहीं है। अर्थात् उसमें भी वस्तु की एक देश विशदता पायी जाती है।

इसलिये पर का अर्थ इन्द्रियां और आलोक आदि है, और पर अर्थात् इनके आधीन जो ज्ञान होता है वह परोक्ष ज्ञान है तथा इससे अन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है ऐसा यहाँ स्वीकार करना चाहिये।

नोट—यहाँ अवधिज्ञान को प्रत्यक्ष माना है। यह सर्वांग प्रत्यक्ष नहीं है। पराधीनता दो देश जन्य है। १ इन्द्रिय जन्य २ नोइन्द्रिय जन्य, मतिज्ञान इन्द्रिय और नोइन्द्रिय दोनों से परोक्ष है जब अवधि ज्ञान इन्द्रिय की सहायता नहीं चाहता जिससे इस अपेक्षा प्रत्यक्ष है। परन्तु अवधिज्ञान मन की सहायता जरूर चाहता है जिस अपेक्षा परोक्ष है। क्षायोपशमिक ज्ञान सापेक्ष ही है जिस कारण अवधिज्ञान मात्र मन की सहायता चाहता है। यदि मन की पर्याप्ति पूर्ण न हो पाये तो अवधिज्ञान भी उपयोग रुप नहीं हो सकता, परन्तु लब्धि रुप ही रहता है। परोक्ष को परोक्ष जानना मानना सम्यक्ज्ञान है परन्तु परोक्ष को प्रत्यक्ष मानना जानना मिथ्याज्ञान है।

धवलग्रन्थ पृ०ऽ ३६४-३६६ पुस्तक नम्बर १ में लिखा है कि—"देव और नारकी सम्बन्धी अवधिज्ञान असंयत सम्यग्दृष्टि जीवों में अवधिज्ञान का सद्भाव भले ही रहा आये, क्योंकि उनके अवधिज्ञान भव निमित्तक होता है। उसी प्रकार देश विरतो आदि ऊपर के गुणस्थानों में भी अवधि ज्ञान रहा आवे, क्योंकि अवधिज्ञान की उत्पत्ति के कारण भूत गुणों का वहां पर सद्भाव पाया जाता है। परन्तु असंयत सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्यों में उसका सद्भाव नहीं पाया जा सकता है, क्योंकि, अवधिज्ञान की उत्पत्ति के कारण भव और गुण असंयत सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्यों में नहीं पाये जाते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अवधिज्ञान की उत्पत्ति के कारण रुप सम्यग्दर्शन का असंयत सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्यों में सद्भाव पाया जाता है।

शंका—चूंकि सम्पूर्ण सम्यग्दृष्टियों में अवधिज्ञान की अनुत्पत्ति अन्यथा बन नहीं सकती है इससे मालूम पड़ता ह कि, सम्यग्दशन अवधिज्ञान की उत्पत्ति का कारण नहीं है ?

समाधान—यदि ऐसा है तो सम्पूर्ण संयतों में अवधिज्ञान की अनुत्पत्ति बन नहीं सकती है, इसलिये संयम भी अवधिज्ञान का कारण नहीं है ऐसा क्यों न मान लिया जाय ?

शंका—विशिष्ट संयम की अवधिज्ञान की उत्पत्ति का कारण है इसलिये समस्त संयतों के अवधिज्ञान नहीं होता है किन्तु कुछ के ही होता है ?

समाधान—यदि ऐसा है तो यहां पर भी ऐसा मान लेना चाहिये कि असंयत सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्यों में विशिष्ट सम्यक्त्व ही अवधिज्ञान की उत्पत्ति का कारण है। इसलिये सभी सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्यों में अवधिज्ञान नहीं होता है, किन्तु कुछ के ही होता है ऐसा मान लेने में क्या विरोध आता है ?

शंका—औपशमिक-क्षायिक और क्षायोपशमिक इन तीनों ही प्रकार के विशेष सम्यग्दर्शन में अवधिज्ञान की उत्पत्ति में व्यभिचार देखा जाता हैं। इसलिये सम्यग्दर्शन विशेष अवधिज्ञान की उत्पत्ति का कारण है यह नहीं कहा जा सकता है ?

समाधान—यदि ऐसा है तो संयम में भी सामायिक-छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि-सूक्ष्म सांपराय, और यथाख्यात इन पांच प्रकार के विशेष संयमों के साथ और देश विरति के साथ भी अवधिज्ञान की उत्पत्ति का व्यभिचार देखा जाता है। इसलिये अवधिज्ञान की उत्पत्ति संयम विशेष के निमित्त से होती है यह भी तो नहीं कह सकते हैं, क्योंकि सम्यग्दर्शन और संयम दोनों को अवधिज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त मानने पर आपेक्ष और परिहार समान है।

शंका—असंख्यात लोक प्रमाण संयम रुप परिणामों में कितने ही विशेष जाति के परिणाम अवधिज्ञान की उत्पत्ति के कारण होता है इसलिये पूर्वोक्त दोष नहीं आता है ?

समाधान—यदि ऐसा है तो असंख्यात लोक प्रमाण सम्यग्दर्शन रूप परिणामों में दूसरे सहकारी कारणों की अपेक्षा से युक्त होते हुए कितने ही विशेष जाति के सम्यक्त्व रूप परिणाम अवधि ज्ञान की उत्पत्ति में कारण होता है यह वात निश्चित हो जाती है।—

नोट—अवधि ज्ञान की उत्पत्ति में सम्यग्दर्शन को कारण कहना वह मात्र उपचार है। यथार्थ में अवधिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम ही अवधिज्ञान की उत्पत्ति में कारण है यह परम सत्य है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ २९०-२९१ पुस्तक नम्बर १३ में लिखा है कि—

शंका—यदि भव मात्र ही अवधि ज्ञान का कारण है तो देवों में और नारकीयों में उत्पन्न होने के प्रथम समय में ही अवधिज्ञान क्यों नहीं उत्पन्न होता ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं हैं, क्योंकि, छह पर्याप्तियों से पर्याप्त भव को ही यहां अवधिज्ञान की उत्पत्ति का कारण माना है।

शंका—देवों और नारकीयों का अवधिज्ञान भव प्रत्यय होता है, ऐसा सामान्य निर्देश होने पर सम्यग्दृष्टियों और मिथ्यादृष्टियों का अवधिज्ञान पर्याप्त भव के निमित्त से ही होता है यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

समाधान—क्योंकि, अपर्याप्त देवों और नारकीयों के विभंगज्ञान का जो प्रतिषेध किया है, वह अन्यथा वन नहीं सकता। इससे जाना जाता है, कि देवों और नारकीयों के सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों ही अवस्थाओं में अवधिज्ञान पर्याप्त भव के निमित्त से ही होता है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३६२-३६३ पुस्तक नम्बर १ में लिखा है कि—

सूत्र—विभंग ज्ञान पर्याप्तकों के ही होता है अपर्याप्तकों के नहीं होता है ॥११८॥

शंका—यदि देव नारकीयों के विभंग ज्ञान भव प्रत्यय होता है तो अपर्याप्त काल में भी वह हो सकता है, क्योंकि, अपर्याप्त काल में भी विभंग ज्ञान के कारण रूप भव की सत्ता पाई जाती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, "सामान्य विशेष का बोध कराने वाले वाक्य विशेषों में रहा करते

है" इस न्याय के अनुसार अपर्याप्त अवस्था से युक्त देव और नारक पर्याय विभंगज्ञान का कारण नहीं है, किन्तु, पर्याप्त अवस्था से युक्त ही देव और नारक पर्याय विभंगज्ञान का कारण है, इसलिए अपर्याप्त काल में विभंगज्ञान नहीं होता है यह बात सिद्ध हो जाती है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ७४८ पुस्तक नम्बर २ में आलाप नां. ३६३-३६४ में लिखा है कि—"अवधि दर्शन अविरत सम्यग्दृष्टि गुण स्थान से लेकर क्षीण कपाय गुण स्थान तक के नौ गुण स्थान तक रहता है।"

तब शंका उठती है कि सामान्य अवलोकन बिना विशेष अवलोकन होता ही नहीं है, तब विभंगज्ञान क्या सामान्य आवलोकन बिना ही हुआ होगा ?

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३५६ पुस्तक नम्बर १३ में लिखा है कि—

शंका—विभंग दर्शन क्यों नहीं कहा है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उसका अवधि दर्शन में अन्तर्भाव हो जाता है। ऐसा ही "सिद्धि विनिस्चय" में भी कहा गया है। अवधिज्ञान और विभंगज्ञान के अवधि दर्शन ही होता है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ २९५-२९८ पुस्तक नम्बर १३ में लिखा है कि—जिस अवधिज्ञान का कारण जीव शरीर का एक देश होता है, वह एक क्षेत्र अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान के प्रति नियत क्षेत्र के बिना शरीर के सब अवयवों में रहता है वह अनेक क्षेत्र अवधिज्ञान है। तीर्थंकर, देवों और नारकीयों के अनेक क्षेत्र ही अवधि ज्ञान होता है। क्योंकि ये शरीर के सब अवयवों द्वारा अपने विपय भूत अर्थ को ग्रहण करते है। कहा भी है कि—

णेरइय-देव-तित्थयरोहि खेत्तस्स बाहिरं एदे।
जाणंति सव्वदो खलु सेसादेसेण जाणंति ॥२४॥

अर्थ—नारकी, देव, और तीर्थंकर इनका जो अवधि क्षेत्र हैं उसके भीतर यह सर्वांग से जानते हैं, और शेप जीव शरीर के एक देश से जानते हैं ॥२४॥

शेप जीव शरीर के एक देश से ही जानते हैं इस प्रकार यहाँ नियम नहीं करना चाहिए, क्योंकि, परमावधिज्ञानी और सर्वावधिज्ञानी गणधरादिक अपने शरीर के सब अवयवों से अपने विषयभूत अर्थ को ग्रहण करते हुए देखे जाते है। इसलिये शेप जीव शरीर के एक देश से और सर्वाग से जानते हैं ऐसा यहां ग्रहण करना चाहिए।

शंका—अवधिज्ञान एक क्षेत्र से ही होता है, क्योंकि सब जीव प्रदेशों के युगपत् क्षायोपशम को प्राप्त होने पर शरीर के एक देश से ही बाह्य अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता हैं ?

समाधान—नहीं क्योंकि, अन्य देशों में करण स्वरूपता नहीं है अतएव करण स्वरूप से परिणत हुए शरीर के एक देश से बाह्य अर्थ का ज्ञान मानने में कोई विरोध नहीं आता। सकरण क्षायोपशम उसके बिना जानता है यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, इस मान्यता का विरोध है। जीव प्रदेशों के एक देश में ही अवधिज्ञान करण का क्षयोपशम होने पर एक क्षेत्र अवधि ज्ञान बन जाता है ऐसा निश्चय करना भी ठीक नही है, क्योंकि, उदय को प्राप्त हुई गोपुच्छा सब जीव प्रदेशों को विषय करती है, इसलिए उसका देश स्थायनी होकर जीव के एक देश में ही क्षयोपशम मानने में विरोध आता है। इससे अवधि ज्ञान की प्रत्यक्षता विनष्ट हो जाती है यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह अनेक क्षेत्र में उसके पराधीन न होने पर उसमें प्रत्यक्ष का लक्षण पाया जाता है।

खेतदो ताव अरोय संठाण संठिदा ।।सूत्र नं. ५७।।

अर्थ—क्षेत्र की अपेक्षा शरीर प्रदेश संस्थान संस्थित होते हैं। ५७।।

जिस प्रकार शरीरों का और इन्द्रियों का प्रतिनियत आकार होता है उस प्रकार अवधिज्ञान का नहीं होता है किन्तु अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम को प्राप्त हुए जीव प्रदेशों के करण रूप शरीर प्रदेश अनेक संस्थानों से संस्थित होते हैं।

सिरिवच्छ-कमल-संख-सोत्थिय-णंदावत्तादीणि संठाणाणि णादव्वाणि भवंति ।।५८।।

अर्थ—श्री वत्स, कलश, शंख, साथिया, और नन्दावर्त आदि आकार जानने योग्य है ।।५८।।

यहां आदि शब्द से अन्य भी शुभ संस्थानों का ग्रहण करना चाहिए। एक जीव के एक ही स्थान में अवधिज्ञान का करण होता है ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि, किसी भी जीव के एक-दो-तीन, चार, पांच, छह आदि क्षेत्र रूप संखादि शुभ संस्थान सम्भव है। ये संस्थान तिर्यंच और मनुष्यों के नाभिके उपरिम भाग में होते हैं नीचे के भाग में नहीं होते हैं, क्योंकि, शुभ सस्थानों का होना अधोभाग के साथ विरोध है। तथा तिर्यंच या मनुष्य विभंग ज्ञानीयों के नाभि के नीचे गिरगिट आदि अशुभ संस्थान होते हैं। ऐसा गुरू का उपदेश है इस विषय में कोई सूत्र वचन नहीं है। विभंग ज्ञानियों के सम्यक्त्व आदि के फलस्वरूप से अवधि ज्ञान के उत्पन्न होने पर गिरगिट आदि अशुभ आकार मिटकर नाभि के ऊपर शंख आदि शुभ आकार हो जाते है ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिये। इसी प्रकार अवधिज्ञान से लौटकर प्राप्त हुए विभंग ज्ञानीयों के भी शुभ संस्थान मिटकर अशुभ संस्थान हो जाता है ऐसा यहां ग्रहण करना चाहिए।

कितने ही आचार्य अवधिज्ञान और विभंगसान का क्षेत्र, संस्थान भेद तथा नाभि के नीचे ऊपर का नियम नहीं है ऐसा कहते हैं, क्योंकि, अवधिज्ञान सामान्य की अपेक्षा दोनों में कोई भेद नहीं है। सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की संगति से किये गये नाम भेद के होने पर भी अवधिज्ञान की अपेक्षा उनमें कोई भेद नहीं हो सकता है, क्योंकि ऐसा मानने पर अतिप्रसंग दोष आता है।

नोट—यहां अवधिज्ञान एक देश से और सर्वांग से जानता है ऐसा कहा है एवं शंख आदि को अवधिज्ञान का करण माना है यह उपचार का कथन है। अवधिज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान है। क्षायोपशमिक ज्ञान आत्म सब प्रदेशों में सब जीवों के होते हैं, क्योंकि आत्म अखण्ड वस्तु है उसमें प्रदेश भेद नहीं है। अवधिज्ञान का सर्वघाती कर्मो का क्षयोपशम होते संते सब जीवों को देशघाती का उदय जरूर रहता है। देशघाती का उदय क्षायोपशम में बाधक है। क्षायोपशम सभी प्रदेशों में होते सन्ते देशघाती कर्म के उदय ने उसमें यह बाधा डाली कि क्षायोपशम सर्व प्रदेशों में होते सन्ते मन द्वारा ही जान सकते हो अन्यथा नहीं। कर्म का उदय नियम से आत्मा को बाधक ही है। मन सर्वांग होते नहीं हैं परन्तु अमुक देश में ही होते हैं। जितने देश में मन (द्रव्य) है उतने ही आत्म प्रदेश से आत्मा जान सकती है और प्रदेश से जान नहीं सकती है। यही तो क्षायोपशम जन्म ज्ञान में पराधीनता है। यह लेखक का मत है। आचार्यो ने अवधिज्ञान को प्रत्यक्षज्ञान माना है जिससे सर्वांग से जानता हैं यह प्रतिपादन किया है परन्तु परोक्ष एक देश मानते तो यह प्रतिपादन नहीं हो सकता है। क्षायिकज्ञान में कर्म का उदय नहीं है और अवधि रूप क्षायोपशम ज्ञान में कर्म का उदय है। क्या कर्म का उदय बाधक नहीं है? यदि बाधक है तो उसने क्या बाधा डाली यह सोचना चाहिए? कर्म का उदय स्वीकार करना और प्रत्यक्ष कहना यह परस्पर विरोधी है। जिससे यह सिद्ध हुआ कि क्षायोपशमज्ञान सर्व प्रदेश में उघाड़ रूप होते भी केवल मन की सहायता से ही जानता है। उस जानने में केवल मन ही करण है और शंख आदि को करण कहना उपचार मात्र है।—

धवल ग्रन्थ पृष्ठ २३-२४ पुस्तक नम्बर ६ में लिखा है कि—"अवधिज्ञानी एक श्रेणी में ही जानता है अतएव सूत्र विरोध नहीं होगा ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं। परन्तु यह भी घटित नहीं होता, क्योंकि, ऐसा मानने पर चक्षुइन्द्रिय जन्य ज्ञान की अपेक्षा भी उसके जघन्यता का प्रसंग आवेगा। कारण कि चक्षुइन्द्रिय जन्य ज्ञान से संख्यात सूच्यंगुल विस्तार, उत्सेध और आयाम रूप क्षेत्र के भीतर स्थित वस्तु का ग्रहण देखा जाता है। तथा वैसा मानने पर इस जघन्य अवधिज्ञान के क्षेत्र का आयाम असंख्यात योजन प्रमाण प्राप्त होगा।

शंका—यदि उक्त अवधिज्ञान का आयाम असंख्यात गुणा प्राप्त होता है तो होने दीजिये क्योंकि वह इष्ट है?

समाधान—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि, इसके काल से असंख्यात गुणे अर्ध मास काल से अनुमित असंख्यात गुणे भरत रूप अवधि क्षेत्र में भी असंख्यात योजन प्रमाण आयाम नहीं पाया जाता। दूसरे उत्कृष्ट देशावधि ज्ञानी संयत अपने उत्कृष्ट द्रव्यों को आदि करके एक परमाणु आदि अधिक क्रम से स्थित घन लोक के भीतर रहने वाले सब पुद्गल स्कन्धों को क्या युगपत् जानता है या नहीं! यदि नहीं जानता तो उसका अवधि क्षेत्र लोक नहीं हो सकता, क्योंकि, वह एक आकाश श्रेणी में स्थित पुद्गल स्कन्धों को ग्रहण करता है। और यह एक आकाश पंक्ति घनलोक प्रमाण हो नहीं सकती, क्योंकि घनलोक के असंख्यातवें भाग रूप उसमें घनलोक प्रमाणत्व का विरोध है। इसके अतिरिक्त वह कुलाचल, मेरुपर्वत, भवनविमान, आठ पृथिवियों, देव, विद्याधर, गिरगिट और सरी सृपादिकों को भी नहीं जान सकेगा, क्योंकि, इनका एक आकाश में अवस्थान नहीं है। और वह उनके अवयव को भी नहीं जानेगा, क्योंकि, अवयवी के अज्ञात होने पर "यह इसका अवयव है" इस प्रकार जानने की शक्ति नहीं हो सकती। यदि वह युगपत् सब घनलोक को जानता है तो हमारा पक्ष सिद्ध है क्योंकि, वह प्रतिपक्ष से रहित है।

सूक्ष्म निगोद जीव की अवगाहना को घन प्रतराकार से स्थापित करने पर एक आकाश विस्तार रूप अनेक श्रेणी को ही जानता है ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं। परन्तु यह भी घटित नहीं होता, क्योंकि, ऐसा होने पर "जितनी सूक्ष्म निगोद जीव की जघन्य अवगाहना है उतना ही जघन्य अवधि का क्षेत्र है" ऐसा कहने वाले गाथा सूत्र के साथ विरोध होगा। और छद्मस्थों के अनेक श्रेणियों का ग्रहण विरुद्ध नहीं है, क्योंकि चक्षु इन्द्रिय जन्य ज्ञान से अनेक श्रेणियों में स्थित पुद्गल स्कन्धों का ग्रहण पाया जाता है।

धवलग्रन्थ पृष्ठ २२ पुस्तक नं० ६ में लिखा हैं कि—"सूक्ष्मनिगोद जीव की जघन्य अवगाहना मात्र यह सब ही जघन्य अवधिज्ञान का क्षेत्र अवधिज्ञानी जीव और उसके द्वारा ग्रहण किये जाने वाले द्रव्य का अन्तर है, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं, परन्तु यह घटित नहीं होता, क्योंकि, ऐसा स्वीकार करने से सूक्ष्म निगोद जीव की जघन्य अवगाहना से जघन्य अवधिज्ञान के क्षेत्र के असंख्यात गुणे होने का प्रसंग आवेगा।

शंका—असंख्यातगुणा कैसे होगा?

समाधान—क्योंकि, जघन्य अवधिज्ञान के विषयभूत क्षेत्र के विस्तार और उत्सेध से आयाम को गुणा करने पर उससे असंख्यात गुणत्व सिद्ध होता है। और असंख्यात गुणत्व सम्भव नहीं है, क्योंकि; "जितनी सूक्ष्मनिगोद जीव की जघन्य अवगाहना है उतना ही जघन्य अवधिज्ञान का क्षेत्र है" ऐसा कहने वाले गाथा सूत्र के साथ विरोध होगा।

मनः पर्ययज्ञान—

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३६० पुस्तक नम्बर १ में लिखा है कि—

चितयमचिंतियं वा अद्धं चिंतियमणेयं भेयं च ।
मणपज्जवं त्ति उच्चइ जं जाणइ तं खु णर लोए ॥१८५॥ गो. जी. ४३८

अर्थ—जिसका भूत काल में चिन्तवन किया है, अथवा जिसका भविष्काल में चिन्तवन होगा, अथवा जो अर्थ चिन्तित है। इत्यादि अनेक भेद रूप दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को जो जानता है उसे मनः पर्यय ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान मनुष्य क्षेत्र में ही होता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन भेद हैं। (१) अवधिज्ञान (२) मनः पर्यय ज्ञान (३) केवल ज्ञान । संपूर्ण मूर्त पदार्थों को साक्षात जानने वाले ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं। मन का आश्रय लेकर मनोगत पदार्थों को साक्षात्कार करने वाले ज्ञान को मनः पर्यय ज्ञान कहते हैं। त्रिकाल के विषय भूत समस्त पदार्थों को साक्षात जानने वाले ज्ञान को केवल कहते हैं। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३५८ पुस्तक नम्बर १

नोट—यहाँ पर मनः पर्यय ज्ञान को मन का आश्रय लेकर जानने वाला कहा है। तो भी उनको प्रत्यक्ष में माना है यह बात लक्ष में रखने योग्य हैं, क्योंकि, आगे मनः पर्यय ज्ञान को निः सहाय कहेंगे ?

धवल ग्रन्थ ३२८-३३३, एवं ३४१ पुस्तक नम्बर १३ में लिखा है कि—"परकीय मनोगत अर्थ मन कहलाता है। "पर्यय" में परिशब्द का अर्थ सब और अय" शब्द का अर्थ विशेष है । मन का पर्यय मनः पयय और मनः पर्यय का ज्ञान मनः पर्यय ज्ञान इस षष्टी तत्पुरुष समास है । उसका जो आवरण करता है वह मनः पर्यय ज्ञानावरणीय कर्म है। उसकी ऋजुमति, मनःपर्यय ज्ञानावरणीय और विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानावरणीय के भेद से दो प्रकृतियां है।

शंका—एक मनः पर्यय ज्ञानावरणीय कर्म दो प्रकार का नहीं हो सकते हैं, क्योकि एक को दो रुप मानने में विरोध आता है। और यदि वह दो प्रकार का है तो फिर वह एक नहीं हो सकता है, क्योकि, दोकों एक मानने में विरोध आता है ?

समाधान—यह कोई दोप नहीं है, क्योंकि, ऋजुमति और विपुलमति विशेषण से रहित ज्ञान की विवक्षा होने पर ज्ञान के भेदों का अभाव होने से तदावरण कर्म एक प्रकार का उपलब्ध होता है। अथवा ऋजुमति विपुलमति विशेषण के द्वारा विशेषता को प्राप्त हुए मनःपर्यय ज्ञान के एकत्व का अभाव होने से तदावरण कर्म भी दो प्रकार का उपलब्ध होता है।

शंका—दूसरों के मन में नही स्थित हुए अर्थ को विपय करने वाले विपुलमति ज्ञान की मनः पर्यय ज्ञान संज्ञा कैसे है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अचिन्तित अर्थ को ही वह जानता है ऐसा कोई नियम नहीं है। किन्तु विपुलमति ज्ञान, चिन्तित, अचिन्तित, और अर्ध चिन्तित अर्थ को जानता है। इसलिए उसकी मनः पर्यय ज्ञान संज्ञा होने में कोई विरोध नहीं आता। गो. जी. ४३७

जं तं उजुमदिमणपज्ज वणाणावरणीयं णाम कम्मं तं तिविहं उजुगं मणोगदं जाणदि उजुगं वचिगदं जाणदि, उजुगं कायगदं जाणदि ॥सूत्र नां. ६२॥

अर्थ—जो ऋजुमति मनः पर्यय ज्ञानावरणीय कर्म है वह तीन प्रकार का है। (१) ऋजु मनोगत को जानता है। (२) ऋजु बचन गत को जानता है। (३) ऋजुकायगत को जानता है। ६२॥

शंका—मन को ऋजु पना कैसे आता है ?

समाधान—जो अर्थ जिस प्रकार से स्थित है उसका उस प्रकार से चिन्तवन करने वाला मन ऋजु है और उनसे विपरीत चिन्तवन करने वाला मन अनृजु है ।

शंका—वचन में ऋजुपना कैसे आता है ?

समाधान—जो अर्थ जिस प्रकार से स्थित है उसे उसी प्रकार से ज्ञापन करने वाला वचन ऋजु है और उससे विपरीत वचन अनृजु है ।

शंका— काय में ऋजुपना कैसे आता है ?

समाधान—जो अर्थ जिस प्रकार से स्थित है उसको उसी प्रकार से अभिनय द्वारा दिखलाने वाला काय ऋजु है, और उससे विपरीत अनृजु है ।

उनमें से ऋजु अर्थात् प्रगुण होकर मनोगत अर्थ को जानता है वह ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान है । वह अचिन्तित अर्ध चिन्तित और विपरीत रूप से चिन्तित अर्थ को नहीं जानता है, वह उक्त कथन का तात्पर्य है ।

जो ऋजु अर्थात् प्रगुण होकर विचारे गये व सरल रूप से कहे गये अर्थ को जानता है, वह भी ऋजुमति मनः पर्यय ज्ञान है । यह नहीं बोले गये, आधे बोले गये, और विपरीत रूप से बोले गये अर्थ को नहीं जानता है यह उक्त कथन का तात्पर्य है । क्योंकि, जिस मनः पर्यय ज्ञान में मतिऋजु है, वह ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान है, ऐसी उसकी व्युत्पति है ।

शंका—ऋजु वचनगत मनः पर्यय ज्ञान कीं ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान संज्ञा नहीं प्राप्त होती ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यहाँ पर भी ऋजुमन के विना ऋजु वचन की प्रवृति नहीं होती।

शंका—चिन्तित अर्थ को कहने पर यदि जानता है तो मनःपर्यय ज्ञान के श्रुतज्ञान पना प्राप्त होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यह राज्य और यह राजा कितने दिन तक समृद्ध रहेगा ऐसा चिन्तवन करके ऐसा ही कथन करने पर यह ज्ञान चूंकि प्रत्यक्ष से राज्य परंपरा की मर्यादा को और राजा की आयु स्थिति को जानता है इसलिए इस ज्ञान को श्रुतज्ञान मानने में विरोध आता है ।

जो ऋजु भाव से विचार कर एवं ऋजु रूप से अभिनय करके दिखाये गये अर्थ को जानता है वह भी ऋजुमति मनः पर्यय ज्ञान है, क्योंकि ऋजुमति के विना काय की क्रिया से ऋजु होने में विरोध है ।

शंका—यदि मनः पर्यय ज्ञान इन्द्रिय नोइन्द्रिय और योग आदि की अपेक्षा किये विना ही उत्पन्न होता है तो वह दूसरों के मन वचन काय के व्यापार की अपेक्षा किये विना ही क्यों नहीं उत्पन्न होता है ।

समाधान—नहीं क्योंकि विपुलमनःपर्यय ज्ञान की उस प्रकार से उत्पत्ति देखी जाती है ।

शंका—ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान उसकी अपेक्षा किये बिना क्यों नही उत्पन्न होता ?

समाधान—नहीं क्योंकि मनःपर्यय ज्ञानावरणीय कर्म के क्षायोपशम की यह विचित्रता है ।

शंका—जिस प्रकार अवधि ज्ञाना वरण के क्षयोपशमगत जीव प्रदेशों के संस्थान का कथन किया है उसी प्रकार मनः पर्यय ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशमगत जीव प्रदेशों के संस्थान का कथन क्यों नही करते ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, मनःपर्यय ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम विकसित आठ पाँखडी युक्त कमल जैसे आकार वाले द्रव्यमन प्रदेशों में उत्पन्न होता है उससे इसका पृथग्भूत संस्थान नहीं होता ।

मनःपर्यय ज्ञान के विषय भूत अर्थ—सूत्रनं० ६३

मणेण माणसं पडिविंदइत्ता परेसिं सण्णा सदि मदि चिंता जीविद-मरणं लाहालहं सुहदुक्खं णयर विणासं, देस विणासं, जणवय विणासं, खेड विणासं, कव्वड विणासं, मंडब विणासं पट्टण विणासं दोणामुह विणासं अइवुट्ठि अणावुट्ठि सुवुट्ठि दुवुट्ठि सुभिक्खं, दुब्भिक्खं खेमाखेम भय रोग, कालसं (प) जुत्ते अत्थे वि जाणदि ॥६३॥

अर्थ—मन के द्वारा मानस को जानकर मनःपर्यय ज्ञान काल से विशेषित दूसरों की संज्ञा-स्मृति मति, चिन्ता, जीवित, मरण, लाभ, अलाभ, सुख दुख, नगर विनाश, देश विनाश, जनपद विनाश, खेटविनाश, कर्वट विनाश, मंडब विनाश, पट्टन विनाश, द्रोणमुख विनाश, अति वृष्टि-अनावृष्टि, सुवृष्टि दुवृष्टि, सुभिक्ष, दुर्भिक्ष, क्षेम, अक्षेम, भय, रोग, रुप पदार्थों को भी जानता है ॥६३॥

मन से अर्थात मति ज्ञान से—

शंका—मति ज्ञान की मन संज्ञा कैसे है ।

समाधान—कार्य मे कारण के उपचार से मति ज्ञान की मन संज्ञा संभव है।

मन में उत्पन्न हुए चिन्ह को मानस कहते हैं। अथवा मन की ही मानस संज्ञा है "पडिविंदइत्ता" अर्थात ग्रहण करके पश्चात मनःपर्यय ज्ञान के द्वारा जानता है। मति ज्ञान के द्वारा दूसरों के मानस को ग्रहण करके ही मनःपर्यय ज्ञान के द्वारा मन में स्थित अर्थ को जानता है यह उक्त कथन का तात्पर्य है । विपुल मति मनःपर्यय ज्ञान का यह नियम नहीं है, क्योंकि वह अचिन्तित अर्थ को भी विषय करता है । इसके द्वारा क्या क्या जाना जाता है। ऐसा पूछने पर सूत्र के उत्तरार्ध द्वारा मनः पर्यय ज्ञान के विषय की दिशा का निरुपण करते हैं। "परेसिं सण्णा सदि मदि चिन्ता" जिस शब्द कलाप के द्वारा अर्थ का कथन किया जाता हैं उस शब्द कलाप को संज्ञा कहते हैं। उसे ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञानी प्रत्यक्ष देखता है। दृष्ट, श्रुत अनुभूत अर्थ को विषय करने वाले ज्ञान से विशेषित जीव का नाम स्मृति है। उसे भी वह प्रत्यक्ष देखता है। [illegible]

शंका—अतः जीव अमूर्त है अतः वह मूर्त अर्थ को जानने वाले अवधि ज्ञान से नीचे के मनःपर्यय ज्ञान के द्वारा कैसे जाना जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, संसारी जीव मूर्त आठ कर्मो के द्वारा अनादि काल से बन्धन से बद्ध है इसलिए वह अमूर्त नहीं हो सकता।

शंका—स्मृति तो अमूर्त है ।

समाधान—नहीं,क्योंकि, स्मृति जीव से पृथक उपलब्ध नहीं होती है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३२८ ३

मणेण माणसं पडिविंदइत्ता ॥सूत्र नं० ७१॥

अर्थ—मन के द्वारा मानस को जानता है ॥७१॥

मन अर्थात मतिज्ञान के द्वारा मानस को जानता हैं अर्थात मनो वर्गणा के स्कन्धों से निष्प नोइन्द्रिय को "पडिविंदइत्ता" अर्थात् ग्रहण करके पश्चात मनःपर्यय ज्ञान के द्वारा जानता हैं।

शंका—नोइन्द्रिय अतिन्द्रिय है उसका मतिज्ञान के द्वारा कैसे ग्रहण होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ईहा रूप लिंग के अवलम्बन के वल से अतिन्द्रिय अर्थों में भी मतिज्ञान की प्रवृति देखी जाती है। अथवा, मन अर्थात् मतिज्ञान के द्वारा मानस अर्थात् मतिज्ञान के विषय को ग्रहण करने के पश्चात मनः पर्ययज्ञान प्रवृत होता है ऐसा कथन करना चाहिए।

शंका—यदि मनः पर्ययज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है तो उसे श्रुतज्ञान पना प्राप्त होता है ?

समाधान—ऐसी आशंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि, अवग्रहण किए गए और नहीं अवग्रहण किए गए पदार्थों में प्रवृत होने वाले प्रत्यक्षस्वरूप मनः पर्ययज्ञान को श्रुतज्ञान मानने में विरोध आता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३४१

नोट—अवधिज्ञान तथा मनः पर्ययज्ञान को परोक्ष कहा है वह मात्र उपचार का कथन है यथार्थ में वह मन द्वारा ही जानता है। संज्ञा वारहवाँ गुणस्थान तक मानी गयी है। चारों ही ज्ञान में मन कारण होता है, सापेक्षज्ञान को निर्पेक्ष मानना अज्ञान भाव है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ १११,११२ पुस्तक नं० ७ में लिखा है कि—

सण्णियाणुवादेण सण्णी णाम कधं भवदि ॥सूत्र नं० ८२॥

अर्थ—संज्ञी मार्गणानुसार जीव संज्ञी कैसे होता है। सूत्र नं० ८२ ॥

खओवसमियाए लद्धीए ॥सूत्र नं० ८३॥

अर्थ—क्षयोपशमिक (भाव से) लब्धि से जीव संज्ञी होता है ॥८३॥

क्योंकि, नोइन्द्रियावरण कर्म के सर्वघातीस्पर्धकों के अपनी जाति विशेष के प्रभाव से अनन्तगुणी हानिरूप घात के द्वारा देशघातीत्त्व को प्राप्त होकर उपशान्त हुए पुनः उन्हीं के उदय होने से संज्ञीत्व उत्पन्न होता देखा जाता है।

असण्णी णाम कधं भवदि ॥सूत्र नं० ८४॥

अर्थ—जीव असंज्ञी कैसे होता है ? ॥८४॥

ओदइएण भावेण ॥सूत्र नं०८५॥

औदयिक भाव से जीव असंज्ञी होता है ॥८५॥

क्योंकि, नोइन्द्रियावरण कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय से असंज्ञी भाव होता है। नोइन्द्रियावरण कर्म असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि, कार्य के अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा कारण के अस्तित्त्व की सिद्धि हो जाती है।

णेवसण्णी णेवअसण्णी णाम कधं भवदि ॥सूत्रनं ८६॥

अर्थ—जीवन संज्ञी न असंज्ञी कैसे होता है। सूत्र नं० ८६॥

खइयाए लद्धीए ॥सूत्र नं० ८७॥

अर्थ—क्षायिक लब्धि से जीव न संज्ञी न असंज्ञी होता है। सूत्र नं० ८७॥

ज्ञानावरण कर्म के निर्मूल क्षय से इन्द्रिय निरपेक्ष लक्षण वाला जीव परिणाम उत्पन्न होता है उसी को क्षायिक लब्धि कहते हैं। उसी क्षायिक लब्धि से जीव न संज्ञी न असंज्ञी होता है।

इससे सिद्ध हुआ कि वारहवाँ गुणस्थान तक मन का सहरा लेना ही पड़ता है यदि मन पर्याप्ति

पुरी न होवे या मूर्छित अवस्था में जीव चारों ही क्षयोपशमिक ज्ञान में से कोई भी ज्ञान से देख नहीं सकता है यह परम सत्य है,

धवल ग्रन्थ पृष्ठ नं० २८-२९ पुस्तक नंबर ६ में लिखा है कि—दूसरे व्यक्ति के मन में स्थित पदार्थ मन कहलाता है। उसकी पर्याय अर्थात् विशेषों को मनः पर्यय कहते हैं। उनको जो ज्ञान जानता है वह मनः पर्यय ज्ञान कहलाता है। वह मनः पर्यय ज्ञान ऋजुमति और विपुलमति के भेद से दो प्रकार का है। उनमें ऋजुमति मनः पर्यय ज्ञान मन में चिन्तवन किये गए पदार्थ को ही जानता है। अचिन्तित पदार्थ को नहीं जानता। चिन्तित पदार्थ को भी जानता हुआ सरल रूप से चिन्तित पदार्थ को ही जानता है, वक्र रूप से चिन्तित पदार्थ को नहीं जानता। किन्तु विपुलमति मनः पर्ययज्ञान चिन्तित, अचिन्तित पदार्थ को भी तथा वक्र चिन्तित और अवक्र चिन्तित पदार्थ को भी जानता है।

शंका—अवधिज्ञान और मनः पर्यय ज्ञान इन दोनों ज्ञानों में क्या भेद है ?

समाधान—मनः पर्ययज्ञान विशिष्ट संयम के निमित्त से उत्पन्न होता है, किन्तु अवधिज्ञान भव के निमित्त से और गुण अर्थात क्षयोपशम के निमित्त से उत्पन्न होता है। मनःपर्ययज्ञान मतिज्ञान पूर्वक ही होता है, किन्तु अवधिज्ञान अवधिदर्शन पूर्वक ही होता है। यह उन दोनों में भेद है।

धवलग्रन्थ पृष्ठ ६६-६८ पुस्तक नम्बर ९ में लिखा है कि—दूसरे की मति में स्थित पदार्थ मति कहा जाता है। विपुल का अर्थ विस्तीर्ण है।

शंका—विपुलता किस कारण से है ?

समाधान—यथार्थ मन को प्राप्त होने से, अयथार्थ मन को प्राप्त होने से और दोनों प्रकार से मन को प्राप्त होने से, यथार्थ वचन को प्राप्त होने से, अयथार्थ वचन को प्राप्त होने से, और उभय प्रकार से भी प्राप्त होने से, यथार्थ काय को प्राप्त होने से, अयथार्थ काय को प्राप्त होने से, तथा उन दोनों प्रकारों से भी प्राप्त होने से विपुलता है।

उत्कर्ष से विपुल मति मानोपोत्तर पर्वत के भीतर की बात जानता हैं। बाहर की नहीं। तात्पर्य यह है कि पैतालीस लाख योजन घन प्रतर को जानता है।

एक आकाश श्रेणी में जानता है ऐसा कितने ही आचार्य कहते है, किन्तु यह घटित नहीं होता, क्योंकि, ऐसा मानने पर देव मनुष्य, विद्याधरों, आदि को में भी विपुल मति मनः पर्यय ज्ञान की प्रवृति न हो सकने का प्रसंग आता है। मानुषोत्तर शैल की भीतर ही स्थित पदार्थ को जानता है उसके बाहिर नही ऐसा वर्गणा सूत्र द्वारा निर्दिष्ट होने से मानुष क्षेत्र के भीतर स्थित सब मूर्त द्रव्यों को जानता है उससे बाह्य क्षेत्र में नही ऐसा कोई आचार्य कहते है । किन्तु वह घटित नही होता, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर मानुषोत्तर पर्वत के समीप में स्थित होकर बाह्य दिशा में उपयोग करने वाले के ज्ञान की उत्पत्ति न हो सकने का प्रसंग होगा। यदि कहा जाय कि उक्त प्रसंग आता है तो आने दीजिये, सो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उसके उत्पन्न न हो सकने का कोई कारण नहीं है । क्षयोपशयम का अभाव होने से उसकी उत्पत्ति न हो सो तो है नहीं, क्योंकि, उसके बिना मानुषोत्तर पर्वत के अभ्यन्तर दिशा विषयक ज्ञान की उत्पत्ति भी घटित नहीं होती। अतः क्षयोपशम का अस्तित्व सिद्ध है। मानुषोत्तर पर्वत से व्यवहित होने के कारण परभाग में स्थित पदार्थों में ज्ञान की उत्पत्ति न हो यह भी नहीं हों सकता है । क्योंकि असंख्यात अतीत व अनागत पर्यायों में व्यापार करने वाले तथा अभ्यन्तर दिशा में पर्वतादिकों से

व्यवहित पदार्थो को भी जानने वाले मन:पर्यय ज्ञानी के अनिन्द्रिय प्रत्यक्षता का मानुपोत्तर पर्वत से प्रतिघात हो नहीं सकता। अतएव "मानुषोत्तर पर्वत के भीतर" यह वचन क्षेत्र का नियामक नहीं है। किन्तु मानुषोत्तर पर्वत के भीतर पैतालीस लाख योजनों का नियामक है। क्योंकि विपुल-मति मन:पर्यय ज्ञान के उद्योग सहित क्षेत्र को घनाकार से स्थापित करने पर पैतालीस लाख योजन मात्र ही होता है। अथवा उपदेश प्राप्त कर विषय का व्याख्यान करना चाहिए। यही बात धवलग्रन्थ पृष्ठ ३४३ पुस्तक नं० १३ में भी लिखी है। गो०जी०३४६

धवलग्रन्थ पृष्ठ ३६६-३६७ पुस्तक नं० १ में लिखा है कि—

शंका—देश विरत आदि नीचे के गुणस्थानवर्ती जीवों के मन:पर्यय ज्ञान क्यों नहीं होता है ?

समाधान—नही, क्योंकि, संयमासंयम और असंयम के साथ मन:पर्यय ज्ञान की उत्पत्ति मानने में विरोध आता है।

शंका—यदि संयम मात्र मन:पर्ययज्ञान की उत्पत्ति का कारण है तो समस्त संयमियों के मन: पर्यय ज्ञान क्यों नहीं होता है ?

समाधान—यदि केवल संयम ही मन:पर्ययज्ञान की उत्पत्ति का कारण होता तो ऐसा भी होता परन्तु अन्य भी मन:पर्ययज्ञान की उत्पत्ति के कारण है, इसलिए उन दूसरे हेतुओं के न रहने से समस्त संयतों के मन:पर्ययज्ञान उत्पन्न नही होता है।

शंका—वे दूसरे अन्य कौन से कारण हैं ?

समाधान—विशेष जाति के द्रव्य, क्षेत्र और काल आदि अन्य कारण है। जिनके विना सभी संयमियों के मन:पर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता है।

नोट—द्रव्य, क्षेत्र,काल मन:पर्ययज्ञान की उत्पत्ति में कारण कहना उपचार है, यथार्थ में विपुल-मति मन:पर्यय ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम ही प्रधान कारण है यह कारण न मिले और अन्य लाखों कारण मिले तो भी मन:पर्यय ज्ञान हो ही नहीं सकता है यह परम सत्य है।—

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४५७ पुस्तक नम्बर ३ में लिखा है कि—

शंका—श्रुत ज्ञान और मन:पर्यय ज्ञान का दर्शन क्यों नहीं कहा जाता है ?

समाधान—श्रुत ज्ञान का तो दर्शन हो ही नहीं सकता है, क्योंकि, वह मतिज्ञान पूर्वक होता है। उसी प्रकार मन.पर्ययज्ञान का भी दर्शन नहीं है, क्योंकि, मन:पर्ययज्ञान भी उसी प्रकार का है। अर्थात् मन:पर्ययज्ञान भी मतिज्ञान पूर्वक होता है, इसलिए उसका दर्शन नहीं पाया जाता है।

शंका—यदि दर्शन का स्वरूप स्वसंवेदन है तो इन दोनों ज्ञानों के भी दर्शन की अस्तित्व की प्राप्ति होती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उत्तर ज्ञान की उत्पत्ति के निमित्त भूत प्रयत्न विशिष्ट स्वसंवेदन को दर्शन माना है। परन्तु केवली में यह क्रम नहीं पाया जाता है। क्योंकि, वहाँ पर अक्रम से ज्ञान और दर्शन की प्रवृती होती है। छद्मस्थों में दर्शन और ज्ञान इन दोनों की अक्रम से प्रवृत्ति होती है, यदि ऐसा कहा जावे सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, छद्मस्थों के "दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते है" इस आगम वचन से छद्मस्थों के दोनों उपयोगों के अक्रम से होने का प्रतिषेध हो जाता है। ज्ञान पूर्वक दर्शन होता है, यदि

ऐसा कहा जावे सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, दर्शन पूर्वक ज्ञान होता है, किन्तु, ज्ञान पूर्वक दर्शन नहीं होता है, ऐसा आगम वचन है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ५०२ पुस्तक नम्बर १२ में लिखा है कि—

पयडिअट्ठदाए णाणावरणीय दंसणावरणीयस्स कम्मस्स पयडीयो सव्व पयडीणं केवडियो भागो ॥३॥ दुभागो देसूणो । सूत्र नं० ४॥

अर्थ—प्रकृत्यर्थता से ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म की प्रकृतियां सब प्रकृतियों के कितने भाग प्रमाण है ॥३॥ वे सव प्रकृतियों के कुछ कम द्वितीय भाग प्रमाण है। सूत्र नं० ४॥

यथा—अवधि ज्ञानावरणीय की प्रकृतियां और अवधि दर्शनावरणीय की प्रकृतियां पृथक-पृथक असंख्यात लोक प्रमाण होकर परस्पर की अपेक्षा समान है, क्योंकि, अवधि ज्ञान के सब भेद अवधि दर्शन पूर्वक पाये जाते हैं। मति ज्ञानावरणीय की प्रकृतियाँ और चक्षु व अचक्षु दर्शनावरणीय की प्रकृतियां पृथक-पृथक असंख्यात लोक प्रमाण होकर अन्योन्यकी अपेक्षा समान है । क्योंकि, समस्त मतिज्ञान को दर्शन पूर्वक स्वीकार किया गया है। श्रुत ज्ञानावरणीय की प्रकृतियाँ असंख्यात लोकमात्र है। मनः पर्यय ज्ञानावरणीय की प्रकृतियाँ असंख्यात कल्प मात्र है। इन श्रुत ज्ञानावरणीय औरमनःपर्यय ज्ञानावरणीय प्रकृतियों का दर्शन नहीं होता है, क्योंकि, यह ज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होते हैं। इसलिए दर्शनावरणीय की प्रकृतियों की अपेक्षा ज्ञानावरणीय की प्रकृतियाँ विशेष अधिक है। विशेष का प्रमाण कितना है? वह असंख्यातवें भाग मात्र है। किन्तु, मतिज्ञान में चूँकि श्रुतज्ञान प्रविष्ट है, अतएव यहाँ पृथक् ग्रहण करना नहीं चाहिए अन्यथा ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय की प्रकृतियाँ सव प्रकृत्तियों के कुछ कम द्वितीय भाग प्रमाण नहीं वन सकती। अथवा श्रुतज्ञान और मनःपर्यय ज्ञानों के भी दर्शन है, क्योंकि, उसके द्वारा अवगत अर्थ का संवेदन वहां पाया जाता है ऐसा स्वीकार करने पर पूर्व मान्यता के साथ विरोध होगा सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, उनके कारण भूत दर्शन के प्रतिषेध का वहां विधान किया गया है।

केवल ज्ञानावरणीय की एक प्रकृत्ति हैं। केवल दर्शनावरणीय की भी एक प्रकृति है। इसलिए वे दोनों समान है। निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि, निद्रा और प्रचला ये पाँच प्रकृतियाँ दर्शनावरणीय की है, किन्तु, ये अप्रधान है। क्योंकि, वे मनःपर्यय ज्ञानावरणीय प्रकृतयों के असंख्यात वें भाग मात्र है। इससे सिद्ध है कि दर्शनावरणीय की प्रकृतियों की अपेक्षा ज्ञानावरणीय की प्रकृतियाँ बहुत हैं।—

धवल ग्रन्थ पृष्ट ३८४ पुस्तक नम्बर १ में लिखा है कि—

शंका—श्रुत दर्शन क्यों नहीं कहा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, मतिज्ञानपूर्वक होने वाले श्रुतज्ञान को दर्शन पूर्वक मानने में विरोध आता है। दूसरे यदि वहिरंग पदार्थ को सामान्य रूप से विषय करने वाला दर्शन होता तो श्रुतज्ञान सम्बन्धी दर्शन भी होता परन्तु ऐसा नहीं है इस लिये श्रुतज्ञान के पहले दर्शन नहीं होता है।

शंका—विभंगदर्शन का पृथक् रूप से उपदेश क्यों नहीं किया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उसका अवधिदर्शन में अन्तर्भाव हो जाता है।

शंका—तो मनः पर्यय दर्शन को भिन्न रूप से कहना चाहिए ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, मनःपर्ययज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है इसलिए मनःपर्यय दर्शन नहीं होता है।

नोट—यहाँ पर दर्शन बहिरंग पदार्थ को सामान्य रूप से विषय नहीं करता है यह कहना निश्चय है दर्शन भी पर द्रव्य की अपेक्षा पर द्रव्यों का सामान्य रूप से जानने वाला है यह व्यवहार है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३८०-३८२ पुस्तक नम्बर १ में लिखा है कि—

शंका—चक्षु इन्द्रिय से जो प्रकाशित होता है उसे दर्शन कहते हैं। परन्तु आत्मा तो चक्षु इन्द्रियों से प्रकाशित होता नहीं, क्योंकि चक्षु इन्द्रिय से आत्मा की उपलब्धि होती हुई नहीं देखी जाती है। चक्षु-इन्द्रिय से रूप सामान्य और रूप विशेष से युक्त पदार्थ प्रकाशित होता है। परन्तु पदार्थ तो उपयोग रूप हो नहीं सकता है, क्योंकि पदार्थ को उपयोग रूप मानने में विरोध आता है। पदार्थ का उपयोग भी दर्शन नहीं हो सकता है, क्योंकि वह उपयोग ज्ञान रूप पड़ता है। इसलिए चक्षु दर्शन का अस्तित्व नहीं बनता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, चक्षु दर्शन न हो तो चक्षु दर्शनावरण कर्म नहीं बन सकता है, क्योंकि आधार्य के अभाव में आधार का भी अभाव पाया जाता है। इसलिए अन्तरंग पदार्थ को विषय करने वाला चक्षु दर्शन है यह बात स्वीकार कर लेना चाहिए।

दूसरे निद्रा-निद्रा आदि कर्म ज्ञान के प्रतिबन्धक नहीं है, क्योंकि, ज्ञानावरण कर्म के भेदों में इन निद्रा-निद्रा आदि कर्मों का पाठ नहीं है। तथा निद्रा-निद्रा आदि कर्म अन्तरंग और बहिरंग पदार्थों को विषय करने वाले दोनों उपयोगों के भी प्रतिबन्धक नहीं है, क्योंकि, ऐसा मानने पर भी निद्रा-निद्रादिक का ज्ञानावरण के भीतर ही अन्तर्भाव होना चाहिए था। परन्तु ऐसा नहीं है अतः निद्रा-निद्रादिक दोनों उपयोग के भी प्रतिबन्धक नहीं है। निद्रा-निद्रादिक अन्तरंग और बहिरंग पदार्थों को विषय करने वाले सामान्य उपयोग के भी प्रतिबन्धक नहीं है, क्योंकि, ऐसा मान लेने पर जाग्रत अवस्था में छद्मस्थ के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग की युगपत् प्रवृति का प्रसंग आ जायगा। इसलिए दर्शन यदि न हो तो दर्शनावरण कर्म का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता है। अतः अन्तरंग पदार्थ को विषय करने वाले उपयोग का प्रतिबन्धक ज्ञानावरण कर्म हैं, ऐसा जानना चाहिए।

शंका—आत्मा को विषय करने वाले उपयोग को दर्शन स्वीकार कर लेने पर आत्मा में कोई विशेषता नहीं होने से चारों दर्शनों में भी कोई भेद नहीं रह जायगा?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जो जिस ज्ञान का उत्पन्न करने वाला स्वरूप संवेदन है, उसको उसी नाम का दर्शन कहा जाता है। इसलिए दर्शन के चार प्रकार के होने का कोई नियम नहीं है। चक्षु इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुए ज्ञान के विषय भाव को प्राप्त जितने पदार्थ है, उतने ही आत्मा में स्थित क्षयोपशम उन उन संज्ञाओं को प्राप्त होते हैं। और उनके निमित्त से आत्मा भी उतने ही प्रकार का हो जाता है। अतः इस प्रकार की शक्तियों से युक्त आत्मा के संवेदन करने को दर्शन कहते है। यह सब कथन काल्पनिक भी नहीं है, क्योंकि, परोपदेश के बिना अनेक शक्तियों से युक्त आत्मा की परमार्थ से उपलब्धि होती है। सभी दर्शनों की अक्रम से प्रवृत्ति होती है सो बात भी नहीं है, क्योंकि, ज्ञानों को एक साथ उत्पत्ति नहीं होती है। अतः सम्पूर्ण दर्शनों की एक साथ उत्पत्ति नहीं होती है। इसी प्रकारशेष दर्शनों का भी कथन करना चाहिए। इसलिए दर्शनों में एकता अर्थात् अभेद सिद्ध नहीं हो सकता है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३१-३२ पुस्तक नम्बर ६ में लिखा है कि—

निद्रा-निद्रा प्रकृति के तीव्र उदय से जीव वृक्ष के शिखर पर, विषम भूमि पर, अथवा जिस किसी प्रदेश पर घुर घुराता हुआ या नहीं घुर घुराता हुआ निर्भर अर्थात् गाढ़ निद्रा में सोता हैं। प्रचला-प्रचला प्रकृत्ति के तीव्र उदय से बैठा या खड़ा हुआ मुँह से गिरती हुई लार सहित तथा बार-बार कंपते हुए शरीर

और शिर युक्त होता हुआ जीव निर्भर सोता है। स्त्यान गृद्धि के तीव्र उदय से उठाया गया भी जीव पुनः सो जाता है, सोता हुआ भी कुछ क्रिया करता रहता हैं तथा सोते हुए भी बड़ बड़ाता है और दाँतों को कड़ कड़ाता हैं। निद्रा प्रकृति के तीव्र उदय से जीव अल्पकाल सोता है उठाये जाने पर जल्दी उठ बैठता है और अल्प शब्द के द्वारा भी सचेत हो जाता है। प्रचला प्रकृति के तीव्र उदय से जीव लोचन वालुका से भरे हुए के समान हो जाता है शिर गुरु भार को उठाये हुए के समान भारी हो जाता है और नेत्र पुनः पुनः उन्मीलन एवं निमीलन करने लगते हैं। निद्रा प्रकृति के उदय से गिरता हुआ जीव जल्दी अपने आपको सम्हाल लेता हैं थोड़ा थोड़ा कंपता रहता हैं और सावधान सोता है।

शंका—इन पाचों निद्राओं के दर्शनावरण संज्ञा कैसे है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, आत्मा के चेतनगुण को अपहरण करने वाले और सर्वदर्शन के विरोधी कर्म के दर्शनावरणत्व के प्रति कोई विरोध नहीं है।

नोट—यथार्थ में जो क्षयोपशम शक्ति प्राप्त हुई है उसी को निद्रा उपयोग रूप होने नहीं देती है अर्थात् निद्रा अवस्था में दर्शन तथा ज्ञान का क्षयोपशम लब्धि रूप रहता हैं परन्तु उपयोग रूप नहीं होता है।

ज्ञान की कणी केवल ज्ञान का अंश है—

धवल ग्रंथ पृ० ३६ पुस्तक नं० १ में लिखा है कि—

शंका—मंगल में एक जीव की अपेक्षा अनादि अनन्त पना कैसे बनता है? अर्थात् एक जीव के अनादि काल से अनन्त काल तक मंगल होता है यह कैसे संभव है?

समाधान—द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से मंगल में अनादि अनन्त पना कैसे बन सकता है। द्रव्यार्थिक नय की मुख्यता से जीव अनादि काल से अनन्त काल तक सर्वदा एक स्वभाव अवस्थित है और मंगल रूप पर्याय उससे सर्वथा भिन्न नहीं है। अतएव अनादि अनन्त पना बन जाता है।

शंका—इस तरह तो मिथ्या दृष्टि अवस्था में भी जीव को मंगल पने की प्राप्ति हो जायगी?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, ऐसा प्रसंग तो हमें इष्ट है। किन्तु ऐसा मान लेने पर भी मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद आदि को मंगल पना सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि, उनमें जीवत्व नही पाया जाता है। मंगल तो जीव ही है, और वह जीव केवल ज्ञानादि अनन्त धर्मात्मक है।

आवृत अवस्था में अर्थात् केवल ज्ञानावरण आदि कर्म बन्धन की दशा में मंगली भूत केवल ज्ञानादिक का अभाव है। अर्थात् उस अवस्था में वे सर्वथा नहीं पाये जाते। यदि कोई ऐसा प्रश्न करे तो— आक्रियमाण अर्थात् जो कर्मो के द्वारा आवृत होते हैं ऐसे केवल ज्ञानादिक के अभाव में केवल ज्ञानादिक को आवरण करने वाले कर्मों का सद्भाव सिद्ध नहीं हो सकेगा। दूसरे जीव के लक्षण रूप ज्ञान और दर्शन के अभाव मानने पर लक्ष्य रूप जीव के अभाव की भी आपत्ति आ जाती है। लेकिन ऐसा नहीं है, क्योंकि, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जीव की उपलब्धि नहीं होती हो ऐसा नहीं देखा जाता है। किन्तु प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी उसकी उपलब्धि होती ही हैं। यहां पर भस्म से ढकी हुई अग्नि के साथ व्यभिचार दोष भी नहीं आता है, क्योंकि ताप और प्रकाश की वहां पर भी उपलब्धि होती है।

शंका—केवलज्ञानादि पर्याय रूप है इसलिए आवृत अवस्था में उनका सद्भाव नहीं बन सकता है?

समाधान—यह शंका भी ठीक नही है, क्योंकि कभी भी नहीं टूटने वाली ज्ञान सन्तान की अपेक्षा केवल ज्ञान के सद्भाव मान लेने में कोई विरोध नही आता है।

छद्मस्थ अर्थात् अल्प ज्ञानी के ज्ञान और दर्शन अल्प होने मात्र से अमंगल नहीं हो सकते हैं, क्योंकि ज्ञान और दर्शन के एक देश में मंगलपने का अभाव स्वीकार कर लेने पर ज्ञान और दर्शन के सम्पूर्ण अवस्थाओं को भी अमंगल मानना पड़ेगा।

शंका—आवरण के युक्त जीवों के ज्ञान और दर्शन मंगली भूत केवल ज्ञान और केवल दर्शन के अवयव ही नहीं हो सकते हैं ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, केवल ज्ञान और केवल दर्शन से भिन्न ज्ञान और दर्शन का सद्भाव नहीं पाया जाता है।

शंका—केवल ज्ञान और केवल दर्शन से अतिरिक्त मति ज्ञानादि ज्ञान और चक्षु दर्शन आदि दर्शन तो पाये जाते हैं इनका अभाव कैसे किया जा सकता है ?

समाधान—उस ज्ञान और दर्शन सम्बन्धी अवस्थाओं की मतिज्ञानादि और चक्षु दर्शनादि नाना संज्ञाए हैं। अर्थात् ज्ञान गुण की अवस्था विशेष का नाम मत्यादि और दर्शन गुण की अवस्था विशेष का नाम चक्षु दर्शनादि है। यथार्थ में इन सब अवस्थाओं में रहने वाला ज्ञान दर्शन एक ही है।

शंका—केवल ज्ञान और केवल दर्शन के अंकुर रूप छद्मस्थों के ज्ञान और दर्शन को मंगल रूप मान लेने पर मिथ्यादृष्टि जीव भी मंगल संज्ञा को प्राप्त होता है, क्योंकि, मिथ्यादृष्टि जीव में भी वे अंकुर विद्यमान हैं ?

समाधान—यदि ऐसा है तो भले ही मिथ्यादृष्टि जीव को ज्ञान और दर्शन रूप से मंगलपना प्राप्त हो, किन्तु, इतने से ही मिथ्यात्व, अविरत आदि को मंगलपना प्राप्त नहीं हो सकता है। और इसलिये मिथ्यादृष्टि जीव सुगति को प्राप्त नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, सम्यग्दर्शन बिना मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान में समीचीनता नहीं आ सकती है। तथा समीचीनता के बिना उन्हें सुगति नहीं मिल सकती है।

शंका—फिर मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान और दर्शन को मंगलपना कैसे है ?

ससमाधान—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि, साधन के स्वरूप को जानने वाले छद्मस्थों के ज्ञान और दर्शन को केवल ज्ञान और केवल दर्शन के अवयव रूप निश्चय करने वाले और आवरणरहित अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन रूप शक्ति से युक्त आत्मा का स्मरण करने वाले सम्यग्दृष्टियों के ज्ञान और दर्शन में जिस प्रकार पाप का क्षयकारी पाया जाता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान और दर्शन में भी पाप का क्षयकारीपना पाया जाता है इसलिये मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान और दर्शन को भी मंगल मानने में विरोध नहीं है। अथवा नोआगम भावी द्रव्य मंगल की अपेक्षा मंगल अनादि अनन्त है।

नोट—यहाँ पर मति आदि ज्ञान को केवल ज्ञान का अवयव रूप स्वीकार किया है। मंगल अनादि अनन्त है यह सूत्र को सिद्ध भी कर दिया है। यही टीकाकार की महिमा है।

शंका—मंगल में कौनसा भाव हैं ? इस विषय में धवल ग्रन्थ पुस्तक १ पृष्ठ ३५ में लिखा है कि—

"केन मंगलम् ? औदयिकादि भावै।"

अर्थ—किस कारण से मंगल उत्पन्न होता है ? जीव के औदयिक-औपशमिक आदि भावों से मंगल उत्पन्न होता है !

इससे सिद्ध होता है मिथ्यादृष्टि जीव के भावों से भी मंगलपना हो सकता है।

ऊपर में सिद्ध किया है कि मति आदि ज्ञान केवल ज्ञान के (अंश) अवयव है जब धवल ग्रन्थ पृष्ठ २१४-२१५ पुस्तक नम्बर १३ में क्या लिखते हैं—

शंका—केवल ज्ञानावरणीय कर्म क्या सर्वघाती है या देशघाती है? सर्वघाती तो हो नहीं सकता, क्योंकि, केवल ज्ञान का निःशेष अभाव मान लेने पर जीव के अभाव का प्रसंग आता है। अथवा आवरणीय ज्ञानों का अभाव होने पर शेष आवरणों के अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है। केवल ज्ञानावरणीय कर्म के देशघाती भी नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर "केवल ज्ञानावरणीय और केवल दर्शनावरणीय कर्म सर्वघाती है" इस सूत्र के साथ विरोध आता है।

समाधान—यहां समाधान करते हैं—केवल ज्ञानावरणीय देशघाती तो नहीं है, किन्तु, सर्वघाती ही है, क्योंकि वह केवलज्ञानका निःशेष आवरण करता है। फिर भी जीव का अभाव नहीं होता, क्योंकि केवल ज्ञान के आवृत होने पर भी चार ज्ञानों का अस्तित्व उपलब्ध है।

शंका—जीव में एक केवल ज्ञान है। उसे जब पूर्णतया आवृत करते हो तब फिर चार ज्ञानों का सद्भाव कैसे सम्भव हो सकता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिस प्रकार राख से ढकी हुई अग्नि से वाष्प की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार सर्वघाती आवरण के द्वारा केवल ज्ञान के आवरण होने पर भी चारों ज्ञानों की उत्पत्ति होने में कोई विरोध नहीं आता।

शंका—ये चारो ही ज्ञान केवल ज्ञान के अवयव नहीं है, क्योंकि, ये विकल है परोक्ष है क्षय सहित हैं और वृद्धि हानि युक्त हैं। अतएव उन्हे सकल प्रत्यक्ष तथा क्षय और हानिवृद्धि से रहित केवल ज्ञान के अवयव मानने में विरोध आता है। इसलिये जो पहले केवल ज्ञान के चारों ही ज्ञान अवयव कहे है वह कहना कैसे बन सकता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ज्ञान, सामान्य को देखते हुए चार ज्ञानों को उसके अयवव मानने में कोई विरोध नहीं आता।

नोट—केवल ज्ञान स्वयं पर्याय हैं पर्याय में से पर्याय उत्पन्न नहीं होती इससे चारो ज्ञान केवल ज्ञान रुप पर्याय का अवयव नहीं है। परन्तु सामान्य ज्ञान गुण है और गुण की अनेक पर्यायें हो सकती है-इस अपेक्षा से चारों ही ज्ञान ज्ञान गुण की पर्याय है अर्थात् उसके अवयव हैं ऐसा मानने में कोई विरोध नहीं है परन्तु न्याययुक्त है—यहां पर चारों ही ज्ञान को विकल परोक्ष और क्षय सहित माना है जिससे भी सिद्ध होता है कि अवधिज्ञान और मनः पर्यय ज्ञान परोक्ष ही है परन्तु प्रत्यक्ष नहीं है। अवधि ज्ञान तथा मनः पर्यय ज्ञान केवल मन जन्य परोक्ष है जब मति तथा श्रुत ज्ञान मन तथा इन्द्रिय जन्य परोक्ष है। क्षयोपशमिक ज्ञान कहना और प्रत्यक्ष कहना परस्पर विरोध वचन है।

धवलग्रन्थ पृष्ठ ३६३-३६४-पुस्तक नम्बर १ में लिखा है कि—सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में आदि के तीनों ही ज्ञान अज्ञान मिश्रित है। आभिनिबोधिकज्ञान मत्यज्ञान से मिश्रित है। श्रुतज्ञान श्रुतअज्ञान से मिश्रित है, अवधिज्ञान विभंग ज्ञान से मिश्रित होता है। अथवा तीनों ही अज्ञान ज्ञान से मिश्रित होते है। सूत्र नम्बर ॥११६॥

शंका—सूत्र में अज्ञान पद का एक वचन निर्देश क्यों किया?

प्रतिशंका—एक वचन निर्देश क्यों नहीं करना चाहिये?

शंका—क्योंकि, अज्ञान तीन है इसलिये उनका बहुवचन रूप से प्रयोग बन जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अज्ञान का कारण मिथ्यात्व एक होने से अज्ञान को भी एक मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है।

शंका—यथार्थ श्रद्धा से अनुविद्ध अवगम को ज्ञान कहते है। और अयथार्थ श्रद्धा से अनुविद्ध अवगम को अज्ञान कहते है। ऐसी हालत में भिन्न-भिन्न जीवों के आधार पर रहने वाले ज्ञान और अज्ञान का मिश्रण नहीं बन सकता है ?

समाधान—यह कहना सत्य है क्योंकि हमें यही इष्ट है। किन्तु यहां सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुण स्थान में यह अर्थ ग्रहण नहीं करना चाहिये, क्योंकि; सम्यग्मिथ्यात्व कर्म मिथ्यात्व तो हो नहीं सकता क्योंकि अनन्तगुणी हानि शक्ति वाले सम्यग्मिथ्यात्व में विपरीताभिनेवेश को उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं पाई जाती है। और न वह सम्यक् प्रकृति रूप ही है, क्योंकि, उससे अनन्त गुणी अधिक शक्ति वाले उसका (सम्यग्मिथ्यात्व का) यथार्थ श्रद्धा के साथ साहचर्य सम्बन्ध का विरोध है। इसलिए जात्यन्तर होने से सम्यग्मिथ्यात्व जात्यन्तर रूप परिणामों का ही उत्पादक है। अतः उसके उदय से उत्पन्न हुए परिणामों से युक्त ज्ञान "ज्ञान" इस संज्ञा को तो प्राप्त हो नहीं सकता है, क्योंकि, उस ज्ञान में यथार्थ श्रद्धा का अन्वय नहीं पाया जाता है। और उसे अज्ञान भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि, वह अयथार्थ श्रद्धा के साथ संपर्क नहीं रखता है। इसलिए वह ज्ञान सम्यग्मिथ्यात्व परिणाम की तरह जात्यन्तर रूप अवस्था को प्राप्त है। अतः एक होते हुए भी मिश्र कहा जाता है।

नोट—ज्ञान को मिश्र कहना उपचार है यथार्थ में ज्ञान के साथ में मिथ्यात्व रहने से ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहा जाता है उसी प्रकार ज्ञान के साथ मिश्र श्रद्धा रहने से ज्ञान को मिश्र ज्ञान कहा जाता है। उसी प्रकार उसी ज्ञान की साथ सम्यक् श्रद्धा रहने से सम्यक् ज्ञान कहा जाता है। यह तो मात्र पर गुण का आरोप ज्ञान में किया जाता है। यथार्थ ज्ञान तो जो है सो ही है यही परम सत्य है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३२ पुस्तक १ में लिखा है कि—

"अज्ञानादर्शनादि परिणामो भाव मलम"

अर्थ—अज्ञान और अदर्शन आदि परिणामों के भाव को मल कहते हैं। शास्त्र--भावमलं णादव्वं अण्णाण दंसणादि परिणामों। ति. प. १-१३

नोट—यथार्थ में अज्ञान तथा अदर्शन भावमल नहीं हैं। भावमल मिथ्यात्व कषाय और लेश्या है अर्थात् श्रद्धा गुण की विकारी पर्याय मिथ्यात्व। चारित्र गुण की विकारी पर्याय कषाय और क्रिया गुण की विकारी पर्याय लेश्या यही भावमल है। अज्ञान और अदर्शन को भावमल कहना उपचार मात्र हैं।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४१३ पुस्तक नम्बर २ में लिखा हुआ है कि—'स्व और पर को ग्रहण करने वाले परिणाम विशेष को उपयोग कहते हैं। वह उपयोग ज्ञान मार्गणा तथा दर्शन मार्गणा में अन्तर्भूत नहीं होता है। क्योंकि, ज्ञान और दर्शन इन दोनों के कारण रूप ज्ञानावरण और दर्शनावरण के क्षयोपशम को उपयोग मानने में विरोध आता है।

नोट—ज्ञानावरण और दर्शनावरण के क्षयोपशम को लब्धि कहते हैं। उन लब्धि का व्यापार का नाम उपयोग है। उस उपयोग रूप अवस्था में ही बुद्धि पूर्वक भाव होता है। उस बुद्धि पूर्वक भाव से अविपाक निर्जरा होती है। ज्ञान तथा दर्शन की लब्धि रूप अवस्था में बुद्धि पूर्वक भाव नहीं होते हैं, परन्तु अबुद्धि पूर्वक भाव होते हैं और उन भावों से सविपाक निर्जरा होती है।

केवलज्ञान-केवलदर्शन—

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३१९ पुस्तक नम्बर १० में लिखा है कि—

शंका—केवलज्ञान किसे कहते हैं ?

समाधान—बाह्यार्थ अशेष पदार्थों के परिज्ञान को केवल ज्ञान कहते हैं।

शंका—केवल दर्शन किसे कहते हैं ?

समाधान—तीनों काल विषयक अनन्त पर्यायों सहित आत्म स्वरूप के संवेदन को केवल दर्शन कहते हैं।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३६० पुस्तक नम्बर १ में लिखा है कि—

संपुण्णं तुसमग्गं केवलमसवत-सव्व-भाव विदं।
लोगा लोग-वितिमिरं केवलणाणं मुणेयव्व ॥१८६॥ गो. जी. ४६० नं०सू०५६६

अर्थ—जो जीव द्रव्य के शक्तिगत् सर्व ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों के व्यक्त हो जाने के कारण संपूर्ण है। ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के सर्वथा नाश हो जाने के कारण जो अप्रतिहत शक्ति है इसलिए समग्र है। जो इन्द्रिय और मन की सहायता से रहित होने के कारण केवल है, जो प्रतिपक्षी चार घातिया कर्मों के नाश होने से अनुक्रम रहित संपूर्ण पदार्थों में प्रवृत्ति करता है इसलिए असपत्न है, और जो लोक और अलोक में अज्ञान रूपी अन्धकार से रहित होकर प्रकाशमान हो रहा है उसे केवल ज्ञान जानना चाहिए।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ २९-३० पुस्तक नम्बर ६ में लिखा है कि—केवल असहाय को कहते हैं। जो ज्ञान असहाय अर्थात् इन्द्रिय और आलोक की अपेक्षा रहित है। त्रिकाल गोचर अनन्त पर्यायों से समवाय सम्बन्ध को प्राप्त अनन्त वस्तुओं को जानने वाला है, असंकुटित अर्थात् सर्व व्यापक है और असपत्न अर्थात् प्रतिपक्षी रहित है उसे केवल ज्ञान कहते हैं।

शंका—जो पदार्थ नष्ट हो चुके हैं, और जो पदार्थ अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं, उनका केवल ज्ञान से कैसे ज्ञान हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, केवल ज्ञान के सहाय-निर्पेक्ष होने से बाह्य पदार्थों की अपेक्षा के बिना उनके अर्थात् नष्ट और अनुत्पन्न पदार्थों के ज्ञान की उत्पत्ति में कोई विरोध नहीं है। और केवल ज्ञान के विपर्यय ज्ञानपने का भी प्रसंग नहीं आता है, क्योंकि, वह यथार्थ स्वरूप से पदार्थों को जानता है, क्योंकि, वह अत्यन्त अभाव रूप है।

नोट—यहाँ पर "त्रिकालगोचर अनन्त पर्यायोंसे समवाय सम्बन्ध को प्राप्त अनन्त वस्तुओं को जानने वाला है" कहा है वह वह उपचार का कथन है। अनन्त वस्तुओं की साथ केवल ज्ञान का समवाय सम्बन्ध नहीं है परन्तु ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है। समवाय सम्बन्ध में प्रदेश भेद नहीं होते हैं, जब पर वस्तुओं के साथ प्रदेश भेद है।

हरेक पदार्थों में अनन्त शक्तियां हैं। शक्ति नही है वह शक्ति पदार्थ में आती नहीं है। हरेक पदार्थ में एक समय में एक ही पर्याय होती है। एक साथ में अनेक पर्याय होती ही नहीं है, यह वस्तु स्वभाव है। जो शक्तियाँ वर्तमान समय में प्रगट है उसी समय में और शक्तियाँ अप्रकट शक्ति रूप हैं।

हरेक पदार्थ भूत भविष्यकी प्रत्येक पर्यायकी शक्ति सहित वर्तमान में वर्तमान पर्याय प्रगट सहित ही होते हैं। ऐसा पदार्थ वर्तमान प्रगट पर्याय सहित तथा भूत भविष्य की समस्त अप्रगट शक्ति सहित केवल ज्ञान में झलकते हैं। इस अपेक्षा से केवल ज्ञान में तीनों कालकी पर्याय झलकती है ऐसा कहा जाता है। केवल ज्ञानके साथ में परपदार्थो का ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है। प्रत्येक ज्ञेय अपनी अनन्त शक्ति सहित केवल ज्ञान में झलकता हैं। यही परम सत्य है। यह भी कहना अभूतार्थ व्यवहार नयका कथन है—

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३४ पुस्तक नंवर ६ में लिखा है कि—

केवल ज्ञान ही अपने आपका और अन्य पदार्थोंका जानने वाला है इस प्रकार मानकर कितने ही लोग केवल दर्शन के अभाव को कहते हैं। किन्तु उनका यह कथन युक्ति संगत नहीं है। क्योंकि, केवल ज्ञान स्वयं पर्याय है। पर्याय के दूसरी पर्याय होती नहीं है। इसलिये केवल ज्ञान के स्व और पर की जानने वाली दो प्रकार की शक्तियों का अभाव है। यदि एक पर्याय के दूसरी पर्यायका सद्भाव माना जाय़गा तो आने वाला अनवस्था दोष किसी के द्वारा भी नहीं रोका जा सकता है। इसलिये आत्मा ही स्व और पर को जानने वाला है ऐसा निश्चय करना चहिये। उनमें स्वप्रतिभास को केवल दर्शन कहते हैं और पर प्रतिभासको केवल ज्ञान कहते हैं।

शंका—उक्त प्रकारकी व्यवस्था मानने पर केवल ज्ञान और केवल दर्शन में समानता कैसे रह सकेगी ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ज्ञेयप्रमाण ज्ञानात्मक आत्मानुभवके ज्ञान के प्रमाण होने में कोई विरोध नहीं है।

नोट—यह भी उपचार का कथन है। यथार्थ में दर्शन आत्माको अखण्ड रूप देखता है जिस देखने में गुण गुणीका भेद नहीं है, एवं गुण पर्याय का भेद नहीं है, और पर पदार्थ को भी अखण्ड रूप देखता है। ज्ञान आत्मा में भेद डालकर देखता है अर्थात् गुण गुणी भेद डालकर एवं गुण पर्याय भेद डालकर देखता है और पर पदार्थों को भी भेदडाल कर देखता है यह वस्तु स्वभाव है और वस्तु स्वभाव तर्क का विषय नहीं है—

दर्शन ज्ञान स्वको जानता है वह निश्चय नय से कहा जाता है और दर्शन ज्ञान परको जानता है वह अभूतार्थ व्यवहार नयसे कहा जाता है।

आगम का स्वरूप—

द्वादशांग का नाम आत्मा है। क्योंकि वह आत्मा का परिणाम है, और परिणाम परिणामी से भिन्न होता नहीं है, क्योंकि, मिट्टी द्रव्य से पृथग्भूत घटादि पर्यायें पाई नहीं जाती।

शंका—द्रव्यश्रुत और भावश्रुत ये दोनों ही आगम सामान्य की अपेक्षा समान है। अतएव जिस प्रकार भाव स्वरूप द्वादशांग को "आत्मा" माना है उसी प्रकार द्रव्यश्रुत के भी आत्मस्वत्ता का प्रसंग प्राप्त होता है ?

समाधान —नहीं, क्योंकि, वह द्रव्यश्रुत आत्मा का धर्म नहीं है। उसे जो आगम संज्ञा प्राप्त है वह उपचार से प्राप्त है। वास्तव में वह आगम नहीं है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २८२-८३ पुस्तक नम्बर १३।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ १२३ पुस्तक नम्बर ३ में लिखा है कि—

पूर्वापरविरुद्धादेर्व्यपेतोदोष संहतेः।
द्योतकः सर्व भावा नामाप्त व्याहृतिरागमः ॥५८॥

अर्थ—पूर्वापर विरुद्धादि दोषों के समूह से रहित और सम्पूर्ण पदार्थों के द्योतक आप्त वचन को आगम कहते हैं।

आगम से अन्य को नोआगम कहते हैं। जो असंख्यात विषयक प्राभृत का ज्ञाता है परन्तु वर्तमान में उसके उपयोग से रहित है उसे आगम द्रव्यासंख्यात कहते हैं। क्योंकि, क्षयोपशमयुक्त जीव द्रव्य क्षयोपशम से कथंचित अभिन्न है इसलिये उसे आगम यह संज्ञा देने में कोई विरोध नहीं आता है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ-३८१-३८२ पुस्तक नम्बर १३ में लिखा हे कि—

कितने ही आचार्य ऐसा कहते हैं कि पैंतालीस लाख योजनों और राजु प्रतर के अर्द्धछेद करने पर पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र अर्द्धछेद उत्पन्न होता है। और जितने यह अर्द्धछेद होता है उतने ही मनुष्य गति प्रायोग्यानुपूर्वी के विकल्प होते हैं। यहाँ पर उपदेश को प्राप्त करके यही व्याख्यान सत्य है, अन्य व्याख्यान असत्य हैं ऐसा निश्चय करना चाहिये। ये दोनों ही उपदेश सूत्र सिद्ध हैं, क्योंकि आगे दोनों ही उपदेशों का आश्रय करके अल्प वहुत्व का कथन किया गया है।

शंका—विरुद्ध दो अर्थो का कथन करने वाला सूत्र कैसे हो सकता है ?

समाधान—यह कहना सत्य है, क्योंकि, जो सूत्र है वह अविरुद्ध अर्थ का ही प्ररूपण करने वाला होता है। किन्तु यह सूत्र नहीं है, क्योंकि सूत्र के समान जो होता है वह सूत्र कहलाता है। इस प्रकार से इसमें उपचार से सूत्रपना स्वीकार किया है।

शंका—तो फिर सूत्र क्या है ?

समाधान—जिसका गणधर ने कथन किया हो—उसी प्रकार जिसका प्रत्येक बुद्धों ने कथन किया हो, श्रुतकेवलियों ने जिसका कथन किया हो तथा अभिन्न दश पूर्वीयों ने जिसका कथन किया हो वह सूत्र है। कहा भी है कि—

सुत्तं गणहरकहियं तहेय पत्तेय बुद्ध कहियं च।
सदकेवलिणा कहियं अभिण्ण दस पुव्वि कहियं च ॥३४॥

परन्तु भूतबली भट्टारक न गणधर हैं, न प्रत्येक बुद्ध हैं, न श्रुतकेवलि हैं और न अभिन्न दशपूर्वी ही हैं जिससे कि यह सूत्र हो सके।

शंका—यदि यह सूत्र नहीं है तो सब के अप्रमाण होने का प्रसंग क्यों न प्राप्त होगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि एक उद्देश में प्रमाणता का सन्देह होने पर सबको अप्रमाण मानने में विरोध आता है।

शंका—सूत्र की प्रमाणता कैसे जानी जाती है ?

सामाधान—राग, द्वेष और मोह का अभाव हो जाने से प्रमाणीभूत पुरुष परम्परा से प्राप्त होने के कारण उसकी प्रमाणता जानी जाती है।

हमारा तो यह अभिप्राय है कि पहले कहा गया अर्थ ही उत्तम है दूसरा नहीं क्योंकि "पैंतालीस लाख योजन बाहल्य रूप तिर्यक् प्रतरों के अर्द्धछेदों को जग श्रेणी के असंख्यातवें भाग मात्र अवगाहना विकल्पों से गुणित करे" इस प्रकार सूत्र में सम्बन्ध को दिखाने वाले षष्ठयन्त निर्देश का अभाव है। अथवा उर्द्ध कपाट छेदन का निर्देश निरर्थक किया है, कितनी ही सूत्र पोथियों में दूसरे अर्थ का आश्रय करके कहे गये अल्प बहुत्व का अभाव भी है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४८१ पुस्तक नम्बर ३ में लिखा है कि—

शंका—प्रमत संयतो के संख्यातवें भाग मात्र प्रमत संयत वेदक सम्यग्दृष्टियों से मनुष्य संयता संयतो के संख्यातवें भाग मात्र क्षायिक सम्यग्दृष्टि संयतासंयत जीव संख्यात गुरग कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, सर्व सम्यक्त्वों में संयतो से देशसंयत और देशसंयतों से असंयत जीव बहुत पाये जाते है, इसलिए मनुष्य संयतासंयतो के संख्यातवें भाग मात्र क्षयिक सम्यग्दृष्टि संयतासंयत जीव प्रमत संयतों के संख्यातवें भाग मात्र वेदकसम्यग्दृष्टियों से संख्यात गुरगे बन जाता है।

शंका—सर्व सम्यक्त्वों में संयतों से संयतासंयत और संयतासंयतों से असंयत बहुत होते हैं यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—चूंकि चारित्रावररग मोहनीय कर्म का क्षयोपशम सर्व सम्यक्त्वों में प्रायः संभव नहीं है, इसलिए यह जाना जाता है, कि सर्व सम्यक्त्वों में संयतों से संयतासंयत और संयतासंयतों से असंयत जीव अधिक होते हैं।

शंका—यदि ऐसा है तो "देश संयत में तेरह करोड़ मनुष्य हैं" इस गाथा के साथ इस पूर्वोक्त व्याख्यान का विरोध क्यों नहीं आ जायगा ?

समाधान—यदि युक्त गाथा के साथ इस पूर्वोक्त व्याख्यान का विरोध प्रात होता है तो होओ।

शंका—तो इस प्रकार के विरुद्ध व्याख्यान को समीचीनता कैसे प्रात हो सकती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जो युक्त सिद्ध है आचार्य परंपरा से आया हुआ है उसमें इस गाथा से असमीचीनता नहीं लाई जा सकती है अन्यथा अति प्रसंग दोप आ जायगा।

ग्रन्थकर्ता का स्वरूप—

धवल ग्रन्थ पृष्ठ १२६-१३० पुस्तक नम्बर ९ में लिखा है कि—अब ग्रन्थकर्ता की प्ररूपरगा करते है।

शंका—वचन के विना अर्थ का व्याख्यान सम्भव नहीं है, क्योंकि, सूक्ष्म पदार्थो की संज्ञा अर्थात संकेत द्वारा प्ररूपरगा नहीं बन सकती। यदि कहा जाय कि अनक्षरात्मक ध्वनि द्वारा अर्थ की प्ररूपरगा हो सकती है, सो यह भी योग्य नहीं है, क्योंकि अनक्षर भाषा युक्त तिर्यचों को छोड़कर अन्य जीवों को उससे अर्थज्ञान नहीं हो सकता है। और दिव्यध्वनि अनक्षरात्मक ही हो सो भी नहीं है, क्योंकि, वह अठारह भाषा एवं सातसौ कुभाषा स्वरूप है। इसी कारण चूँकि अर्थ का प्ररूपक ही ग्रन्थ का प्ररुपक होता है अतः ग्रन्थ कर्ता की प्ररूपरगा नहीं करना चाहिए ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, संक्षिप्त शब्द रचना से सहित व अनन्त अर्थो के ज्ञान के हेतु भूत अनेक चिन्हों से संयुक्त बीजपद कहलाता है। अठारह भाषा व सातसौ कुभाषा स्वरूप द्वादशांगात्मक उन अनेक बीजपदों का प्ररूपक अर्थकर्त्ता है, तथा बीजपदों में लीन अर्थ के प्ररूपक बारह अंगों के कर्ता गरगधर देव ग्रन्थकर्ता है ऐसा स्वीकार किया गया है। अभिप्राय यह है कि, बीजपदों का जो व्याख्याता है वह ग्रन्थकर्ता कहलाता हैं।

शंका—उक्त ग्रन्थकर्ता की प्ररुपरगा किसलिए की जाती है ?

समाधान—ग्रन्थ की प्रमारगता को बतलाने के लिए कर्ता की प्ररूपरगा की जाती है। राग द्वेष

व मोह से युक्त जीव यथोक्त अर्थों का प्ररूपक नहीं हो सकता है, क्योंकि, उनमें सत्य वचन के नियम का अभाव है। इसी कारण उसकी प्ररूपणा की जाती है। वह इस प्रकार है—

पांच महाव्रत के धारक, तीन गुप्तियों से रक्षित, पांच समितयों से युक्त, आठ मदों से रहित, सात भयों से मुक्त, बीज कोष्ट पदानुसारी, व संभिन्नश्रोतृत्व बुद्धियों से उपलक्षित, प्रत्यक्ष भूत, उत्कृष्ट अवधिज्ञान से असंख्यात लोक मात्र काल में अतीत, अनागत एवं वर्तमान परमाणु पर्यन्त समस्त मूर्त द्रव्य व उनकी पर्यायों को जानने वाले, तप्त तप लब्धि के प्रभाव से मल मूत्र रहित, दीप्त तप लब्धि के बल से सर्वकाल उपवास युक्त होकर भी शरीर के तेज से दशों दिशाओं को प्रकाशित करने वाले, सर्वोषधि लब्धि के निमित्त से समस्त औषधियों स्वरूप, अनन्त बल युक्त होने से हाथ की कनिष्ठ अंगुली द्वारा तीनों लोकों को चलायमान करने में समर्थ, आमृताश्रव आदि ऋद्धियों के बल से हस्तपुट में गिरे हुए सब आहारों को अमृतस्वरूप से परिणमाने में समर्थ, महातप गुण से कल्पवृक्ष के समान, अक्षीण महानस लब्धि के बल से अपने हाथों में गिरे हुए आहारों की अक्षयता के उत्पादक, अघोर तप ऋद्धि के (बल से) महात्म्य से जीवों के मन, वचन एवं कायगत समस्त कष्टों के दूर करने वाले, सम्पूर्ण विद्याओं के द्वारा सेवित चरण मूल से संयुक्त, आकास चारण गुण से सब जीव समूहकों रक्षा करने वाले, वचन एवं मन से समस्त पदार्थों के सम्पादन करने में समर्थ, अणिमादिक आठ गुणों के द्वारा सब देव समूह को जीतने वाले, तीनों लोकों के जनों में श्रेष्ट, परोपदेश के बिना अक्षर व अनक्षर रूप सब भाषाओं में कुशल समवसरण में स्थित, जन मात्र के रूप के धारी होने से "हमारी हमारी भाषाओं में हम हम को ही कहते हैं" इस प्रकार सबको विश्वास कराने वाले तथा समवसरणस्थ जनों के कर्ण इन्द्रियों में अपने मुँह से निकली हुई अनेक भाषाओं के सम्मिश्रित प्रवेश के निवारक, ऐसे गणधर देव ग्रन्थकर्ता हैं, क्योंकि ऐसे स्वरूप के बिना ग्रन्थ की प्रमाणता का विरोध होने से धर्म रसायन द्वारा समवसरण के जनों का पोषण बन नहीं सकता। यहाँ उपयुक्त गाथा—

बुद्धितव-विउवणोसह-रस-बल-अक्खीण-सुस्सरत्तादी ।
ओहि-मणपज्जवेहि-य-हवंति गणवालया सहिय । ॥३८॥

अर्थ—गणधर देव बुद्धि, तप, विक्रिया, औषध, रस, बल, अक्षीण, सुस्वरत्वादि ऋद्धियों तथा अवधि एवं मनः पर्ययज्ञान से सहित होते हैं।३८।।

अब वर्धमान जिनके तीर्थ में ग्रन्थकर्ता को कहते है।

पंचेव अत्थिकाया छज्जीवणिकाया महव्वया पंच ।
अट्ठ य पवयणमादा सहेउओ बंध मोक्खो य ॥३९॥

अर्थ—पाँच अस्तिकाय, छह जीवनिकाय, पाँच महाव्रत, आठ प्रवचन माता अर्थात् पाँच समिति और तीन गुप्ति तथा सहेतुक बन्ध और मोक्ष ।।३९

"उक्त पाँच अस्तिकायादिक क्या हैं" ?ऐसे सौधर्मेन्द्र के प्रश्न से संदेह को प्राप्त हुए, पाँचसौ पाँच सौ शिष्यों से सहित तीन भ्राताओं से वेष्ठित, मान स्तम्भ के देखते ही मान से रहित हुए, वृद्धि को प्राप्त होने वाली विशुद्धि से संयुक्त वर्धमान भगवान् के दर्शन करने पर असंख्यात भवों में अर्जित महान कर्मो को नष्ट करने वाले, जिनेन्द्र देव की तीन प्रदक्षिणा करके पंचमुष्टियों से अर्थात् पाँचअंगों द्वारा भूमि स्पर्श पूर्वक वंदना करके एवं हृदय से जिन भगवान् का ध्यान कर संयको प्राप्त हुए, विशुद्धि के बल से मुहूर्त के भीतर उत्पन्न हुए समस्त गणधर के लक्षणों से संयुक्त, तथा जिनमुख से निकले हुए बीज पदों के ज्ञान से सहित

ऐसे गौतम गोत्र वाले इन्द्र भूति ब्राह्मण द्वारा चूंकि आचारंग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्या प्रज्ञप्ति अंग, ज्ञातृधर्म कथांग, उपासकाध्ययनांग, अन्तकृतदशांग, अनुत्तरोपपादिकदशांग, प्रश्नव्याकरणांग, विपाकसूत्रांग, व दृष्टिवादांग इन बारह अंगों तथा सामायिक, चतुर्विंशतिस्तवन, वंदना, प्रतिक्रमण, वैनयिक कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरिक, महापुण्डरिक, व निसिद्धिका इन अंगबाह्य चौदह प्रकीर्णकों की श्रावण मास के कृष्ण पक्ष में युग के आदिमें, प्रतिपदा के पूर्व दिन में रचना की थी, अतएव इन्द्रभूति भट्टारक वर्धमान जिनके तीर्थ में ग्रन्थ कर्ता हुए। कहा भी हैं कि—

वासस्स पढममासे पढमें पक्खम्मि सावणे बहुले।
पाडिवद पुव्वदिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्भि ॥४०॥

प०ख०पु०१–पृ०६३ ति०प० १–६६

अर्थ—वर्ष के प्रथम मास व प्रथम पक्ष में श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के पूर्व दिन में अभिजित् नक्षत्र में तीर्थ की उत्पत्ति हुई ॥४०॥

मंगल दो प्रकार का है इस विषय में धवल ग्रन्थ पृष्ट १०३–१०६ पुस्तक नम्बर ६ में लिखा हैं कि – वर्धमान बुद्ध ऋषि को नमस्कार हो। सूत्र नं० ४४॥

शंका—जब की वर्धमान भगवान् को पूर्व में नमस्कार किया जा चुका है, तो फिर यहाँ दुबारा नमस्कार किसलिए किया गया है ?

समाधान—"जिसके समीप धर्मपथ प्राप्त हो उसके निकट विनय का व्यवहार करना चाहिए। तथा उसका शिर आदि पाँच अंग एवं मन, वचन और काम से नित्य ही सत्कार करना चाहिए" इस आचार्य परम्परागत नियम को बतलाने के लिए पुनः नमस्कार किया है।

शंका—निबद्ध और अनिबद्ध के भेद से मंगल दो प्रकार है। उनमें से यह मङ्गल निबद्ध है या अनिबद्ध ?

समाधान—यह निबद्ध मंगल तो हो नहीं सकता, क्योंकि कृति आदि चौबीस अनुयोगद्वार रूप अवयवों वाले महाकर्म प्रकृति प्राभ्रत के आदि में गौतम स्वामी ने इसकी प्ररूपणा की है, और भूतबली भट्टारक ने वेदना खण्ड के आदि में मंगल के निमित्त इसे वहाँ से लाकर स्थापित किया है, अतः इसे निबद्ध मानने में विरोध है। और वेदना खण्ड महाकर्म प्रकृति प्राभृत है नहीं, क्योंकि अवयव के अवयवी होने का विरोध है।और न भूतबली गौतम ही है, क्योंकि विकलश्रुत धारक और धरसेनाचार्य के शिष्य भूतबली को सकल श्रुत के धारक और वर्धमान स्वामी के शिष्य गौतम होने का विरोध है। इसके अतिरिक्त निबद्ध मंगलत्व का हेतु भूत और कोई प्रकार है नहीं, अतः यह अनिबद्ध मंगल है। अथवा, यह निबद्ध मंगल भी हो सकता हे !

शंका—वंदना खण्डादि स्वरूप खण्ड ग्रन्थ के महाकर्म प्रकृतिप्राभृतपना कैसे संभव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कृति आदि चौबीस अनुयोगद्वारों से एकान्ततः पृथग्भूत महाकर्म प्रकृति प्राभृत का अभाव है।

शंका—इन अनुयोग द्वारों को कर्म प्रकृति प्राभृत स्वीकार करने पर बहुत प्राभृत होने का प्रसंग आवेगा ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि ऐसा कथंचित इष्ट है।

शंका – महाप्रमाण वाली वेदना के उपसंहार रूप इस वेदना खण्ड के वेदनापना कैसे सम्भव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अवयवों से सर्वथा प्रथग्भूत अवयवी पाया नहीं जाता। यदि कहा जाय कि इस प्रकार से बहुत वेदनाओं के मानने का अनिष्ट प्रसंग आवेगा सो भी नहीं है, क्योंकि वैसा इष्ट ही है।

शंका—भूतबली के गौतम पना कैसे सम्भव है ?

प्रतिशंका—उनके गौतम होने से क्या प्रयोजन है ?

प्र० शं० समाधान—क्योंकि भूतवली को गौतम स्वीकार किये विना मंगल के निबद्धता बन ही कैसे सकती है ?

शंका समाधान—नहीं, क्योंकि, भूतबली के खण्ड ग्रन्थ के प्रति कर्तृत्व का अभाव है। और दूसरे के द्वारा किये गये ग्रन्थाधिकारों के एक देश रूप पूर्वोक्त शब्दार्थ सन्दर्भका प्ररूपक कर्ता हो नहीं सकता, क्योंकि, अति प्रसंग दोष आता है। अथवा भूतवली गौतम ही है, क्योंकि, दोनों का एक ही अभिप्राय रहा है। इस कारण निबद्ध मंगलत्व भी सिद्ध है।

शंका—आगे कहे जाने वाले तीन खण्डों में किस खण्ड का यह मंगल है ?

समाधान—आगे कहे जाने वाले तीनों खण्डों का यह मंगल है, क्योंकि, वर्गणा और महाबन्ध इन दो खण्डों के आदि में मंगल नहीं किया गया है। और भूतवलि भट्टारक मंगल के विना ग्रन्थ का प्रारम्भ करते नहीं हैं, क्योंकि, ऐसा करने से उनके अनाचार्यत्व का प्रसंग आता है।

शंका—वेदना खण्ड के आदि में कहा गया मंगल शेष दो खण्डों का कैसे हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कृति अनुयोग द्वार के आदि में कहे गये इसी मंगल की शेष तेईस अनुयोग द्वारों में प्रवृती देखी जाती है।

शंका—महाकर्म प्रकृति प्राभृत रूप से चौबीस अनुयोग द्वारों के कोई भेद न होने से उनके एकता है। अतएव वहाँ एक ग्रन्थ का एक मंगल विरोध को प्राप्त नहीं होता। परन्तु इन तीन खण्डों के एकता नहीं है, क्योंकि, ऐसा मानने पर उनके एक खण्ड होने का प्रसंग आता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, महाकर्म प्रकृति प्राभृत रूप से इनके भी एकता देखी जाती है।

शंका—कृति, स्पर्श, कर्म और प्रकृति अनुयोग द्वारों की भी तो यहाँ प्ररूपणा की गई है। उनकी खण्ड ग्रन्थ संज्ञा न करके तीन ही खण्ड हैं, ऐसा किस लिये कहा जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उनकी प्रधानता नहीं है।

शंका—वह भी कहाँ से जाना जाता है ?

समाधान—यह संक्षेप में की गई प्ररूपणा से जाना जाता है।

शंका—यह शास्त्र किस हेतु से पढ़ा जाता है ?

समाधान—मोक्ष के हेतु पढ़ा जाता है।

शंका—स्वर्गादिक की खोज क्यों नहीं की जाती है ?

समाधान—नहीं की जाती, क्योंकि, वहाँ अत्यन्त दुःख का अभाव होने से संसार कारण रूप सुख है, तथा राग को छोड़ कर वहाँ सुख है भी नहीं।

णमोकार मंत्र के आदिकर्ता—

श्री धवलाकार आचार्य वीरसेन का यह मत है कि इस सुप्रसिद्ध "णमोकार मंत्र" के आदि कर्ता प्रातः स्मरणीय आचार्य पुष्पदंत ही हैं। प्रस्तावना पृष्ठ ३५ पुस्तक नंबर २।

णमोकार मन्त्र के कर्तत्व सम्बन्धी इस निष्कर्ष द्वारा कुछ लोगों के मत से प्रचलित एक मान्यता को एक बड़ी भारी ठेस लगती है। वह मान्यता यह थी कि "णमोकार मन्त्र अनादि निधन है" अतएव यह नहीं माना जाता कि उस मन्त्र के आदिकर्ता पुष्पदन्ताचार्य है। तथापि धवलाकार के पूर्वोक्त मत से परिहार करने का कोई साधन व प्रमाण भी अब तक नहीं किया जा सका। गंभीर विचार करने से ज्ञात होता है कि "णमोकार मन्त्र" सम्बन्धी उक्त अनादि निधनत्व की मान्यता व उसके पुष्पदन्ताचार्य द्वारा कर्तृत्व की मान्यता में कोई विरोध नहीं है। भाव की (अर्थ की) दृष्टि से जब से अरहन्तादि पंचपरमेष्ठी की मान्यता है तभी से उनको नमस्कार करने की भावना भी मानी जा सकती है, किन्तु "णमोअरिहंताणं" आदि शब्द-रचना के कर्ता पुष्पदन्ताचार्य माने जा सकते हैं। प्रस्तावना पृष्ठ १७ धवल ग्रन्थ पुस्तक नं० ३।

देव तथा शास्त्र नमस्कार में भेद—

शंका—देवता नमस्कार भी अन्तिम अवस्था में सम्पूर्ण कर्मो का क्षय करने वाला होता है इसलिये मंगल और सूत्र में दोनों ही एक कार्य को करने वाले हैं। फिर दोनों का कार्य भिन्न-भिन्न क्यों बतलाया गया है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सूत्र कथित विषय के परिज्ञान के बिना केवल देवता नमस्कार में कर्म क्षय की सामर्थ नहीं है। मोक्ष की प्राप्ति शुद्ध ध्यान से होती है परन्तु देवता नमस्कार तो शुद्ध ध्यान नहीं है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४२ पुस्तक नंबर १।

श्रोतामुर्ख होने से वक्तापन व्यर्थ हैं।

बुद्धिविहीने श्रोतारि वक्तृत्वमनर्थकं भवति पुंसाम।
नेत्रविहीने भर्तारे विलास-लावण्य वत्स्त्रीणाम्।।४।।

अर्थ—जिस प्रकार पति के अन्धे होने पर स्त्रियों का विलास व सुन्दरता व्यर्थ है इसी प्रकार श्रोता के मूर्ख होने पर पुरुषों का वक्तापन भी व्यर्थ है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४१४ पुस्तक नंबर १२।

पुनरुक्ति दोष, दोष का कारण कब है ?

'पुनरुक्ति दोष विचार प्रति बुद्ध शिष्य का ही विषय है। किन्तु जो अप्रतिबुद्ध है उसकी अपेक्षा सौ वार प्ररूपण करना भी दोष का कारण नहीं है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ११४ पुस्तक नंबर ३।

प्रमाण नय निक्षेप अधिकार

(१) प्रमाण किसे कहते हैं ?

शंका—प्रमाण किसे कहते हैं ?

समाधान—निर्बाध ज्ञान से विशिष्ट आत्मा को प्रमाण कहते हैं।

संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय ज्ञान से विशिष्ट आत्मा के प्रमाणता नहीं हो सकती है, क्योंकि, संशय और विपर्यय के बाधा युक्त होने से उनमें निर्बाध विशेषण का अभाव है, तथा अनध्यवसाय के अर्थ बोध का अभाव है।

शंका—ज्ञान को ही प्रमाण स्वीकार क्यों नहीं करते ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, "जानातीति ज्ञानम्" इस निरूक्ति के अनुसार जो जीवादि पदार्थो को जानता है, वह ज्ञान अर्थात् आत्मा है, उसी को प्रमाण स्वीकार किया गया है। उत्पाद व व्यय स्वरूप किन्तु स्थिति से रहित ज्ञान पर्याय के प्रमाणता स्वीकार नहीं की गई है, क्योंकि, उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूप लक्षण त्रय का अभाव होने के कारण अवस्तु स्वरूप उसमें परिच्छित्ति रूप अर्थक्रिया का अभाव है, तथा स्थिति रहित ज्ञान पर्याय को प्रमाणता स्वीकार करने पर स्मृति-प्रत्यभिज्ञान, व अनुसंधान, प्रत्ययों के अभाव का भी प्रसंग आता है।

वह प्रमाण प्रत्यक्ष व परोक्ष प्रमाण के भेद से दो प्रकार है।

उनमें प्रत्यक्ष सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्ष के भेद से दो प्रकार है। केवल ज्ञान सकल प्रत्यक्ष है, क्योंकि, वह त्रिकाल विषयक समस्त पदार्थों को विषय करने वाला अतिन्द्रिय अक्रम वृत्ति, व व्यवधान से रहित, और आत्मा एवं पदार्थ की समीपता मात्र से प्रवृत होने वाला है। कहा भी है कि—

क्षायिकमेकमनंतं त्रिकाल सर्वार्थ युगपद्ववभासम् ।
निरतिशय मत्ययच्युतम व्यवधान जिन ज्ञानम् ॥५०॥

अर्थ—जिन भगवान का ज्ञान, क्षायिक, एक अर्थात् असहाय-अनन्त, तीनों कालों के सब पदार्थो को एक साथ प्रकाशित करने वाला निरतिशय-विनाश से रहित और व्यवध्यान से विमुक्त है। ॥५०॥

अवधि और मनःपर्यय ज्ञान विकल प्रत्यक्ष है। क्योंकि उनमें सकल प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं पाया जाता।

शंका—वह भी कहाँ से जाना जाता है ?

समाधान—क्योंकि, उक्त दोनों ज्ञान मूर्त द्रव्यों में ही प्रवर्तमान है, विनश्वर है, तथा तीनकालीन विषयक अनन्त पदार्थो से संयुक्त उन मूर्त पदार्थों में भी उनकी पूर्ण रूप से प्रवृति देखी नहीं जाती।

शंका—इन्द्रियों की अपेक्षा से रहित अवधि मनःपर्यय और केवल ज्ञान के प्रत्यक्षता कैसे सम्भव है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, अक्ष शब्द का अर्थ आत्मा है, अतएव अक्ष अर्थात् आत्मा की अपेक्षा कर जो प्रवृत होता है वह प्रत्यक्ष है। इस निरूक्ति के अनुसार अवधि मनःपर्यय और केवल ज्ञान प्रत्यक्ष हैं।

नोट—यहां पर अवधिज्ञान तथा मनःपर्यय ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है वह इन्द्रियों की अपेक्षा से प्रत्यक्ष कहा है, परन्तु नोइन्द्रिय अर्थात् मन की अपेक्षा वह भी पराधीन है, क्योंकि, वह क्षयोपशमिक ज्ञान है अर्थात् पराधीन ज्ञान पर की अपेक्षा बिना देख नहीं सकता है।

शंका—परोक्ष का क्या स्वरूप है ?

समाधान—उपात्त और अनुपात्त इतर कारणों की प्रधानता से जो ज्ञान होता है वह परोक्ष है। यहां उपात्त शब्द से इन्द्रियाँ व मन तथा अनुपात्त शब्द से प्रकाश, व उपदेशादिग्रहण किया गया है। इनकी प्रधानता से होने वाला ज्ञान परोक्ष कहलाता है। जिस प्रकार गमन शक्ति से युक्त हुए भी स्वयं गमन करने में असमर्थ व्यक्ति का लाठी आदि आलम्बन की प्रधानता से गमन होता है उसी प्रकार मतिज्ञानावरण श्रुत ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर एक ज्ञस्वभाव परन्तु स्वयं पदार्थों को ग्रहण करने के लिए असमर्थ हुए आत्मा के पूर्वोक्त प्रत्ययों की प्रधानता से उत्पन्न होने वाला ज्ञान पराधीन होने से परोक्ष है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १४९-१४४ पुस्तक नम्बर ६

नोट—अवधि ज्ञान तथा मनःपर्यय ज्ञान को मूर्तपदार्थों को जानता कहाँ है वह भी उपचार है, क्योंकि, अवधि ज्ञान का विषय मूर्त रूपी पदार्थ है जब मनःपर्यय ज्ञान का विषय अरूपी आत्मा के विकारी अमूर्त भाव जानना विषय है परन्तु यह विकारी परिणाम कर्म जनित होने से निमित्त की प्रधानता से वही भाव को मूर्त कहा जाता है, यथार्थ में उपादान की अपेक्षा वह भाव अमूर्त है परन्तु मूर्त नहीं है। मूर्त द्रव्य की पर्याय भी मूर्त होती है उसी प्रकार अमूर्त द्रव्य की पर्याय भी अमूर्त होती है यह न्याय है।

(२) प्रमाण और भाव में क्या भेद है ?

शंका—प्रमाण और भाव में क्या भेद है ?

समाधान—नहीं, स्वगत अर्थात् अपने वाच्यगत परिणाम के जानने का कारण प्रमाण और इससे विपरीत भाव होता है, इस प्रकार उन दोनों में भेद पाया जाता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १३८ पुस्तक नम्बर ६

(३) प्रमाण आदिक का ज्ञान न करने में क्या दोष है ?

प्रमाणनयनिक्षेपैर्योऽर्थो नाभिसमीक्ष्यते ।
युक्तं चायुक्त व द्भाति तस्या युक्तं च युक्तवत् ॥६१॥

अर्थ—प्रमाण, नय और निक्षेप के द्वारा जिसका सूक्ष्म विचार नहीं किया है वह युक्त होते हुए भी कभी अयुक्त सा प्रतीत होता है और अयुक्त होते हुए भी कभी युक्त सा प्रतीत होता है। पृष्ठ १३६ पुस्तक नं० ३

(४) प्रमाण वाक्य होता है या नहीं ?

द्रव्यार्थिक और पर्यार्थिक नयों के अवलम्बन किये बिना वस्तु स्वरूप के कथन करने के उपाय का अभाव है।

शंका—यदि ऐसा है तो प्रमाण वाक्य का अभाव प्राप्त होता है ?

समाधान—भले ही प्रमाण वाक्य का अभाव हो जावे, क्योंकि, गौणता और प्रधानता के बिना वस्तु स्वरूप के कथन करने के उपाय का भी अभाव है। अथवा प्रमाण से उत्पादित वचन को उपचार से प्रमाण वाक्य कहते हैं। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १४५ पुस्तक नं० ४

(५) नयका स्वरूप

शंका—नय किसे कहते है ?

समाधान—ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते है ।

शंका—अभिप्राय इसका क्या अर्थ है !

समाधान—प्रमाण से ग्रहित वस्तु के एक देश में वस्तु का निश्चय ही अभिप्राय हैं ।

युक्ति अर्थात् प्रमाण से अर्थ के ग्रहण करने अथवा द्रव्य और पर्यायों में से किसी एक को अर्थ रुप से ग्रहण करने का नाम नय है । प्रमाण से जानी हुई वस्तु के द्रव्य अथवा पर्याय में वस्तु के निश्चय करने को नय कहते हैं, यह इसका अभिप्राय हैं ।

प्रमाण ही नय है, ऐसा कितने ही आचार्य कहते है किन्तु यह घटित नहीं होता क्योंकि, ऐसा मानने पर नयों के अभाव का प्रसंग आता है । यदि कहा जाय कि नयों का अभाव हो जाय सो भी ठीक नहीं है क्योंकि, ऐसा मानने पर देखे जाने वाले एकान्त व्यवहार का लोप होने का प्रसंग आवेगा ।

दूसरे प्रमाण नय नहीं हो सकता क्योंकि, उसका विषय अनेक धर्मात्मक वस्तु है । न नय प्रमाण हो सकता है, क्योंकि, उनका एकान्त विषय है । और ज्ञान एकान्त को विषय करने वाला है नहीं, क्योंकि एकान्त निरुप होने से अवस्तु स्वरूप है अतः वह कर्म नहीं हो सकता । तथा नय अनेकान्त को विषय करने वाला नहीं, है, क्योंकि अवस्तु में वस्तु का आरोप नहीं हो सकता । इसके अतिरिक्त प्रमाण केवल विधि को ही नहीं जानता क्योंकि दूसरे पदार्थो से भेद को न ग्रहण करने पर उसकी प्रवृति के शंकरता का प्रसंग अथवा समान रुप से अज्ञान का प्रसंग आवेगा । वह प्रमाण प्रतिषेध मात्र को ग्रहण नहीं करता क्योंकि विधि को न जानने पर वह "यह इससे भिन्न है" ऐसा ग्रहण करने के लिये असमर्थ है और प्रमाण में विधि और प्रतिषेध दोनों परस्पर भिन्न भी नही प्रति भासित होते क्योंकि ऐसा होने पर पूर्वोक्त दोनों दोषों का प्रसंग आता है । इस कारण विधि प्रतिषेध रुप वस्तु प्रमाण का विषय है अतएव ज्ञान एकान्त को विषय करने वाला नहीं है ।

अनुमान भी एकान्त का विषय नही करता जिससे कि उसे नय कहा जा सके, क्योंकि, वह भी उपयुंक्त न्याय से अनेकान्त को विषय करने वाला है । इसलिए प्रमाण नय नहीं है किन्तु प्रमाण से जानी वस्तु के एक देश में वस्तुत्व को विवक्षा का नाम नय है यह सिद्ध हुआ ।

"प्रमाण और नयों से वस्तु का ज्ञान होता है" इह सूत्र द्वारा भी यह व्याख्यान विरुद्ध नहीं आता इसका कारण यह है कि- प्रमाण और नय से उत्पन्न वाक्य भी उपचार से प्रमाण और नय है । उन दोनो से उत्पन्न उभय बोध, विधि प्रतिषेधात्मक' वस्तु को विषय करने के कारण प्रमाणता को धारण करते हुए भी कार्य में कारण का उपचार करने से प्रमाण व नय है इस प्रकार सूत्र में ग्रहण किये गये है । नय वाक्य से उत्पन्न बोध प्रमाण ही है नय नही हैं इस बात को ज्ञापनार्थ "उन दोनों से वस्तु का ज्ञान होता है" ऐसा कहा जाता हैं । अथवा बोध को प्रधान करने वाला पुरुष प्रमाण और उसे अप्रधान करने वाला नय है । वस्तु का ही अधिगम किया जाता है अवस्तु का नहीं ऐसा जानना चाहिये, क्योंकि, इसके बिना प्रमाण के भीतर प्रवेश होने से नय के अभाव का प्रसंग आवेगा ।

प्रमाण से गृहीत वस्तु में जो एकान्त रुप व्यवहार होता है वह नय निमित्तक है । इसलिये समस्त व्यवहार नय के आधीन है । प्रमाण के आधीन व्यवहार के न पाये जाने से उसके अस्तित्व में

संशय करने वाले के लिये प्रमाण निमित्तक व्यवहार के दिखलाने के लिये सकला देश प्रमाण के आधीन है और विकला देश नय के आधीन है ऐसा कहा है। इससे भी यह व्याख्यान विघटित नहीं होता।

शंका—सकला देश किसे कहते हैं।

समाधान—"स्यादस्ति अर्थात् कथंचित है" इत्यादि सात भंगों का नाम सकला देश हैं। क्योंकि, प्रमाण निमित्तक (द्रव्य निमित्तक) होने से इनके द्वारा "स्यात्" शब्द से समस्त अप्रधान भूत धर्मों की सूचना की जाती है।

शंका—विकला देश किसे कहते हैं ?

समाधान—"अस्ति अर्थात् "है" इत्यादि सात वाक्यों का नाम विकला देश है। क्योंकि वे नयों से उत्पन्न है। (अर्थात् गुण पर्याय निमित्तक है)

पूज्यपाद भट्टारक ने भी, सामान्य नयका लक्षण यही कहा है। वह इस प्रकार है। प्रमाण से प्रकाशित जीवादिक पदार्थों की पर्यायों का प्ररुपण करने वाला नय है। इसी को स्पष्ट कहते हैं। प्रकर्ष से अर्थात-संशयादि से रहित वस्तु का ज्ञान प्रमाण है। अभिप्राय यह है कि—जो समस्त धर्मों को विषय करने वाला हो वह प्रमाण है। उससे प्रकाशित, अर्थात प्रमाण से गृहित उन अस्तित्त्वनास्तित्त्व, व नित्यत्त्व, अनित्यत्वादि, अनन्त धर्मात्मक जीवादि पदार्थों के जो विषय अर्थात् पर्यायें है उनका प्रकर्ष से अर्थात् दोषों के सम्बन्ध से रहित होकर निरुपण करने वाला नय है।

शंका—अबोध रूप अभिप्राय संशयादि दोषों से रहित होकर जीवादिक पदार्थो की पर्यायों का निरुपक कैसे हो सकता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि द्रव्य और पर्याय के अभिप्राय से उत्पन्न द्रव्य-पर्याय के निरुपणात्मक, वचनों को अथवा अभिप्रायवान पुरुप को नय मानने से कोई दोप नहीं आता, ऐसा न मानने पर उपर्युक्त दोप का प्रसंग आता है।

तथा प्रभाचन्द्र भट्टारक ने भी कहा है कि—प्रमाण के आश्रित परिणाम भेदों से वशीकृत पदार्थ विशेपों के प्ररुपण में, समर्थ जो प्रयोग होता है वह नय है। उसी को स्पष्ट करते हैं—जो प्रमाण के आश्रित है, तथा उसके आश्रय से होने वाले ज्ञाता के भिन्न भिन्न अभिप्रायों के आधीन हुए पदार्थ विशेषों के निरुपण में समर्थ है ऐसे प्रणिधान, अर्थात् प्रयोग अथवा व्यवहार स्वरूप प्रयोक्ता का नाम नय है। वह यह नय पदार्थो के यथार्थ, परिज्ञान का निमित्त होने से मोक्ष का कारण है। यहां श्रेयस् शब्द का अर्थ मोक्ष और उपदेश शब्द का अर्थ कारण है। नयको जो मोक्ष का कारण बतलाया है उसका हेतु पदार्थो की यथार्थोपलब्धि निमित्तता है।

तथा सार संग्रह में श्री पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि—अनन्त पर्याय स्वरूप वस्तु की किसी एक पर्याय का ज्ञान करते समय, श्रेष्ट हेतु की अपेक्षा करने वाला निर्दोप प्रयोग नय कहा जाता है।

शंका—अभिप्राय युक्त प्रयोग कर्ता की नय संज्ञा भले ही हो किन्तु प्रयोग की वह संज्ञा नहीं हो सकती है, क्योंकि उसमें नित्यत्त्व-अनित्यत्त्व, आदि अभिप्रायों का अभाव है।

समाधान—नहीं, क्योंकि, प्रयोगकर्ता के अभिप्राय को प्रगट करने वाले नय जन्य प्रयोग के भी कार्य में कारण का उपचार करने से नय पना सिद्ध है।

तथा समन्तभद्र स्वामी ने भी कहा है कि—स्याद्वाद से प्रकाशित पदार्थों की पर्यायों को प्रगट

करने वाला नय है। इस कारिका के उत्तरार्ध में प्रयुक्त "स्याद्वाद" शब्द का अर्थ कारण में कार्य का उपचार करने से प्रमाण होता है। उस प्रमाण से प्रविभक्त अर्थात् प्रकाशित जो पदार्थ है उनके विशेष अर्थात् पर्यायों का जो श्रेष्ट हेतु के बल से व्यंजक अर्थात् प्ररुपण करता हो वह नय है।

उपर्युक्त स्वरूप वाला वह नय दो प्रकार है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक जो उन उन पर्यायों को प्राप्त होता है, प्राप्त होगा, अथवा प्राप्त हुआ है वह द्रव्य है। इस निरुक्ति के तद्भाव सामान्य, और सादृश्य सामान्य दोनों का ही ग्रहण किया गया है, क्योंकि वस्तु के दोनों प्रकार से भी उन पर्यायों को प्राप्त करना पाया जाता है। धवलग्रन्थ पृष्ठ १६२, १६८ पुस्तक नं० ६

(६) सुनय कुनय का स्वरूप

सभी नय वस्तु स्वरूप का अवधारण न करने पर समीचीन नय होते है, क्योंकि वे प्रतिपक्ष, धर्म का निराकरण नहीं करते। परन्तु ये ही जब दुराग्रह पूर्वक वस्तु स्वरूप का अवधारण करने वाले होते हैं तब मिथ्यानय कहे जाते हैं—क्योंकि प्रतिपक्ष का निराकरण करने की मुख्यता से प्रवृत होते हैं। यहां उपयोगी श्लोक—

यथैककं कारकमर्थ सिद्धये समीक्ष्य शेषं स्वसहायकारकम्।
तथैव सामान्य विशेषमातृका नया स्तवेस्टा गुणमुख्य कल्पतः ॥५७॥
य एव नित्य क्षणिकादयो नयाः मिथोऽनपेक्षाः स्वपर प्रणाशिनः।
त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः परस्परेक्षाः स्वपरोप कारिणः ॥६०॥
मिथ्या समूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति नः।
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तंऽर्थकृत् ॥६१॥

अर्थ—जिस प्रकार एक कारक शेष को अपना सहायक कारक मान करके प्रयोजन की सिद्धि के लिए होता है, उसी प्रकार सामान्य व विशेष धर्मों से उत्पन्न नय आपको मुख्य और गौण की विवक्षा से इष्ट है ॥५६॥

जो नित्य व क्षणिक आदि नय परस्पर में निरपेक्ष होकर अपना व पर का नाश करने वाला है वे ही आप विमल मुनि के यहाँ परस्पर की अपेक्षा युक्त हो अपने व पर के उपकारी हैं ॥६०॥

मिथ्या नयों का विषय समूह मिथ्या है। ऐसा कहने पर उत्तर देते हैं कि वह मिथ्या ही हो, ऐसा हमारे यहाँ एकान्त नहीं है। किन्तु परस्पर की अपेक्षा न रखने वाले नय मिथ्या है। तथा परस्पर की अपेक्षा रखने वाले वे वास्तव में अभिष्ट सिद्धि के कारण हैं ।.६१॥

इन नयों का विषय उपचार से उपनय है। इनका समूह वस्तु है, क्योंकि, इसके बिना अर्थ क्रियाकारित्व नहीं बन सकता। यहाँ उपयोगी श्लोक—

नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः।
अविभ्राड्भाव सम्बन्धो द्रव्य मेकमनेकधा ॥६२॥
एयदवियम्मि जे अत्थपज्जया वयणपज्जया चावि।
तीदाणागद भूदा तावदियं तं हवइ दव्वं ॥६३॥

धर्मेधर्मेऽन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्त धर्म्मणः ।
अंगित्वेऽन्यत मान्तस्य शेषान्तानां तदंगता ॥६४॥

अर्थ—नय एकान्त और उपनय एकान्त का विषयभूत त्रिकालवर्ती पर्यायों पर अभिन्न सत्ता सम्बन्ध रूप समुदाय द्रव्य कहलाता है। वह द्रव्य कथंचित् एक और कथंचित् अनेक हैं ॥६२॥

एक द्रव्य में जितनी अतीत व अनागत अर्थ पर्याय और व्यंजन-पर्याय होती हैं उतने मात्र वह द्रव्य होता है ॥६३॥

अनन्त धर्म युक्त धर्मी के प्रत्येक धर्म में अन्य ही प्रयोजन होता है। सब धर्मों में किसी एक धर्म के अंगी होने पर शेष धर्म अंग होता है ॥६४॥

कथंचित् है, कथंचित् नहीं है, कथंचित् अवक्तव्य है, कथंचित् है और नहीं है, कथंचित् है और अवक्तव्य है, कथंचित् नहीं है और अवक्तव्य है, कथंचित् है नहीं है और अवक्तव्य है। इस प्रकार ये सात सुनय वाक्य हैं, क्योंकि वे एक धर्म को प्रधान करते है। इन सातों ही वाक्यों में "स्यात्" शब्द के प्रयोग का नियम नहीं है, क्योंकि वैसी प्रतिज्ञा का आशय होने से अप्रयोग पाया जाता है। ये ही वाक्य साधारण अर्थात् अन्यवावृत्ति रूप होने पर दूर्नय हो जाते हैं। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १८२-१८३ पुस्तक नम्बर ६।

(७) सुनय कुनय का स्वरूप—

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों प्रकार के नयों के निमित्त से होने वाला संव्यवहार मिथ्या है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, वैसा पाया नहीं जाता, और दुर्नयों के सत्यता हो नहीं सकती, क्योंकि, वे प्रतिपक्षभूत विषयों का सर्वथा निषेध करते हैं। इसीलिये स्वविषयों का भी अभाव होने से उनके सत्यता रह नहीं सकती। इसी कारण दुर्नय संव्यवहार के कारण नहीं है।

शंका—सुनयों के अपने विषयों की व्यवस्था कैसे सम्भव है ?

समाधान—चूं कि सुनय सर्वथा प्रतिपक्षभूत विषयों का निषेध नहीं करते अतः उनके गौणता और प्रधानता की अपेक्षा प्रमाण बाधा के दूर कर देने से उक्त विषय व्यवस्था भले प्रकार सम्भव है।

शंका—जब कि एकान्त अवस्तु स्वरूप है तब वह व्यवहार का कारण कैसे हो सकता है ?

समाधान—अवस्तु स्वरूप एकान्त संव्यवहार का कारण नहीं है किन्तु उसका कारण प्रमाण से विषय किया गया अनेकान्त है, क्योंकि, वह वस्तु स्वरूप है।

शंका—यदि ऐसा है तो फिर सब संव्यवहारों का कारण नय कैसे हो सकता है ?

समाधान—इसका उत्तर कहते है कि कौन ऐसा कहते है कि नय सब संव्यवहारों का कारण है। प्रमाण और प्रमाण से विषय किये गये पदार्थ भी समस्त संव्यवहारो के कारण हैं। किन्तु प्रमाण निमित्तक सब संव्यवहार नय स्वरुप है ऐसा हम कहते है, क्योंकि, सब संव्यवहारों में गौणता और प्रधानता पायी जाती है। अथवा प्रमाण से नयों की उत्पत्ति होती है। क्योकि वस्तु के अज्ञात होने पर उसमें गौणता और प्रधानता का अभिप्राय बनता नही है। और नयों से संव्यवहार की उत्पत्ति होती है। क्योंकि अपने अभिप्राय के वश से एक व अनेक रुप व्यवहार पाया जाता है। इस कारण नय भी संव्यवहार का कारण हैं ऐसा कहने में कोई दोष नहीं है।

शंका— संव्यवहार नय स्वरुप ही है ऐसा क्यों हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ऐसा स्वभाव हैं तथा अन्य प्रकार से व्यवहार करने के लिये कोई उपाय भी नहीं है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २३९-२४० पुस्तक नं०९

(८) नयों का दृष्टान्त द्वारा स्वरूप

कं पि णरं दट्ठूणं य पावजण समागमं करेमाणं।
णेगमणएण भण्णइ णेरइओ एस पुरिसोत्ति ॥१॥

अर्थ—किसी मनुष्य को पापी लोगों का समागम करते हुए देख कर नैगमनय से कहा जाता है कि यह पुरुष नारकी है ॥१॥

संग्रहनय जब वह पुरुष प्राणी बध करने का बिचार कर सामग्री का संग्रह करता है तब वह संग्रह नय से नारकी कहा जाता है।

ववहारस्स दु वयणं जइआ कोदंड कंडगयहत्थो।
भमइ मए मग्गंतो तइया सो होइ णेरइओ ॥२॥

अर्थ—जब कोई मनुष्य हाथ में धनुष और वाण लिये मृगों की खोज में भटकता फिरता है तब व्यवहार नय से कहा जाता है वह पुरुष नारकी है ॥२॥

उज्जुसुदस्स दु वयणं जइआ इर ठाइदूण ठाणम्मि।
आहणदि मए पावो तइया सो होइ णेरइओ ॥३॥

अर्थ—जब आखेट पर बैठ कर पापी मृगों पर आघात करता है तब ऋजु सूत्र नय से कहते हैं कि वह पुरुष नारकी है ॥३॥

सद्दणयस्स दु वयणं जइया पाणेहि मोइदो जन्तु।
तइया सो णेरइयो हिंसाकम्मेण संजुत्तो ॥४॥

अर्थ—जब जन्तु प्राणों से विमुक्त कर दिया जाय तब शब्दनय से वह आघात करने वाला हिंसा कर्म से संयुक्त मनुष्य नारकी है।

वयणं तु समभिरूढं णारय कम्मस्स बंधगो जइया।
तइया सो णेरइओ णारयकम्मेण संजुतो ॥५॥

अर्थ—जब मनुष्य नारक कर्म का बन्धक होकर नारक कर्म से संयुक्त हो जाय तभी समभिरूढ़ नय से वही पुरुष को नारकी कहा जाता है ।५॥

णिरयगई सपत्तो जइया अणुहवई णारयं दुक्खं।
तईया सो णेरइओ एवं भूदो णओ भणदि ॥६॥

अर्थ—जब वही मनुष्य नरकगति में पहुँचकर नरक के दुख अनुभव करने लगता है तभी वह नारकी है ऐसा एवंभूत नय कहता है ।६॥ धवल ग्रन्थ पृष्ट २८-२९ पुस्तक नम्बर ७

(९) दो ही नयों से वचन प्रयोग क्यों होते हैं ?

निर्देश ओघ और आदेश के भेद से दो प्रकार है।

शंका – निर्देश तीन प्रकार क्यों नहीं होता ?

समाधान—नहीं होता; क्योंकि वचन का प्रयोग पर के लिए होता है और पर भी दो नयों को छोड़कर है नहीं जिससे तीन प्रकार या एक प्रकार प्ररूपणा हो सके।

ओघ निर्देश द्रव्यार्थिक नय वालों का और इतर अर्थात् आदेश निर्देश पर्यायार्थिक नय वालों का अनुग्रह करता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३ पुस्तक नम्बर ८

(१०) द्रव्यार्थिक नय में पर्यायार्थिक नय का अभाव कैसे होता है ?

शंका—द्रव्यार्थिक नय में विद्यमान पर्यायों का अभाव कैसे होता है ?

समाधान—यह कौन कहता हैं कि उनका वहाँ अभाव होता है, किन्तु वे वहाँ अप्रधान अविवक्षित अर्थात् अनर्पित हैं इसलिए उनके द्रव्य पनाही हैं पर्याय पना नहीं हैं।

शंका—द्रव्यार्थिक नय के वश से द्रव्य से भिन्न पर्यायों के द्रव्यत्व कैसे सम्भव है ?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि पर्यायें द्रव्य से सर्वथा भिन्न नहीं पायी जाती परन्तु द्रव्य स्वरूप ही वे उपलब्ध होती है।

शंका—यदि ऐसा है तो फिर पदार्थ के अन्तिम समय के समान द्विचरमादि समयों में भी अभाव का व्यवहार क्यों नहीं किया जाता ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि द्विचरमादि समयों के अन्तिम समय के समान अभाव के साथ प्रत्यासत्ति नहीं है।

शंका—द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा पर्यायों में अभाव का व्यवहार कैसे होता है ?

समाधाम—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि "जो है वह दोनों का अतिक्रमण कर नहीं रहता" इसलिए दोनों नयों का आश्रयकर स्थित नैगमनय के भाव व अभाव रूप व्यवहार में कोई विरोध नहीं है।

अनुत्पाद का अर्थ असत्व और अनुच्छेद का अथ विनाश है। अनुत्पाद ही अनुच्छेद अर्थात् असत् का अभाव होता है, क्योंकि, सत् के असत्व का विरोध है। यह पर्यायार्थिक नय के आश्रित व्यवहार है। धवल ग्रन्थ पृष्ट ६-७ पुस्तक नम्बर ८

(११) कोनसा नय संक्रमण को स्वीकार करता है ?

नैगमनय सर्व संक्रमण को स्वीकार करता है। क्योंकि, वह द्रव्य और पर्याय दोनों को ही विषय करता है। संग्रह नय और व्यवहार नय, काल संक्रमण को छोड़ देते हैं, क्योंकि, संग्रह नयकी दृष्टि में, काल के भूत भविष्य आदि भेद नहीं हैं। और न व्यवहार की अपेक्षा उनमें व्यवहार ही हो सकता है। ऋजुसूत्रनय काल संक्रम और स्थापना संक्रम को छोड़ देता है, क्योंकि, वह तद्भव सामान्य और सादृश्य सामान्य को विषय नहीं करता। शब्द नय नाम संक्रम और भाव संक्रम को ही विषय करते हैं। क्योंकि, शुद्ध पर्यायार्थिक रूप से शब्द नयों में शेष निक्षेपों को विषय करना सम्भव नहीं है। सूत्र नं० ५-८ संक्रमण उपक्रमण निरूपण कषाय पाहुड सुत्त पृष्ठ २५०-२५१

(१२) किस नय से जीव किस में द्वेष और प्रेम को प्राप्त होता है ?

नैगम नयकी अपेक्षा जीव किसी विशिष्ठ क्षेत्र और किसी विशिष्ठ काल में एक जीव में द्वेष को प्राप्त होता है। तथा क्वंचित कथंचित् एक जीव में द्वेष को प्राप्त होता है। इस प्रकार आठ भंगों में द्वेष व्यवहार जान लेना चाहिये। चुर्णि सूत्र नं० ९२-९४ कषाय पाहुड सूत्र पृष्ठ ३७।

"कौननय किस द्रव्य में, प्रिय रूप आचरण करता है।" यहाँ पर भी नैगमनय की अपेक्षा आठ भंग होते हैं। सूत्र न० ९५। इसी प्रकार व्यवहार नय की अपेक्षा से द्वेष और प्रेय सम्बन्धी आठ भंग जानना चाहिए। क्योंकि, इन उक्त आठ प्रकार के भंगों में प्रिय और अप्रिय रूप से लोक संव्यवहार देखा जाता है। संग्रह नय की अपेक्षा कभी यह जीव सर्व चेतन और अचेतन द्रव्यों में निमित्त विशेषादिक के वश से द्वेष रूप व्यवहार करने लगता है। यहां तक कि क्वचित् कदाचित प्रिय पदार्थों में भी अप्रियपना देखा जाता है। कभी सभी वस्तुओं में प्रिय आचरण करता है। यहां तक कि निमित्त विशेष मिलने पर विपयादिक अप्रिय एवं घातक वस्तुओं में भी प्रिय आचरण करता हुआ देखा जाता है। संग्रह नय के समान ऋजु सूत्र नय की अपेक्षा भी यह जीव कभी सर्व द्रव्यों में द्वेष आचरण करता है। सूत्र नं० ९५-९६

शब्द नय की अपेक्षा जीव सब द्रव्यों के साथ न तो द्वेप व्यवहार करता है और न प्रियं व्यवहार ही! किन्तु अपने आप में ही द्वेष व्यवहार करता है और अपने आप में ही प्रिय (व्यवहार) आचरण करता है। सूत्र नं० १०० कषाय पाहुड सूत पृष्ठ ३७-३८

(१३) नयों की अपेक्षा कषाय का स्वरूप।

नैगमनय और संग्रह नय की अपेक्षा क्रोध कपाय द्वेष है, मान कषाय द्वेप है, माया कषाय प्रिय है, और लोभ कषाय प्रिय है। सूत्र नं० ८८

व्यवहार नय की अपेक्षा-क्रोध कषाय द्वेप है, मान कपाय द्वेष है, माया कषाय द्वेष, किन्तु लोभ कषाय प्रिय है। सूत्त नं० ॥८९॥

ऋजु सूत्र नय कीं अपेक्षा क्रोध कषाय द्वेप है, मान कषाय न द्वेप है न प्रिय हैं, माया कपाय न द्वेप हैं न प्रिय है, और लोभ कषाय प्रिय है। सूत्र नं० ॥९०॥

शब्द नय की अपेक्षा क्रोध कषाय द्वेष है, मान कपाय द्वेप है, माया कषाय द्वेष है, और लोभ कषाय भी द्वेप है। तथा क्रोध कषाय, मान कषाय और माया कषाय न प्रिय है और लोभ कषाय प्रिय है। सूत्र नं० ९१ कपाय पाहुड सूत पृष्ठ ३७

नोट—निश्चय नय एवं व्यवहार नय का वर्णन आगम में अनेक प्रकार से किया गया है उनको जब तक आत्मा यथार्थ जाने नहीं तब तक शास्त्र द्वारा अपना कल्याण नहीं कर सकता है। कथन करने की रीत अनेक प्रकार की होते संन्ते वस्तु का स्वरुप अनेक प्रकार का नहीं हो जाता है। वस्तु जो हैं सो ही है।

१ निश्चय नय—पदार्थ को अर्थात् वस्तु को अभेद रुप वर्णन करना या देखना उसी का नाम निश्चय नय है। अभेद उनको कहते है कि जिसमें गुण गुणीं भेद न हो, गुण पर्याय भेद न हो, पर द्रव्य का संयोग का कथन न हो, परन्तु अनन्त गुण और अनन्तानन्त पर्याय का जो पिन्ड रुप स्वभाव भाव है, जिस स्वभाव का तीन काल में नाश नही होता है ऐसा स्वभाव भाव का कथन करना या देखना उसे निश्चय नय कहते हैं। समयसार ग्रन्थ की गाथा १४ में कहा भी है कि—

जो पस्सदि, अप्पाणं, अबद्ध पुट्ठं अणण्णयं, णियदं।
अविसेसम संजुत्त तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥१४॥

अर्थ—जो नय आत्मा को बंध रहित, परके स्पर्श रहित, अन्य पने रहित, चला चलता रहित, विशेष रहित, अन्य के संयोग रहित, ऐसे पाँच भाव रुप अवलोकन करता है, देखता है, उसे हे शिष्य! तू शुद्ध नय जान॥

२ निश्चय नय—जिस द्रव्य का जो गुणपर्याय है, वही गुणपर्याय उसी ही द्रव्य का कहना उसी का नाम भी निश्चय नय है। जैसा का तैसा कहना उसी का नाम निश्चय नय है। जैसे दर्शन-ज्ञान चारित्र आत्मा का कहना वह निश्चय नय का कथन है। रागादिक आत्मा का कहना वह निश्चय नय का कथन है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श को पुद्गल का कहना वह निश्चय नय का कथन है। निमित्त को निमित्त कहना वह निश्चय नय का कथन है। जैसा तत्व का स्वरूप है ऐसा कहना निश्चय नय का कथन है। परन्तु अन्य द्रव्य की गुण पर्याय को अन्य द्रव्य का कहना वही व्यवहार का कथन है। जैसे रागादिक को चारित्र मोहनीय कर्म का कहना वह व्यवहार नय से कहा जाता है। आत्मा को द्रव्य कर्म कर्ता कहना वह व्यवहार नय से कहा जाता है। द्रव्य कर्म का कर्ता पुद्गल द्रव्य को कहना वह निश्चय नय का कथन है। आत्मा में रागादिक होने में चारित्र मोहनीय निमित्त मात्र है वह निश्चय नय का कथन है। पुद्गल वर्गणा का कर्म रूप अवस्था होने में आत्मा का रागादिक निमित्त मात्र है ऐसा कहना वह निश्चय नय का कथन है। यहां निश्चय नय का कथन यथार्थ जानना मानना उसी का नाम सम्यग्ज्ञान है, परन्तु व्यवहार नय का कथन को यथार्थ मानना-जानना वह मिथ्याज्ञान है। व्यवहार कथन केवल बोलने मात्र है परन्तु श्रद्धा करने योग्य नहीं है। तो भी जो जीव व्यवहार नय के कथन को सत्य मानता है, वह मान्यता का नाम मिथ्या मान्यता है। पुण्य भाव को या पुण्यतत्त्व को पुण्यतत्त्व कहना वह निश्चय नय का कथन है, परन्तु, पुण्य भाव को संवर निर्जरा तत्त्व कहना वह व्यवहार नय का कथन है। वह व्यवहार नय का कथन केवल बोलने मात्र है परन्तु श्रद्धा करने योग्य नहीं है, तो भी जो जीव निश्चय नय का कथन को सत्य मानता है, ऐसे ही व्यवहार नय का कथन को सत्य मानता है, वही मान्यता का नाम मिथ्यात्व है। कथन का नाम मिथ्यात्व नहीं है, परन्तु मान्यता का नाम मिथ्यात्व है। जैसे अरहन्त भक्ति को पुण्य भाव कहना वह निश्चय नय का कथन है, परन्तु अरन्हत भक्ति को धर्म कहना वह व्यवहार नय का कथन है। वह व्यवहार नय का कथन केवल बोलने मात्र है, परन्तु श्रद्धा करने योग्य नहीं है, तो भी जो जीव व्यवहार नय का कथन को यथार्थ मानता है, वही मान्यता का नाम मिथ्या मान्यता है। बन्ध मार्ग को बन्ध मार्ग कहना वह निश्चय नय का कथन है, परन्तु बन्ध मार्ग को मोक्ष मार्ग कहना वह व्यवहार नय का कथन है। वह व्यवहार का कथन केवल बोलने मात्र है, परन्तु श्रद्धा करने योग्य नहीं है, तो भी जो जीव बन्ध मार्ग को मोक्षमार्ग मानता है, वही मान्यता का नाम मिथ्यामान्यता है। आत्मा को रागादिका कर्ता कहना वह निश्चय नय का कथन है परन्तु चारित्र मोहनीय कर्म को रागादिक का कर्ता कहना यह व्यवहार नय का कथन है। चारित्र मोहनीय नाम का क रागादिकर्म का कर्ता किसी काल में भी बन नहीं सकता है तो भी चारित्र मोहनीय कर्म को रागादिक का कर्ता मानना वही मान्यता का नाम मिथ्या मान्यता हैं। ऐसा व्यवहार नय का जितना कथन आगम में हैं वह सब कथन केवल बोलने मात्र हैं परन्तु श्रद्धा करने योग्य नहीं हैं। तो भी जो जीव व्यवहार नय का कथन को यथार्थ मानता है वही मान्यता का नाम मिथ्या मान्यता है। इसी कारण से समयसार ग्रन्थ गाथा ११ में कहा भी है कि—

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥११॥

अर्थ—व्यवहार नय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है, ऐसा ऋषीश्वरों ने दिखलाया है। जो जीव भूतार्थ को आश्रित करता है श्रद्धा करता है वह जीव निश्चय कर सम्यग्दृष्टि है।

टीका—व्यवहार नय सब ही अभूतार्थ है। क्योंकि वह अविद्यमान असत्य अभूतार्थ को प्रगट करती है, और शुद्धनय एक होने से भूतार्थ है इसलिए विद्यमान सत्य भूत अर्थ को प्रगट करती है।

उसी प्रकार समयसार वन्धाधिकार गाथा नम्बर २७२ में कहा हैं कि—

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण।
णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥२७२॥

अर्थ—पूर्व कथित रीति से अध्यवसान रूप व्यवहार नय है वह निश्चय नय से निषेध रूप जानो जो मुनिराज निश्चय के आश्रित है वह मोक्ष को पाते हैं।

व्यवहार मोक्षमार्ग का जितना कथन आगम में है उनको मोक्षमार्ग मानना मिथ्याज्ञान है परन्तु उस कथन उपचार से किया है यथार्थ में यह मोक्षमार्ग नहीं ऐसी श्रद्धा का नाम सम्यक् श्रद्धा है । व्यवहार भी मोक्षमार्ग है निश्चय भी मोक्षमार्ग है ऐसा दो मोक्षमार्ग मानना वही मान्यता का नाम मिथ्या मान्यता है। व्यवहार मोक्षमार्ग है ही नहीं, परन्तु वन्धनमार्ग है या मोक्षमार्ग में अन्तराय करने वाला मार्ग है यही मान्यता सम्यक् मान्यता है। जैसे रयण सार में गाथा नम्बर ११ में लिखा है कि—

दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण वीणा।
झाणाझयणं मुक्खं जइधम्मं ण ते विणा तहा सोवि ॥११॥

अर्थ—सुपात्र में चार प्रकार का दान देना, और श्री देव शास्त्र गुरु की पूजा करना श्रावक का मुख्य धर्म है। जो नित्य इन दोनों को अपना मुख्य कर्त्तव्य समझकर पालन करता हैं वही श्रावक है धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि है। ध्यान और जिनागम का स्वाध्याय करना मुनीश्वरों का मुख्य धर्म है। जो मुनिराज इन दोनों को अपना मुख्य कर्तव्य समझकर अहर्निश पालन करता है वही मुनीश्वर मोक्ष मार्ग में संलग्न है। यदि श्रावक दान नहीं देता है और न प्रतिदिवस पूजा करता है वह श्रावक नहीं है । जो मुनिश्वर ध्यान और अध्ययन नहीं करता है वह मुनिश्वर नहीं हैं।

यहाँ पर दान, पूजा, स्वाध्याय, आदि को धर्म कहा है यथार्थ में यह धर्म नहीं है परन्तु पुण्य भाव है। पुण्य भाव को धर्म कहना वह व्यवहार है। और पुण्य भाव को धर्म मानना वही मान्यता का नाम मिथ्या मान्यता हैं। दान पूजा स्वाध्याय का भाव न सम्यग्दर्शन है न मिथ्यादर्शन है वह तो पुण्य भाव है। उन पुण्य भाव को पुण्य भाव जानना मानना वही मान्यता का नाम सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान है और वह पुण्य भाव को धर्म अर्थात संवर निर्जरा मानना वही मान्यता का नाम मिथ्या मान्यता हैं।

यह गाथा व्यवहार की गाथा है उनको निश्चय द्वारा निषेध करना चाहिए कि यह धर्म नहीं है, यह मोक्षमार्ग नहीं है, परन्तु यह पुण्य भाव है, स्वर्ग का मार्ग है, मोक्षमार्ग में अन्तराय करने वाला है।

प्रवचन सार गाथा ६९ में लिखा है कि—

देवदजदि गुरु पूजा सु चेव दाणम्मि वा सुसीले सु।
उववासादिसु रत्तो सुहोव ओगप्पगो अप्पा ॥६९॥

अर्थ—देव, गुरु, यति की पूजा में, तथा दान में, एवं सुशील में, [और उपवासादिक में, लीन आत्मा शुभोपयोगात्मक है।

यहाँ पर देव पूजा दान के भाव, उपवासादिक के भाव को पुण्य भाव कहा है यह यथार्थ कथन है। पुण्य को पुण्य कहना निश्चय का कथन हैं और पुण्य भाव को धर्म कहना व्यवहार नय का कथन है। व्यवहार नय का कथन केवल बोलने मात्र है परन्तु जैसा बोलता है ऐसी श्रद्धा करने योग्य नहीं है, तो भी, जो जीव व्यवहार नय के कथन को सत्य यथार्थ मानता है वही मान्यता नाम मिथ्या मान्यता है।

व्यवहारनय—आत्मा में दर्शन ज्ञान चारित्र आदि गुण हैं एवं आत्मा में केवलज्ञान केवल दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य, वीतरागता होती यह कहना व्यवहार नय का कथन है। इसी का यह अर्थ नहीं है कि जो ऊपर दिखाया हुआ व्यवहार केवल बोलने मात्र है ऐसा ही यह व्यवहार केवल बोलने मात्र है। नही यह तो यथार्थ मे वस्तु है उपचार मात्र नही है। गधे के सीग जैसी कल्पना नहीं है। परन्तु इस प्रकार का विचार करते आत्मा मे विकल्प उठता है, जो विकल्प बन्ध का कारण है जिससे विकल्प छोड़ने अर्थ यह व्यवहार का भी मोक्ष मार्ग में निषेध किया गया है। इसी का यह अर्थ नहीं मान लेना चाहिए कि ऐसी अवस्था आत्मा में होती ही नही है। इस प्रकार का व्यवहार का नाम सद्भूत व्यवहार कहा जाता है। अभेद वस्तु में भेद डालकर कथन करनां उसी का नाम व्यवहार है। यहां पर प्रदेश भेद नहीं है, परन्तु गुण गुणी कथंचित भेद जरूर है। एक एक गुण अलग अलग परिणमन करता है, तो भी वहां प्रदेश भेद नही है ऐसी श्रद्धा कार्य कारणी है। ज्ञान गुण ज्ञान का भी कार्य करे और, और गुण का भी कार्य करे ऐसा वस्तु का स्वभाव नहीं है। ज्ञान गुण का पर गुण में अन्योन्य अभाव है, तो भी प्रदेश भेद नहीं है। गुण भेद जरूर है, यदि गुण भेद न माना जावे तो सब गुण एक हो ही जावेगा, जिससे अन्य गुण का नाश हो जावेगा। गुण का नाश हो जाने से एक दिन द्रव्य का भी नाश हो जावगा।

आत्मा में रागादिक भाव होता है, आत्मामें मति आदि अवस्था होती है। यह कथन असद्भूत व्यवहार नय से किया जाता है। इसी का यह अर्थ नहीं है कि, उसी प्रकार की अवस्था आत्मा में होती ही नहीं है। ऐसी अवस्था आत्मा में होती है, परन्तु वही अवस्था समय समय में अन्य रुप हो जाती है जिससे उसी को असद्भूत कहा है। और अभेद वस्तु में भेद डालना वह व्यवहार है। यथार्थ में ऐसी अवस्था आत्मा में होती है परन्तु वही पर्याय संसार का कारण रूप है एवं नित्य ऐसी की ऐसी रहती नहीं है जिससे असद् भूत कहा गया है।

जिस पुद्गल द्रव्य का आत्मा की साथ में संयोग सम्बन्ध है ऐसे पुद्गल द्रव्य को आत्मा का कहना वह अनुपचरित व्यवहार नय से कहा जाता है। यह व्यवहार केवल बोलने योग्य है, परन्तु श्रद्धा करने योग्य नहीं है, पर द्रव्य की परणति को अपना मानना वह मान्यता का नाम मिथ्या मान्यता है।

जैसे यह शरीर मेरा है, मैंने कर्म को बान्धा है। मैं कर्म को भोगता हूं। यह केवल बोलने योग्य है। शरीर से आत्मा अत्यन्त भिन्न द्रव्य है। कर्म का बन्ध पुद्गल द्रव्य में ही हुआ है, आत्मा ने बान्धा नहीं है। द्रव्य कर्म को आत्मा भोगता ही नहीं हैं, केवल अपने भाव कर्म को भोगता है। तो भी में द्रव्य कर्म को बान्धता हूँ। मैं द्रव्य कर्म को भोगता हूँ। यह केवल बोलने मात्र हैं, परन्तु श्रद्धा करने योग्य नहीं है। तो भी जो जीव ऐसा मानता है कि मैंने द्रव्य कर्म बान्धे ही। मुझको द्रव्य कर्म भोगना ही होगा, यह मान्यता का नाम मिथ्या मान्यता है।

जिस पुद्गल स्कन्धों के साथ में आत्मा का संयोग सम्बन्ध भी नहीं है ऐसे पुद्गल स्कन्धों को आत्मा का कहना वह उपचरित व्यवहार नय से किया जाता है। यह कथन केवल बोलने योग्य है, परन्तु श्रद्धा करने योग्य नहीं है। जैसे यह धन मेरा हैं। यह स्त्री मेरी है। यह मकान मेरा है। यह मन्दिर मेरा है। यह केवल बोलने मात्र है, परन्तु उनका अपना मानना, यही मान्यता का नाम मिथ्या मान्यता है। ऐसा जिस जीव को ज्ञान नही है वही जीव अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है।

समयसार ग्रन्थ में कर्ता कर्म अधिकार में गाथा नम्बर ८५,८६ में कहा है कि—

जदि पुग्गल कम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
दो किरियावादित्तं पसजदि सम्मं जिणावमदं ॥ ८५ ॥,
जह्मा, दु अत्तभावं पुग्गल भावं चदोवि कुव्वंति।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दो किरियावादिणो हुंति ॥ ८६ ॥,

अर्थ—जो आत्मा इस पुद्गल कर्म को करे, और उसको भोगे तो वह आत्मा दो क्रिया से अभिन्न ऐसा प्रसंग आता है सो यह जिनदेव का मत नहीं है ॥८५॥

अर्थ—जिस कारण आत्मा के भाव को और पुद्गल के भाव को दोनों ही को आत्मा करता है ऐसा कहते है इसी कारण दो क्रिआओं को एक के ही मानने वाले मिथ्यादृष्टि ही है।

जिससे सिद्ध हुआ कि यह कथन केवल बोलने मात्र है, परन्तु श्रद्धा करने योग्य नहीं हैं, तो भी जो जीव जैसा बोलता है, ऐसी ही श्रद्धा करता है, तो वही श्रद्धा का नाम मिथ्या श्रद्धा है। जैसे आत्मा को एकेन्द्रियादि कहना, आत्मा को मनुष्यादि कहना वह केवल बोलने मात्र हैं। आत्मा एकेन्द्रिय नहीं है। आत्मा मनुष्य नहीं है। आत्मा ज्ञान का पुंज है ऐसी जिनको श्रद्धा नहीं है वही जीव मिथ्यादृष्टि है।

(१४) निक्षेप का स्वरूप—

शंका—निक्षेप किसे कहते हैं ?

समाधान—संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय में अवस्थित वस्तु को उनसे निकाल कर जो निश्चय में क्षेपण करता हैं उसे निक्षेप कहते हैं। अथवा बाहरी पदार्थ के विकल्प को निक्षेप कहते हैं, अथवा अप्रकृत का निराकरण करके प्रकृत का प्ररूपण करने वाला निक्षेप है। कहा भी हैं कि—

अपगयणिवारणट्ठं पयदस्स परूवणाणिमित्तं च।
संसयविणासणट्ठं तच्चत्थवधारणट्ठं च ॥१॥

अर्थ—अप्रकृत के निवारण करने के लिए प्रकृत के प्ररुपण करने के लिए और तत्वार्थ के अवधारण करने के लिए निक्षेप किया जाता है।

वह निक्षेप चार प्रकार का है। (१) नाम निक्षेप (२) स्थापना निक्षेप (३) द्रव्य निक्षेप (४) भाव निक्षेप।

शंका—निक्षेप चार प्रकार का कैसे है ?

समाधान—द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय के आश्रय करने वाले वचनों के व्यापार की अपेक्षा निक्षेप चार प्रकार का है। कहा भी है कि—

णामं ट्ठवणा दवियं ति एस दव्वट्ठियस्स णिक्खेवो।
भावो दु पज्जवट्ठियपरूपणा एस परमत्थो ॥२॥

अर्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य ये तीन निक्षेप द्रव्यार्थिक नय की प्ररूपणा के विषय हैं और भाव निक्षेप पर्यायार्थिक नय की प्ररूपणा का विषय है यह परमार्थ सत्य है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २०३ पुस्तक नं० ४।

नोट—निक्षेप ज्ञान की पर्याय है जिससे निश्चय से निक्षेप ज्ञान में ही होता है। वाह्य पदार्थ में निक्षेप करना वह व्यवहार है। ज्ञान में जिस प्रकार कल्पना बदलती जावे वैसे-वैसे वाह्य निक्षेप आपके ज्ञान के अनुरूप आपको भासित होगा। निक्षेप में पदार्थ की मुख्यता नहीं है परन्तु ज्ञान की मुख्यता है।

(१५) अंग श्रुत ज्ञान चार प्रकार का है—

नाम-स्थापना-द्रव्य और भाव अंग श्रुत के भेद से अंग श्रुत ज्ञान चार प्रकार है। आदि के तीनों निक्षेप द्रव्यार्थिक नय के निमित्त से होने वाले हैं, तथा भाव निक्षेप पर्यायार्थिक नय से उत्पन्न होते हैं। उनमें निक्षेप को अर्थ कहते हैं—अपने आप में रहने वाला अंग शब्द नाम अंग है। "वह यह है" इस प्रकार बुद्धि में आरोपित अन्य पदार्थ का नाम स्थापना अंग है। जो जीव अंगश्रुत के पारंगत उपयोग रहित व भ्रष्ट अथवा अभ्रष्ट संस्कार से सहित है वह आगम द्रव्य अंग है। भव्य वर्तमान और त्यक्त ज्ञायक शरीर नो-आगम द्रव्य अंग है।

शंका—इनकी अंग संज्ञा कैसे सम्भव है?

समाधान—आधार में आधेय का उपचार करने से इनकी अंग संज्ञा उचित है।

शंका—यदि ऐसा है तो उनके नोआगमपना घटित नहीं होता, क्योंकि, अंग के आगम से कोई भेद नहीं है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उसका प्रयोजन स्वतः आगम भाव से अभिन्न, भ्रष्ट व अभ्रष्ट संस्कार वाले तथा आगम संज्ञा से युक्त जीव द्रव्य का प्रतिषेध करना है।

शंका—शरीर के नोआगमत्व और अंग श्रुतत्व भले ही हो, किन्तु भविष्य काल में अंग श्रुत के पारगामी होने वाले जीव के नोआगमपना सम्भव नहीं है, क्योंकि, वहाँ उपचार से आगम संज्ञा युक्त जीव द्रव्य पाया जाता है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, इस जीव की अंगश्रुत संज्ञा ही है। कारण कि वह भविष्य में होने वाली अंगश्रुत पर्याय से भविष्यमान है। किन्तु उसकी उपचार से आगम संज्ञा नहीं है, क्योंकि वर्तमान, अतीत और अनागत काल में आगम के आधारभूत धर्मों का वहाँ अभाव है।

अंगश्रुत की शब्द रचना अथवा उसके हेतुभूत द्रव्य तदव्यतिरिक्त नोआगम अङ्ग श्रुत कहलाते हैं। अङ्ग श्रुत का पारगामी उपयोग युक्त जीव आगम भाव अङ्ग श्रुत है। आगम अङ्ग श्रुत के निमित्तभूत केवल ज्ञानी नोआगम अङ्ग श्रुत कहे जाते हैं।

शंका—पर्याय नय में उपचार कैसे योग्य है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, नैगम नय का अवलम्बन करने से कोई दोष नहीं आता। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १९२-१९३ पुस्तक नंबर ९।

(१६) नाम निक्षेप द्रव्यार्थिक नय में कैसे सम्भव है?

शंका—नाम निक्षेप द्रव्यार्थिक नय में कैसे सम्भव है?

समाधान—चूंकि एक ही द्रव्य में रहने वाले नामों (संज्ञा शब्दों) की जिसने अतीत, अनागत व वर्तमान पर्याय में संचार करने की अपेक्षा "द्रव्य" व्यपदेश को प्राप्त किया है, और जो पर्याय की प्रधानता से रहित है ऐसे तद्भव सामान्य में प्रवृति देखी जाती है। जाति, गुण व क्रिया में वर्तमान नामों की जिसने

व्यक्ति विशेषों में अनिवृत्ति होने से "द्रव्य" व्यपदेश को प्राप्त किया है और जो व्यक्ति मात्र की प्रधानता से रहित है ऐसे सादृश्य सामान्य में प्रवृत्ति देखी जाती है तथा सादृश्य सामान्यत्मक नाम के बिना शब्द व्यवहार भी घटित नहीं होता है। अतः नाम निक्षेप द्रव्यार्थिक नय में सम्भव है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १० पुस्तक नम्बर १।

(१७) द्रव्यार्थिक नय में स्थापना निक्षेप कैसे सम्भव है ?

एक तो स्थापना में प्रतिनिधीयमान की प्रतिनिधि के साथ एकता का निश्चय होता है और दूसरे सद्भाव स्थापना व असद्भाव स्थापना के भेद रूप से सब पदार्थों में अन्वय देखा जाता है इसलिये द्रव्यार्थिक नय में स्थापना निक्षेप सम्भव है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १० पुस्तक नंबर १०।

शंका—स्थापना किस-किस में की जाती है ?

समाधान—स्थापना अनेक पदार्थों में की जाती है, जैसे—

जा सा ढ्ठवणपयडी णाम सा कट्ठकम्मेसु, वा चितकम्मेसु, वा पोत्तकम्मेसु, वा लेप्प कम्मेसु, वा लेण कम्मेसु, वा सेल कम्मेसु वा गिहकम्मेसु वा भित्त कम्मेसु वा दंत कम्मेसु वा भेडकम्मेसु वा अक्खो वा वराडओ वा जे चामण्णे ढ्ठवणाए ढ्ठविज्जंति पगदि त्ति सा सव्वा ढ्ठवणपयडी णाम। सूत्रना ॥१०॥

अर्थ—स्थापना प्रकृति यथा काष्ट कर्मों में, चित्र कर्मों में, पोत्त कर्मों में, लेप्य कर्मों में, लयन कर्मों में, शैल कर्मों में, गृह कर्मों में, भिति कर्मो में, दन्त कर्मों में, भेंड कर्मों में तथा यक्ष या वराटक और इनको लेकर अन्य जो भी प्रकृति इस प्रकार अभेद रूप से स्थापना अर्थात् बुद्धि में स्थापित किये जाते हैं। वे सब स्थापना प्रकृति हैं। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २०१ पुस्तक नम्बर १३ व धवल ग्रन्थ पृष्ठ २४८ पुस्तक नम्बर ६।

नोट—स्थापना सब पदार्थो में कर सकते हैं। वह स्थापना दो प्रकार की है। (१) तदाकार (२) अतदाकार। तदाकार स्थापना नियम से ज्ञान में ही होती है वह निश्चय स्थापना है और अन्य पदार्थों में जो स्थापना की जाती है वह सब अतदाकार स्थापना है। वही सभी व्यवहार स्थापना है। स्थापना भाव के अनुकूल बदलती जाती है। जैसे-जैसे भाव बदलता जायगा वैसे-वैसे स्थापना बदलती जाती है। स्थापना में भाव मुख्य है, जिस पदार्थ मे स्थापना की है वह गौण है। एक ही प्रतिमा में पंचकल्याण किया जाता है, क्योंकि, वहाँ प्रतिमा की मुख्यता नहीं है परन्तु भाव की मुख्यता है। एक ही प्रतिमा में एक जीव गर्भ कल्याण का अर्घ चढ़ाते हैं। दूसरा जीव जन्म कल्याण का अर्घ चढ़ाते हैं, तीसरा जीव तप कल्याण का अर्घ चढ़ाते हैं, चौथा जीव ज्ञान कल्याण का अर्घ चढ़ाते हैं, पाँचवा जीव मोक्ष कल्याण का अर्घ चढ़ाते हैं, और सब जीव अपने अपने भाव के अनुकूल पुन्य बांधते हैं, अब कहो व प्रतिमा किसकी है, गर्भ की, जन्म की, तप की, ज्ञान की या मोक्ष की ? तब आपको कहना पड़ेगा की वह प्रतिमा हमारे भाव के अनुकूल है, परन्तु स्थापना की अपेक्षा तो वह जैसी की तैसी है। कहो ! वहाँ प्रतिमा की महिमा है या भाव की ? तो भी अज्ञानी को प्रतिमा की महिमा आती है और ज्ञानी को अपने भाव की महिमा आती है ?

भगवान् हमारी पीठ न देखे इसलिए मन्दिर में प्रायः करके परदा लगाया जाता है। अब तत्व दृष्टि से विचार करो की भगवान् कैसा है ? वह लोकालोकको देखे और आपकी पीठ को न देखे

ऐसा क्या भगवान् का स्वरूप है ? शान्ति से विचार करना। पीठ भगवान् देखे तो पाप लगता होगा या अपने अविनये के भाव से पाप लगता होगा ? पाप का कारण अपनी पीठ दिखाना है या भाव है ? जब हम उसी प्रतिमा को रथ में विराजमान कर ठाठ बाट के साथ जुलूस निकालते हैं, तब वहाँ उसी भगवान् को पीठ क्यों दिखाते है ? वहाँ परदा क्यों नहीं लगाते हो ? क्या वहाँ भगवान् नही है, कि है ? तब आपको कहना होगा कि हमारा भाव जुलूस निकालने का है, भगवान् का अविनय करने का नहीं है ? तब क्या मन्दिर में आपका भाव विनय करने का है, या अविनय करने का है, क्यों परदा लगाते हो ? क्या समवसरण में परदा लगाता होगा ? बड़वानी आदि अनेक क्षेत्र में चारों तरफ प्रतिमा है, वहाँ किस ओर परदा लगाओगे ? शान्ति से विचार करना ? सारा ठाठ भाव पर है, परन्तु, अज्ञानी को भाव की महिमा नहीं आती यही आश्चर्य है ?

प्रक्षाल करते प्रतिमा अपने प्रमाद से खंडित हो गयी ? वहाँ क्यों रोते हो ? हाय हाय अनर्थ हो गया क्यों कहते हो ? सिर क्यों पटकते हो ? क्या प्रतिमा खंडित होने से यह सब कार्य होता है, शान्ति से विचार करना। यदि प्रतिमा खंडित हो जाने से ऐसे रोते हो तब निम्न प्रकार से प्रतिमा खंडित होने से क्यों रोते नहीं हो क्यों सिर पटकते नहीं हो शान्ति से विचार करना।

आप इकले मन्दिर में हो इतने में अजैन लोगों ने मन्दिर पर हमला कर दिया। वह लोग मन्दिर को तोड़ने की चेष्टा करते हैं, तब आप विचारते हो कि मेरा प्राण जावे परन्तु श्री जी की (प्रतिमा की) रक्षा होनी चाहिए। तब विचार करके ऐसा भाव हुआ कि सब प्रतिमाओं को कुए में पधरा देने से श्री जी की (प्रतिमाओं की) रक्षा हो जावेगी। तब आप एक एक प्रतिमा कुए में पधरा देते हो और जब सब प्रतिमा कुएं में पधरा दी तब आप आनन्द मानते हो कि श्री जी की रक्षा हो गयी मेरा प्राण अब जावे तो मुझको दुःख नहीं है। इतने में पुलिस आगई, बदमास लोग भाग गये। बाद में कुए में से वही प्रतिमा बहार निकालते अमुक प्रतिमा खंडित हो गई, अब क्यों नहीं रोते हो ? क्यों सिर नहीं पटकते हो ? तब कहना होगा कि हमारा भाव प्रतिमा खंडित करने का नहीं था। अब विचारिये कि महिमा उस प्रतिमा की है या भावों की ?

आपको शास्त्र मोल लेने की इच्छा हुई तब ही आप शास्त्र बेचने वाले व्यापारी के पास में जाओगे। व्यापारी से आप पूछते हैं कि "मोक्ष मार्ग प्रकाशक शास्त्र हैं ?" तब वह कहता हैं, हैं साहब आइये, व्यापारी अपने नौकर को आज्ञा करता है कि ऊपर से शास्त्र की ५-१० प्रतियां नीचे पटक दो। नौकर ने आपके सामने ५-१० प्रति नीचे पटकी दी, आपको उस समय ऐसा क्यों विकल्प नहीं उठता कि यह शास्त्रकी अवनय करते है ? या आपको क्यों दुःख न हुआ कि यह नीचे क्यों पटकते हैं ? आप शास्त्र की जिल्द आदि देखने लगे—यह अच्छे नहीं हैं, ये अच्छे नहीं है, यह अच्छे हैं, उस प्रति को आपने उठाकर अपने हाथ में रखी दाम पूछे और दाम चुका दिये। अब यही शास्त्र कोई नीचे रखे तो आपको दुःख होता है। तब तत्व दृष्टि से विचारा जाता है कि उस शास्त्र में अपनी कल्पना की है कि यह "शास्त्र" मेरा हैं। उसके पहले उस शास्त्र में आपने अपनी कल्पना (स्थापना) नहीं की थी जिससे आपको दुःख नहीं हुआ—

आपका शास्त्र एवं मेरा शास्त्र दोनों को मन्दिर में एक चौकी पर रख हम और आप देव दर्शन करते हैं। इतने में एक भाई ने कहा कि "यह चौकी पर किस का शास्त्र है ? बच्चा ने पन्ना फाड़ डाला ? यह सुनकर हम और आप दोनों दुःखी हो गये। देखा तो मालुम हुआ कि मेरे शास्त्र का पन्ना फाड़ा है। आपके शास्त्र का नहीं। तब आपको दुःख क्यों नहीं होता है और मुझको दुःख क्यों होता है।

तब कहना पड़ेगा कि उस शास्त्र में आपने अपना है ऐसी स्थापना नहीं की थी जिससे आपको दुःख नहीं होता है। मैंने उसमें कल्पना की है कि यह मेरा शास्त्र है जिससे मुझको दुःख होता है। तत्वदृष्टि से विचारो की शास्त्र का पन्ना फाड़ना दुःख का कारण है या उसमें "यह मेरा है ऐसी स्थापना" दुःख का कारण है ?

वह शास्त्र नीचे रखते दुःख होता है परन्तु जब उनकी जिल्द फट जाती है तब दफतरी के पास ले जाते हैं। दफतरी उनको पैरमें दवाकर जिल्द बांधता है तब आप को क्यों दुःख नहीं होता है ? तब कहना होगा कि उनपर से शास्त्र की कल्पना उठा कर जिल्द बाँधने की कल्पना की है जिससे दुःख नहीं, होता है परन्तु कहते हैं कि "जोर से बाँधना"। उस समय शास्त्र की जिल्द अच्छी बांधने की भावना है परन्तु शास्त्र का अविनय करने की भावना नहीं है। अब सोचिये शास्त्र का विनय अविनय भाव में होता है या शास्त्र नीचे या ऊचे रखने में होता है। सारा ठाठ भावों का है ऐसा भाव को न जाने तो उस जीव को स्थापना निक्षेप का भी ज्ञान नहीं है।

दिगम्बर जैन मन्दिर में वीतराग मुद्रा प्रतिमाका दर्शन करने को एक श्वेताम्बर मतवाला जैन वंदन करता है तो क्या वंदन करने से वह श्वेताम्बर मतवालाजीव सम्यग्दृष्टि बनजावेगा, नहीं क्योंकि उसने विपरीत मान्यता बदलो नहीं है। उसी प्रकार यदि हम भी हमारी विपरीत मान्यता न बदले तो क्या साक्षात तीर्थंकर का दर्शन करने से सम्यग्दर्शन हो जावेगा ? कभो भी नहीं ? क्योंकि सम्यग्दर्शन हमारी खुद की पर्याय है, वह पर्याय दूसरे जीवों के आधीन नहीं है। परात्माओं का हमारे आत्मा में अत्यन्त अभाव है, ऐसी जब तक श्रद्धा न आवे तब तक, स्थापना निक्षेप का भी यथार्थ ज्ञान नहीं है।

चावल में स्थापना कर हम उसे प्रतिमा वना देते हैं, तो क्या फोटो, चित्र, आदि में हम स्थापना नहीं कर सकते हैं ? स्थापना करना हमारे भावों के आधीन है, परात्म के आधीन नहीं है। कोई भी पदार्थ में आप स्थापना कर सकते हो वही सूत्र भी तो कहता है—तो भी पंचाध्ययीकार ने दूसरे अध्याय में लिखा है कि तस्वीर आदि चित्रामण पूज्य नहीं हैं। वह तो केवल व्यवहार का उपचार का कथन है। स्थापना आप करो। आपके लिए वही चित्रादि पूज्य बन जाता है। क्योंकि उसमें कल्पना तो अपनी है। अपनी कल्पना से पूज्य, अपनी कल्पना से उसे विसर्जन किया जाता है, और है क्या ? मोक्षमार्ग में सारा ठाठ भावों का ही हैं। उसी चावल को हम धोक देते हैं और विकल्प मिटने से उसी चावल को अग्नि में अपने हाथ से ही डाल देते हैं। क्योंकि उसमें से 'स्थापना' उठाली है। अकलंक देव की परीक्षा करने के लिए बौद्ध अनुयायी ने उनको आज्ञा की इस 'दिगम्बर प्रतिमा' के उपर से चलो ? उसने तुरत उस प्रतिमा के 'ऊपर से' 'स्थापना' अपने विकल्प से उठाली और तुरन्त छलाँग मार के कूद के चला गया ? वस्तु स्वरूप क्या है जरा शान्ति से विचारिये ?

स्थापना निक्षेप द्रव्यार्थिक नय का विषय है जिससे द्रव्यार्थिक नय में पर्याय गौण है। जिससे तो हम पार्श्वनाथ भगवान् की सर्प की फण वाली प्रतिमा बनाते हैं, बाहुबल स्वामी की वेल वाली प्रतिमा बनाते हैं, क्योंकि प्रतिमा द्रव्यार्थिक नय का विषय है, और द्रव्यार्थिक नय में पर्याय गौण हैं। आप पार्श्वनाथ भगवान् एवं बाहुबली जी की प्रतिमा को वीतराग मानकर पूजा करते हैं परन्तु पर्याय दृष्टि से विचार किया जावे तो वह वीतराग की प्रतिमा नहीं है, परन्तु रागी आत्मा की प्रतिमा है, क्योंकि उपसर्ग राग अवस्था में ही होता है, वीतराग अवस्था में उपसर्ग होता ही नहीं। यह दोनों प्रतिमा पर्याय दृष्टि से उपसर्ग वालो रागी की प्रतिमा है, परन्तु स्थापना निक्षेप द्रव्यार्थिक नय का विषय है और द्रव्यार्थिक नय में पर्यायार्थिक नय

गौण हैं , जिससे एक ही प्रतिमा में पंच कल्याण किया जाता है। यदि प्रतिमा पर्यायार्थिक नय का विषय होता तो आपको पाँच प्रतिमा ठीक-ठीक पर्याय की बनानी पड़ती। ऐसी अवस्था में गर्भ की कैसी प्रतिमा बनाते , मौक्ष की कैसी प्रतिमा बनाते। विचार करना चाहिए ?

दीवाली के दिन निर्वाण लड्डू चढ़ा के जब आप श्री मन्दिर में से घर जाते हो तब रास्ते में एक भाई साहब श्री मन्दिर में जाते मिलते है, तब आप तुरन्त कहते हो कि "भगवान् का मोक्ष" होगया ? सोचिये क्या प्रतिमा का मोक्ष होगया या अपने भाव में मोक्ष होगया है ? वही भाई आपको जवाब देते हैं आपके भाव में मोक्ष होगया है। अभी मेरे भाव में मोक्ष नही हुआ है। जब मैं लड्डू चढ़ाऊँगा तब ही मेरे भाव में भगवान् का मोक्ष होगा। अभी नहीं। जिससे सिद्ध होता है कि मोक्ष भावों में होता है परन्तु प्रतिमाओं में नहीं, यही तो "द्रव्यार्थिक नय" है। द्रव्यार्थिक नय का ज्ञान नहीं है जिससे एक बाप के बेटे के दो टुकड़ा होगया। (१) तेरा पंथी (२) बीस पंथी—जिनागम में कोई तेरा पंथ भी नहीं है कोई बीस पंथ भी नहीं है। वहाँ तो केवल "वीतराग" पंथ है। जहाँ तेरा और मेरा पंथ है वहाँ ही "कषाय" का पंथ है।

(१८) द्रव्य निक्षेप क्या ऋजुसूत्र नय का विषय है ?

उजुसुदो ट्ठवणपयडिं णेच्छदि ।।सूत्र, नं० ७।।

अर्थ—ऋजुसूत्र नय स्थापना प्रकृति को नहीं स्वीकार करता ।।७।।

शंका—यह इसका विषय क्यों नहीं है ?

समाधान—क्योंकि, एकत्व के बिना सादृश्य नहीं उपलब्ध होता। यदि कहा जाय कि कल्पना के द्वारा अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य के साथ एकत्व बन जायगा, सो भी बात नहीं है। क्योंकि, इस तरह का एकत्व उपलब्ध नहीं होता। इसलिये स्थापना प्रकृति के बिना ऋजु सूत्र नय नाम, द्रव्य और भाव प्रकृतियों को स्वीकार करता है वह सिद्ध होता है।

शंका—ऋजुसूत्र नय पर्यायार्थिक नय है। उसका विषय द्रव्य निक्षेप कैसे सम्भव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि जो व्यंजन पर्याय के आधीन है और जो सूक्ष्म पर्यायों के भेदों के आलम्बन से नानात्व को प्राप्त है ऐसे अशुद्ध पर्यायार्थिक नय का विषय द्रव्यनिक्षेप है ऐसा मानने में कोई विरोध नहीं आता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १९९-२०० पुस्तक नम्बर १३।

नोट—द्रव्य निक्षेप को द्रव्यार्थिक नय का विषय भी कहना और पर्यायार्थिक नय का विषय भी कहना परस्पर विरोध है। यथार्थ में वर्तमान में जो पर्याय प्रगट नहीं है, तो भी उस पदार्थ को वर्तमान पर्याय रूप कहना उसे द्रव्य निक्षेप कहा जाता है, और वही द्रव्यार्थिक नय का विषय है। यदि वर्तमान में उस रूप पर्याय है तो वह भाव निक्षेप हो जाता है परन्तु द्रव्य निक्षेप नहीं रहता। जैसे तुरन्त के जन्मे हुए बालक को तीर्थंकर कहना वह द्रव्य निक्षेप से कहा जाता है। यथार्थ में वहाँ तीर्थंकर की पर्याय प्रगट नहीं है तो भी उस पर्याय को गौण कर तीर्थंकर कहना वही द्रव्यार्थिक नय का विषय हो जाता है। ऋजु सूत्र नय वर्तमान पर्याय स्वीकार करता है उनके द्रव्य निक्षेप का कारण कहना केवल उपचार है। सूत्र की रक्षा के लिए सिद्ध किया, परन्तु सिद्ध हो नही सकता। इन्द्र अभिषेक तीर्थंकर का करता है ऐसा बोला जाता है यथार्थ मे वही तीर्थंकर नही है तीर्थंकर होने वाला है, प्रसूतीगृह में से तुरन्त का जन्मा हुआ बालक कि जिस प्रसूतीगृह एवं बालक को सूतक लगा है ऐसा बालक का इन्द्र अभिषेक करते हैं। बाद में तो वह बालक ने छह खण्ड की साधना की और छियानवे हजार स्त्री का भोग किया। क्या ऐसा भोगी आत्मा वर्तमान में सर्वज्ञ वीतराग तीर्थंकर है ? नहीं है ! तो भी उनका तीर्थंकर द्रव्य निक्षेप से कि जो द्रव्यार्थिक नय का ही

विषय है उस नय से कहा जाता है, कि इन्द्र ने तीर्थंकर का अभिषेक किया। साधारण जीवों को "सूत्र की साख देकर मुख बन्द कर देता है कि देखो "द्रव्य निक्षेप भी पर्यायार्थिक नय का विषय होता है।" यह आप नहीं मानते। आप आगम को नहीं मानते। परन्तु भाई साहब यह आगम ही नहीं है। जहाँ परस्पर विरोध कथन हो उसको आगम कैसे माना जाय ? शान्ति से विचार तो करो कि यथार्थ में क्या है ? इतना विचार आत्मा न करे तो किसके जोर पर निर्णय करोगे ? अपने ज्ञान पर निर्णय होगा या पराये पदार्थ के जोर पर निर्णय होगा ? जब तक वस्तु का निर्णय नही होगा तब तक सम्यग ज्ञान नही हो सकता। यदि सम्यग ज्ञान करना है तो खोजक बुद्धि रखो। अपना सत्य मत माने। जो सत्य है सो हमारा है ऐसा विचार अर्थात् अभिप्राय नही होगा तब तक यह आत्मा सम्यग्दर्शन की सन्मुख भी नहीं आ सकती है।

(१९) क्या भाव निक्षेप द्रव्यार्थिक नय का विषय हो सकता हैं ?

शंका—वर्तमान काल से परिच्छिन्न भाव निक्षेप द्रव्यार्थिक नय का विषय कैसे है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, व्यंजन पर्याय के अवस्थान मात्र वर्तमान काल से उपलक्षित द्रव्य द्रव्यार्थिक नय का विषय है ऐसा मानने में कोई विरोध नहीं है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ११ पुस्तक नम्बर १०।

नोट—यथार्थ में भाव निक्षेप पर्यायार्थिक नय का विषय है। वर्तमान पर्याय को वर्तमान पर्याय रूप भाव निक्षेप से ही कहा जाता है तो भी यहाँ भाव निक्षेप को भी द्रव्यार्थिक नय का विषय सिद्ध कर दिया। एक नय मे दूसरे नय का विरोध है अर्थात् दोनों नय में परस्पर विरोध है। यदि पर्यायार्थिक नय द्रव्यार्थिक नय हो जावे तो दोनों नयों का नाश हो जावे। परन्तु अपनी कषाय के कारण जो चाहे सो सिद्ध कर लो। परन्तु यथार्थ में स्वरूप है क्या ? देखिये धवल ग्रन्थ पृष्ठ १५ पुस्तक नम्बर १ स० तं० १-६ में क्या कहते हैं—

णामं ट्ठवणा दविय त्ति एस दव्वट्ठियस्स णिक्खेवो।
भावो दु पज्जवट्ठिय-परुवणा एस परमट्ठो ॥९॥

अर्थ—नाम, स्थापना और द्रव्य ये तीनों द्रव्यार्थिक नय के निक्षेप हैं और भाव पर्यायार्थिक नय का निक्षेप है यही परमार्थ है ॥९॥

शंका—सन्मति तर्क के इस कथन से "भाव निक्षेप का द्रव्यार्थिक नय में अथवा संग्रह नय में भी अन्तर्भाव होता है" यह व्याख्यान क्यों नहीं विरोध को प्राप्त होगा ?

समाधान—ऐसी सज्ञा ठीक नहीं है—क्योंकि सन्मति तर्क में पर्याया लक्षण क्षणिक है इसे भाव रूप से स्वीकार किया है। अर्थात् सन्मति तर्क में पर्यायार्थिक नय से कथन किया है और यहाँ पर वर्तमान पर्याय को द्रव्य से अभिन्न मान कर कथन किया है इसलिये कोई विरोध नहीं आता है।

नोट—यथार्थ में भाव निक्षेप पर्यायार्थिक नय का ही विषय है। जैसा आपके भाव में तीर्थंकर का स्वरूप है तैसा ही समवसरण मे विराजमान तीर्थंकर देव है। आपके भाव में और उस देव की पर्याय में कोई अन्तर नही है यही तो भाव निक्षेप है। जो पर्यायार्थिक नय का विषय है तो भी भाव निक्षेप को द्रव्यार्थिक नय का विषय कहना केवल उपचार है। दोनों नय का समूह तो द्रव्य है तो भी द्रव्यार्थिक नय में पर्यायार्थिक नहीं है और पर्यायार्थिक नय में द्रव्यार्थिक नय नहीं है। दोनों नय का विषय अलग-अलग है। केवल पर्यायार्थिक नय का आश्रय करने वाले को मूढ़ मिथ्यादृष्टि क्यों कहा ? और द्रव्यार्थिक नय के आश्रय करने वाले को सम्यग्दृष्टि क्यों कहा ? विचार करना चाहिए। यद्यपि द्रव्य दोनों नय रूप हैं तो भी

पर्यायार्थिक नय में विकल्प उठता है और विकल्प वस्तु का स्वभाव नहीं है. जब द्रव्यार्थिक नय में विकल्प नहीं रहने से वस्तु की यथार्थ श्रद्धा होती है। इससे भी सिद्ध होता है कि एक नय में दूसरे नय का विरोध है। जिससे सिद्ध होता है कि भाव निक्षेप द्रव्यार्थिक नय का विषय नहीं है परन्तु पर्यायार्थिक नय का विषय है वही परम सत्य है। जो गाथा में भी लिखा है। द्रव्यार्थिक नय तथा पर्यायार्थिक नय परस्पर विरोधी हैं उनको यथार्थ न जाने तो आत्म लाभ होवे नहीं। समयासार ग्रन्थ में भी कहा है कि—

उभयनय विरोधध्वंसनि स्यात्पदांके
लिन वचसि रमंते ये स्वयंवांतमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योति रूच्चैरनवम्
नयपक्षाक्षुण्णभीक्षंत एव ॥क्र० नां० ४॥

अर्थ—निश्चय व्यवहार रूप जो दो नय के विपय के भेद से आपस में विरोध है, उस विरोध को दूर करने वाला "स्यात्पदकर चिन्हित" जो भगवान् का वचन उसमें जो पुरुष रमते हैं—प्रचुर प्रीति सहित अभ्यास करते हैं वह पुरुष विना कारण अपने आप मिथ्यात्व कर्म का उदय का वमन कर इस अतिशय रूप परम ज्योति प्रकाशमान शुद्ध आत्मा को शीघ्र ही अवलोकन करते हैं। कैसा है समयसार रूप शुद्धात्मा? नवीन नहीं उत्पन्न हुआ है। पहले अज्ञान से आच्छादित था। वह प्रकट ज्योति रूप व्यक्त हो गया है। फिर कैसा है? सर्वथा एकान्त रूप कुनय की पक्ष कर खण्डित नहीं होता निर्बाध है।

जिससे सिद्ध होता है कि द्रव्यार्थिक नय का विपय पर्यायार्थिक नय का विपय नहीं हो सकता है और पर्यायार्थिक नय का विपय द्रव्यार्थिक नय का विषय नहीं हो सकता है ऐसी श्रद्धा रखना कार्यकारिणी है।

भावाधिकार

(१) भावों का स्वरूप

औदयिक भाव, औपशमिक भाव, क्षयिकभाव, क्षयोपशमिक भाव, और पारिणामिक भाव ये पांच भाव होते हैं। इनमें पुद्गलों के उदय से औदयिक भाव होता है। सूत्र नं० ॥५॥

शंका—भाव नाम किस वस्तु का हैं?

समाधान—द्रव्य के परिणाम को अथवा पूर्वापर कोटि से व्यतिरिक्त वर्तमान पर्याय से उपलक्षित द्रव्य को भाव कहते हैं।

शंका—भाव किसके होता है अर्थात् भाव का स्वामी कौन है?

समाधान—छहों द्रव्यों के भाव होता है, अर्थात् भावों के स्वामी छहों द्रव्य है। अथवा किसी भी द्रव्य के भाव नहीं होता है क्योंकि, पारिणामी और परिणाम के संग्रह नय से कोई भेद नहीं है।

शंका—भाव किससे होता है अर्थात् भाव का साधन क्या है?

समाधान—भाव कर्मों के उदय से, क्षय से, क्षयोपशम से, कर्मो के उपशम से, अथवा स्वभाव से होता है। उनमें से जीव द्रव्य के भाव उक्त पांचों ही कारण से, होता है। किन्तु पुद्गल द्रव्य के भाव कर्मों के उदय से, अथवा स्वभाव से होता है। तथा शेष चार द्रव्यों के भाव स्वभाव से ही उत्पन्न होता है।

शंका—भाव कहाँ पर होता है, अर्थात् भाव का अधिकरण क्या है ?

समाधान—भाव द्रव्य में ही होता है, क्योंकि गुणी के बिना गुणों का रहना असम्भव है।

शंका—भाव कितने काल तक होता है ?

समाधान—अनादिनिधन है—जैसे अभव्यजीवों के असिद्धता, धर्मास्तिकाय के गमन हेतुता, अधर्मास्ति काय में, स्थिति हेतुता, आकाश द्रव्य के अवगाहन स्वरुपता और काल द्रव्य के परिणमन हेतुता इत्यादि—

अनादि शान्त भाव—जैसे भव्य जीव की असिद्धता, भव्यत्त्व, मिथ्यात्त्व, असंयम इत्यादि—

सादि अनन्त भाव—जैसे केवल ज्ञान, केवल दर्शन इत्यादि—

सादि शान्ति भाव—जैसे सम्यक्त्व और संयम धारणकर पीछे आए हुए जीवों के मिथ्यात्व, असंयम इत्यादि—धवलग्रन्थ पृष्ठ ९४-९५ पुस्तक नं० ५

नोट—"वर्तमान पर्याय से उपलक्षित द्रव्य" को भाव कहते हैं अर्थात् एक समय में एक ही भाव हो सकता है परन्तु एक समय में एक गुण का अनेक भाव नहीं हो सकता हैं यह नियम है, क्योंकि एक समय में गुण का एक ही प्रकार का परिणमन होता है। उसी समय और भावों रुप परिणमन करने की शक्ति है, परन्तु प्रगट शक्ति एक समय में एक ही होती है, यह नियम है, क्योंकि एक समय में पर्याय एक ही होती है। अर्थात्, जिस समय ज्ञान गुण क्षयोपशम भाव रुप परिणमन करता है उसी समय क्षायिक-भाव रूप उपशम भावरुप औदयिक भाव रुप और पारिणामिक भाव रूप परिणमन नहीं कर सकता है, क्योंकि, एक समय में पर्याय भी एक है और भाव भी, एक है, परन्तु उसी समय और भाव रुप परिणमन करने की शक्ति जरूर है। शक्ति का नाश कभी भी नहीं होता है।

(२) छहों द्रव्यों में कौनसा भाव हैं ?

जीव में पांचों ही भाव पाये जाते हैं। किन्तु शेष द्रव्यों में, तो पांच भावो नहीं हैं, क्योंकि पुद्गल द्रव्य में औदयिक तथा, पारिणामिक यह दोनों ही भावों की उपलब्धि होती है, और धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, और काल द्रव्यों में केवल पारिणामिक भाव ही पाया जाता है। धवलग्रन्थ पृष्ठ ९३ पुस्तक नम्बर ५

नोट—पुद्गलों के स्कन्ध होने की शक्ति हैं जब वह पुद्गल स्कन्ध रुप परिणमन करता है तब वह पुद्गल का औदयिक भाव है। जब पुद्गल शुद्ध परिणमन करता है तब उसी का पारिणामिक भाव है।

(३) औदयक भाव—कर्मो के उदय में गुण का जो परिणमन होता है उस परिणमन का नाम औदयिक भाव कहते हैं। परन्तु यह लक्षण घटित नहीं होता है क्योंकि क्षयोपशमिक भाव में भी तो कर्म का उदय रहता है जिस से यह लक्षण सदोष हो जाता है। यथार्थ में गुणकी सम्पूर्ण विकारी परिणमन इस परिणमन का नाम औदयिक भाव है। अर्थात् गुणकी सम्पूर्ण विकारी अवस्था—का नाम औदयिक भाव है।

औपशमिक भाव—गुण की सम्पूर्ण शुद्ध आवस्था परन्तु सत्ता में प्रतिपक्षी कर्म मौजूद है ऐसी गुण की अवस्था का नाम औपशमिक भाव कहते हैं—

शंका—उपशम किसे कहते हैं ?

समाधान—उदय, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण, परप्रकृति सक्रमण स्थिति काण्डघात और अनुभाग काण्डघात के बिना ही कर्मों के सत्ता में रहने को उपशम कहते हैं। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २१२ पुस्तक नंबर १

शंका—उदय और उदीरणा में क्या भेद हैं ?

समाधान—जो कर्म स्कन्ध अपकर्षण उत्कर्षण आदि प्रयोग के बिना स्थिति क्षय को प्राप्त हो कर अपना अपना फल देते हैं उन कर्म स्कन्धों की "उदय" ऐसी संज्ञा है। जो महान् स्थिति वन्ध और अनुभागों के अवस्थित कर्म स्कन्ध अपकर्षण करके फल देने वाले किये जाते हैं उन कर्म स्कन्धों की "उदीरणा" यह संज्ञा है, क्योंकि, अपक्व कर्म स्कन्ध के पाचन करने को उदीरणा कहा गया है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २१४ पुस्तक नम्बर ६।

शंका—"उदय" और "उदीरणा" में कारण कार्य सम्बन्ध किस प्रकार है ?

समाधान—"उदय" में कर्म का उदय कारण है और तदरूप आत्मा की (गुणों की) अवस्था का होना कार्य है। इनमें "उदय" कारण है और आत्मा (गुण) की पर्याय कार्य है। इसमें आत्मा पराधीन है अर्थात् नैमित्तिक है और कर्म का उदय निमित्त है। "उदीरणा" भाव में आत्म परिणाम कारण है और सत्ता में रहा हुआ कर्म का उध्यावली में आना कार्य हैं। इसमें आत्मा स्वाधीन हैं और कर्म स्कन्धों का उदयावली में आना नैमित्तिक अर्थात् पराधीन है। अर्थात् आत्मा निमित्त है और कर्मो की अवस्था होना नैमित्तिक है। "उदय" से सविपाक निर्जरा होती है और उदीरणा भाव से अविपाक निर्जरा होती है। उदय का नाम अबुद्धिपूर्वक परिणमन है और उदीरणा का नाम बुद्धिपूर्वक परिणमन है। जहाँ अबुद्धिपूर्वक परिणमन है वहाँ बुद्धिपूर्वक परिणमन होवे या न भी होवे परन्तु जहाँ बुद्धिपूर्वक परिणमन हैं वहाँ अबुद्धिपूर्वक परिणमन नियम से है। उदय भाव का नाम क्रमवन्ध पर्याय है और उदीरणा भाव का नाम अक्रम पर्याय है। जैसे पत्थर में से समय-समय के परिमाणु निकलता है यह क्रमवद्ध पर्याय है और टांकणा द्वारा उसको खोदकर मूर्ति वनाना वह अक्रम पर्याय है। खोदते वक्त भी समय-समय में सम्पूर्ण पत्थर में से परमाणु निकल रहा है उसको आप रोक नहीं सकते हो परन्तु टांकणी द्वारा कैसी मूर्ति वनाना, कब बनाना, कब नहीं वनाना यह सब अपने अभिप्राय के आधीन है जिससे वह अक्रम है अर्थात् जैसी हम चाहें ऐसी अवस्था वना सकते हैं। समय-समय में परमाणु निकल जाना वह सविपाक निर्जरा है और टांकणा द्वारा स्कन्ध निकालना अविपाक निर्जरा है। रेलगाड़ी में अनेक मनुष्य वैठे हैं। रेल के अनुकूल सब पेसेन्जर का जो गमन हो रहा है वही क्रमवद्ध है और रेल के अलग-अलग डिब्बे में प्रत्येक मनुष्य अलग-अलग क्रिया जैसे खाना, वोलना, उठना, चलना आदि क्रिया कर रहे हैं वह अक्रम है। क्रमवध पर्याय में सब मनुष्य पराधीन हैं और अक्रम में सभी मनुष्य स्वाधीन हैं। उसी प्रकार अबुद्धिपूर्वक रागादिक में सभी जीव पराधीन हैं और बुद्धिपूर्वक रागादिक में सभी जीव स्वतन्त्र हैं। अबुद्धिपूर्वक पर्याय का नाम क्रमबध पर्याय है और बुद्धिपूर्वक पर्याय का नाम अक्रम है। अक्रम पर्याय जैसी करने को चाहता है ऐसी हो सकती हं। यही जीव की स्वतन्त्रता है।

क्षायिक भाव—गुण की सम्पूर्ण शुद्ध अवस्था एवं प्रतिपक्षी कर्मों का अत्यन्त अभाव अर्थात् क्षय उसे क्षायिक भाव कहते हैं।

शंका—क्षय किसे कहते हैं ?

समाधान—जिनके मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृति के भेद से प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेश-बन्ध का क्षय हो जाना उसे क्षय कहते हैं। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २१५ पुस्तक नम्बर १।

क्षयोपशमिक भाव—सर्वघाती कर्मो का उदयाभावी क्षय उसी कर्म का सद्वस्था रूप उपशम से तथा देशघाती कर्मो का उदय से जो अवस्था रहती है उसे क्षयोपशमिक भाव कहते है अर्थात् कर्म के उदय अनुदय में जो भाव होय उन्हें क्षयोपशम भाव कहते हैं, परन्तु यह लक्षण सदोप है, क्योंकि चतुर्थगुणस्थान में यदि अनन्तानुबन्धी कषाय का उपशम है तो वह लक्षण घटित हो सकता है, परन्तु यदि चतुर्थगुण स्थान में अनन्तानुबन्धी कपाय का क्षय हो गया हो अथवा विसंयोजन हो गया हो तो वही लक्षण सदोप हो जाता है, जिससे यथार्थ में गुण की शुद्ध अशुद्ध मिश्न रूप परिणमन का नाम क्षयोपशमिक भाव है यह लक्षण निर्दोप है। जिस भाव का दूसरा नाम मिश्र भाव भी कहा जाता है।

पारिणामिक भाव—कर्म का सद्भाव अभाव विना गुण का स्वतन्त्र पने परिणमन स्वभाव रूप या विकार रूप हुआ हो उस परिणमन का नाम पारिणामिक भाव है। विकार रूप पारिणामिक भाव से कर्मो का बन्ध नहीं होता है। कर्म के निमित्त से ही जीव में विकार होता है यह एकान्त कथन जैन सिद्धान्त स्वीकार नही करता है। कथंचित कर्म के निमित्त से विकार होता है, कथंचित स्वयं अर्थात् निमित्त बिना भी विकार होता है यही स्वाद्वाद है। स्वआश्रित स्वभाव और पराश्रित विकार यह सिद्धान्त वचन पारिणामिक भाव के लिए नहीं है यह स्वयं सिद्ध हो जाता है। यही तो पारिणामिक भाव की विशेपता है। यही द्रव्य का स्वतन्त्रपना सावित होता हे। इसीका नाम योग्यता है। पारिणामिक भाव छोड़ के और भावों में योग्यता मानना उचित नही है। जैसा का तैसा जानना सम्यक्ज्ञान है, परन्तु खेंचा तानी करना सम्यक्ज्ञान नहीं है। औदयिक भाव मे, क्षयोपशमिक भाव में, उपशम भाव में और क्षायिक भाव में योग्यता कहना और निमित्त को स्वीकार नहीं करना यह उचित मार्ग या सम्यक्ज्ञान नहीं है। निमित्त को निमित्त जानना मानना सम्यक्ज्ञान है, परन्तु निमित को स्वीकार नहीं करना सम्यक्ज्ञान नही है, ऐसा मानने से केवल एक ही पारिणामिक भाव रह जाता है और चार भावों का नाश हो जाता है। परन्तु वस्तु स्वरूप ऐसा नही हे। यदि पाँच भाव मानने हो तो यथार्थ मानना ही होगा अलावा पाँच भावों की सिद्धि होई नही सकती है। और पांच भावो होता है इसमें सन्देह नहीं है। जहाँ जहाँ निमित्त की अपेक्षा है वहाँ वहाँ निमित्त मानना जानना सम्यक्ज्ञान है अलावा वही ज्ञान मिथ्याज्ञान हो जाता है।

(४) औदयिक भाव कितने प्रकार के हैं ?

शका—औदयिक भाव कितने प्रकार के हैं ?

समाधान—यह स्थान की अपेक्षा आठ प्रकार का है, और विकल्प की अपेक्षा इक्कीस प्रकार का है।

शंका—स्थान क्या वस्तु है ?

समाधान—भाव की उत्पत्ति के कारण को स्थान कहते है। कहा भी है कि —

गदि, लिंग कपाया, वि य मिच्छादंसणमसिद्धद णाणं।
लेस्सा असंजमो चिय होंति उदयस्स ट्ठाणाइं ॥६॥ त, सु, २६,

अर्थ—गति, लिंग, कपाय, मिथ्यादर्शन, असिद्धत्त्व, अज्ञान, लेश्या, और असंयम य औदयिक भाव के आठ स्थान होते है ॥६॥

अब इन आठ स्थानों के विकल्प कहते हैं। गति चार प्रकार की है (१) नरकगति (२) तिर्यंचगति (३) मनुष्यगति (४) देवगति। लिंग तीन प्रकार का है। (१) स्त्रीलिंग (२) पुरुष लिग (३) नपुसंक लिंग। कषाय चार प्रकार कीं है। (१) क्रोध (२) मान (३) माया (४) लोभ। मिथ्यादर्शन एक प्रकार का है। असिद्धत्त्व एक प्रकार का है।

शंका – असिद्धत्त्व क्या वस्तु है ?

समाधान—अष्ट कर्मो के सामान्य उदय को असिद्धत्त्व कहते हैं।

अज्ञान एक प्रकार का है। लेश्या छह प्रकार की है। असंयम एक प्रकार का है। इस प्रकार ये सब मिलकर औदयिक भाव के इक्कीस विकल्प होते है।

शंका—पाँच जातियाँ, छह संस्थान, छह संहनन आदि औदयिक भाव कहाँ अर्थात किस भाव में अन्तर्गत होता है ?

समाधान—उक्त जातियों आदि का गति नामक औदयिक भाव में अन्तर्गत होता है। क्योंकि इन जाति संस्थान आदि का उदय गति नाम कर्म के उदय का अविनाभावी है। इस व्यवस्था में लिंग कषाय आदि औदयिक भावों में से भी व्यभिचार नहीं आता है, क्योंकि उन भावों में उस प्रकार की विवक्षा का अभाव है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १८८-१८९ पुस्तक नं ०५

नोट—लिंग तथा कषाय को अलग अलग कहना वह उपचार है, क्योंकि लिंग एवं कषाय चारित्र-गुण का विकार है। उसी प्रकार हास्यादि छह नोकषाय भी चारित्रगुण का विकार है वह सब कषाय में ही अन्तर्गत हो जाता है। अज्ञान भाव को औदयिक भाव कहना उपचार मात्र है। क्योंकि तीन कुज्ञान को क्षयोपशमिक भाव माना है; उससे अलग कोई अज्ञान भाव नहीं है। एवं ज्ञान नामका गुणका यदि सम्पूर्ण प्रकारसे विकारी परिणमन हो जावे तो आत्मा जड़ बन जावे, यह असंभवीत है। ज्ञानका क्षयोपशम निरंतर छद्मस्थ अवस्था में रहता ही है। ज्ञान नाम का गुण एक ही समय में औदयिक भाव से एवं क्षयोपशमिक भाव से परिणमन करे यह असंम्भव है जिससे सिद्ध हुआ कि अज्ञान नाम का कोई औदयिक भाव नहीं है। ऐसा श्रद्धान करना चाहिए। जब तक चारित्र गुण अनन्तानुवन्धी कषाय रूप परिणमन करता है तब तक असंयम भाव औदयिक भाव है, परन्तु अनन्तानुवन्धी कषाय के अभाव में वही चारित्रगुण असंयम भाव से परिणमन करते संते वही परिणमन क्षयोपशम भाव रूप है, क्योंकि वहाँ अनन्तानुवन्धी कषाय का अभाव रूप चारित्रगुण में शुद्धता आती है जिससे वह क्षयोपशमिक रूप अर्थात् मिश्र भाव रुप परिणमन करता है। ऐसा श्रद्धान करना चाहिए। लेश्या क्रियागुण का विकार का नाम है। लेश्या गुण में अंश अंश में शुद्धता आती नहीं है जिससे कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या को औदयिक भाव ही माना गया है। यथार्थ में लेश्या छह प्रकार की नहीं है, परन्तु एक ही प्रकार की है, परन्तु कषाय का छह भेद हो जाने से लेश्या छह प्रकार की मानी है (१) तीव्र कषाय (२) तीव्रतर कषाय (३) तीव्रतम कषाय (३) मन्द कषाय (५) मन्दतर कषाय (६) मन्दतम कषाय। लेश्या प्रवृति का नाम है। और प्रवृति-गमन एक ही प्रकार का होता है जिससे लेश्या को औदयिक भाव माना है। लेश्या में क्षयोपशम, उपशम भाव नहीं होता है, परन्तु क्षायिक भाव माना है। अर्थात् लेश्या की दो ही अवस्था रहती है। (१) गमन रूप (२) निष्क्रिय। तेरहवाँ गुण स्थान का अन्त तक लेश्या है, और चौदहवाँ गुण स्थान के प्रथम समय में क्रिया नाम का गुण की शुद्ध अवस्था हो जाती हैं। लेश्या में अंश अंश शुद्धता होती नहीं है, क्योंकि प्रतिपक्षी शरीरनामां नाम कर्म का उदय निरन्तर धारा प्रवाही रहता है, जिससे उसमें अंश में शुद्धता आती नहीं है, उसी प्रकार योग

में भी अंश में शुद्धता आती नहीं है। तेरहवाँ गुण स्थान के अन्त तक योगगुण की कम्पन अवस्था नियम से रहती है, और चौदहवाँ गुण स्थान के प्रथम समय में योग गुण की शुद्ध अवस्था निष्कम्प हो जाती है। छठवें, सातवें गुण स्थान में तीन गुप्ति कहना वह व्यवहार है। व्यवहार नाम उपचार का है। यथार्थ में गुप्ति चौदहवें गुण स्थान के प्रथम समय में ही होती है।

(५) औपशमिक भाव—

शंका—औपशमिक भाव कितने प्रकार के हैं ?

समाधान—औपशमिक भाव स्थान की अपेक्षा दो प्रकार का है और विकल्प की अपेक्षा आठ प्रकार की है। कहा भी है कि—

सम्मत्तं चारित्तं दो चेय ट्ठाणाइमुवसमें होंति।
अट्ठवियप्पा य तहा कोहाईआ मुणेदव्वा ॥७॥ त, सु, २-३

अर्थ—औपशमिक भाव सम्यक्त्व और चारित्र ये दो ही स्थान होते हैं। तथा औपशमिक भाव के विकल्प आठ होते हैं जोकि क्रोधादि कषायों के उपशमन रूप जानना चाहिए ॥७॥

औपशमिक भाव के सम्यक्त्व और चारित्र ये दो ही स्थान होते हैं। क्योंकि, औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र ये दो ही भाव पाये जाते हैं। इनमें से औपशमिक सम्यक्त्व एक प्रकार का है और औपशमिक चारित्र सात प्रकार का है। जैसे नपुंसक वेद के उपशमन काल में एक चारित्र, स्त्री वेद के उपशमन काल में दूसरा चारित्र, पुरुष वेद और छह नोकषायों के उपशमन काल में तीसरा चारित्र, क्रोध संज्वलन के उपशमन काल में चौथा चारित्र, मान कषाय के उपशमन काल में पाँचवां चारित्र, माया संज्वलन के उपशमन काल में छठवां चारित्र, और लोभ कषाय के उपशमन काल में सातवाँ औपशमिक चारित्र होता है। भिन्न-भिन्न कषायों के लिंग से कारणों में भी भेद की सिद्धि होती है। इसलिये औपशमिक चारित्र सात प्रकार का है। अन्यथा अर्थात् उक्त प्रकार की विवक्षा न की जाय तो वह एक प्रकार का है, क्योंकि प्रति समय उपशम श्रेणी में पृथक्-पृथक् असंख्यात गुण श्रेणी निर्जरा के निमित्तभूत परिणाम पाये जाते हैं। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १९० पुस्तक नम्बर ५।

नोट—गुण श्रेणी निर्जरा की अपेक्षा भाव माना नहीं जाता है। भाव तो गुण की शुद्ध, अशुद्ध या मिश्र अवस्था की अपेक्षा से हैं। जब तक चारित्र नाम का गुण अंश में अर्थात् सूक्ष्म लोभ रूप परिणमन करता है तब तक क्षयोपशमिक ही भाव है। औपशमिक भाव केवल ग्यारहवां गुण स्थान में ही होता है उसके पहले औपशमिक भाव कहना व्यवहार है। अर्थात् उपचार है जो टीकाकार ने भी स्वीकार किया है। एक भाव में दूसरे भाव का अभाव है यह सिद्धान्त को भूलना नहीं चाहिए। उनको भूलने से अज्ञानता आ जाती है। उपचार को उपचार मानना चाहिये परन्तु उपचार को सत्य मानना नहीं चाहिये। उपचार को सत्य मानना ही अज्ञानता है।

(६) क्षायिक भाव—

शंका—क्षायिक भाव कितने प्रकार का है ?

समाधान—क्षायिक भाव स्थान की अपेक्षा पाँच प्रकार का है और विकल्प की अपेक्षा से नौ प्रकार का है। कहा भी है कि—

लद्धीओ सम्मत्तं चारित्तं दंसणं तहा णाणं।
द्वाणाइं पंच खइए भावे जिणभासियाइं तु ॥८॥त० सु० २-४

अर्थ—दानादि लब्धियाँ, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, क्षायिक दर्शन तथा क्षायिक ज्ञान इस प्रकार क्षायिक भाव में जिन भाषित पाँच स्थान होते हैं ॥८॥

लब्धि, सम्यक्त्व, चारित्र, दर्शन और ज्ञान ये पाँच स्थान क्षायिक भाव में होते हैं। उनमें लब्धियाँ पाँच प्रकार की हैं। (१) क्षायिक दान (२) क्षायिक लाभ (३) क्षायिक भोग (४) क्षायिक उपभोग (५) क्षायिक वीर्य। क्षायिक सम्यक्त्व एक विकल्पात्मक है। क्षायिक चारित्र एक भेद रूप है। केवल ज्ञान एक विकल्पात्मक है। केवल दर्शन एक विकल्पात्मक है। इस प्रकार से क्षायिक भाव के नौ भेद है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ नं० १९१ पुस्तक नम्बर ५।

नोट—वीर्यगुण की पाँच अवस्था शुद्ध मानना केवल उपचार हैं। एक गुण की एक समय में एक ही अवस्था होती है। कर्म के कारण के पांच अवस्था वीर्य गुण की होती थी परन्तु कर्म का नाश होने से एक शुद्ध अवस्था "अनंत वीर्य" की रहती है। अत्र दान, लाभ, भोग और उपभोग अवस्था मानना व्यवहार अर्थात् उपचार से किया है। अर्थात् सूत्र की रक्षा के लिए यह बात स्वीकार की है। जिस प्रकार उपशम भाव में चारित्र का सात विकल्प माना था परन्तु क्षायिक भाव में एक ही विकल्प माना है उसी प्रकार वीर्य गुण की भी एक ही अवस्था होती है पांच कहना उपचार है। क्षायिक भाव का पांच ही स्थान नहीं है। परन्तु अनेक हैं। (१) श्रद्धा गुण की क्षायिक सम्यक्त्व (२) चारित्र गुण की क्षायिक चारित्र (३) ज्ञान गुण की क्षायिक ज्ञान (४) दर्शन गुण की क्षायिक दर्शन (५) वीर्य गुण की क्षायिक वीर्य (६) सुख गुण की क्षायिक सुख (७) योग गुण की क्षायिक योग (८) क्रिया गुण की क्षायिक क्रिया (९) अव्याबाद गुण की क्षायिक अव्याबाद (१०) अवगाहना गुण की क्षायिक अवगाहना (११) अगुरू लघु गुण की क्षायिक अगुरुः लघुत्व (१२) सूक्ष्म गुण की क्षायिक सूक्ष्मत्व (१३) प्रदेशत्व गुण की क्षायिक प्रदेशत्व आदि अवस्थायें सिद्ध परमात्मा म होती हैं। जब गुण को घात करने वाले कर्म हैं तब औदयिकादि भावो होता है। जब उन कर्मो का अत्यन्त अभाव में क्षायिक भाव प्रकट होता है यह स्वाभाविक भाव है। क्षायिक भाव का स्थान केवल पांच ही कहना उपचार मात्र है।

(७) क्षयोपशम भाव—

शंका—क्षयोपशम भाव कितने प्रकार के है ?

समाधान—क्षायोपशम भाव स्थान की अपेक्षा सात प्रकार का है और विकल्प की अपेक्षा अठारह प्रकार का है। कहा भी है कि—

णाणण्णाणं च तहा दंसण लद्धी तहेव सम्मत्तं।
चारित्तं देसजमो सत्तेव य होंति ट्ठाणाइं ॥९॥ त०सु० २-४

अर्थ—ज्ञान, अज्ञान, दर्शन, लब्धि, सम्यक्त्व, चारित्र और देशसंयत य सात स्थान क्षयोपशमिक भाव में होते है ॥९॥,

ज्ञान, अज्ञान, दर्शन, लब्धि, सम्यक्त्व, संयम, और संयमासंयम ये सात स्थान क्षयोपशमिकभाव के है। उनमें मति, श्रुत, अवधि और, मनःपर्यय के भेद से ज्ञान चार प्रकार का है।

शंका—यहां पर ज्ञानों में केवल ज्ञान ग्रहण क्यों नहीं किया गया ?

समाधान—नहीं वह क्षायिक भाव है।

कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, (विभंग) के भेद से अज्ञान तीन प्रकार का है। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन के भेद से दर्शन तीन प्रकार का है। यहाँ पर केवल दर्शन का ग्रहण नहीं करना चाहिये, क्योंकि वह अपने विरोधी कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है। दानादिक के भेद से लब्धि पांच प्रकार की है। सम्यक्त्व एक प्रकार का है। क्योंकि इस भाव में वेदक सम्यक्त्व को छोड़कर अन्य सम्यक्त्वों का अभाव है। चारित्र एक विकल्प है। क्योकि यहां पर सामायिक, छेदोपस्थापना, और परिहार विशुद्ध संयम की विवक्षा का अभाव है। संयमासंयम एक भेद रुप है। इस प्रकार मिलकर ये सब अठारह विकल्प होते है। धवलग्रन्थ पृष्ठ १९१-१९२, पुस्तक नम्बर ५

नोट—यहां पर अठारह विकल्प उपचार से है। यहां पर मिश्र सम्यक्त्व भी क्षयोपशमिक भाव में लेना चाहिये, क्योंकि, वहां पर श्रद्धागुण में अंश में शुद्धता आ जाती है जिसे श्रद्धागुण क्षयोपशमिक भाव से परिणमन करता है। चारित्र गुण भी अनन्तानु बन्धी कपाय के अभाव में असंयम रुप क्षयोपशमिक भाव से परिणमन करता है, क्योंकि, चारित्र गुण में अनन्तानुबन्धी कषाय के अभाव में अंश में शुद्धता आ जाती है जिससे क्षयोपशमिक भाव मानना चाहिये।

(८) पारिणामिक भाव—

शंका--पारिणामिक भाव कितने प्रकार के है ?

समाधान—पारिणामिक भाव, भव्य, अभव्य, और जीवत्व के भेद से तीन प्रकार का है। कहा भी है कि—

एयं ट्ठाणं तिण्णि वियप्पा तह पारिणामिए होंति।
भव्याभव्वा जीवा अत्तवणदो चवे बोद्धव्वा ॥१०॥ त० सू० २-७

अर्थ—पारिणामिक भाव में स्थान एक तथा भव्य, अभव्य, जीवत्व के भेद से विकल्प तीन प्रकार के होते हैं। ये विकल्प आत्मा का असाधारण भाव होने से ग्रहण किये गए जानना चाहिये ॥१०॥, धवलग्रन्थ पृष्ठ १९२ पुस्तक नम्बर ५

नोट—यह तीन पारिणामिक भाव शक्ति रूप है परन्तु व्यक्ति रूप नहीं है। जीवत्वभाव अभेद की अपेक्षा से है जब उनमें भेद किया जावे तब ज्ञान दर्शन हो जाता है और ज्ञान, दर्शन छद्मस्थ जीवों में क्षयोपशमिक रूप परिणमन करता है और अनुभव भी उनका ही आता है परन्तु जीवत्व पारिणामिक भाव तो शक्ति रूप है। उसी प्रकार भव्य-और अभव्यभाव भी शक्ति रूप हैं परन्तु व्यक्त रुप तो अभव्य आत्मा में, औदयिक रुप तथा भव्य आत्मा में कोई में औदयिक रूप मिथ्यात्व, कोई में औपशमिक रूप कोई में क्षयोपशमिक रूप और कोई में क्षायिक सम्यग्दर्शन रूप परिणमन करता है, और उस परिणमन का वर्तमान में अनुभव होता है। यह श्रद्धा गुण की पर्याय का नाम है। परन्तु भव्य और अभव्य तो शक्ति रूप अलग अलग जीवों में है। सिद्ध परमात्मा में भी भव्यभाव शक्ति रूप है। परन्तु व्यक्त रूप क्षायिक भाव है। तीन शक्ति रुप भाव की अवेज और चार गुण स्थान में भी पारिणामिक भाव हो जाता हैं।

१—सम्यग्दर्शन अवस्था मे जिस जीव ने अनन्तानुबन्धी कपाय के परमाणुओं का विसंयोजन कर

दिया है बाद में जब वह आत्मा मिथ्यात्व गुणस्थान में जाता है तब वहां चारित्र गुण का परिणमन जब तक अप्रत्याख्यान के स्कन्धो अनन्तानुबन्धी रुप परिणमन न करे तब तक पारिणामिक भाव से अनन्तानुबन्धी भाव रुप परिणमन करता है बाद में आदैयिक भाव से परिणमन करता है।

२—दूसरे सासादन गुणस्थान में मिथ्यात्व कर्म प्रकृति का उदय नहीं है तव वहां श्रद्धा गुण पारिणामिक भाव से मिथ्यात्व रुप परिणमन करता है। वहां मिथ्यात्व रुप परिणमन होते सन्ते कर्म का बन्ध नहीं पड़ता। विकार भाव से बन्ध पड़ता ही है ऐसा एकान्त नियम नहीं है।

३—ग्यारवें गुण स्थान में, आत्मा पारिणामिक भाव से ही गिरता है। ग्यारवां गुण स्थान का व्यय पारिणामिक भाव से होता है और दशवां गुण स्थान का उत्पाद क्षयोपशमिक भाव से होता है। यहां चारित्र गुण का परिणमन होता है।

४—चौदहवे गुण स्थान के अन्तके समय में, क्रिया गुण पारिणामिक भाव से उर्ध्वगमन करता है। अर्थात् चौदहवां गुणस्थान का व्यय पारिणामिक भाव से होता है और सिद्ध पर्याय की उत्पत्ति क्षायिक भाव से एवं लोक के अग्र भाग में स्थिर रुप उत्पाद होता है। अर्थात् मोक्ष तत्त्व की उत्पत्ति क्षायिक भाव से होती है। उसी प्रकार चार गुणस्थान में व्यक्तरुप पारिणामिक भाव होता है।

(९) उदीरणाभाव—

पाँच भावों में से पारिणामिक भाव द्रव्यानुयोग की अपेक्षा से है। चार भाव औदयिक, क्षयोपशमिक, औपशमिक तथा क्षायिक भाव करणानुयोग की अपेक्षा से है। और उदीरणाभाव चरणानुयोग की अपेक्षा से है।

शंका—उदीरणा भाव की विवक्षा कहीं भी देखने में नहीं आयी आपने कहां से यह भाव निकाले ?

समाधान—उदीरणा भाव होता है। शास्त्र में उदीरणा भाव तो माना है। बुद्धि-पूर्वक रागादिक का नाम उदीरणा भाव है। यह भाव ज्ञान की उपयोग रूप अवस्था में ही होता है, परन्तु लब्धि रूप अवस्था में नहीं होता है। शास्त्र में जो समय-समय में वन्ध पड़ता है, उसी का वटवारा नियम पूर्वक ही होता है। उनमें अन्तर नहीं पड़ता है। जैसे आयु का भाग सवसे स्तोक है, नाम, गोत्र में समान होकर, वह आयु की अपेक्षा अधिक है। उससे अधिक भाग आवरण अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय का है, इससे अधिक भाग मोहनीय में है। सबसे अधिक भाग वेदनीय में है, इसका कारण उसका सुख दुःख में निमित्त होना है। शेष कर्मो के भाग की अधिकता उनकी अधिक स्थिति होने के कारण है। गाथा १८-१९ गोमट्टसार कर्म कान्ड गाथा १९२-१९३ धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३८७ पुस्तक नम्बर १०। जब तत्वार्थ सूत्र के छटवाँ अध्याय में ज्ञान में बाधा डालने से ज्ञानावरण में विशेष बन्ध पड़ेगा। दर्शन में बाधा डालने से दर्शनावरण में विशेष बन्ध पड़ेगा यह जो कथन है, वही तो उदीरणा भाव का कथन है। समय समय में जो वन्ध पड़ता है, उसी वन्ध में उदीरणा भाव से अपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण तथा निर्जरा होती है। यदि उदीरणा भाव न हो तो ये चार करण, में तीन करण बन नहीं सकता है, जिससे सिद्ध हुआ कि उदीरणा भाव है और वह बुद्धि पूर्वक रागादिक भाव का ही नाम है। यदि उदीरणा भाव न हो तो, अविपाक निर्जरा वन नहीं सकती है। जिस भाव से अविपाक निर्जरा होती है वही भाव का नाम उदीरणा भाव। आर्तध्यान रौद्रध्यान उदीरणा भाव में ही होते हैं। यदि उदीरणा भाव न माना जावे तो यह रौद्र एवं आर्तध्यान वन ही नहीं सकता है। इसी कारण से आर्त, रौद्र ध्यान को क्षयोपशमिक

भाव कारण में कार्य का उपचार कर माना गया है। क्योंकि आर्त ध्यान रौद्र ध्यान ज्ञान की उपयोग रूप अवस्था में ही होता है। इसी कारण ज्ञान क्षयोपशमिक भाव में उपचार कर रौद्र तथा आर्तध्यान के क्षयोपशमिक भाव माना है। यदि औदयिक भाव में आर्त रौद्र भाव होने लगे तो वह भाव से आत्मा बच ही नहीं सकती है। परन्तु आर्तध्यान और रौद्रध्यान करने से ही होता है,अथवा न होवे जिससे सिद्ध होता है, कि वह उदीरणा भाव में ही होता है। जिसका अक्रम पर्याय नाम है। यदि उदीरणा भाव में आर्तध्यान रौद्रध्यान न माना जाय और औदयिक भाव से अर्थात् कर्म के उदय में ही आर्तध्यान रौद्रध्यान होता है तो संसार का कोई भी जीव अर्थात् तीर्थंकरादिक भी आर्तध्यान रौद्रध्यान से बच नहीं सकते हैं। और आर्तध्यान रौद्रध्यान का फल निगोदि या नरकादिक है तो सब जीवों को वही गति में जाना पड़ेगा परन्तु ऐसा देखने में आता नहीं जिससे सिद्ध होता है कि आर्तध्यान, रौद्रध्यान, आहार, स्त्री भोगादिक उदीरणा भाव में ही होता है।

पाँच भावों में से कौनसा भाव से बन्ध होता है ?

शंका—पाँच भावों में से कौनसा भाव से कर्म का बन्ध होता है ?

समाधान—केवल औदयिक भाव से बन्ध होता है और भाव से बन्ध नहीं होता है कहा भी है कि—

ओदइया बंधयंरा उवसम खय मिस्सया य मोक्खयरा।
परिणामिओ दु भावो करणो हय वज्जियोहोदि ॥२॥

अर्थ—औदयिक भाव बन्ध के कारण है और औपशमिक, क्षायिक और मिश्र भाव मोक्ष के कारण है। पारिणामिक भाव बन्ध व मोक्ष दोनों के कारण नहीं है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २७९ पुस्तक नम्बर १२

नोट—यहाँ पर केवल औदयिक भाव को बन्ध का कारण कहा है। औदयिक भाव इक्कीस प्रकार का माना गया है। चार गति, तीन वेद, चार कषाय, एक मिथ्यात्व, एक असंयम, एक असिद्धत्व एक अज्ञान और छह लेश्या। चौदहवें गुण स्थान में गति असिद्धत्व भाव का उदय है परन्तु बन्ध नहीं है। अज्ञान भाव से भी बन्ध नहीं होता है। बन्ध का कारण केवल मिथ्यात्व, कषाय और लेश्या अर्थात् क्रिया है। श्रद्धागुण का विकार मिथ्यात्व है। चारित्र गुण का विकार कषाय है और क्रिया गुण का विकार प्रवृती है। और कोई आत्मिक गुण के विकार से बन्ध होता नहीं। कहा भी है कि—"मिथ्यात्व अव्रत, कषाय, योग बन्ध हेतुवा"। इससे सिद्ध हुआ कि औदयिक सब भावों से बन्ध नहीं होता है।

मिश्र भाव को मोक्ष का कारण कहा है। अंश में शुद्धता अंश में अशुद्धता का नाम मिश्र भाव है। अशुद्धता मोक्ष का कारण कैसे हो सकती है? सूक्ष्म विकारी परिणमन स्व जाति का बन्ध का कारण नहीं है। जैसे सम्यक्त्व प्रकृति के उदय में श्रद्धागुण में चल-मल दोप लगते हैं तो भी उनसे बन्ध नहीं होता है। उसी प्रकार चारित्रगुण का सूक्ष्म लोभ रूप परिणमन से चारित्र मोहनीय का बन्ध नहीं होता है परन्तु अन्य प्रकृतियों का बन्ध होता है। चारित्र गुण चौथे गुण स्थान से दसवां गुणस्थान तक क्षयोपशय भाव से परिणमन करता है। वहाँ चारित्र गुण जितने अंश में अशुद्ध परिणमन करता है इतना अंश में मिश्र भाव से अर्थात् क्षयोपशम भाव से बन्ध पड़ता है। सब गुणों का क्षयोपशम भाव बन्ध का कारण नहीं है केवल चारित्रगुण का क्षयोपशम भाव बन्ध का कारण है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ६ पुस्तक नम्बर १४ में लिखा है कि—

जो सो जीव भाव बंधो णाम सो तिविहो-विवागपच्चइयो जीव भाव बंधो चेव अविवाग पच्चइयो जीव भाव बंधो चेव तदुभय पच्चइओ जीव भाव बधो चेव ।। सूत्र नं० १४ ।।

अर्थ—जीव भाव बन्ध तीन प्रकार का है—विपाक प्रत्ययिक जीव भाव बन्ध, अविपाक प्रत्ययिक जीव भाव बन्ध, और तदुभय प्रत्ययिक जीव भाव बन्ध ।।१४।।

इस प्रकार तीन प्रकार का ही जीव भाव बन्ध है, क्योंकि, अन्य चौथा जीव भाव नहीं पाया जाता है। क्योंकि, उदय और उदीरणा को विपाक कहते हैं। और विपाक जिस भाव का प्रत्यय अर्थात् कारण है उसे विपाक प्रत्ययिक जीव भाव बन्ध कहते हैं। क्योंकि, उदय और उदीरणा के अभाव को अविपाक कहते हैं। क्योंकि, उपशम और क्षय को अविपाक कहते हैं। यह उक्त कथन का तात्पर्य है। अविपाक जिस भाव का प्रत्यय अर्थात कारण है उसे अविपाक प्रत्ययिक जीव भाव बन्ध कहते हैं। क्योंकि, उदय और उदीरणा से तथा इनके उपशम से जो भाव उत्पन्न होता है उसे तदुभय प्रत्ययिक जीव भाव बन्ध कहते हैं।

जो विपाक प्रत्ययिक जीव भाव वन्ध है उसका निर्देश इस प्रकार है—देव भाव, मनुष्य भाव, तिर्यंच भाव, नारक भाव, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, क्रोधवेद, मानवेद, मायावेद, लोभवेद, रागवेद, दोषवेद, मोहवेद, कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, पीतलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या, असंयतभाव, अविरतभाव, अज्ञानभाव, और मिथ्यादृष्टिभाव तथा इसी प्रकार कर्मोदय प्रत्ययिक उदय विपाक से उत्पन्न हुए और जितने भाव हैं वे सब विपाक प्रत्ययिक जीव भाव वन्ध है। सूत्र नं० १५ ।।

अविपाक प्रत्ययिक जीव भाव बन्ध दो प्रकार का है। औपशमिक अविपाक प्रत्ययिक जीव भाव वन्ध और क्षायिक अविपाक प्रत्ययिक जीव भाव बन्ध ।।सूत्र नं० १६।।

जो औपशमिक अविपाक प्रत्ययिक जीव भाव वन्ध है उसका निर्देश इस प्रकार है। उपशान्त क्रोध, उपशान्तमान, उपशान्तमाया, उपशान्तलोभ, उपशान्तराग, उपशान्तद्वेष, उपशान्तमोह, उपशान्त कषाय, वीतरागछद्मस्थ, औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र, तथा इनसे लेकर और जितने औपशमिक भाव है, वह सब औपशमिक अविपाक प्रत्ययिक जीव भाव वन्ध है। सूत्र नं० १७।।

जो क्षायिक अविपाक प्रत्ययिक जीव भाव वन्ध है, उसका निर्देश इस प्रकार है। क्षीणक्रोध, क्षीणमान, क्षीणमाया, क्षीणलोभ, क्षीणराग, क्षीणद्वेष, क्षीणमोह, क्षीणकषाय, वीतरागछद्मस्थ, क्षायिक-सम्यक्त्व, क्षायिकचारित्र, क्षायिकदानलब्धि, क्षायिकलाभलब्धि, क्षायिकभोगलब्धि, क्षायिकउपभोगलब्धि, क्षायिकवीर्यलब्धि, केवलज्ञान, केवलदर्शन, सिद्ध, बुद्ध, परिनिर्वृत सर्वदुःख अन्तकृत, इसी प्रकार और भी जो दूसरे क्षायिकभाव होते हैं वह सब क्षायिक अविपाक प्रत्ययिक जीव भाव वन्ध है। सूत्र नं० १८।।

जो तदुभय प्रत्ययिक जीव भावबन्ध है उसका निर्देश इस प्रकार है—क्षयोपशमिक एकेन्द्रिय लब्धि, क्षयोपशमिक द्विन्द्रिय लब्धि, क्षयोपशमिक त्रिन्द्रिय लब्धि, क्षयोपशमिक चतुरिन्द्रिय लब्धि, क्षयोपशमिक पञ्चेन्द्रिय लब्धि, क्षयोपशमिक मत्यज्ञानी, क्षयोपशमिक श्रुताज्ञानी, क्षयोपशमिक विभंग ज्ञानी, क्षयोपशमिक आभिनिबोधिकज्ञानी, क्षयोपशमिक श्रुत ज्ञानी, क्षयोपशमिक अवधि ज्ञानी, क्षयोपशमिक मनःपर्ययज्ञानी, क्षयोपशमिक चक्षुदर्शनी, क्षयोपशमिक अचक्षुदर्शनी, क्षयोपशमिक अवधि दर्शनी, क्षयोपशमिक सम्यक्त्व मिथ्यात्व लब्धि, क्षयोपशमिक सम्यक्त्व लब्धि, क्षयोपशमिक संयमासंयम लब्धि, क्षयोपशमिक संयम लब्धि, क्षयोपशमिक दान लब्धि, क्षयोपशमिक लाभ लब्धि, क्षयोपशमिक भोग लब्धि,

क्षयोपशमिक उपभोग लब्धि, क्षयोपशमिक वीर्य लब्धि, क्षयोपशमिक आचारधर, क्षयोपशमिक सूत्रकृद्धर, क्षयोपशमिक स्थानधर, क्षयोपशमिक समवायधर, क्षयोपशमिक व्याख्या प्रज्ञप्तिधर, क्षयोपशमिक नाथधर्मधर, क्षयोपशमिक उपासकाध्यनधर, क्षयोपशम अन्तकृद्धर, क्षयोपशमिक अनुत्तरोपपादिकदशधर, क्षयोपशमिक प्रश्नव्याकरणधर, क्षयोपशमिक विपाकसूत्रधर, क्षयोपशमिक दृष्टिवादधर, क्षयोपशमिक गणी, क्षयोपशमिक वाचक, क्षयोपशमिक दशपूर्वधर, क्षयोपशमिक चतुर्दशपूर्वधर, ये तथा इसी प्रकार के और भी दूसरे जो क्षयोपशमिक भाव हैं वह सब तदुभय प्रत्ययिक जीव भाव वन्ध है ॥सूत्र नं० १९॥

नोट—उपर में केवल औदयिक भाव वन्ध का कारण कहा है और औपशमिक भाव, क्षायिक भाव और क्षयोपशमिक भाव मोक्ष का कारण कहा है। और यहाँ पर सूचना १४ में तीन प्रकार के जीव भाव वन्ध कहा। (१) विपाक प्रत्ययिक जीव भाव वन्ध जिनको औदयिक भाव कहा है (२) अविपाक प्रत्ययिक जीव भाव वन्ध जिनको औपशमिक तथा क्षायिक भाव कहा है (३) तदुभय विपाक प्रत्ययिक जीव भाव वन्ध जिनको क्षयोपशमिक भाव कहा है। उपशम भाव तथा क्षायिक भाव एवं क्षयोपशम भाव को उपर में मोक्षका कारण कहा और यहाँ पर जीव भाव वन्ध कहा। उपशमिक भाव क्षायिक भाव तो स्वभाव भाव है उनसे वन्ध कैसे हो सकते हैं? क्षयोपशमिक भाव में गुण, अंश में शुद्धता एवं अंश में अशुद्धता है तो भी ज्ञान दर्शन वीर्य गुण के विकार से वन्ध होता ही नहीं। वन्ध का कारण तो मिथ्यात्व कषाय और लेश्या है तो भी तदुभय प्रत्ययिक जीव भाव वन्ध कहा। यह सब विचारने की वात है। यह कथन तो मूल सूत्र करते हैं। पाठक स्वयं विचार करें। हमको तो चुप्पी अङ्गीकार करना ही उत्तम मार्ग है। जो जीव उदीरणा भाव को मानते ही नहीं है उनके विपाक प्रत्ययिक से मालूम हुआ होगा कि विपाक प्रत्ययिक में औदयिक एवं उदीरणा दोनों ही भाव आ जाते हैं। औदयिक भाव में कर्म का उदय कारण है और आत्मा के भाव कार्य है। उदीरणा भाव में आत्मा के भाव कारण है और द्रव्य कर्म का उदयावली में आना कार्य है। अबुद्धिपूर्वक भाव का नाम औदयिक भाव है और बुद्धिपूर्वक भाव का नाम उदीरणा भाव है।

अजीव भाव वन्ध तीन प्रकार का है—विपाक प्रत्ययिक अजीव भाव वन्ध, अविपाक प्रत्ययिक अजीव भाव वन्ध, और तदुभय प्रत्ययिक अजीव भाव वन्ध ॥सूत्र नं० २०॥

जो विपाक प्रत्ययिक अजीव भाव वन्ध होता है, उसका निर्देश इस प्रकार है—प्रयोग परिणत वर्ण, प्रयोग परिणत शब्द, प्रयोग परिणत गन्ध, प्रयोग परिणत रस, प्रयोग परिणत स्पर्श, प्रयोग परिणत गति, प्रयोग परिणत अवगाहना, प्रयोग परिणत संस्थान, प्रयोग परिणत स्कन्ध, प्रयोग परिणत स्कन्धदेश और प्रयोग परिणत स्कन्ध प्रदेश, ये और इनसे लेकर जो दूसरे भी प्रयोग परिणत संयुक्त भाव हैं वह सब विपाक प्रत्ययिक अजीव भाव वन्ध हैं। सूत्र नं० २१॥

जो अविपाक प्रत्ययिक अजीव भाव वन्ध है उसका निर्देश इस प्रकार है। विस्रसा परिणत वर्ण, विस्रसा परिणत शब्द, विस्रसा परिणत गन्ध, विस्रसा परिणत रस, विस्रसापरिणत स्पर्श, विस्रसा परिणत गति, विस्रसा परिणत अवगाहना, विस्रसा परिणत संस्थान, विस्रसा परिणत स्कन्ध, विस्रसा परिणत स्कन्ध देश, विस्रसा परिणत स्कन्ध प्रदेश, ये और इनसे लेकर इसी प्रकार के विस्रसा परिणत दूसरे संयुक्त भाव हैं वह सब अविपाक प्रत्ययिक अजीव भाव वन्ध हैं। सूत्र नं० २२॥

जो तदुभय प्रत्ययिक अजीव भाव वन्ध है उसका निर्देश इस प्रकार है—प्रयोग परिणत वर्ण और विस्रसा परिणत वर्ण, प्रयोग परिणत शब्द और विस्रसा परिणत शब्द, प्रयोग परिणत गन्ध और विस्रसा

परिणत गन्ध, प्रयोग परिणत रस और विस्रसा परिणत रस, प्रयोग परिणत स्पर्स और विस्रसा परिणत स्पर्स, प्रयोग परिणत गति और विस्रसा परिणत गति, प्रयोग परिणत अवगाहना और विस्रसा परिणत अवगाहना, प्रयोग परिणत संस्थान और विस्रसा परिणत संस्थान, प्रयोग परिणत स्कन्ध और विस्रसा परिणत स्कन्ध, प्रयोग परिणत स्कन्ध देश और विस्रसा परिणत स्कन्ध देश, प्रयोग परिणत स्कन्ध प्रदेश और विस्रसा परिणत स्कन्ध प्रदेश, ये और इनसे लेकर प्रयोग और विस्रसा परिणत जितने भी संयुक्त भाव है वह सव तदुभय प्रत्ययिक अजीव भाव बन्ध हैं। सूत्र नं० २३॥

नोट—यहाँ पर जो प्रयोग परिणत अजीव भाव बन्ध कहा है वह तो पुद्गल की अक्रम पर्याय है और जो विस्रसा परिणत अजीव भाव बन्ध कहा है, वह पुद्गल द्रव्य की क्रम बध पर्याय है। जो जीव केवल क्रम बध पर्याय मानते हैं उन जीवों के मुख पर इस सूत्र से ताला लग जाता है।

ध्यानाधिकार

ध्यान का स्वरूप—

जंथिर मज्झवसाणं तं झाणं जं चलंतयं चित्त

तं होइ भावणा वा अणुपेहा वा अहव चिंता ॥१२॥

अर्थ—जो परिणाम की स्थिरता होती है उसका नाम ध्यान है। और जो चित का एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में चलायमान होता है वह तो, भावना है, या अनुप्रेक्षा है या चिन्ता है। १२॥

नोट—यथार्थ में परिणामों की स्थिरता अर्थात् जितना अंश में वीतराग भाव की प्राप्त वही ध्यान है। वह ध्यान चारित्रगुण की शुद्ध अवस्था का नाम हैं। उस ध्यान की साथ में जो भावना वा अनुप्रेक्षा वा चिन्ता हैं वह ध्यान नहीं हैं परन्तु ध्यान में मल हैं, जिससे उन्हें व्यवहार ध्यान कहा जाता है। ध्यान संवर तथा निर्जरा भाव का नाम है। संवर निर्जरा उपादेय तत्त्व है। व्यवहार ध्यान पुन्य तत्व है वह उपादेय तत्व नहीं हैं। सत्तावन प्रकार का संवर में अनुप्रेक्षा को संवर कहा हैं वह यथार्थ में संवर नहीं परन्तु पुन्य भाव हैं। व्यवहार गुप्ति, समिति मुनि के दश धर्म, अनुप्रेक्षा, बाईस परीषह, और पंच महाव्रत के भाव निश्चय से संवर नहीं हैं परन्तु उस पुन्य भाव को संवर कहना व्यवहार हैं, पुन्यभाव को पुन्य भाव कहना निश्चय है, और पुन्य भाव को संवर मानना वह मान्यता का नाम मिथ्यात्व है। संवर का लक्षण आश्रव निरोधः संवर "कहा है। यथार्थ में मिथ्यात्व भाव का छुट जाना संवर है, कषाय का अभाव होना संवर है, और योग का अभाव होना संवर है, परन्तु" सगुप्ति समिति धर्म अनुप्रेक्षा परीपहजय चारित्रः संवर नहीं है परन्तु पुन्य भाव है। इनको संवर कहना व्यवहार है। व्यवहार को व्यवहार मानना सम्यक् ज्ञान है परन्तु व्यवहार को निश्चय मानना मिथ्या ज्ञान है।

"ध्यान के विपय में चार अधिकार हैं (१) ध्याता (२) ध्येय (३) ध्यान (४) ध्यान का फल॥ जो उत्तम संहनन वाला निसर्ग से बलशाली, निसर्ग से सूर, चौदह पूर्व को धारण करने वाला या नव, दश पूर्व के धारण करने वाला होता है। वह ध्याता हैं। क्योंकि, इतना ज्ञान हुए बिना जिसने नौ पदार्थों को भले प्रकार नहीं जाना हैं उसके ध्यान की उत्पत्ति नहीं हो सकती हैं।

शंका—यदि नौ पदार्थ विषयक ज्ञान से ही ध्यान की प्राप्ति सम्भव है तो चौदह, दश और नौ पूर्व धारियों के सिवा अन्य को भी वह ध्यान क्यों नहीं प्राप्त होता, क्योंकि, चौदह, दश और नौं पूर्वों के विना स्तोक ग्रन्थ से भी नौ पदार्थ विषयक ज्ञान देखा जाता हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि स्तोक ग्रन्थ से बीज बुद्धि मुनि ही पूरा जान सकते हैं उनके सिवा दूसरे मुनियों को जानने का अन्य कोई साधन नहीं हैं।

जीव, अजीव, पुन्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, वन्ध और मोक्ष इन नौ पदार्थों के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है, क्योंकि इनके सिवा अन्य कोई पदार्थ उपलब्ध नहीं होता। इसलिए स्तोकश्रुत से इनका ज्ञान करना शक्य नहीं है, क्योकि ऐसा मानने में विरोध आता है। और द्रव्यश्रुत का यहाँ अधिकार नहीं है, क्योंकि ज्ञान के उपलिंग भूत पुद्गल के विकार स्वरूप जड़ वस्तु को श्रुत मानने में विरोध आता है।

यदि कहा जाय कि स्तोक द्रव्य श्रुत से नौ पदार्थो को पूरी तरह जानकर शिवभूति आदि बीज वुद्धि मुनियों के ध्यान नहीं मानने से, मोक्ष का अभाव प्राप्त होता है, तो इस पर यह कहना है, कि स्तोक ज्ञान से यदि ध्यान होता है, तो वह क्षपकश्रेणी व उपशम श्रेणी के अयोग्य धर्म ध्यान ही होता है, परन्तु चौदह, दश और नौं पूर्वों के धारी तो धर्म शुक्ल दोनों ही ध्यानों के स्वामी होते हैं, क्योंकि ऐसा मानने में कोई विरोध नहीं आता हैं। इसलिए उन्हीं का यहाँ निर्देश किया है।

वह ध्याता सम्यग्दृष्टि होता है कारण के नौ पदार्थ विषयक रुचि, प्रतीति और श्रद्धा के बिना ध्यान की प्राप्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि उसकी प्रवृत्ति के मुख्य कारण संवेग निर्वेद अन्यत्र नहीं हो सकते।

वह ध्याता समस्त वहिरंग और अन्तरंग परिग्रह का त्यागी होगा, क्योंकि जो क्षेत्र, वास्तु धन धान्य, द्विपद, चतुष्पद, यान, शयन, आशन, शिष्य, कुलगण, और संघ के कारण उत्पन्न हुए मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नंपुसकवेद आदि अन्तरंग परिग्रह की कांक्षा से वेष्टित है उसके शुभ ध्यान नहीं वन सकता। इस विषय में गाथा—

ज्झाणिस्स लक्खणं से अज्जव लहुअत्त बुड्ढवुवएसा।
उवए साणासुत्तं णिस्सग्गगदाओ रूचियो से ॥१३॥

अर्थ—जिसकी उपदेश जिनाज्ञा, और जिन सूत्रके अनुसार आर्जव, लघुता, और वृद्धत्व गुण से युक्त स्वभावगत रुचि होती है वह ध्यान करने वाला लक्षण है।

वह ध्याता एकान्त और प्रासुक ऐसे पहाड़, गुफा, कन्दरा, प० भार (गिरिगुफा) श्मशान, आराम और उद्यान आदि देश में स्थित होता है, क्योंकि अन्यत्र मन के विक्षेप के हेतु भूत पदार्थ दिखाई देने से शुभध्यान के विनाश का प्रसंग आता है।

वह ध्याता अपनी सुखासन अर्थात् सहज साध्य, आसन से वैठता है, क्योंकि असुखासन से वैठने पर उसके अंग दुःखने लगते हैं, जिससे ध्यान में व्याघात होना सम्भव है। इस विषय में गाथा—

जच्चिय देहावत्था जया ण ज्झाणावरोहिणी होइ।
ज्झाएज्जो तदवत्थो ट्ठियो णिसण्णो णिवण्णो वा ॥१४॥

अर्थ—जैसे भी देह की अवस्था जिस समय ध्यान में वाधक नहीं होती उस अवस्था में रहते हुए खड़ा होकर या वैठकर कार्योत्सर्ग पूर्वक ध्यान करें। १४॥

उस ध्याता के ध्यान करने का कोई नियत काल नहीं है, क्योंकि, सर्वदा शुभ परिणामों का होना सम्भव है। इस विषय में गाथा—

सव्वासु वट्टमाणा मुणओ जं देस काल चेट्ठासु।
वरकेवलादिलाहं पत्ता बहुसो खवियपावा ।१५॥

अर्थ—सब देश, सब काल, और सब अवस्थाओं में विद्यमान मुनि अनेकविध पापों का क्षय करके उत्तम केवलज्ञान आदि को प्राप्त हुए ॥१५॥

तो जत्थ समाहाणं होज्ज मणो वयण-काय जोगाणं।
भूदोवघायरहियो सो देसो ज्झाय माणस्स ॥१६॥

अर्थ—मनोयोग, वचन योग, काययोग का जहाँ समाधान हो, और जो प्राणिओं के उपघात से रहित हो वही देश ध्यान करने वाले के लिए उचित है ॥१६॥

णिच्चं विय जुवइ पसु णवूसय कुसीलवज्जियं जेइयों।
ट्ठाणं वियणं भणियं विसेसदो ज्झाण कालम्मि ॥१७॥

अर्थ—जो स्थान स्वापद, स्त्री, पशु, नपुंसक और कुशीलजनों से रहित हो और जो निर्जन हो, यति जनों को विशेष रूप से ध्यान के समय ऐसा ही स्थान उचित माना है ॥१७॥

थिरकयजोगाणं पुण मुणीण झाणेसु णिच्चलमणाणं।
गामम्मि जणाइण्णे सुण्णे रण्णे य ण विसेसो ॥१८॥

अर्थ—परन्तु जिन्होंने अपने योगों को स्थिर कर लिया है, और जिसका मन ध्यान में निश्चल है, ऐसे मुनियों के लिए, मनुष्यों से व्याप्त, ग्राम में और सून्य जङ्गलों में कोई अन्तर नहीं है ॥१८॥

कालो वि सो च्चिय जहिं जोगसमाहाण मुत्तमं लहइ।
ण उ दिवस णिसा वेलादिणियमणं ज्झाइणो समए ॥१९॥

अर्थ—काल वही योग्य है, जिसमें उत्तम रीति से योग का समाधान प्राप्त होता हो। ध्यान करने वाले के लिए दिन, रात्रि और वेला आदि रूप से समय में किसी प्रकार का नियमन नहीं किया जा सकता ॥१९॥ धवल ग्रन्थ पृष्ठ ६४-६७ पुस्तक नम्बर १३

नोट—यहां पर द्रव्य श्रुत की तो कीमत ही नहीं है, केवल भाव श्रुत की ही महिमा हैं, क्योंकि, द्रव्य श्रुत ज्ञानावरणीय कर्मो के क्षयोपशम के आधीन है, परन्तु, भाव श्रुत मोहनीय कर्म के आधीन है। ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम हीन हो, और सम्यग्दर्शन है तो वह जीव ध्यान कर रागादिक का नाश कर केवल ज्ञान की प्राप्ति कर सकता हैं। परन्तु जिस जीवों को ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम विशेष है और सम्यग्दर्शन नहीं है, तो वह संसार तत्व ही है। आत्म ज्ञान होगया उस जीव ने चौदह पूर्ण को जान लिया, क्योंकि, चौदह पूर्व में केवल आत्मा का ही वर्णन है। जिसने आत्मा को जान लिया उसने चौदह पूर्व को जान लिया, और जिससे केवल द्रव्य श्रुत का ज्ञान किया और आत्म ज्ञान न हुआ उसने कुछ नहीं जाना। इससे सिद्ध हुआ कि सम्यग्दृष्टि आत्माएं ही ध्यान कर सकती हैं। ध्यान में ज्ञान का क्षयोपशम की महिमा नहीं है, परन्तु जितना अंश में रागद्वेष की निवृती है उतने

अंश में ध्यान है, क्योंकि, ध्यान चारित्र गुण की पर्याय का नाम है, परन्तु ज्ञान गुण की पर्याय का नाम नहीं है।

धर्म ध्यान का स्वरूप तथा वह कौनसे गुणस्थान तक रहता है ?

शंका—यदि समस्त समय सद्भाव धर्मध्यान का ही विषय है, तो शुक्ल ध्यान का कोई विषय शेष नहीं रहता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, दोनों ही ध्यान में विषय की अपेक्षा कोई भेद नहीं है।

शंका—यदि ऐसा है तो दोनों ही ध्यान में एकत्व अर्थात अभेद-प्राप्त होता है। क्योंकि, दंशमशक सिंह, भेड़िया, व्याघ्र और भालू (रीछ) द्वारा भक्षण किया गया भी, वसूला द्वारा छीला गया भी, करोंतो द्वारा फाड़ा गया भी, दावानल के शिखा, मुख द्वारा ग्रसा गया भी, शीतवात और आताप द्वारा बाधा गया भी, और सैकड़ों करोड़ों अप्सराओं द्वारा लालित किया गया भी, जो जीव अवस्था में ध्येय से चलायमान नहीं होता, वही जीव की अवस्था ध्यान कहलाती है, इस प्रकार का यह स्थिर भाव, दोनों ध्यान में समान है अन्यथा ध्यान रूप परिणाम की उत्पत्ति नहीं हो सकती ?

समाधान—यहां इस शंका के समाधान में कहते हैं कि यह बात सत्य है कि इन दोनों प्रकार के स्वरूपों की अपेक्षा दोनों ही ध्यानों में कोई भेद नहीं है। किन्तु इतनी विशेषता है कि धर्म ध्यान एक वस्तु में स्तोक काल तक रहता है, क्योंकि कषाय सहित परिणाम का गर्भ गृह के भीतर स्थिर दीपक के समान चिरकाल तक अवस्थान नहीं बन सकता।

शंका—धर्म ध्यान कषाय सहित जीवों के ही होता है यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

समाधान—असंयत सम्यग्दृष्टि, संयता संयत, प्रमत संयत, अप्रमत संयत, क्षपक और उपशामक, अपूर्वकरण संयत, क्षपक और उपशामक अनिवृत्ति करण संयत, तथा क्षपक और उपशामक सूक्ष्म साम्पराय संयत जीवों के धर्मध्यान की प्रवृत्ति होती है ऐसा जिनदेव का उपदेश है। इससे जाना जाता है कि धर्म ध्यान कषाय सहित जीवों के होता है।

परन्तु शुक्ल ध्यान के एक पदार्थ में स्थित रहने का काल धर्म ध्यान के अवस्थान काल से संख्यात गुणा है, क्योंकि, वीतराग परिणाम मणि की शीखा के समान बहुत काल के द्वारा भी चलायमान नहीं होता।

शंका—उपशान्त कषाय गुणस्थान में पृथक्त्व वितर्क विचार ध्यान का अवस्थान अन्तर्मुहूर्त काल ही पाया जाताहै ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, वीतरागता का अभाव होने से उसका विनाश बन जाता है।

शंका—उपशान्त कषाय के ध्यान का अर्थ से अर्थान्तर में गमन देखा जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अर्थान्तर में गमन होने पर भी एक विचार से दूसरे विचार में गमन नहीं होने से ध्यान का विनाश नहीं होता ?

शंका—वीतरागता के रहते हुए भी क्षीण कषाय में होने वाला एकत्व वितर्क अविचार ध्यान का विनाश देखा जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, आवरण का अभाव होने से केवली जिनका उपयोग अशेष द्रव्य पर्याय में उपयुक्त होने लगता है, इसलिए एक द्रव्य में या एक पर्याय में अवस्थान का अभाव देखकर उस ध्यान का अभाव कहा है।

इसलिये सकषाय और अकषाय रूप स्वामी के भेद से तथा अचिरकाल और चिरकाल तक अवस्थित रहने के कारण इन दोनों ध्यानों का भेद सिद्ध है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ७४-७५ पुस्तक नम्बर १३

नोट—यथार्थ में ध्यान जितना अंश में वीतराग भाव है उस भाव का नाम ध्यान है और उस वीतरागता के साथ में जितना अंश में राग है उसको व्यवहार ध्यान कहा जाता है, यथार्थ में ध्यान घूमता नही है, वही तो चिरकाल तक ही रहता है, परन्तु व्यवहार ध्यान घूमता है। जो घूमता है वह तो पुण्य भाव है, वह पुण्य भाव घुमता है परन्तु जितनी वीतरागता है वह तो चिरकाल तक ही रहती है। जैसे चतुर्थ गुण स्थान में अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव है वही तो ध्यान है और वह ध्यान ३३ सागर तक रहता है, परन्तु उसके साथ में अप्रत्यानावरण भाव क्रोधादिक है, वह घूमता है यथार्थ में वह ध्यान नहीं है, वह तो मन्दकषाय रूप आत्म परिणाम है, वह ध्यान नहीं है, परन्तु उसको व्यवहार ध्यान कहा जाता है। चारित्रगुण की निर्मल पर्याय का नाम ध्यान है, उसकी साथ में जितने अंश में मलीनता है वही मलीनता घूमती है, परन्तु वीतरागता घूमती नहीं है, वह तो जो प्राप्त हुई है वह तो रहती है।

शंका—कषाय सहित तीन गुण स्थानों के काल से चूंकि उपशान्त कषाय का काल संख्यातगुणा हीन है, इसलिए वीतराग ध्यान का अवस्थान काल संख्यातगुणा है यह बात नहीं बनती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, एक पदार्थ में कितने काल तक अवस्थान होता है इस बात को देखकर उक्त बात कही है। इस विषय में गाथा—

अंतोमुहुत्तमेत्तं चिंतावत्थाण मेगवत्थुम्हि।
छदुमत्थाणं ज्झाणं जोगणिरोहो जिणाणं तु ॥५१॥

अर्थ—एक वस्तु में अन्तमुंहूर्त काल तक चिन्ता का अवस्थान होना छदमस्थों का ध्यान है और योग निरोध जिन भगवान् का ध्यान है ।५१॥

अंतोमुहूत्तपरदो चिंता ज्झाणंतरं व होज्जाहि
सुचिरं पि होज्ज बहुवत्थु संकमें ज्झाण संताणो ॥५२॥

अर्थ—अन्तमुंहूर्त के बाद चिन्तान्तर या ध्यानान्तर होता है, या चिर काल तक बहुत पदार्थों का संक्रय होने पर भी एक ही ध्यान संतान होती है ।५२॥

होंति कमविसुद्धाओ लेस्साओ पीय पउम सुक्काओ।
धम्मज्झाणो वगयस्स तिव्व-मंदादि भेयाओ ॥५३॥

अर्थ—धर्म ध्यान को प्राप्त हुए जीव के तीव्र, मन्द आदि भेदों को लिये हुए क्रम से विशुद्धि को प्रात हुई पीत, पद्म और शुक्ल लेश्यायें होती हैं ।५३॥

नोट—तीव्र मन्दता वह कषाय है और कषायों को ध्यान कहना व्यवहार है, क्योंकि धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान रूप आत्म परिणाम उपादेय तत्व हैं जब कषाय उपादेय कैसे हो सकता है ? एक जाति की कषाय विशेष अर्न्तमुहुर्त तक रहेगी बादमें वह कषाय में परिवर्तन होता है। यथार्थ में कषाय का परिवर्तन

अर्थात् कषाय की मन्दता या तीव्रता ध्यान नहीं है। उसको ध्यान कहना व्यवहार है यथार्थ में तो वह ध्यान का मल है। अनुत्तर विमान वासी देवों की शुक्ल लेश्या है इसका यह अर्थ नहीं है वहाँ आत्म शान्ति रूप ध्यान विशेष है। वहाँ आत्मा तीन् कषायों से जल रहा है जब व्रतधारी पंचमगुण स्थान वर्ती आत्मा लड़ाई लड़ रहा है तो भी आतमशान्ति रूपी ध्यान वहाँ विशेष है। ध्यान ज्ञान की पर्याय नहीं है परन्तु चारित्रगुण की निर्मल पर्याय का नाम है वह बात भूलना नहीं चाहिए। जो ज्ञेय से ज्ञेयान्तर जाती है वह तो कषाय परिणाम है और उस कषाय परिणामों को ध्यान कहना केवल व्यवहार हैं। यथार्थ में वह वस्तु स्वरूप नहीं है। ध्यान का लक्षण "एकाग्र चिन्ता निरोध" जो कहा है उसमें एकाग्र की मुख्यता नहीं है परन्तु चिन्ता निरोध की मुख्यता है अर्थात् चिन्ता का नाश कषाय का नाश, वही ध्यान है। जितना अंश में कषाय है वह ध्यान नहीं है वह तो ध्यान का मल है अर्थात् व्यवहार ध्यान है और वही मल घूमता है वीतरागता तो घूमती नहीं है।

शंका—यह धर्म ध्यान में परिणमता है यह किस प्रमाण से जाना जाता है?

समाधान—जिन साधुओं के गुणों की प्रशंसा करना, विनय करना, और दान सम्पत्ति से जाना जाता है। इस विषय में गाथा ये है—

धर्म ध्यान के लिंग—

आगम उवदेसाणा णिसग्गदो जं जियप्पणीयाणं।
भावाणं सद्दहणं धम्म ज्झाणस्स तल्लिंग ॥५४॥

अर्थ—आगम उपदेश और जिन आज्ञा के अनुसार निसर्ग से जो जिन भगवान् के द्वारा कहे गये पदार्थों की श्रद्धा ही होती है, वह धर्म ध्यान का लिंग है। ॥५४॥

जिन साहुगुणुक्कित्तण पसंसणा विणय दाणसंपण्णा।
सुद सील संजमरदा धम्माज्झाणे मणेयव्वा ॥५५॥

अर्थ—जिन और साधुओं के गुणों का कीर्तन करना, प्रशंसा करना, विनय करना, दान सम्पन्नता श्रुत शील, और संयम में रत होना, ऐ सब धर्मध्यान में होनी है, ऐसा जानना चाहिए ॥५५॥

नोट—यह सब पुन्य भाव है। पुण्य भाव बंध का कारण है और धर्म ध्यान मोक्ष का कारण है, दोनों परस्पर विरोधी भाव है। तो भी पुण्य भाव को धर्मध्यान कहना व्यवहार है। उसको पुण्य भाव कहना निश्चय है और ऐसा पुण्य भाव को धर्मध्यान मानना यह मान्यता का नाम मिथ्यात्व भाव है। पुण्य भाव न मिथ्यात्व है न सम्यग्दर्शन है पुण्य भावतो चारित्रगुण की मन्द कषाय का नाम हैं। ऐसी मन्द कषाय को मोक्षमार्ग मानना यह मान्यता श्रद्धा गुण की पर्याय है जो पर्याय का नाम मिथ्यादर्शन है। द्रव्यलिंगी मुनि के यह सब क्रियाओं करते सन्ते धर्म ध्यान है ही नहीं, उनका तो प्रथम मिथ्यात्व गुण स्थान ही है जब धर्म ध्यान अव्रत सम्यग्दृष्टि से ही शुरू होता हैं। इससे सिद्ध हुआ कि पुण्य भाव को धर्म ध्यान कहना व्यवहार मात्र है अर्थात उपचार है।

धर्मध्यान का फल—

शंका—धर्मध्यान का क्या फल है?

समाधान—अक्षपक जीवों को देवपर्याय सम्बन्धी विपुल सुख मिलना उसका फल है और गुण श्रेणी में कर्मों की निर्जरा होना भी उसका फल है तथा क्षपक जीवों के असंख्यात गुण श्रेणी रूप से

कर्म प्रदेशों की निर्जरा होना और शुभ कर्मो का उत्कृष्ट अनुभाग होना उसका फल है अतएव जो धर्म से अनपेत है वह धर्म ध्यान है यह बात सिद्ध होती है। इस विषय में गाथा में—

होंति सुहासव संवर णिज्जरामर सुहाइं विउलाइं।
ज्झाण वरस्स फलाइं सुहाणुबंधी णि धम्मस्स ॥५६॥

अर्थ—उत्कृष्ट धर्मध्यान के शुभ आश्रव, संवर, निर्जरा और देवों का सुख में शुभानुबन्धी विपुल फल होता है ॥५६॥ धवल ग्रन्थ पृष्ट ७६-७७ पुस्तक नम्बर १३

नोट—देखिये यह धर्म ध्यान का फल ? यह तो पुण्य भाव का फल है और पुण्य भाव को धर्म ध्यान कहना व्यवहार है। पाप कर्मों का आना रुक जाना उसको संवर माना हैं, पुन्य कर्मो का बन्ध को शुभ आश्रव माना है और पाप कर्म प्रवृतियों का झड़जाना उसको गुण श्रेणी निर्जरा मानी है। यह सब बातें द्रव्यलिंगि मुनि को होती है। क्या यह धर्म ध्यान उपादेय तत्व हो सकता है ? कभी भी नहीं ? ऐसा पुण्य भाव को उपादेय मानना ही मिथ्यात्व है, कैसा है वह पुण्य भाव ?

चत्ता पावारंभ समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्हि।
ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सो अप्पङ्ग सुद्ध ॥७९॥

अर्थ—पापारंम्भ को छोड़कर शुभ चारित्र में उधत होने पर भी यदि जीव मोहादिको नहीं छोड़ता तो वह शुद्ध आत्मा को नहीं प्राप्त होता ॥७६॥

टीका—जो जीव समस्त सावद्ययोग के प्रत्याख्यान स्वरूप परम सामायिक नामक चारित्र की प्रतिज्ञा करके भी धूर्त अभिसारिका (नायिका) की भाँति. शुभोपयोग परिणति से आभिसार (मिलन) को प्राप्त होता हुआ (शुभोपयोग परिणति के प्रेम में फंसता हुआ) मोहनी सेना की वशवर्तिता को दूर नहीं कर डालता-जिसके महादुःख संकट निकट है वह शुद्ध आत्मा को कैसे प्राप्त कर सकता है ?

यहां पर व्यवहार धर्म ध्यान को अर्थात् शुभ परिणती को धूर्त नायिका कीं उपमा दी है कि जैसे धूर्त नायिका धन लूट ले जाती हैं उसी प्रकार पुन्यभाव आतम धर्म लूट ले जाता है उन लुटेरों भावों को जो मोक्ष मार्ग में उपादेय मानता है वह अनन्त संसारी घोर मिथ्यादृष्टि है। वही बात कही है कि—

णहि मण्णदि जो एवं णथि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोह संछण्णो ॥७७॥

अर्थ—पुण्य और पाप में अन्तर नहीं है इस प्रकार जो जीव नहीं मानता वह मोहाच्छादित होता हुआ घोर अपार संसार में परिभ्रमण करता है।

टीका—शुभाशुभ उपयोग के द्वैत की भांति और सुख और दुःख के द्वैत की भांति परमार्थ से पुण्य पाप का द्वैत नहीं टिकता क्योंकि दोनों में अनात्मधर्मत्व अविशेष (समान) है ऐसा होने पर भी जो जीव उन दोनों में सुवर्ण और लोहे की बेड़ी की भांति अहंकारिक अन्तर मानता हुआ अहमेन्द्रपदादि सम्पदाओं के कारणभूत धर्मानुराग पर अत्यन्त निर्भर रूप से (गाढ रूप से) अवलम्बित है अर्थात् उपादेय मानता है, वह जीव वास्तव में चित भूमि के उपरक्त होने से (चित्त की भूमि कर्मोपाधि के निमित से रंगी हुई मलिन विकृत होने से) जिसने शुद्धोपयोग शक्ति का तिरस्कार किया (आत्म स्वभाव का तिरस्कार

किया है) ऐसा वर्तता हुआ संसार पर्यंत (जब तक इस संसार का अस्तित्व है तब तक सदा के लिए) शारीरिक दुःख का ही अनुभव करता है।

इससे सिद्ध हुआ कि धर्म ध्यान का जो फल है वह धर्म ध्यान नहीं है केवल बन्ध तत्व है ऐसा बन्ध तत्व को जो संवरनिर्जरा तत्व मानता है वही मिथ्याद्दष्टि है। व्यवहार धर्म ध्यान को व्यवहार धर्म ध्यान जानना मानना सम्यक्-ज्ञान है परन्तु उसको निश्चय धर्म ध्यान मानना वह मान्यता का नाम मिथ्यात्व है। यथार्थ में यह धर्म ध्यान नहीं है परन्तु धर्म ध्यान में मल है। वीतराग भाव का ही नाम धर्म ध्यान है उनके साथ में जितना पुण्य भाव है उसी को व्यवहार धर्म ध्यान कहा जाता है। यह केवल बोलने मात्र है श्रद्धा करने योग्य नहीं है। उस भाव को धर्म ध्यान माने तो वह मान्यता का नाम मिथ्यात्व है।

जिनागम में पुन्य भाव को "धर्म" ठहर-ठहर कहा है, यथार्थ में यह "धर्म" नहीं है केवल बोलने मात्र हैं। "उत्तम क्षमा आदि दशधर्म" यथार्थ में धर्म नहीं है परन्तु पुन्य भाव है। पुन्य भाव को "धर्म" कहना व्यवहार है और व्यवहार "उपचार" का ही नाम है। कार्तिकेय द्वादश अनुपेक्षा में गाथा नम्बर ४०८ में लिखा है कि—

एदे दहप्पयारा पावकम्मस्स णासिया भणिया ।
पुण्णस्स यं संजणया पर पुण्णत्थं णं कायव्वा ॥

अर्थ—यह दश प्रकार के मुनि धर्म हैं वह पाप कर्म का तो नाश करने वाले और पुण्य कर्म को उत्पन्न करने वाले कहे गये हैं। परन्तु केवल पुण्य के प्रयोजन से इनको अंगीकार करना उचित नहीं है।

पुण्य भाव को धर्म ध्यान कहना व्यवहार है यथार्थ में वह धर्म ध्यान नहीं है। वीतराग भाव का नाम धर्म ध्यान है क्योंकि धर्म ध्यान उपादेय तत्व है। जब पुण्य भाव हेय तत्व है ऐसी श्रद्धा न हुए तब तक जीव अज्ञानी मिथ्याद्दष्टि है।

अनेक आचार्यो ने धर्म ध्यान को सप्तम गुण स्थान तक ही माना है और बाद में शुक्ल ध्यान माना है। जब कि धवलाकार ने बारवाँ गुण स्थान तक धर्म ध्यान माना है। वह केवल अपेक्षा भेद है वस्तु स्वरूप में भेद नहीं है, क्योंकि, वीतराग भाव का नाम धर्म ध्यान है वही वीतराग भाव का नाम शुक्ल ध्यान है। वीतराग भाव में क्या अन्तर ? वह तो एक ही जाति का है। इसलिये यह कोई भेद नहीं है परन्तु केवल कथन शैली अलग है। आगे धवल ग्रन्थ में क्या लिखा है, देखिये।

शंका—मोहनीय कर्म का उपशम करना यदि धर्म ध्यान का फल है तो इससे मोहनीय कर्म का क्षय नहीं हो सकता है। क्योंकि, एक कारण से दो कार्यो की उत्पत्ति मानने में विरोध आता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, धर्म ध्यान अनेक प्रकार का है, इसलिये उससे अनेक प्रकार के कार्यो की उत्पत्ति मानने में विरोध नहीं आता।

शंका—एकत्व वितर्क अविचार ध्यान के लिये अप्रतिपाती विशेषण क्यों नहीं दिया ?

समाधान—नहीं क्योंकि, उपशान्त कषाय जीव के भव क्षय और काल क्षय के निमित्त से पुनः कषायों को प्राप्त होने पर एकत्व, वितर्क अविचार ध्यान का प्रतिपात देखा जाता है।

शंका—यदि उपशान्त कषाय गुणस्थान में एकत्व वितर्क अविचार ध्यान होता है "उवसंतो दुपुधत्तं" इत्यादि गाथा वचन के साथ विरोध आता है ?

समाधान—ऐसी शंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि, उपशान्त कषाय गुणस्थान में केवल पृथक्त्व वितर्क ध्यान ही होता है ऐसा कोई नियम नहीं है। और क्षीण कषाय गुणस्थान के काल में सर्वत्र एकत्व वितर्क अविचार ध्यान नहीं होता है ऐसा भी कोई नियम नहीं है, क्योंकि, वहां योग परावृति का कथन एक समय-अन्यथा बन नहीं सकता। इससे क्षीण कपाय के काल के प्रारम्भ में पृथक्त्व वितर्क ध्यान का अस्तित्व भी सिद्ध होता है। कहा भी है कि—

जह चिरसंचियमिं धणमणलो पवणुग्गदो धुवं दहइ ।
तह कम्मिंधणममियं खणेण झाणाणलो दहइ ॥६५॥

अर्थ—जिस प्रकार चिरकाल से संचित हुए ईंधन को वायु से वृद्धि को प्राप्त हुई अग्नि अति शीघ्र जला देती है, उसी प्रकार अपरिमित कर्म रूपी ईंधन को ध्यान रूपी अग्नि क्षण मात्र में जला देती है।

नोट—ज्ञान रूपी अग्नि में कषाय को जलाना वही ध्यान है अर्थात् जितने अंश में कषाय जलती हैं इतने अंश में ध्यान हैं और जितने अंश में कषाय है उसी कपाय को ध्यान कहना व्यवहार है। यथार्थ में वह ध्यान नहीं है परन्तु ध्यान में मल है अर्थात् दोप है। ध्यान चारित्र गुण की निर्मल पर्याय का नाम है और जितने अंश में चारित्र गुण की विकारी पर्याय है वह चारित्र नहीं है परन्तु चारित्र में "मल" है।

शुद्ध ध्यान का लिंग—

अभया संमोह विवेग विसग्गा तस्स होंति लिंगाइं ।
लिंगिज्जइ जेहि मुणी सुक्क उझाणोवगय चित्तो ॥

अर्थ—अभय, असंमोह, विवेक और विसर्ग ये शुक्ल ध्यान के लिंग हैं, जिनके द्वारा शुक्ल ध्यान को प्राप्त हुआ चित वाला मुनि पहिचाना जाता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ८१-८२ पुस्तक नम्बर १३।

नोट—यह व्यवहार चिन्ह है—यथार्थ में धर्म ध्यान को पहिचानना छद्मस्थ जीवों के ज्ञान का विपय नहीं है। व्यवहार से हम कह सकते हैं कि यह जीव में "धर्म ध्यान" प्राप्त हुआ है।

शुक्ल ध्यान का तीसरा पाया—

क्रिया का अर्थ योग है। वह जिसके पतनशील हो वही प्रतिपाती कहलाता है, और उसका प्रतिपक्ष अप्रतिपाती कहलाता है।

जिसमें क्रिया अर्थात् योग सूक्ष्म होता है, वह सूक्ष्म क्रिया कहा जाता और सूक्ष्म क्रिया होकर जो अप्रतिपाती होता है वह सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती ध्यान कहलाता है। यहाँ केवल ज्ञान के द्वारा श्रुत ज्ञान का अभाव हो जाता है इसलिये यह अवितर्क है और अर्थान्तर की संक्रान्ति का अभाव होने से अविचार है।

शंका—इस ध्यान में इनकी असंक्रान्ति का अभाव कैसे है ?

समाधान—इनके आलम्बन के बिना ही युगपत् त्रिकाल गोचर अशेप पदार्थो का ज्ञान होता है, इसलिये इस ध्यान में इनकी संक्राति के अभाव का ज्ञान होता है। कहा भी है कि—

अविद क्कमवीचारं सुहुमकिरियबंधण तंदिय सुक्कं ।
सुहुमम्मि कायजोगे भणिदं तं सव्व भाव गयं ॥७२॥

सुहुमम्मि कायजोगे वट्टंतो केवली तदिय सुक्कं।
ज्झायदि णिरूंभिदु जो सुहुमं तं काय जोगं पि ॥७३॥

अर्थ—तीसरा शुक्ल ध्यान अवितर्क, अविचार और सूक्ष्म क्रिया से सम्बन्ध रखने वाला होता है, क्योंकि, काय और योग के सूक्ष्म होने पर सर्वभावगत यह ध्यान कहा गया है ॥७२॥

जो केवली जिन सूक्ष्मकाय योग में विद्यमान होते हैं वे तीसरे शुक्ल ध्यान का ध्यान करते हैं, और सूक्ष्मकाय योग का भी निरोध करने के लिए उसका ध्यान करते हैं ॥७३॥

शंका—इस योग निरोध के काल में केवली जिन सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती ध्यान को ध्याते हैं, यह जो कथन किया हैं, वह बन नहीं सकता, क्योंकि, केवली जिन अशेप द्रव्य पर्यायों को विषय करते हैं, अपने सब काल में एक रूप रहते हैं, और इन्द्रिय ज्ञान से रहित है, अतएव उनका एक वस्तु में मन का निरोध करना उपलब्ध नहीं होता। और मन का निरोध किये विना ध्यान का होना सम्भव नहीं हैं, क्योंकि अन्यत्र ऐसा देखा नहीं जाता है ?

समाधान—यह कोई दोप नहीं है, क्योंकि, प्रवृत में एक वस्तु में चिन्ता का निरोध करना ध्यान है यदि ऐसा ग्रहण किया जाता है तो उक्त दोप आता है परन्तु यहाँ ऐसा ग्रहण नहीं करते हैं।

शंका—तो यहाँ किस रूप से ग्रहण करते हैं ?

समाधान—यहाँ उपचार से योग का अर्थ चिन्ता है उसका एकाग्र रूप से निरोध अर्थात् विनाश जिस ध्यान में किया जाता है वह ध्यान ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए, इसलिए यहाँ पूर्वोक्त दोष सम्भव नहीं है। इस विषय में गाथा—

तोयमिव णालियाए तत्तायसभायणोदरत्थं वा।
परिहादि कमेण तहा जोगजलं ज्झाणजलणेण ॥७४॥

अर्थ—जिस प्रकार नाली द्वारा जल का क्रमशः अभाव होता है, या तपे हुए लोहे के पात्र में स्थित जल का क्रमशः अभाव होता है, उसी प्रकार ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा योग रूपी जल का क्रमशः नाश होता है ॥७४॥ धवल ग्रन्थ पृष्ठ ८३-८६ पुस्तक नम्बर १३

नोट—यथार्थ में ध्यान चारित्र गुण की पर्याय है चारित्र गुण की शुद्धावस्था बारवें गुण स्थान के पहले समय में हो जाती है। एवं ज्ञान का घूमना भी राग के कारण से होता है अर्थात् वहाँ ज्ञान भी स्थिर हो गया है, अर्थात् ध्यान का जो लक्षण बनाया है उसकी पूर्ती वहाँ हो जाती है तो भी तीसरा शुक्ल ध्यान, चौथा शुक्ल ध्यान, कहना यह केवल पर गुणों की शुद्धता का आरोप करके किया जाता है। आरोप करना वह व्यवहार है और व्यवहार का नाम उपचार है। योग का अभाव स्वयं हो जाता है केवली जिन योग निरोध करने है वह केवल शाब्दिक व्यवहार है। योग का कारण शरीर है जब तक शरीर का संयोग रहेगा तब तक योग नियम से रहेगा ? निमित्त कारण का अभाव होने से शुद्ध पर्याय प्रगट होती है यह न्याय है और न्याय में तर्क नहीं चलता। तेरहवाँ गुणस्थान के अन्त तक शरीर रहता है बाद में परम औदारिक शरीर का परमाणु स्वयं कपूर की तरह विलय होता है। वज्रऋषभनाराच संहनन भी आपसे आप विलय हो जाता है। जब शरीर विलय हो जाता है तब शरीर रहने का कारण शरीर नामा नाम कर्म का उदय भी नहीं रहना हैं। इसी कारण से चौदहवें गुण स्थान के पहले समय में शरीर नामा नाम कर्म का उदय नहीं हैं। उदय नहीं होने से उदय का फल शरीर भी नहीं है, और शरीर भी नहीं होने से,

सयोगी केवली जिन अयोगि केवली हो जाता है तब चार प्राण में से केवल १ आयु प्राण रह जाता है और वचन प्राण, काय प्राण और स्वासोच्छ्वास प्राण का भी नाश हो जाता है। जिस कारण से अयोगि जिन अनहारक है अर्थात् शरीर के परमाणु ग्रहण नहीं करता है। जहाँ शरीर ही नहीं है तो शरीर के परमाणु कैसे ग्रहण करेगा? शरीर रह वे और परमाणु ग्रहण न करे ऐसा कभी भी बन नहीं सकता है, क्योंकि, पुद्गल का ऐसा ही स्वभाव है और स्वभाव परके प्रश्न का हेतु नहीं है। चौदहवें गुण स्थान में शरीर में कान्ति देने वाला तैजस शरीर का भी उदय नहीं है एवं कार्मण शरीर का भी उदय नहीं है। शरीर नामा नाम कर्म की कोई भी प्रकृति का वहाँ उदय नहीं है।

चतुर्थ शुक्ल ध्यान—

जिसमें क्रिया अर्थात् योग सम्यक् प्रकार से उच्छिन्न हो गया है वही समुछिन्न क्रिया कहलाता है। और समुच्छिन्न क्रिया होकर जो अप्रतिपाती है वह समुच्छिन्न क्रिया प्रतिपाती ध्यान है। यह श्रुत ज्ञान से रहित होने के कारण अवितर्क है जीव प्रदेशों के परिस्पन्द का अभाव होने से अविचार है या अर्थ व्यंजन और योग की संक्रान्ति के अभाव होने से अविचार है। इस विषय में गाथा—

अविदक्कमवीचारं अणियट्टी अकिरियं च सेलेसिं।
ज्झाणं णिरुद्धजोगं अपच्छिमं उत्तमं सुक्कं ॥७७॥

अर्थ—अन्तिम उत्तम शुक्ल ध्यान वितर्क रहित है, विचार रहित है। अनिवृति है, क्रिया रहित है, शैलसी अवस्था को प्राप्त है और योग रहित है ॥७६॥

योग का निरोध होने पर शेष कर्मों की स्थिति आयु कर्म के समान अन्तर्मुहूर्त होती है। तदनन्तर समय में शैलेसी अवस्था को प्राप्त होता है। और समुच्छिन्न क्रिय अनिवृति शुक्ल ध्यान को ध्याते है।

शंका—यहाँ ध्यान संज्ञा किस कारण से दी गई है?

समाधान—एकाग्र रूप से जीव के चिन्ता का निरोध अर्थात् परिस्पन्द का अभाव होना ही ध्यान है इस दृष्टि से ध्यान संज्ञा दी गई है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ८१ पुस्तक नम्बर १३।

नोट—चिन्ता का निरोध तो बारहवें गुण स्थान के पहले समय में हो गया है और परिस्पन्द का अभाव चौदहवां गुण स्थान के पहले समय में हो गया है- परन्तु ध्यान केवल अवगाहना अव्याबाद अगुरुलघु सूक्ष्म प्रदेशत्व आदि गुणों की शुद्धता के कारण से ध्यान कहा गया है। यह सब पर गुणों का आरोप है। आरोप को आरोप मानना ही सम्यक्ज्ञान है परन्तु आरोप को यथार्थ मानना सम्यक्ज्ञान नहीं है। ऐसी श्रद्धा निरन्तर रखना चाहिए।

जहाँ जहाँ ध्यान में आश्रव का आना लिखा हो वह यथार्थ में ध्यान नहीं है। आश्रव विकार से आता है और विकार को ध्यान कहना केवल उपचार है। क्योंकि, ध्यान उपादेय तत्व हैं और आश्रव हेय तत्व है ऐसी श्रद्धा न हुए और आश्रव भाव को ध्यान मान लेना वही मान्यता मिथ्यात्व की है।

ध्यान से नूतन कर्म का अभाव और शुभाश्रव का सद्भाव होता है—

पुव्वकयब्भासो भावणाहि ज्झाणस्स जोग्गदमुवेदि।
ताओ य णाण-दंसण-चरित्त-वेरग्गजणियाओ ॥२३॥
णवकम्माणादाणं पोराणवि णिज्जरा सुहादाणं।
चारित्तभावणाए ज्झाणमयत्तेण य समेइ ॥२६॥

अर्थ—जिसने पहले उत्तम प्रकार से अभ्यास किया है—वही पुरुष ही भावनाओं द्वारा ध्यान की योग्यता को प्राप्त होता है और वे भावनायें ज्ञान दर्शन चारित्र और वैराग्य से उत्पन्न होती है ॥२३॥

चारित्र भावना के बल से जो ध्यान में लीन है उसके नूतन कर्मों का ग्रहण नहीं होता है पुराने कर्मों की निर्जरा होती है और शुभ कर्मों का आस्रव होता है ॥२६॥ धवल ग्रन्थ पृष्ठ ५८ पुस्तक नंबर १३।

नोट—"भावना" बार-बार विचार करना उसी का नाम है। विचार विकल्प है वही विकल्प से पाप कर्मों की निर्जरा होती है और पुण्य कर्मो का बन्ध होता है वही भावना का नाम चारित्र व्यवहार से कहा जाता है। यथार्थ में वह चारित्र नहीं है। वह तो चारित्र में मल है। निःकषाय भाव का नाम चारित्र है और चारित्र से कभी बन्ध आश्रव होवे नहीं वही यथार्थ में ध्यान में। ध्यान कहो, चारित्र कहो, तप कहो सब ही एक अर्थवाचक हैं। परन्तु जिस भाव से आश्रव होता है उस भाव को चारित्र कहना ध्यान कहना व्यवहार है। वीतराग भाव का नाम चारित्र है यह निश्चय है। व्यवहार चारित्र को ध्यान को ध्यान मानना यह मान्यता का नाम मिथ्यात्व है। जहाँ मिथ्यात्व है वहाँ चारित्र नहीं है एवं संवर निर्जरा भाव भी नहीं है ऐसी श्रद्धा कार्य कारणी है।

पुद्गल द्रव्याधिकार

रूपी अजीव द्रव्य छह प्रकार का है !

धवल ग्रन्थ पृष्ठ २ पुस्तक नम्बर ३ में लिखा है कि—

रूपी अजीव द्रव्य का लक्षण कहते हैं। रूप, रस, गंध, स्पर्श से युक्त पुद्गल रूपी अजीव द्रव्य है। जैसे शब्दादि। यह रूपी अजीव द्रव्य छह प्रकार का है। पृथिवी, जल, छाया, नेत्र को छोड़ कर शेष चार इन्द्रियों के विषय कर्म स्कन्ध और परमाणु। कहा भी है कि—

पुढवी-जलं च छाया चउरिंदिय विसय-कम्म-परमाणू।
छव्विह भेयं भणियं पोग्गलदव्वं जिणवरेहिं ॥२॥गो० जी ६०१॥पंच्चा.॥८३.

अर्थ—जिनेन्द्रदेव ने पृथिवी, जल, छाया, नेत्र इन्द्रिय के अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियों के विषय, कर्म और परमाणु इस प्रकार पुद्गल द्रव्य छह प्रकार का है।

नोट—द्रव्य इसी का नाम है जिसका कभी भी नाश न हो। नाशवान है यह पर्याय है। पर्याय द्रव्य से अभिन्न है। मात्र परमाणु ही पुद्गल द्रव्य है जिसका नाश कभी भी होता ही नहीं तो भी उसकी अवस्था बदलती है। जल, पृथिवी, छाया चार इन्द्रियों के विषय कर्म आदि पुद्गल स्कन्ध हैं जिसका नाश देखा जाता है। एवं उनमें प्रदेश भेद है। यथार्थ में वह पुद्गल द्रव्य की विकारी पर्याय है। स्कन्ध पर्याय को द्रव्य कहना वह व्यवहार हैं। पर्याय को पर्याय कहना वह निश्चय है। स्कन्ध का प्रदेश भेद है और प्रदेश भेद को एक द्रव्य माना नहीं जाता है। तो भी स्कन्ध को शुद्ध द्रव्य मानता है तो वह मान्यता का नाम मिथ्यात्व है।

व्यवहार में वचन उपचार से बोला जाता है। परन्तु जैसा बोलता है ऐसी ही यदि श्रद्धा है तो वही श्रद्धा का नाम मिथ्या श्रद्धा है। निश्चय को सत्य रूप मानना सम्यक् ज्ञान है परन्तु व्यवहार कथन को निश्चय मानना यही मान्यता का नाम मिथ्यात्व है। व्यवहार कथन बोलने मात्र है परन्तु श्रद्धा करने योग्य नहीं है।

काल द्रव्याधिकार

काल द्रव्य—

काल का स्वरूप—धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३२१-३२२ पुस्तक नम्बर ४ में लिखा है कि—

शंका—देवलोक में तो दिन-रात्रि रूपी काल का अभाव है फिर वहाँ काल का व्यवहार कैसे होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यहाँ के काल से ही देवलोक में काल का व्यवहार होता है।

शंका—यदि जीव और पुद्गल का परिणाम ही काल है तो सभी जीव और पुद्गलों में काल को संस्थित होना चाहिए। तब ऐसी दशा में "मनुष्य क्षेत्र के एक सूर्यमण्डल में ही काल स्थित है" यह बात घटित नहीं होती है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, उक्त कथन निरवद्य (निर्दोष) है, किन्तु लोक में और शास्त्र में उस प्रकार का संव्यवहार नहीं है। पर अनादि निधन स्वरूप से सूर्यमण्डल की क्रिया-परिणामों में ही काल का संव्यवहार प्रवृत है। इसलिए इसका ही ग्रहण करना चाहिए।

शंका—काल कितने समय तक रहता है ?

समाधान—काल अनादि और अपर्यवसित है। अर्थात् काल का न आदि है न अन्त है।

शंका—काल का परिणमन करने वाला क्या उससे पृथग्भूत है, अथवा अनन्य (अपृथग्भूत) ? प्रथग्भूत तो कहा नहीं जा सकता है, अन्यथा अनवस्था दोष का प्रसंग प्राप्त होगा। और न अनन्य (अपृथग्भूत) ही, क्योंकि, काल के काल का अभाव प्रसंग आता है। इसलिए काल का काल से निर्देश घटित नहीं होता है।

समाधान—यह कोई दोष नहीं। इसका कारण यह है कि पृथमपक्ष में कहा गया दोष तो संभव नहीं है। क्योकि हम काल के काल को काल से भिन्न मानते ही नहीं है और न अनन्य या अभिन्न पक्ष में दिया गया दोष ही प्राप्त होता है। क्योंकि वह तो हमें इष्ट ही है। तथा काल का काल से निर्देश नहीं होता ऐसी भी बात नहीं है, क्योंकि, अन्य सूर्यमण्डल में स्थित काल द्वारा उससे पृथग्भूत सूर्यमण्डल में स्थित काल का निर्देश पाया जाता है। अथवा जैसे घट का भाव शिलापुत्रक का (पाषाण मूर्ति का) शरीर इत्यादि लोकोक्तियों में एक या अभिन्न में भी भेद व्यवहार होता है, उसी प्रकार से यहाँ पर भी एक या अभिन्न काल में भी भेद रूप से व्यवहार बन जाता है।

शंका—काल कितने प्रकार का होता है ?

समाधान—सामान्य से एक प्रकार का काल होता है। अतीत-अनागत और वर्तमान की अपेक्षा से तीन प्रकार का होता है। अथवा गुण स्थिति काल, भव स्थिति काल, कर्म स्थितिकाल, काय स्थिति काल, उदपाद काल, और भाव स्थिति काल इस प्रकार काल के छह भेद हैं। अथवा काल अनेक प्रकार का है। क्योंकि, परिणामों से पृथग्भूत काल का अभाव है तथा परिणाम अनन्त पाये जाते है।

व्यवहार काल का स्वरूप—

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ६५-६७ पुस्तक नम्बर ३ में लिखा है कि—असंख्यात समयों की एक आवली

होती है। संख्यात आवलीयों के समूह को एक उच्छ्‌वास कहते हैं। सात उच्छ्‌वासों का एक स्तोक होता है। सात स्तोको का एक लव होता है ॥३३॥ गो० जी० ५७४

साढ़े अड़तीस लवों की एक नाली होती हैं। और दो नालियों का एक मुहूर्त होता है। तथा मुहूर्त में से एक समय करने पर भिन्न मुहूर्त होता है। और शेष दो-तीन आदि समय कम करने पर अन्त मुहूर्त होता है ॥३४॥ गो० जी० ५७५,

जो सुखी है आलस्य रहित है, और रोगादिक की चिन्ता से मुक्त है ऐसे प्राणी के स्वासोच्छ्‌वास को एक प्राण कहते हैं ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है ॥३५॥ गो० जी० ५७४,

सभी मनुष्यों के तीन हजार सात सौ तेहतर उच्छ्‌वासों का एक मुहूर्त होता है ॥३६॥ गो० जी० प्र० टी० १२५ अनुपृष्ठ १६४, व्या० प्र० पृष्ठ ५००

कितने ही आचार्य सात सौ बीस प्राणों का एक मुहूर्त होता है ऐसा कहते हैं, परन्तु प्राकृत अर्थात् रोगादि से रहित स्वस्थ मनुष्य के उच्छ्‌वासों को देखते हुए उन आचार्यो का इस प्रकार कथन करना घटित नहीं होता है। क्योंकि जो केवली भाषित अर्थ होने के कारण प्रमाण है। ऐसे अन्य सूत्र के कथन के साथ उक्त कथन का विरोध आता है।

शंका—सूत्र से उक्त कथन में कैसे विरोध आता है?

समाधान—क्योंकि, ऊपर कहे गये सात सौ बीस प्राणों का चार से गुणा करने पर जो गुणान फल आवे उसमें सात कम नौ सौ अर्थात् आठ सौ तिरानवें और मिलाने पर सूत्र में कहे गये मुहर्त के उच्छ्‌वासों का प्रमाण आता है। इसलिये प्रतित होता है कि, उपर्युक्त मुहूर्त के उच्छ्‌वासों का प्रमाण सूत्र विरुद्ध है। यदि सात सौ बीस प्राणों का एक मुहूर्त होता है इस कथन को मान लिया जाय तो केवल इक्कीस हजार छह सौ प्राणों को द्वारा ही ज्योतिपियों के द्वारा माने हुए दिन अर्थात् अहोरात्र का प्रमाण होता हैं। किन्तु यहां आगमानुकूल कथन के अनुसार तो एक लाख तेरह हजार और एक सौ नव्बे उच्छ्‌वासों के द्वारा एक दिन अर्थात् अहोरात्र होता है।

शंका—इस प्रकार प्राणों के द्वारा दिवस के विषय में विवाद को प्राप्त हुए ज्योतिषियों के काल व्यवहार कैसे बन सकते है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, केवली के द्वारा कथित दिन और मुहूर्त के समान ही ज्योतिषियों के दिन और मुहूर्त माने गये है इसलिये उपर्युक्त कोई दोष नहीं है।

काल का कार्य क्या है?

धवलग्रन्थ पृष्ठ ३४६ पुस्तक नम्बर १३ में लिखा है कि—

अण्णेसिं दव्वाणं कमाक्कमेहि परिणामणहेदुत्तं कालं दव्वाणु भागो ॥

अर्थ—अन्य द्रव्यों के क्रम और अक्रम से परिणमन में हेतु होना काल द्रव्यानु भाग है।

एवं धवल ग्रन्थ पृष्ठ २३८ पुस्तक नम्बर ६ में लिखा है कि कृत्यर्थ नाम कृति आदि के भेद से सात प्रकार हैं।

शंका—एक कृति शब्द अनेक अर्थों में कैसे रहता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अनेक सहकारी कारणों की समीपता होने से एक से भी, बहुत कार्यों की उत्पत्ति देखी जाती है। तथा क्रम और अक्रम से अनेक धर्म रुप से परिणमन करने वाले पदार्थ देखे भी जाते हैं। और देखे गये पदार्थ का अपहनन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि, ऐसा होने पर अति प्रसंग दोष आता है ?

नोट—कालद्रव्य क्रम तथा अक्रम परिणमन करने में निमित मात्र है। इससे सिद्ध होता है कि द्रव्यों में क्रम तथा अक्रम परिणमन होता है तो भी जो जीव मात्र क्रमवद्ध ही परिणमन मानते हैं ऐसे जीवों के मुख पर ताला इस गाथा सूत्र अर्थात कालद्रव्य का कार्य से लग जाता है।

अर्ध पुद्गल परिवर्तन का स्वरूप—

धवलग्रन्थ पृष्ठ ३२६-३२७ पुस्तक नम्बर ४ में लिखा है कि—

शंका—अर्धपुद्गल परिवर्तन किसे कहते हैं ?

समाधान—इस अनादि संसार में भ्रमण करते हुए जीव के द्रव्य परिवर्तन, क्षेत्र परिवर्तन-काल परिवर्तन-भव परिवर्तन और भाव परिवर्तन इस प्रकार पांच परिवर्तन होते रहते हैं। इसमें से जो द्रव्य परिवर्तन है वह दो प्रकार का है। (१) नोकर्मपुद्गल परिवतंन (२) कर्म पुद्गल परिवर्तन उनमें से पहले नोकर्म पुद्गल परिवर्तन को कहते हैं। वह इस प्रकार है—

यद्यपि पुद्गल के गमनागमन के प्रति कोई विरोध नहीं है। तो भी बुद्धि से किसी विवक्षित पुद्गल परमाणु पुंज को आदि करके नोकर्म पुद्गल परिवर्तन के कहने पर विवक्षित पुद्गल परिवर्तन के भीतर सर्व पुद्गल राशि में से एक भी परमाणु नहीं भोगा है। ऐसा समझ कर पुद्गल परिवर्तन के प्रथम समय में सर्व पुद्गलों की अनुग्रहीत संख्या करनी चाहिए। अतीत काल में भी सर्व जीवों के द्वारा सर्व पुद्गलों का अनन्तवा भाग सर्व जीव से अनन्त गुणा और सर्व जीव राशि के उपरिम वर्ग से अनन्त गुणहीन प्रमाण वाला पुद्गल पुंज भोग कर छोड़ा गया है। इसका कारण यह है कि अभव्य सिद्ध जीवों से अनन्त गुणे और सिद्धों से अनन्तवे भाग से गुणित अतीत काल प्रमाण सर्व जीव राशि के समान भोग करके छोड़े गये पुद्गलों का परिमाण पाया जाता है।

शंका—यदि जीव ने आज तक भी समस्त पुद्गल भोग कर नहीं छोंड़े हैं तो

सव्वे वि पोग्गला खलु एगो भुत्तुज्झिदा हु जीवेण।
असइं अणंतखतो पोग्गल परियट्ठ संसारे ॥१८॥ स० सि० २-१० गो जी० जी प्र ५६०

अर्थ—इस पुद्गल परिवर्तन रूप संसार में समस्त पुद्गल इस जीव ने हर एक करके पुनः पुनः अनन्त वार भोग करके छोड़े हैं।

इस सूत्र गाथा के साथ विरोध क्यों नहीं होगा ?

समाधान—उक्त गाथा के साथ विरोध प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि गाथा में स्थित सर्व शब्द की प्रवृत्ति सर्व के एक भाग में की गई है। तथा सर्व के अर्थ में प्रवर्त्तित होने वाले शब्द की एक देश में प्रवृति होना असिद्ध भी नहीं है। क्योंकि ग्राम जल गया पद (जल पद) जल गया इत्यादि वाक्यों में उक्त शब्द ग्राम और पदों के एक देश प्रवृत हुए भी पाये जाते हैं।

अतएव पुद्गल परिवर्तन के आदि समय में औदारिक आदि तीन शरीर में से किसी एक शरीर के निस्पादन करने के लिए जीव अभव्य सिद्धों से अनन्त गुणे और सिद्धों से अनन्तवे भाग मात्र अगृहीत

सत्ता वाले पुद्गलों को ही ग्रहण करता है। उन पुद्गलों को ग्रहण करता हुआ भी अपने आश्रित क्षेत्र में स्थित पुद्गलों को ग्रहण नहीं करता है। कहा भी है कि—

एयक्खेत्तोगाढं सव्वपदेसेहि कम्मणो जोग्गं।
बधइ जहुत्तहेदु सादिय मध णादियं चावि ॥ गो० क० १८५ ॥१९॥

अर्थ—यह जीव एक क्षेत्र में अवगाढ रूप से स्थित और कर्म रूप परिणमन के योग्य पुद्गल परमाणुओं को यथोक्त (आगमोक्त मिथ्यादि) हेतुओं से सर्व प्रदेशों के द्वारा बाँधता है।

द्वितीय समय में भी विवक्षित पुद्गल परिवर्तन के भीतर अगृहीत पुद्गलों को ही ग्रहण करता है। इस प्रकार उत्कृष्ट काल की अपेक्षा अनन्त काल तक अगृहीत पुद्गलों को ही ग्रहण करता है। किन्तु जघन्य काल की अपेक्षा दो समयों में ही अगृहीत पुद्गलों को ग्रहण करता है। क्योंकि प्रथम समय में ग्रहण किये गये पुद्गलों को द्वितीय समय में निर्जरा करके अकर्म भाव (कर्म रहित अवस्था) को प्राप्त हुए वे ही पुद्गल पुनः तृतीय समय में उसी ही जीव में तो कर्म रूप पर्याय से परिणत हुए पाये जाते है।

शंका—प्रथम समय में ग्रहीत पुद्गल पुंज द्वितीय समय में निर्जीर्ण हो अकर्म रूप अवस्था को धारण कर पुनः तृतीय समय में उसी ही जीव में नोकर्म पर्याय से परिणत हो जाता है यह कैसे जाना ?

समाधान—क्योंकि अबाधा काल के बिना ही नोकर्म के उदय आदि के निषेकों का उपदेश पाया जाता है।

यह पुद्गल परिवर्तन काल तीन प्रकार का होता है। अगृहीत ग्रहण काल, ग्रहित ग्रहण काल और मिश्रग्रहण काल। विवक्षित पुद्गल परिवर्तन के भीतर जो अगृहीत पुद्गलों को ग्रहण करने वाला काल है उसे अगृहीत ग्रहण काल कहते हैं। विवक्षित पुद्गल परिवर्तन के भीतर गृहीतपुद्गलों के ही ग्रहण करने के काल को गृहीत ग्रहण काल कहते हैं। तथा विवक्षित पुद्गल परिवर्तन के भीतर गृहीत और अगृहीत इन दोनों प्रकार के पुद्गलों के अक्रम से अर्थात् एक साथ ग्रहण करने के काल को मिश्रग्रहण काल कहते हैं। इस तरह उक्त तीनों प्रकारों से जीवका पुद्गल परिवर्तन काल व्यतीत होता है।

अर्धपुद्गल परिवर्तन को अनन्त क्यों कहा ?

शंका – अनन्त किसको कहते हैं ?

समाधान—कहा भी है कि—

संते वए ण णिट्ठादि कालेणाणंतएण वि।
जो रासी सो अणंतो त्ति विणिद्दिट्ठो महेसिणा ॥२०॥

अर्थ—व्यय के होते रहने पर भी अनन्त काल द्वारा भी जो रासी समाप्त नहीं होती है उसे महर्षियों ने "अनन्त" इस नाम से विनिर्दिष्ट किया है।

शंका—यदि ऐसा है तो व्यय सहित अर्धपुद्गल परिवर्तन आदि रासीयों का अनन्तत्व नष्ट हो जाता है ?

समाधान—उनका अनन्तत्व नष्ट हो जावे इसमें क्या दोष है ?

शंका—किन्तु उन अर्ध पुद्गल परिवर्तन आदिकों में अनन्त का व्यवहार सूत्र तथा आचार्यों के व्याख्यान से प्रसिद्ध हुआ पाया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उन पुद्गल परिवर्तन आदि में अनन्तत्व का व्यवहार उपचार निवन्धनक है। अब इसी उपचार निबन्धनता को स्पष्ट करते हैं। जो पाषाणादिक का स्तम्भ प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा उपलब्ध है, वह जिस प्रकार से उपचार से "प्रत्यक्ष है" ऐसा लोक में कहा जाता है, उसी प्रकार से अवधिज्ञान के विषय का उल्लंघन करके जो राशियाँ स्थित है, वे सब अनन्त प्रमाण वाले केवलज्ञान के विषय है इसलिए उपचार से अनन्त है इस प्रकार से कही जाती हैं। अतएव सूत्र और आचार्यो के व्याख्यान से प्रसिद्ध अनन्त व्यवहार से यह व्याख्यान विरोध को प्राप्त नहीं होता है।

योगाधिकार

जिनागम में योग के विषय में अनेक सूत्र हैं। उनमें से कौनसा सूत्र यथार्थ है और कौनसा सूत्र उपचार का है। वह निर्णय न किये जावे तो तत्व के निर्णय में अनेक प्रकार की बाधायें आ जाती हैं। किसी जगह पर चार वचन योग और चार मनोयोग माने हैं। किसी जगह पर पांच वचन योग और पांच मनोयोग माने हैं। किसी जगह पर पांच मनोयोग और तीन वचन योग मूल सूत्रों में लिखा है। उनमें से एक कथन परमार्थ है और कथन उपचार का है वह स्वयं सिद्ध हो जाते हैं! विशेषकर जीवों योग को पुद्गल का ही मानते है परन्तु आत्मा के मानते ही नहीं हैं। आत्मयोग होने में मन, वचन और काय निमित्त कारण है परन्तु वह आत्म के उपादान कारण नहीं है। यदि आत्मा में विकार रूप योग का परिणमन न होते तो निमित्त किसका? नैमित्तिक पर्याय हुई किसमें? निमित्त रूप परिणमन अलग द्रव्य है और नैमित्तिक रूप परिणमन अलग द्रव्य में होता है। दोनों परिणमन को एक ही द्रव्य का मानना वही मान्यता मिथ्यात्व की है। निमित्त को निमित्त कहना निश्चय है और निमित्त को कर्ता कहना वह उपचार है या व्यवहार है। और निमित्त को कर्ता मानना यह मान्यता मिथ्यात्व की है। कर्ता उपादान ही होते है। अर्थात् परिणाम की साथ में परिणामी का तादात्म सम्बन्ध है परन्तु निमित्त की साथ में तादात्म सम्बन्ध नही है।

धवल ग्रन्थ पुस्तक नम्बर १४ पृष्ठ ५५० में लिखा है कि—

भासा दव्ववग्गणा णाम का ॥७४२॥

अर्थ—भाषा द्रव्य वर्गणा क्या है ॥०४२॥

भासा दव्ववग्गणा चउव्विहाए भासाए गहणं पवत्तदि ॥सूत्रनं- ७४३॥

अर्थ—भाषा द्रव्य वर्गणा चार प्रकार की भाषा रूप से ग्रहण होकर प्रवृत होती है ॥७४३॥

सच्चभासाए मोसभासाए सच्चमोसभासाए असच्चमोसभासाए जाणि दव्वाणि घेत्तूण सच्चभासत्ताए मोसभासत्ताए सच्चमोसभासत्ताए असच्चमोसभासत्ताए परिणामेदुण णिस्सारंति जीवा ताणि भासादव्ववग्गणा णाम ॥७४४॥

अर्थ—सत्य भाषा, मोष भाषा, सत्य मोष भाषा और असत्य मोष भाषा के जिन द्रव्यों को ग्रहण कर सत्य भाषा, मोष भाषा, सत्य मोष भाषा और असत्य मोष भावा रूप से परिणमन कर जीव उन्हें निकालते हैं उन द्रव्यों की भाषा द्रव्य वर्गणा संज्ञा है ॥७४॥

भाषा द्रव्य वर्गणा सत्य, मोष, सत्य मोष और असत्य मोष के भेद से चार प्रकार की है।

शंका—यह चार प्रकार की हैं यह किस प्रमाण से जाना जाता हैं?

समाधान—उसको चार प्रकार की भाषा रूप कार्य अन्यथा बन नहीं सकता है, इससे जाना जाता है कि वह चार प्रकार की है।

मण दव्ववग्गणा णाम का ।।सूत्र नं० ७४९।।

अर्थ—मनो द्रव्यवर्गणा क्या है। सूत्र नं० ७४९।।

मण दव्ववग्गणा चउव्विहस्स मणस्सगहणं पवत्तदि ।।७५०।।

अर्थ—मनो द्रव्य वर्गणा चार प्रकार के मन रूप से ग्रहण होकर प्रवृत होती है। ७५०।।

सच्चमणस्स मोसमणस्स, सच्चमोसमणस्स, असच्चमोसमणस्स जाणि दव्वाणि घेतूण सच्चमणताए परिणामेदूणं परिणमंति जीवा ताणि दव्वाणि मण दव्ववग्गणा णाम ।।सूत्र नं० ७५१।।

अर्थ—सत्यमन, मोषमन, सत्यमोपमन और असत्य मोष मन के जिन द्रव्यों को ग्रहण कर सत्यमन, मोषमन, सत्यमोपमन और असत्यमोषमन रूप से परिणमा कर जीव परिणमन करते हैं उन द्रव्यों की मनो द्रव्य वर्गणा संज्ञा है। सूत्र नं० ७५१।।

मनो द्रव्य वर्गणा चार प्रकार की है, सत्यमनप्रायोग्य, मोषमनप्रायोग्य, सत्यमोपमन प्रायोग्य और असत्यमोपमन प्रायोग्य।

शंका—मनोद्रव्यवर्गणा चार प्रकार की है, यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

समाधान—मनोद्रव्यवर्गणा से उत्पन्न होने वाला द्रव्य मन चार प्रकार का अन्यथा वन नहीं सकता है इससे जाना जाता है कि, मनोद्रव्य वर्गणा चार प्रकार की होती है।

इससे सिद्ध होता है कि मनोयोग चार प्रकार का ही है एवं वचन योग भी चार प्रकार का ही है। तो भी मनोयोग तथा वचनयोग पाँच पाँच प्रकार का कहना केवल उपचार है। उसी प्रकार मनोयोग पाँच प्रकार का और वचन योग तीन प्रकार का कहना कहाँ तक सत्य है वह पाठक स्वयं विचार करें ? यह सब उपचार का ही कथन है यथार्थ में वस्तु स्वरूप ऐसा है नहीं। टीकाकार आचार्य ने केवल सूत्र की रक्षा के लिए उनको किसी भी अपेक्षा से सिद्ध करने की कोशिश की है तो भी शेष में यह "उपचार" है ऐसा कहने में संकोच किया नहीं है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ १०२ पुस्तक नं० ४ में एवं पृष्ठ ४४ पुस्तक नं० ५ में लिखा है कि—

योग मार्गणा के अनुवाद से पांचों मनोयोगी और पांचों वचन योगियों में मिथ्यादृष्टि गुण स्थान से लेकर सयोगी केवली गुण स्थान तक प्रत्येक गुण स्थान वर्ती जीव कितने क्षेत्र में रहते हैं ? लोक के असंख्यात वें भाग में रहते हैं। सूत्र नं० २९।। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २८२ पुस्तक नम्बर १ में लिखा है कि—

सूत्र--मणजोगो सच्चमणजोगो असच्चमोसमणजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव सजोगे केवलि त्ति ।।५०।।

अर्थ—सामान्य से मनोयोग और विशेष रूप से सत्य मनोयोग तथा असत्यमृपा मनोयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगी केवली पर्यन्त होते हैं।

शंका—चार मनोयोग के अतिरिक्त मनोयोग इस नाम का पांचवां मनोयोग कहाँ से आया ?

समाधान--यह कोई दोप नहीं है, क्योंकि, भेद रूप चार प्रकार के मनोयोग में रहने वाले सामान्य योग के पांचवी संख्या बन जाती है।

शंका--वह सामान्य क्या है जो चार प्रकार के मनोयोग में पाया जाता है ?

समाधान--यहाँ पर सामान्य से मन की सद्सत्ता को ग्रहण करना चाहिये।

नोट--मनोयोग चार ही होते हैं परन्तु यहाँ पांचवां मनयोग सिद्ध किया। धवल ग्रन्थ में पृष्ठ ३८६ पुस्तक नम्बर ३ में लिखा है कि--

जोगाणुवादेण पंचमणजोगि-तिण्णिवचिजोगीसु मिच्छाइट्ठी दव्व पमाणेण केवडियां ? देवाणं संखेज्जदि भागो ॥१०३॥

अर्थ--योगमार्गणा के अनुवाद से पांच मनोयोगी और तीन वचनयोगियों में मिथ्यादृष्टि जीव द्रव्य प्रमाण की अपेक्षा कितने हैं ? देवों के संख्यातवें भाग हैं ॥१०३॥

शंका--यहाँ तीन वचनयोगियों का संग्रह किस लिये किया है ?

समाधान-- यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, वचन योगियों और अनुभव वचन योगियों के साथ तीन वचन योगियों की द्रव्यालाप के प्रति समानता नहीं पाई जाती है। समान आलापों का ही एक योग होता है भिन्न भिन्न आलापों का नहीं। देवों का द्रव्य, काल और क्षेत्र की अपेक्षा जो प्रमाण पहले कह आये हैं उनके संख्यातवें भाग इन आठ राशियों का प्रमाण हैं। क्योंकि यह आठों ही योग संज्ञियों के ही होता है असंज्ञीयों के नहीं, क्योंकि, असंज्ञीयों में आठों योग प्रतिषेद्ध हैं।

नोट--यहां तीन वचन योग संज्ञीयो के होता है वह सूत्र के अनुसार सिद्ध किया है। यह टीका कार की महानता है।

अब मनोयोग का क्या लक्षण है यह जानना चाहिये जिससे हमको मालूम हो सके कि वह लक्षण केवली परमात्मा में है या नहीं, क्योंकि केवली के यथार्थ स्वरुप का ज्ञान किये बिना सम्यग्दर्शन हो ही नहीं सकता है।

धवलग्रन्थ पृष्ठ २८८ पुस्तक नम्बर १ में लिखा है कि--"मन के साथ सम्बन्ध होने को मनोयोग कहते हैं।

शंका--यदि ऐसा है तो द्रव्य मन से सम्बन्ध होने को तो मनोयोग कह नहीं सकते हैं क्योंकि ऐसा मानने पर मनोयोग की कुछ कम तेतीस सागर प्रमाण स्थिति का प्रसंग प्राप्त हो जायगा। क्रिया सहित अवस्था को भी योग नहीं कह सकते है, क्योंकि ऐसा मानने पर योग को दिन-रात मात्र काल का प्रसंग प्राप्त हो जायगा। अर्थात् कोई कोई क्रिया दिन रात रहती हैं इसलिए एक योग की स्थिति भी अहोरात्र प्रमाण माननी पड़ेगी। किन्तु आगम में तो एक योग की स्थिति एक अन्त मुहूर्त से अधिक नहीं मानी है। अतः क्रिया सहित अवस्था भी, योग नहीं हो सकता है। इसी प्रकार भाव मन के साथ सम्बन्ध होने को भी मनोयोग नहीं कह सकते हैं, क्योंकि भाव मन ज्ञान रुप होने के कारण उसका उपयोग में अन्तर्भाव हो जाता है ?

समाधान--इस प्रकार तीनों विकल्पों के द्वारा दिये गये दोष प्राप्त नहीं होते हैं, क्योंकि, उक्त तीनों ही विकल्पों को स्वीकार नहीं किया है।

शंका--तो फिर मनोयोग का क्या स्वरूप है ?

समाधान—भाव मन की उत्पत्ति के लिये जो प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते हैं। उसी प्रकार वचन की उत्पत्ति के लिए जो प्रयत्न होता है उसे वचन योग कहते है, और कायकि क्रिया की उत्पति के लिये जो प्रयत्न होता है उसे काय योग कहते है।

शंका—तीनों योग की प्रवृति युगपत होती है या नहीं ?

समाधान—युगपत नहीं होती है, क्योंकि एक आत्मा के तीन योगों की प्रवृति युगपत मानने पर योग निरोध का प्रसंग आजायगा अर्थात् किसी भी आत्मा के योग नहीं बन सकेगा।

शंका—कहीं पर मन, वचन, कायकी प्रवृतियां युगपत देखी जाती है ?

समाधान—यदि देखी जाती हैं तो उनकी युगपत वृति हो। परन्तु इससे मन, वचन, कायकि प्रवृति के लिये जो प्रयत्न होते हैं उनकी युगपत वृति सिद्ध नहीं हो सकती है, क्योंकि आगम में इस प्रकार उपदेश नहीं मिलता है।

शंका—प्रयत्न बुद्धि पूर्वक होता है और बुद्धि मनोयोग पूर्वक होती है, ऐसी परिस्थिति में मनोयोग शेष योगों का अविनाभावी है, यह बात सिद्ध हो जाना चाहिये ? अर्थात् अनेक प्रयत्न एक साथ होते हैं यह बात सिद्ध हो जायगी ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कार्य और कारण इन दोनों की एक काल में उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

धवलग्रन्थ पृष्ठ २८३ पुस्तक नम्बर १ में लिखा है कि—"मन की उत्पत्ति के लिए जो प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते हैं।

शंका—पूर्व प्रयोग से प्रयत्न के बिना भी मन की प्रवृत्ति देखी जाती है ?

समाधान—यदि प्रयत्न के बिना भी मन की प्रवृत्ति होती है तो होने दो, क्योंकि, ऐसे मन से होने वाले योग को मनोयोग कहते है यह अर्थ यहां पर विवक्षित नहीं है, किन्तु मन के निमित्त से जो परिस्पंद रुप प्रयत्न विशेष होता है वह यहां पर योग रुप से विवक्षित है।

धवलग्रन्थ पृष्ठ १४० पुस्तक नम्बर १ में लिखा है कि—

मणसा वचसा काएण चावि जुत्तस्स विरिय-परिणामो।
जीवस्स प्पणियोगो जोगो त्ति जिणेहि णिदिट्ठो ॥८८॥ गो० जी० २१६

अर्थ—मन, वचन और काय के निमित्त से होने वाली क्रिया से युक्त आत्मा के जो वीर्य विशेष उत्पन्न होता है उसे योग कहते हैं अथवा जीव के प्रणि योग अर्थात् परिस्पन्द रूप क्रिया को योग कहते हैं ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

नोट—मन, वचन, काय के निमित्त से होने वाली क्रिया से उक्त आत्मा के जो वीर्य विशेष उत्पन्न होता है उसे योग कहते हैं। यह कथन उपचार का है, क्योंकि, वीर्य गुण में योग गुण का अन्योन्य अभाव है। केवली परमात्मा के वीर्य गुण शुद्ध परिणमन करते हैं और योग गुण अशुद्ध परिणमन करते हैं। वीर्य गुण की अशुद्धता में अन्तराय कर्म निमित्त था जब योग गुण का विकारी पर्याय में (मन, वचन, काय) नाम कर्म निमित्त है। अन्तराय कर्म का तो केवली परमात्मा में अत्यन्त अभाव है जब नाम कर्म का सद्भाव है। जिससे यह कथन उपचार का है यह स्वयं सिद्ध हो जाता है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ७६ पुस्तक नम्बर ७ में लिखा है कि—

शंका—मनोयोग किसे कहते हैं ?

समाधान—मनोवर्गणा से निष्पन्न हुए द्रव्य मन के अवलम्बन से जो जीव का संकोच विकोच होता है वह मनो योग है।

शंका—वचन योग किसे कहते हैं ?

समाधान—भाषा वर्गणा सम्बन्धी पुद्गल स्कन्धों के अवलम्बन से जो जीव प्रदेशों का संकोच विकोच होता है वह वचन योग है।

समाधान—चतुर्विध शरीरों के अवलम्बन से जीव प्रदेशों का संकोच विकोच होता है वह काय योग है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४३७-४३८ पुस्तक नम्बर १० पर लिखा है कि -

शंका—योग किसे कहते हैं ?

समाधान—जीव प्रदेशों का जो संकोच विकोच व परिभ्रमण रूप परिस्पन्द होता है वह योग कहलाता है।

जीव के गमन को योग नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ऐसा मानने पर अघाति कर्मों के क्षय से उर्ध्वगमन करने वाले अयोगी केवली के सयोगत्व का प्रसङ्ग आवेगा।

वह योग, मन, वचन, काय के भेद से तीन प्रकार का है। उनमें वाह्य पदार्थ के चिन्तन में प्रवृत हुए मन से उत्पन्न जीव प्रदेशों के परिस्पन्दन को मन योग कहते हैं। भाषा वर्गणा के स्कन्धों को भाषा स्वरूप से परिणमाने वाले व्यक्ति के जो जीव प्रदेशों का परिस्पन्दन होता है वह वचन योग कहलाते हैं। बात, पित कफ आदि के द्वारा उत्पन्न परिश्रम से जो जीव प्रदेशों का परिस्पन्दन होता है वह काय योग कहा जाता है।

शंका—यदि ऐसा है तो तीनों ही योगों का एक साथ अस्तित्व प्राप्त होता है ?

समाधान—ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं कि—यह कोई दोष नहीं है क्योंकि जीव परिस्पन्दन के अन्य सहकारी कारण होते हुए भी जिसके लिए जीव प्रदेशों का प्रथम परिस्पन्दन हुआ है उसकी ही प्रधानता देखी जाने से उसकी उक्त संज्ञा होने में कोई विरोध नहीं है।

नोट—गमन करना योग नहीं है यहाँ कहा है यह सत्य है, क्योंकि, गमन करना क्रिया गुण का विकार है गमन में, क्षेत्र से क्षेत्रान्तर होता है अर्थात् क्रिया होती है। योग में कम्पन्न होता हैं यह कम्पन्न योग नाम के गुण की विकारी पर्याय है। क्रिया गुण शुद्ध पर्याय से निष्क्रिय होते है और योग गुण की शुद्ध पर्याय में निष्कंम्प होते हैं इसलिए मुक्तात्माओं निष्क्रिय और निषकंम्प है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ७७ पुस्तक नम्बर ७ में लिखा है कि—

शंका—दो या तीन योग एक ही साथ क्यों नहीं होते हैं ?

समाधान—नहीं होते हैं, क्योंकि, उनकी एक साथ प्रवृति निषेध किया गया है।

शंका—अनेक योग की एक साथ वृत्ति पाई तो जाती है ?

समाधान—नहीं पाई जाती है, क्योंकि, इन्द्रियों के विषय से परे जो जीव प्रदेशों का परिस्पन्द

होता है उसका इन्द्रियों द्वारा ज्ञान मात्र लेने में विरोध आता है। जीवों के चलते समय जीव प्रदेशों के संकोच-विकोच का (अर्थात् परिस्पन्द का) नियम नहीं है, क्योंकि, सिद्ध होने के प्रथम समय में जब जीव यहाँ से अर्थात् मध्यलोक से लोक के अग्रभाग को जाता है तब उसके जीव प्रदेशों में संकोच-विकोच नहीं पाया जाता है (अर्थात् परिस्पन्द नहीं होता है।)

नोट—यहाँ पर योग और क्रिया को एक मान लिया है। योग अलग हैं और क्रिया (गमन करना) अलग है। यथार्थ में मुक्त आत्मा का उर्ध्वगमन जो होता है वह कर्म के निमित्त से नहीं होता है परन्तु पारिणामिक भाव से होता है। यह पारिणामिक भाव विकार रूप परिणमन है परन्तु विकार होते सन्ते पारिणामिक भाव से बन्ध नहीं होता हैं जैसे दूसरे गुणस्थान में पारिणामिक भाव से मिथ्यात्व रूप परिणमन होते सन्ते वहाँ मिथ्यात्व का बन्ध नहीं है, यही पारिणामिक भाव की विशेषता है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३१० पुस्तक नम्बर १ में लिखा है कि—

सूत्र—मनोयोग और वचन योग पर्याप्तकों के ही होते हैं अपर्याप्तकों के नहीं होते हैं ॥६८॥

शंका—क्षयोपशम की अपेक्षा अपर्याप्त काल में भी वचन योग और मनोयोग का पाया जाना विरोध को प्राप्त नहीं होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जो क्षयोपशम वचन योग और मनयोग रूप से उत्पन्न नहीं हुआ है उसे योग संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती है।

शंका—पर्याप्तक जीवों के भी विरुद्ध योग को प्राप्त होने रूप अवस्था के होने पर विवक्षित योग नहीं पाया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, पर्याप्त अवस्था में किसी एक योग के रहने पर शेष योग सम्भव हैं, इसलिये इस अपेक्षा से वहाँ पर उनके अस्तित्व का कथन किया जाता है। अथवा उस समय वे योग शक्ति रूप से विद्यमान रहते हैं, इसलिये इस अपेक्षा से उनका अस्तित्व कहा जाता है।

नोट—आचार्य ने तीनों योगों को साथ में भी माना है और एक काल में तीनों साथ में नहीं होता है ऐसा भी कहा है तब प्रश्न उठता है कि यथार्थ में क्या है ?

समाधान—स्थूल दृष्टि से देखा जाय तब तीनों योग साथ में देखने में आते हैं जैसे १ मनुष्य चलता हैं तब मुख से पाठ बोलता हैं और पाठ बोलते वक्त मन द्वारा और विषय पर विचार भी करता है यह तो स्थुल दृष्टि से है उन तीनों योगों में असंख्यात समय चला जाता है अर्थात छद्मस्थ का उपयोग असंख्यात समय में ही होता है परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जावे तो एक समय में एक ही योग होता हैं, क्योंकि, योग गुण की एक समय में एक ही पर्याय होती है और उस पर्याय में निमत्त भी एक ही होताहै। मन निमित्त हो, वचन निमित्त हो या काय निमित्त हो परन्तु एक समय में तीन निमित्त हो ही नहीं सकता है। इसलिये एक योग जब प्रवृति रूप हैं तब दो योग की शक्ति है परन्तु दो योग व्यक्त नहीं हो सकता हैं। यह यर्थाथ में वस्तु का स्वरूप है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४४ पुस्तक नं० १३ में लिखा है कि—

तं तिविहं मणपओ अकम्मं वचिपओ अकम्मं काय पयो अकम्मं ॥१६॥ (कमाणियोग द्वारे)

अर्थ—योग तीन प्रकार है। मनः प्रयोग कर्म, वचन प्रयोग कर्म और काय प्रयोग कर्म ॥१६॥

जीव का मन के साथ प्रयोग, वचन के साथ प्रयोग और काय के साथ प्रयोग इस प्रकार प्रयोग तीन प्रकार का है उसमें भी वह क्रम से ही होता है अक्रम से नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर विरोध आता है उसमे सत्य, असत्य, उभय, अनुभय के भेद से वचन प्रयोग भी चार प्रकार का है। काय प्रयोग औदारिक आदि काय प्रयोग के भेद से सात प्रकार का है। अब इन प्रयोगों के कोन जीव स्वामी हैं इस बात का ज्ञान कराने के लिये आगे का सूत्र कहते हैं।

तं संसारावत्थाणावा जीवाणं सजोगि केवलीणं वा ॥१७॥

अर्थ—वह संसार अवस्था में स्थित जीवों के और सयोगी केवलियों के होता हैं ॥१७॥

तीन प्रकार का प्रयोग कर्म संसार अवस्था में स्थित जीवों के होता है इस कथन से मिथ्यादृष्टि गुण स्थान से लेकर क्षीण कषाय गुण स्थान तक के जीव सिद्ध होते हैं। क्योकि आगे के जीवों के संसार अवस्था नहीं पाई जाती। कारण कि जिस घाति कर्म समूह के कारण जीव चारों ही गतियों में संसरण करते है वह घाति कर्म संसार है और उसमे रहने वाले जीव संसारस्थ अर्थात छद्मस्थ है। ऐसी अवस्था में सयोगीकेवलियो के तीनो योगो का अभाव प्राप्त होता है। अतः सयोगीकेवलियों के भी तीनो ही योग होते है इस बात का ज्ञान कराने के लिये "सयोगी" पद का अलग ग्रहण किया हैं।

नोट—धवल ग्रन्थ पृष्ठ १०२ पुस्तक नम्बर ४५२ मूल सूत्र में पांच मनोयोग और पांच वचनयोग कहा जब धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३८६ पुस्तक नम्बर ३ में मूल सूत्र में पांच मनोयोग और तीन वचनयोग कहा, और यहां पर चार मनोयोग और चार वचनयोग कहा। तब प्रश्न उठते हैं कि यथार्थ में मनोयोग और वचन योग कितने हैं ?

समाधान—यथार्थ में मनोयोग तथा वचनयोग चार-चार ही होते हैं यह परमार्थ सत्य है बाकी के कथन उपचार से है ऐसी श्रद्धा करनी चाहिए। मूल सूत्रों को हम लोग गणधर कृत मानते हैं, या गणधर की द्वादशांग रचना मे से ही आये हैं यह मान्यता कहाँ ठीक है वह पाठक स्वयं विचार कर लें।

असत्य मृषा मनोयोग का स्वरूप जानने की जरूरत है जिससे वह यहाँ दिखाया जाता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २८१-८२ पुस्तक नम्बर १ में लिखा हैं कि—

सत्य मनोयोग और मृषा मनोयोग के व्यतिरिक्त योग को असत्य मृषा मनोयोग कहते है।

शंका—तो असत्य मृषा मनोयोग (अनुभय) उभय संयोगज रहा आवे ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उभय संयोगज का तीसरे भेद में अन्तर्भाव हो जाता है।

शंका—तो फिर इनसे भिन्न चौथा अनुभय मनोयोग कौनसा है ?

समाधान—समनस्क जीवों के वचन प्रवृति मनपूर्वक देखी जाती है, क्योंकि मन के बिना उनमें वचन प्रवृति नहीं पाई जाती है। इसलिये उन चारों में से सत्य वचन निमित्तक मन के निमित्त से होने वाले योग को सत्य मनोयोग कहते हैं। असत्य वचन निमित्तिक मन से होने वाले योग को असत्य मनोयोग कहते हैं। सत्य और मृषा इन दोनों रूप वचन निमित्तक मन से होने वाले योग को उभय मनोयोग कहते हैं। उक्त तीनों प्रकार के वचनों से भिन्न आमन्त्रण आदि अनुभय रूप वचन निमित्तक मन से होने वाले योग को अनुभय मनोयोग कहते हैं। फिर भी युक्त प्रकार का कथन मुख्यार्थ नहीं है, क्योंकि, उनकी सम्पूर्ण मन के साथ व्याप्ति नहीं पाई जाती हे। अर्थात् उक्त कथन उपचरित है, क्योंकि, वचन की सत्यादिकता से मन में सत्यादि का उपचार किया गया है।

शंका—तो फिर यहां पर निर्दोष अर्थ कौन सा लेना चाहिए ?

समाधान—जहां जिस प्रकार की वस्तु विद्यमान हो वहां उसी प्रकार से प्रवृति करने वाले मनको सत्यमन कहते है इससे विपरीत मनको असत्य मन कहते हैं। सत्य और असत्य मन दोनों रूप मनको उभय मन कहते है। तथा जो संसय और अनध्यव्यवसाय रूप ज्ञान का कारण है उसे अनुभय मन कहते है। अथवा मन में सत्य असत्य आदि वचनों के उत्पन्न करने रूप योग्यता है उसकी अपेक्षा से सत्य वचनादिक के निमित्त से होने के कारण जिसे पहले उपचार कह आये हैं वह कथन मुख्य भी है। कहा है कि

णय सच्च मोस जुत्तो जो दुमणों सो असच्च मसोमणों।
जो जोगो णो हवे असच्च मोसे दुमोंण जोगों ॥१५५॥ गो०जी० २१६

अर्थ—जोमन सत्य और मृषा से युक्त नही होता उसको असत्य मृषा मन कहते हैं। और उससे जो योग अर्थात् प्रयत्न विशेष होता है उसे असत्य मृषा मनो योग कहते हैं।

नोट—यहां पर संसय और अनध्यवसाय रूप ज्ञान का कारण है उसे अनुभय मन कहा है। यथार्थ में यह अनुभय वचन योग या मनोयोग का स्वरूप नहीं है, परन्तु संयोग सम्बन्ध से वचन कहना और मनयोग उसे अनुभय वचन योग या मनयोग कहते हैं। जैसे आत्मा को एकेन्द्रिय कहना, द्वी इन्द्रिय को जीव कहना, मनुष्य को जीव कहना, तिर्यंच को जीव कहना, नारकी को जीव कहना, उसी प्रकार लौकिक व्यवहार में रोटी का तवा कहना, दाल की बटलोय कहना, पानी का लोटा कहना इत्यादि सब अनुभय वचन हैं। दूसरी बात समनस्क जीवो को प्रवचन प्रवृत्ति मन पूर्वक होती है यह कहना भी उपचार है यथार्थ में एक एक योग स्वतन्त्र है एक दूसरे के आधीन नहीं है। देखिये धवल ग्रंथ पृष्ठ २८७-२८८ पुस्तक नंबर १ में लिखा है कि—

शंका—अनुभय रूप मन के निमित्त से जो वचन होते हैं उन्हें अनुभय वचन कहते हैं यह बात पहले कही जा चुकी है। ऐसी हालत में मन रहित द्विन्द्रियादि जीवों के अनुभय वचन कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—यह कोई एकान्त नहीं है कि सम्पूर्ण वचन मन से ही उत्पन्न होते हैं। यदि सम्पूर्ण वचनों की उत्पत्ति मन से ही मान ली जाय तो मन रहित केवलियों के वचनों का अभाव प्राप्त हो जायगा।

शंका—विकलेन्द्रिय जीवों के मन के विना ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती है और ज्ञान के विना वचनों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है ?

समाधान—ऐसा नहीं है क्योंकि मन से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है यह कोई एकान्त नहीं है। यदि मन से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है यह एकान्त मान लिया जाय तो सम्पूर्ण इन्द्रियों से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, क्योकि सम्पूर्ण ज्ञान की उत्पत्ति मन से मानते हो अथवा मन से समुत्पन्नत्व रूप धर्म इन्द्रियों में रहेगी तो नहीं हो सकता है, क्योंकि दृष्ट, श्रुत और अनुभूत को विषय करने वाला मानस ज्ञान का दूसरी जगह सद्भाव मानने में विरोध आता है। यदि मन को चक्षु आदि इन्द्रियों का सहकारी कारण माना जावे सो भी नहीं बनता है; क्योंकि प्रयत्न और आत्मा के सहकार की अपेक्षा रखने वाली इन्द्रियों से इन्द्रिय ज्ञान की उत्पत्ति पायी जाती है।

शंका—समनस्क जीवों में ज्ञान की उत्पत्ति मनोयोग से ही होती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ऐसा मानने पर केवल ज्ञान से व्यभिचार आता है।

शंका—तो फिर ऐसा माना जाय कि समनस्क जीवों के जो क्षयोपशमिक ज्ञान होता है वह मनोयोग से होता है ?

समाधान—यह कोई शंका नही है यह तो इष्ट ही है।

शंका—मनोयोग से वचन उत्पन्न होते हैं, यह जो पहले कहा जा चुका है वह कैसे घटित होगा ?

समाधान—यह शंका कोई दोषजनक नहीं है, क्योंकि, मनोयोग से वचन उत्पन्न होते हैं यहां पर मानस ज्ञान की "मन" यह संज्ञा उपचार से रखकर कथन किया है।

शंका—विकलेन्द्रियों के वचनों में अनुभय पना कैसे आ सकता है ?

समाधान—विकलेन्द्रियों के वचन अनध्यवसाय रूप ज्ञान के कारण हैं इसलिये उन्हे अनुभय रूप कहा है।

शंका—उनके वचनों में ध्वनि विषयक अध्यवसाय अर्थात् निश्चय तो पाया जाता है, फिर भी उन्हें अनध्यवसाय का कारण क्यों कहा है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यहां पर अनध्यवसाय से वक्ता का अभिप्राय विषयक अध्यवसाय का अभाव विवक्षित है।

नोट—मनोयोग से वचन उत्पन्न होता है वह मात्र उपचार से कहा है। जिनागम में उपचार कथन का हिसाव नही है। एक जगह पर क्या लिखा है और दूसरी जगह पर क्या लिखा है वह विवेक किये विना जीव अनेक प्रकार का बितंडावाद खड़ाकर कहने लगता है कि "यह आगम को मानते नहीं हैं" परन्तु उपचार कथन को सिद्धान्त कैसे माना जा सकता है ?

यहाँ साफ लिखा है कि मनोयोग मात्र क्षयोपशम ज्ञान में ही होते हैं न कि क्षायिक ज्ञान में तो भी केवली परमात्मा को मनोयोग मानना कहाँ तक सत्य है वह पाठक स्वयं विचार करें।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ २८३ पुस्तक नम्बर १ में लिखा है कि—

शंका—केवली जिनके सत्य मनोयोग का सद्भाव रहा आवे, क्योंकि, वहाँ पर वस्तु के यथार्थ ज्ञान का सद्भाव पाया जाता है। परन्तु उनको असत्य मृषा मनोयोग का सद्भाव सम्भव नहीं है, क्योंकि, वहाँ पर संशय और अनध्यवसाय रूप ज्ञान का अभाव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, संशय और अनध्यवसाय के कारण रूप वचन का कारण मन होने से उसमें भी अनुभय रूप धर्म रह सकते हैं। अतः सयोगी जिनके अनुभय मनोयोग का सद्भाव स्वीकार कर लेने में कोई विरोध नहीं आता है।

नोट—यहाँ पर अनुभय वचन का कारण मन माना है, जब केवली के मन नहीं है तो भी मन मानना यह उपचार नहीं है तो क्या है वह पाठक स्वयं विचार करें।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ २८४ पुस्तक नम्बर १ में लिखा है कि—

शंका—केवली के अतीन्द्रिय ज्ञान होता है इसलिये उनके मन नहीं पाया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उनके द्रव्य मन का सद्भाव पाया जाता है।

शंका—केवली के द्रव्य मन का सद्भाव रहा आवे परन्तु वहाँ पर उसका कार्य नहीं पाया जाता है ?

समाधान—द्रव्य मन के कार्य रूप उपयोगात्मक क्षयोपशमिक ज्ञान का अभाव भले ही रहा आवे, परन्तु द्रव्य मन के उत्पन्न करने में प्रयत्न तो पाया जाता है। क्योंकि, द्रव्य मन की वर्गणाओं के लाने के लिए होने वाले प्रयत्न में कोई प्रतिबन्धक कारण नहीं पाया जाता है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि उस मन के निमित्त से जो आत्मा का परिस्पन्दनं रूप प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते है।

शंका—केवली के द्रव्य मन को उत्पन्न करने में प्रयत्न विद्यमान रहते हुए भी वह अपने कार्य को क्यों नहीं करता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, केवली के मानसिक ज्ञान के सहकारी कारण रूप क्षयोपशम का अभाव है, इसलिये उनके मनोनिमित्तक ज्ञान नहीं होता है।

शंका—जब कि केवली के यथार्थ में क्षयोपशमिक मन नहीं पाया जाता है तो उससे सत्य और अनुभय इन दो प्रकार की वचनों की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उपचार से मन के द्वारा दोनों प्रकार के वचनों की उत्पत्ति का विधान किया है।

नोट—यहां मन उपचार से माना है वह स्वयं स्वीकार किया जाता है। यदि द्रव्य मन की वर्गणाओं के लाने के लिये प्रयत्न होता है तो इन्द्रियों के वर्गणाओं के लाने के लिये भी प्रयत्न होता ही होगा, तब इन्द्रियों भी मानने में कया हानी है। केवली को दस व्यवहार प्राण में से मात्र चार ही प्राण माना गया है। १ वचनप्राण २ कायप्राण ३ स्वाच्छोस्वास ४ आयु परन्तु, इन्द्रिय प्राण तथा मन प्राण माना नहीं गया है तब मनोयोग मानना न्याय संगत है या नही यह पाठक स्वयं विचार करे।

धवलग्रन्थ पृष्ठ ३६७-३६८ पुस्तक नम्बर १ में लिखा है कि—

शंका—अरहन्त परमेष्टी के केवल ज्ञान नहीं है क्योंकि वहां पर नोइन्द्रिया वरण कर्म के क्षयोपशम से मन का सद्भाव पाया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिनको सम्पूर्ण आवरण कर्म नाश को प्राप्त, होगये है ऐसे अरहन्त परमेष्टी में ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम नही पाया जाता है, इसलिये क्षयोपशम के कार्य रूप मन भी उनके नहीं पाया जाता है। उसी प्रकार वीर्यान्तिराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई शक्ति की अपेक्षा भी वहां पर मन का सद्भाव नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि, जिनके वीर्यान्तिराय कर्म का क्षय पाया जाता है ऐसे जीवों के वीर्यान्तिराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई शक्ति के सद्भाव मानने में विरोध आता है।

शंका—फिर अरहन्त परमेष्टी को सयोगी कैसे माना जाय ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, प्रथम (सत्य) और चतुर्थ (अनुभय) भाषा की उत्पत्ति के निमित्त भूत आत्म प्रदेशों का परिस्पन्द वहां पर पाया जाता है इसलिये इस अपेक्षा से अरहन्त परमेष्टी के सयोगी होने में कोई विरोध नहीं आता है।

शंका—अरहन्त परमेष्टी में मन का अभाव होने पर मन के कार्य रूप वचन का सद्भाव भ नहीं पाया जा सकता है ?

समाधान—नहीं, वचन ज्ञान के कार्य है मन के नहीं।

शंका—अक्रम ज्ञान से क्रमिक वचनों की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, घट विषयक अक्रम ज्ञान से युक्त कुंभकार द्वारा क्रम से घटकी उत्पत्ति देखी जाती है। इसलिये अक्रम वर्ती ज्ञान से क्रमिक वचनों की उत्पत्ति मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है।

शंका—सयोगी केवली के मनोयोग का अभाव मानने पर—

"सच्चमण जोगो असच्चमोसमणजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि प्पहुडि जाव सजोगे केवलित्ति"

सूत्र नम्बर ५० के साथ विरोध जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, मन के कार्यरूप प्रथम और चतुर्थ भाषा के सद्भाव की अपेक्षा उपचार से मन के सद्भाव मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है। अथवा जीव प्रदेशों के परिस्पन्द के कारण रुप मनोवर्गणा रुप जो कर्म से उत्पन्न हुई शक्ति के अस्तित्व की अपेक्षा सयोगी केवली में मन का सद्भाव पाया जाता है ऐसा मान लेने में भी कोई विरोध नहीं आता है।

नोट—यहां पर मनोयोग उपचार से माना गया हैं यह सिद्ध हुआ है। केवली का ज्ञान अक्रम अर्थात् एक पीछे एक पर्याय जानता नहीं है यह सत्य कहा है परन्तु केवली की वाणी क्रमिक मानी है यह उपचार का कथन है। केवली की वाणी समय समय में द्वादशांग रुप निकलती है व्यक्तिगत वाणी निकलती नहीं है। जिनागम में उपचार का प्रयोग जगह-जगह किया गया है। उपचार को उपचार मानना सम्यक् ज्ञान है परन्तु उपचार को सत्य मानना मिथ्या ज्ञान है—

धवलग्रन्थ पृष्ठ ४०८,४०९ पुस्तक नम्बर १ में लिखा है कि—

सूत्र—सण्णी मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव खीणकसाय-वीयराय छदुमत्था त्ति ॥१७३॥ स० सि० १-८

अर्थ—शंज्ञी मार्गणा मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर क्षीण कषाय वीतराग, छद्मस्थ बारवां गुण स्थान तक होता हैं ॥१७३॥

शंका—मन सहित होने के कारण सयोगी केवली भी संज्ञी होते है।

समाधान—नहीं, क्योंकि आवरण कर्म से रहित उनके मन के अवलम्बन से बाह्य अर्थ का ग्रहण नहीं पाया जाता है, इसलिए उन्हें संज्ञी नहीं कह सकते है।

शंका—तो केवली असंज्ञी रहें आवे ?

समाधान—नहीं, क्योंकि जिन्होने समस्त पदार्थों का साक्षात् कर लिया है उन्हें असंज्ञी मानने में विरोध आता है।

शंका—केवली असंज्ञी होते है, क्योंकि वे मन की अपेक्षा विना विकलेन्द्रिय जीवों की तरह बाह्य पदार्थों का ग्रहण करते है ?

समाधान—यदि मन की अपेक्षा न करके ज्ञान उत्पति मात्र का आधार करके ज्ञानोत्पत्ति असंज्ञी पनेकी कारण होती हो तो ऐसा होता। परन्तु ऐसा तो है नहीं, क्योंकि कदाचित मन के अभाव से विकलेन्द्रिय जीवों की तरह केवली के बुद्धि के अतिशयका अभाव भी कहा जायगा इसलिये केवली के पूर्वोक्त दोष लागू नहीं होता।

धवलग्रन्थ पृष्ठ ६५३ पुस्तक नम्बर २ में लिखा है—

शंका—जबकि सयोगी केवली जिनेन्द्र संज्ञी असंज्ञी इन दोनों ही व्यपदेशों से रहित हैं इसलिये सयोगी जिनको अतीतजीव समास वाला होना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि,—द्रव्य मन के अस्तित्व और भाव मनोंगत पूर्वगति अर्थात भूत पूर्व न्याय के आश्रय से सयोगी केवली के संज्ञी पनामाना गया है। अथवा पृथिवी कायिक, जलकायिक, अग्नि कायिक, वायुकायिक, प्रत्येक शरीर वनस्पति कायिक साधारण शरीर वनस्पति कायिक, जीवों के पर्याप्ति और अपर्याप्त सम्बन्धी चौदह जीव समासो में से सात, अपर्याप्त जीव समासो में कपाट प्रतर और लोक पूरण समुद्घात सयोगी केवली का सत्व माना जाने से उन्हें अतीत जीव समास वाला नहीं कहा जा सकता है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४१४ पुस्तक नंवर ६ तथा पृष्ठ ३२१,२२ पुस्तक नंवर १० में लिखा है कि—

लोक पुरण समुद्घात के अनन्तर समय से लेकर स्थिति काण्डक और अनुभाग काण्डक का अन्त मुहूर्त माअउत्कीरण काल प्रवर्तमान रहता है। यहाँ से अन्तमुहूर्त जाकर वादर काय योग से वादर मनो योग का निरोध करता है। तत्पश्चात अन्तमुहूर्त वादर वचन योगका निरोध करता। तत्पश्चात अन्तमुहूर्त सेवादर काय योग से वादर उच्छ्वास निच्छ्वास का निरोध करता है। पुनः अन्तमुहूर्त से वादर काययोग से उसी वादर काय योग का निरोध करता है तत्पश्चात अन्तमुहूर्त जाकर सूक्ष्म काययोग से सूक्ष्म मनो योग का निरोध करता है। पुनः अन्तमुहूर्त जाकर सूक्ष्म वचन योग का निरोध करता है।पुनः अन्तमुहूर्त जाकर सूक्ष्म काय योग से सूक्ष्म उच्छ्वास का निरोध करता है। पुनः अन्तमुहूर्त जाकर सूक्ष्म काय योग से सूक्ष्म काय योगका निरोधकरता है।

योग कोनसा भाव है, इस विषय में धवलग्रन्थ पृष्ठ ७७,७८ पुस्तक नंवर ७ में लिखा है कि—

सूत्र—खओव समियाए लद्धीए ॥३३॥

अर्थ—क्षयोपशम भाव से जीव मनो योगी वचन योगी और काय योगी होता है। ३३॥

शंका—मनोयोग क्षयोपशमिक भाव कैसे है ?

समाधान—वतलाते हैं! चुंकि वीर्यान्तराय कर्म के सर्व घाति स्पर्धकों के सत्वोपशम से व देश घाति स्पर्धकों के उदय से नोइन्द्रिया वरण कर्म के सर्व घाति स्पर्धकों के उदय क्षय से व उन्हीं स्पर्धकों के सत्वोपशम से तथा देश घाति स्पर्धको के उदय से मन पर्याप्ति पूरी कर लेने वाले जीव के मनोयोग उत्पन्न होता है इसलिए उसे क्षयोपशमिक भाव कहते हैं।

शंका—वचन योग क्षयोपशमिक भाव कैसे है !

समाधान—उसी प्रकार वीर्यान्तराय कर्म के सर्व घाति स्पर्धकों के सत्वोपशम से व देश घाति स्पर्धकों के उदय से जिह्वान्द्रिया वरण कर्म के सर्व घाति स्पर्धकों के उदय क्षय से व उन्ही के सत्वोपशम से तथा देश घाति स्पर्धको के उदय से भाषापर्याप्ति पूर्ण करने वाले स्वर नाम कर्मोदय सहित जीव के वचन योग पाया जाता है वह वचन योग क्षयोपशम भाव है।

शंका—काय योग क्षयोपशमिक भाव कैसे है।

समाधान—वीर्यान्तराय कर्म के सर्व घाति स्पर्धकों के सत्वोपशम से व देश घाति स्पर्धकों के उदय से काय योग पाया जाता हैं वह काय योग क्षयोपशमिक भाव है।

नोट—यहां योग को क्षयोपशमिक भाव सिद्ध किया है क्योंकि मूल सूत्र योग को क्षयोपशमिक भाव कहते हैं परन्तु यथार्थ में वह क्षयोपशमिक भाव नहीं हैं। योग नाम कर्म के (शरीरादि-नामा नाम कर्म) उदय से ही होता है अर्थात यह औदयिक भाव हैं। १८ प्रकार के क्षयोपशमिक भाव में योग को क्षयोपशमिक भाव माना नहीं है। अघाति कर्म में क्षयोपशमिकता होती ही नहीं है । क्योंकि उनमें देश घाति या सर्व घाति कर्म ही नहीं है तो भी सूत्र की रक्षा के लिये वस्तु स्वरूप का गला घोट कर सिद्ध किया है। देखिए और जगह पर क्या लिखते है

धवल ग्रन्थ-पृष्ठ ७४-७६ पुस्तक नं० ७ में लिखा हैं कि—

शंका—योग क्या औदयक भाव हैं, कि क्षयोपशमिक भाव है, कि पारिणामिक भाव है, कि क्षायिक भाव है कि औपशमिक भाव है ? योग क्षायिक तो हो नहीं सकता क्योंकि वैसा मानने से तो सर्व कर्मों के उदय सहित संसारी जीव के वर्तमान रहते हुए भी योग का अभाव का प्रसंग आ जायगा। तथा सर्व कर्मोदय से रहित सिद्धो के योग के अस्तित्व का प्रसंग आ जायगा। योग पारिणामिक भी नहीं हो सकता, क्योंकि, ऐसा मानने पर क्षायिक मानने से उत्पन्न होने वाला समस्त दोषों का प्रसंग आ जायगा। योग औपशमिक भी नहीं है, क्योंकि, औपशमिक भाव से रहित मिथ्यात्व गुणस्थान में योग के अभाव का प्रसंग आजायगा। योग घातिकर्मों के उदय से भी उत्पन्न नहीं है, क्योंकि, सयोगी केवली के घाति कर्मो का उदय क्षय होने के साथ ही योग के अभाव का प्रसंग आजायगा। योग अघाति कर्मो के उदय से भी नहीं है, क्योंकि, ऐसा मानने से अयोगी केवली के भी योग की सत्ता का प्रसंग आजायगा। योगघाति कर्मों के क्षयोपशम से भी उत्पन्न नहीं है, क्योंकि, इससे भी सयोगी केवली में योग के अभाव का प्रसंग आजायगा। योग अघाति कर्मों के क्षयोपशम से भी उत्पन्न नहीं है, क्योंकि, अघाति कर्मों में सर्वघाति और देशघाति दोनों प्रकार के स्पर्धकों का अभाव होने से क्षयोपशम का भी अभाव है। यह सब मन में विचार कर पूछा गया है कि जीव मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी कैसे होते हैं ?

समाधान—सूत्र० खओवसमियाए लद्धीए ॥३३॥

अर्थ—क्षयोपशम भाव से जीव मनोयोगी वचनयोगी और काययोगी होता है।

शंका—जीव प्रदेशों के संकोच और विकोच अर्थात् विस्तार रूप स्परिस्पन्द को योग कहते हैं। यह स्परिस्पन्द कर्मों के उदय से उत्पन्न होता है, क्योंकि, कर्मोदय से रहित सिद्धों के वह नहीं पाया जाता। अयोगी केवली में योग के अभाव से वह कहना उचित नहीं है कि योग औदयिक नहीं होता, क्योंकि, अयोगी केवली के यदि योग नहीं होता तो शरीर नाम कर्म का उदय भी तो नहीं होता। शरीर नाम कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला योग उस कर्मोदय के विना नहीं हो सकता, क्योंकि, ऐसा मानने से अति प्रसंग दोष उत्पन्न होता है। इस प्रकार जब योग औदयिक होता है तो उसे क्षयोपशमिक भाव क्यों कहते हो ?

समाधान—ऐसा नहीं, क्योंकि, जब शरीर नाम कर्म के उदय से शरीर बनने के योग्य बहुत से पुद्गलों का संचय होता हैं और वीर्यान्तराय कर्म के सर्वघाति स्पर्धकों के उदयाभाव से, व उन्हीं स्पर्धकों के सत्वोपशम से तथा देशघाति स्पर्धकों के उदय से उत्पन्न होने के कारण क्षयोपशमिक कहलाने वाला वीर्य (बल) बढ़ता है तब उसी वीर्य को पाकर चूंकि जीव प्रदेशों का संकोच विकोच बढ़ता है इसलिये योग क्षयोपशमिक भाव कहा गया है।

शंका—यदि वीर्यान्तराय के क्षयोपशमिक से उत्पन्न हुए बल की वृद्धि और हानि से जीव प्रदेशों

के परिस्पन्द की वृद्धि और हानि होती है तब तो जिसके अन्तराय कर्म क्षीण हो गया है ऐसे सिद्ध जीवों के योग की बहुलता का प्रसंग आता है ?

समाधान—नहीं आता क्योंकि, क्षयोपशमिक बल से क्षायिक बल भिन्न देखा जाता है। क्षयोपशमिक बल की वृद्धि हानि से वृद्ध हानि को प्राप्त होने वाला जीव प्रदेशों का परिस्पन्द क्षायिक बल से वृद्धि हानि को प्राप्त नहीं होता क्योंकि ऐसा मानने से तो अति प्रसंग दोष आ जायगा।

शंका—यदि योग वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है तो सयोगीकेवली में योग के अभाव का प्रसंग आता है।

समाधान—नहीं आता क्योंकि, योग में क्षयोपशमिक भाव तो उपचार से माना गया है। असल में तो योग औदयिक भाव ही है और औदयिक योग का सयोगीकेवली में अभाव मानने में बिरोध आता है।

नोट—योग औदयिक भाव है क्षयोपशमिक भाव नहीं है यह सिद्ध किया तब सूत्र गलत है यह भी स्वयं सिद्ध हुआ। ऐसा सूत्र गणधर देव का बनाया हुआ है ऐसा कैसे माना जा सकता है पाठक विचार करें। औदयिक भाव उसे कहते है कि गुण संपूर्ण पने बिकारी परिणमन करे उसे औदयिक भाव कहा जाता है इससे सिद्ध होता है कि योग में (मनोयोग बचन योग और काय योग में) अंश में शुद्धता आती ही नही है। योग गुण संपूर्ण विकारी या संपूर्ण शुद्ध ही परिणमन करता है। शुद्धासुद्ध अवस्था योग में होती ही नही है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ २२५-२२६ पुस्तक नं० ५ में लिखा है कि

शंका—सयोग यह कौन सा भाव है !

समाधान—"सयोग" यह अनादि पारिणामिक भाव है। इसका कारण यह है कि यह योग न तो औपशमिक भाव है, क्योंकि, मोहनीय कर्म के उपशम नहीं होने पर भी योग पाया जाता है। न वह क्षायिक भाव है, क्योंकि आत्म स्वरूप से रहित योग की कर्मों के क्षय से उत्पत्ति मानने में विरोध आता है। योग घातिया कर्मोदय जनित भी नहीं है। क्योंकि घातिया कर्मोदय के नष्ट होने पर भी सयोगीकेवली में योग का सद्भाव पाया जाता है। न योग अघाति कर्मोदय जनित है, क्योंकि, अघाति कर्मोदय के रहने पर भी अयोगीकेवली में योग नही पाया जाता है। योग शरीर नाम कर्मोदय जनित भी नहीं है, क्योंकि, पुद्गल विपाकी प्रकृतियों के जीव परिस्पन्दन का कारण होने में विरोध है।

शंका—कार्मण शरीर पुद्गल विपाकी नहीं है, क्योंकि, उससे पुद्गल के वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श और संस्थान आदि का आगमन आदि नहीं पाया जाता है। मिश्र वैक्रियिक योग में कार्मण काय योग का सद्भाव है परन्तु वचनयोग का सद्भाव नहीं है।

वैक्रियिक काय योग पर्याप्तकों के तथा वैक्रियिक मिश्र काय योग अपर्याप्तकों के होता है। सूत्र नं० ७७।

शंका—पर्याप्त अवस्था में वैक्रियिक काययोग मानने पर वहां शेष योगों का अभाव मानना पड़ेगा ?

समाधान—नहीं, पर्याप्त अवस्थायें वैक्रियिक काययोग ही होता है ऐसा निश्चय रूप से कथन नहीं किया है।

शंका—जब कि उक्त कथन निश्चय रूप से नहीं है तो अपर्याप्त अवस्था में भी उसी प्रकार शेष योगों का सद्भाव प्राप्त हो जायगा ?

समाधान—यह कहना किसी अपेक्षा से ठीक है, क्योंकि, अपर्याप्त अवस्था में वैक्रियिक मिश्र से अतिरिक्त कार्मणकाय योग का भी सद्भाव पाया जाता है। किन्तु कार्मण काययोग के समान अपर्याप्त अवस्था में वचनयोग और मनोयोग का सद्भाव नहीं माना जा सकता है, क्योंकि, अपर्याप्त अवस्था में इन दोनों योगों का अभाव रहता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३१७ पुस्तक नम्बर १।

समुद्घात प्राप्त जीवों को मनोयोग वचनयोग कैसे है ?

योग मार्गणा के अनुवाद से पांचों मनोयोगी और पांचों वचनयोगियों में मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर सयोगि केवली गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थानवर्ती जीव कितने क्षेत्र में रहते है? लोक के असंख्यातवें भाग में रहते हैं। सूत्र नं० २६॥

शंका—विक्रियिक समुद्घात को प्राप्त जीवों के मनोयोग और वचनयोग कैसे सम्भव है ?

समाधान नहीं, क्योंकि, निष्पन्न हुआ है विक्रियात्मक उत्तर शरीर जिनके ऐसे जीवों के मनोयोग और वचनयोग का परिवर्तन सम्भव है।

शंका—मरणान्तिक समुद्घात को प्राप्त असंख्यात योजन आयाम से स्थित और मूर्च्छित हुए संज्ञी जीवों के मनोयोग और वचनयोग कैसे सम्भव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, बाधक कारण के अभाव होने से निर्भर (भरपूर) सोते हुए जीवों के समान अव्यक्त मनोयोग और वचनयोग मारणान्तिक समुद्घातगत मूर्च्छित अवस्था में भी सम्भव है इसमें कोई विरोध नहीं है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १०२-१०३ पुस्तक नम्बर ४।

इसलिये योग को कार्मण शरीर से उत्पन्न होने वाला मान लेना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, सर्व कर्मो का आश्रय होने से कार्मण शरीर भी पुद्गल विपाकी हैं। इसका कारण यह है कि, वह सर्व कर्मो का आश्रय या आधार है।

शंका—कार्मण शरीर के उदय विनष्ट होने के समय में ही योग का विनाश देखा जाता है। इसलिए योग कार्मण शरीर जनित है ऐसा मानना चाहिए ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ऐसा माना जाय तो अघाती कर्मों के विनाश होने के अनन्तर ही विनिष्ट होने वाले पारिणामिक भव्यत्व भाव के भी औदयिक पने का प्रसंग प्राप्त होगा।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से योग के पारिणामिक-पना सिद्ध हुआ। अथवा "योग" यह औदयिक भाव है, क्योंकि, शरीर नाम कर्म के उदय का विनाश होने के पश्चात ही योग का विनाश पाया जाता है। और ऐसा न मानने पर भव्यत्व भाव के साथ व्यभिचार भी नहीं आता है। क्योंकि कर्म सम्बन्ध के विरोधी पारिणामिक भाव की कर्म से उत्पत्ति मानने में विरोध आता है।

नोट—जब योग औदयिक भाव है और उनमें जो कारण होता है उनके निर्मूल नाश से ही अयोगी होते है। देखिये अयोगी को कौनसा भाव-कहा है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ७८ पुस्तक नम्बर ७ में लिखा है कि—

अजोगी णाम कधं भवदि ? ॥सूत्रना. ३४॥

अर्थ—आयोगी जीव कोन से भाव से होता हैं ? ॥३४॥

खइयाए लद्धीए ॥३५॥

अर्थ—क्षायिक भाव से जीव अयोगी होता है। सूत्र नं० ३५ ॥

योग के कारण भूत शरीरादिक कर्मों के निर्मूल क्षय से उत्पन्न होने के कारण आयोगीभाव क्षायिक भाव है।

नोट—यहां पर शरीरादिक कर्मों के निर्मूल क्षय से अयोग को क्षायिक भाव कहा है परन्तु कर्म का क्षय तो हुआ नहीं और क्षायिक भाव कैसे हुआ? क्योंकि जो कर्म तेरवें गुण स्थान में सत्ता में था उतना ही चौदहवें गुण स्थान में है। जब कर्मों का क्षय नहीं हुआ और क्षायिक भाव कहना यह कथन विरोध को प्राप्त होता है। क्षय का लक्षण यह कहा है कि—"जिनके मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृति के भेद से प्रकृति बन्ध, स्थित बन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेश बन्ध का क्षय हो जाना उसे क्षय कहते है। यह लक्षण का यहाँ नाश हो जाता है यह स्वयं पाठक विचार कर।

असत्य वचन किसे कहते हैं। उपादान की सिद्ध—

शंका—असत् वचन किसे कहते हैं?

समाधान—मिथ्यात्व असंयम, कषाय, और प्रमाद से उत्पन्न वचन से समूह को असत् वचन कहते हैं। पृष्ठ २७९।

शंका—कर्म बन्ध शुभ व अशुभ परिणामों से होता है और शुद्ध परिणामों से उन (शुभ-अशुभ) दोनों का ही निर्मूल क्षय होता है, क्योंकि,

ओदइया बंधयरा उवसम-खय-मिस्सया य मोक्खयरा।
परिणामिओ दु भावो करणो हय वज्जियो होदि ॥२॥

अर्थ—औदयिक भाव बन्ध के कारण और औपशमिक, क्षायिक, मिश्र भाव मोक्ष के कारण हैं, पारिणामिक भाव बन्ध व मोक्ष दोनों के कारण नहीं हैं।

ऐसा आगम वचन है। परन्तु असत्य वचन न तो शुभ परिणाम है, न अशुभ परिणाम है, क्योंकि, पुद्गल के अथवा उसके परिणाम के, जीव परिणाम होने का विरोध है। इस कारण असत्य वचन ज्ञानावरण के बन्ध का कारण नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय कि असत्य वचन के कारण भूत कषाय और प्रमाद की असत्य वचन संज्ञा है सो यह कहना भी ठीक नही है, क्योंकि उनका क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्ययों में अन्तर्भाव होने से पुनरुक्ति दोष का प्रसंग आता है। इसी प्रकार प्राणाति पात भी ज्ञानावरण का प्रत्यय नहीं हो सकता, क्योंकि, अन्य जीव विषयक प्राण प्राणि वियोग के कर्म बन्धन में कारण होने का विरोध है। यदि कहा जाय कि, प्राण व प्राणी के वियोग का कारण भूत, जीव का परिणाम प्राणातिपात कहा जाता है सो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि, उसका राग द्वेष एवं मोह प्रत्ययों में अन्तर्भाव होने से पुनरुक्ति दोष का प्रसंग आता है?

समाधान—उपर्युक्त शंका का परिहार कहा जाता है—यथा सत्ता आदि की अपेक्षा सभी कार्य कलाप का कारण से अभेद है, इस नय का अवलम्बन करने पर कारण से कार्य अभिन्न है तथा कार्य से कारण भी अभिन्न है, क्योंकि असत् कार्य कभी किया नहीं जा सकता है, नियत उपादान की अपेक्षा की जाती हैं। किसी एक कारण से सभी कार्य उत्पन्न नहीं हो सकते, समर्थ कारण के द्वारा शक्य कार्य ही, किया जाता हैं, तथा असत् कार्य के साथ कारण का सम्बन्ध भी नही बन सकता। अथवा

"कारण में कार्य" है इस विवक्षा से भी कारण से कार्य अभिन्न है। प्रकृत में प्राण-प्राणि वियोग और बचन कलाप चूंकि ज्ञानावरणीय बन्ध के कारण भूत, परिणाम से उत्पन्न होते है, अतएव वे उससे भिन्न हैं। इसी कारण वे ज्ञानावरणीय बन्ध के प्रत्यय भी सिद्ध होते है।

शंका—इस प्रकार का व्यवहार किसलिए किया जाता है ?

समाधान—सुख पूर्वक ज्ञानावरणीय के प्रत्ययों का प्रति बोध कराने के लिए तथा कार्य के प्रतिषेध द्वारा कारण का प्रतिषेध करने के लिये, भी उपर्युक्त व्यवहार किया जाता है। धवलग्रन्थ पृष्ठ २७९-२८१ पुस्तक नं० १२।

अष्ट रूचक प्रदेश योग सहित या रहित हैं ?

जीव प्रदेशों के देशान्तर को प्राप्त होने पर उनमें कर्म प्रदेश स्थित ही रहते है।

शंका—अतः जीव के आठ मध्य प्रदेशों का संकोच अथवा विस्तार नहीं होता अतः उनमें स्थित कर्म प्रदेशों का भी अस्थितपना नहीं बनता, और इसलिए सब जीव प्रदेश, किसी भी समय, अस्थित, होते है यह सूत्र वचन घटित नहीं होता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जीव के, उन आठ मध्य प्रदेशों को छोड़कर शेष जीव प्रदेशों का, आश्रय करके, इस सूत्र की प्रवृत्ति हुई है।

छद्मस्थ के, किन्ही जीव प्रदेशों का चूंकि संचार नहीं होता अतएव उनमें स्थित कर्म प्रदेश भी, स्थित ही होते हैं। तथा उसी छद्मस्थ के, किन्ही जीव प्रदेशों का, चूंकि, संचार पाया जाता है अतएव उनमें स्थित कर्म प्रदेश, भी संचार को प्राप्त होता है। इसलिए वह अस्थित कहा जाता है।

शंका—इनमें जो जीव प्रदेश अस्थित है, उनके कर्म बन्ध भले ही हो, क्योंकि, वे योग सहित है। किन्तु जो जीव प्रदेश स्थित है, उनके कर्म बन्धन होने का सम्भव नहीं है क्योंकि वे योग से रहित है ?

प्रति शंका—वह भी किस प्रमाण से जाना जाता है ?

प्रति शंका का समाधान—जीव प्रदेशों का परिस्पन्द नहीं होने से जाना जाता है कि वे योग से रहित है। और परिस्पदन से रहित जीव प्रदेशों में योग की सम्भावना नहीं है, क्योंकि, वैसा मानने पर सिद्ध जीवों के भी सयोग होने की आपती आती है।

शंका का समाधान—यहाँ उपर्युक्त शंका का परिहार करते हैं। मन, वचन एवं काय सम्बन्धी क्रिया की उत्पत्तिमें जो जीव का उपयोग होता है वह योग है वह कर्म बन्ध का कारण हैं। परन्तु वह थोड़े से जीव प्रदेशों में नहीं हो सकता, क्योंकि, एक जीव में प्रवृत हुए उक्त योग की थोड़े से ही अवयवों में प्रवृति मानने में विरोध आता है, अथवा एक जीव में उसके खण्ड-खण्ड रूप से प्रवृत होने में विरोध आता है। इसलिये स्थित जीव प्रदेशों में कर्म बन्ध होता है यह जाना जाता है। दूसरे योग से जीव प्रदेशों में नियम से परिस्पन्द होता है, ऐसा नहीं है, क्योंकि, योग से अनियम से उसकी उत्पत्ति होती है। तथा एकान्ततः नियम नहीं है, ऐसी भी बात नहीं है; क्योंकि, यदि जीव प्रदेशों में परिस्पन्द उत्पन्न होता है तो वह योग से ही उत्पन्न होता है ऐसा नियम पाया जाता है, इस कारण स्थित जीव प्रदेश में भी योग के होने से कर्म बन्ध को स्वीकार करना चाहिए। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३६६ पुस्तक नम्बर १२।

नोट—यहाँ पर "मन, वचन एवं काय सम्बन्धी क्रिया की उत्पत्ति में जो जीव का उपयोग होता है वह योग है और वह कर्म बन्ध का कारण है" ऐसा कहा है वहाँ इतना जानना कि उपयोग योग नही है। योग अलग परणति है एवं उपयोग अलग गुण की परणति है। यहाँ पर उपयोग का अर्थ ज्ञान गुण की पर्याय नहीं मानना चाहिए परन्तु चारित्र गुण की पर्याय मानना चाहिए। केवली परमात्मा को उपयोग नहीं है परन्तु योग है जिससे सिद्ध हुआ कि योग में उपयोग नहीं है और उपयोग में योग नही है। दोनों अलग-अलग गुण की पर्याय हैं। लकवाग्रस्त जीव उपयोग अर्थात् इच्छा करता है परन्तु उतना प्रदेश में काय योग नहीं होता है इससे भी सिद्ध होता है कि योग और उपयोग अलग-अलग गुण की पर्याय है। बन्ध का कारण कषाय है परन्तु परिस्पन्दन का कारण कषाय नही है। यह तो योग की ही पर्याय है।

सचित गुण योग और सम्भव गुण योग का स्वरूप—

जीवत्व व भव्यत्व आदि के साथ होने वाला योग पारिणामिक सचित गुण योग कहलाता है। इन्द्र मेरु पर्वत को चलाने में समर्थ है इस प्रकार का जो शक्ति का योग है वह सम्भव योग कहा जाता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४३४ पुस्तक नं० १०।

कार्मण काय योग में जीव आहारक है या नहीं ?

शंका—कार्मण काय योग की अवस्था में भी कर्म वर्गणाओं का ग्रहण का अस्तित्व पाया जाता है, इस अपेक्षा से कार्मण काय योगी जीवों को आहारक क्यों नहीं कहा जाता है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, उन्हें आहारक नहीं कहा जाता है, क्योंकि, कार्मण काय योग के समय नोकर्म वर्गणाओं के आहार का अधिक से अधिक तीन समय तक विरह काल पाया जाता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ६६६ पुस्तक नम्बर २।

कार्मण काय योग में केवली का कितना क्षेत्र स्पर्शन होता है ? दो मत।

कार्मण काय योगी में ५ ज्ञानावरण, ६ दर्शनावरण, १२ कषाय, भय जुगुप्सा, तैजस कार्मण, वर्ण चार, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण तथा पांच अन्तराय के बन्धकों का सर्वलोक स्पर्शन है। अबन्धकों का असंख्यातवां भाग असंख्यात बहु भाग वा सर्वलोक है। सूत्र नं० ३०६ ॥

विशेपार्थ—कार्मण काय योग में ज्ञानावरणादिक के अबन्धक सयोगी केवली के लोक का असंख्यातवाँ भाग स्पर्श धवला टीका में नहीं कहा है किन्तु यहाँ ज्ञानावरणादि के अबन्धकों के लोक का असंख्यातवाँ भाग कहा है। यह विषय चिन्तनीय है। प्रतर समुद्घात केवली के कार्मण काय योग में लोक के असंख्यात बहु भाग स्पर्श कहा है। कारण लोकपर्यन्त स्थित वातवलयों में केवली भगवान् के आत्म प्रदेश प्रतर समुद्घात में प्रवेश करते हैं। लोकपुरण समुद्घात में केवली के आत्म प्रदेश सर्वलोक स्पर्श है। कारण चारों ओर से व्याप्त वातवलयां में केवली के आत्म प्रदेश प्रविष्ट हो जाते हैं। (ध० टी० फो० पृष्ठ २७१)

कम्मइय कायजोगीसु मिच्छादिट्ठी आघं (सव्वलोगा)। सजोगि केवलीहि केवडियं खेत्त फोसिदं। लोगस्स असंखेज्जा भागा सव्वलोगोवा। प८० खं० फो० सूत्र नं० ९६-१०१॥ महाधवल ग्रन्थ पृष्ठ २१५ पुस्तक नम्बर १।

मनोयोगादिक का मनादि प्राण में समावेश होता है या नहीं ?

वचनयोगि जीवों के आलाप में कथन करते कहा है कि मनः पर्याप्ति और शरीर पर्याप्ति से उत्पन्न हुई शक्तियों को मन वल प्राण, और काय बल प्राण कहते हैं। वे शक्तियाँ भी उनके उत्पन्न होने के प्रथम समय से लेकर जीवन के अन्तिम समय तक नष्ट नहीं होती है। और जिस कारण से मनोयोग, वचनयोग और काययोग प्राणों में नहीं ग्रहण किये गये हे इसलिये वचन योगियों के वचन योग से निरुद्ध अर्थात् युक्त अवस्था होने पर भी दशों प्राण होते हैं। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ६३४ पुस्तक नम्बर २।

शब्द पुद्गल उत्पत्ति स्थान से दसो दिशाओं में जाते हैं ?

शब्द पुद्गल अपने उत्पत्ति प्रदेश से उछल कर दसों दिशाओं में जाते हुए उत्कृष्ट रूप से लोक के अन्त तक जाते हैं।

शंका—यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

समाधान—वह सूत्र के अविरुध व्याख्यान करने वाले आचार्यो के वचन से जाना जाता है।

शंका—क्या वे सब शब्द पुद्गल लोक के अन्त तक जाते है या सब नहीं जाते हैं ?

समाधान—सब नहीं जाते है, थोड़े ही जाते है। यथा शब्द पर्याय से परिणत हुए प्रदेश में अनन्त पुद्गल अवस्थित रहते हे। (उससे लगे हुए) दूसरे आकाश प्रदेश में उनसे अनन्त गुण हीन पुद्गल अवस्थिन रहते है। तीसरे आकाश प्रदेश में उनसे अनन्त गुण हीन पुद्गल अवस्थित रहते हे। चौथे आकाश प्रदेश में उनसे अनन्त गुणे हीन पुद्गल अवस्थित रहते हैं। इस तरह वह अनन्त रोपनिधा की अपेक्षा बातबलय पर्यन्त सब दिशाओं में उत्तरोत्तर एक एक प्रदेश के प्रति अनन्त गुणे हीन होते हुए जाते हैं।

शंका—आगे क्यों नही जाते है ?

समाधान—धर्मास्ति काय का अभाव होने से वे वात वलय के आगे नहीं जाते है।

ये सव पुद्गल एक समय में ही लोक के अन्त तक जाते हैं ऐसा कोई नियम नहीं है, किन्तु, ऐसा उपदेश है कि कितने ही शब्द पुद्गल कम से कम दो समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल के द्वारा लोक के अन्त को प्राप्त होते हैं। इस तरह प्रत्येक समय में शब्द पर्याय से परिणत हुए पुद्गलों के गमन और अवस्थान का कथन करना चाहिये। कहा भी है कि

पभवच्चुदस्स भागांवट्ठाणं णियमसा अणंता दु।
पठमागासपदेसे विदियम्मि अणंत गुण हीणा ॥२॥

अर्थ—उत्पत्ति स्थान में च्युत हुए पुद्गलों में अनन्त बहु भाग प्रमाण पुदगल नियम से प्रथम आकाश प्रदेश में अवस्थान करते हैं। तथा दूसरे आकाश प्रदेश में अनन्त गुण हीन पुद्गल अवस्थान करते है।

यहां गाथा का अर्थ कहते हैं—इस गाथा के परों का "पभवच्चुदस्स भागा अणंता पढमागास पदेसे अवट्ठाणं कुणंति" ऐसा सम्बन्ध करना चाहिए इस प्रकार उत्पत्ति प्रदेश से आते हुए पुद्गल यदि समश्रेणि द्वारा आते है तो मिश्र को सुनता है।

शंका—"मिश्र" ऐसा कहने का क्या तात्पर्य है ?

समाधान—परघात और अपरघात इस प्रकार द्विसंयोग रूप से विवक्षित पुद्गल मिश्र कहलाता है।

समश्रेणि द्वारा आते हुए शब्द पुद्गलों को पर घात और अपरघात रूप से सुनता है। यथा यदि परघात नहीं है तो बाण के समान ऋजुगति से कर्ण छिद्र में प्रविष्ट हुए शब्द पुद्गलों को सुनता है। परघात होने पर भी सुनता है, क्योंकि, समश्रेणि से परघात द्वारा उच्छ्रेणि को प्राप्त होकर पुनः परघात द्वारा समश्रेणि से कर्ण छिद्र में प्रविष्ट हुए शब्द पुद्गलों का श्रवण उपलब्ध होता है, उच्छ्रेणि को प्राप्त हुए शब्द पुनः परघात के द्वारा सुने जाते हैं। अन्यथा उनका सुनना नहीं बन सकता है।

यहां पर दूसरे आचार्य अशब्द पुद्गलों के साथ सुनता है ऐसा मिश्र पद का अर्थ कहते हैं, परन्तु वह घटित नहीं होता, क्योंकि, अशब्द पुद्गल श्रोत्रेन्द्रिय के विषय नहीं होते अतः उनका सुनना नहीं बन सकता। अशब्द पुद्गलों को नहीं सुनता है शब्द पुद्गलों को ही सुनता है। किन्तु अशब्द (शब्द पर्याय से रहित) पुद्गलों के साथ शब्द पुद्गलों को सुनता है ऐसा बोलना ठीक नहीं है क्योंकि यह बिना कहे सिद्ध है। कारण के सब पुद्गलों से जो कि सब जीव राशि से अनन्त गुण है सब लोक अपूर्ण है इस प्रकार आगम और युक्ति से सिद्ध होता है। कहा भी है कि

भासागद समसेडिं सद्दं जदि सुणदि मिस्सयं सुणदि।
उस्सेडिं पुण सद्दं सुणेदि णियमा पराघादे ॥३॥

अर्थ—भाषागत समश्रेणि रूप शब्द को यदि सुनता है, तो मिश्र को ही सुनता है। और उच्छ्रेणि को प्राप्त हुए शब्द को यदि सुनता है तो नियम से परघात के द्वारा सुनता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २२२-२२४ पुस्तक नं० १३

लेश्या अधिकार

लेश्या के विषय में जिनागम में अनेक कथन देखने में आते हैं। यथार्थ में लेश्या क्या है, लेश्या आत्मा के किस गुण की विकारी पर्याय का नाम है, वह, आत्मा जाने नहीं तो आत्म ज्ञान कैसे हो सकता है। आत्मा अपने द्रव्य गुण पर्याय से अभिन्न है। इसलिए अपने द्रव्य, गुण और पर्याय का ज्ञान करना प्रयोजनभूत है। जिनागम में लेश्या के विषय में अनेक कथन देखने में आते हैं। पाठक गण स्वयं विचार करें कि यथार्थ में क्या है ?

धवल ग्रन्थ पृष्ठ १४९-१५० पुस्तक नम्बर १ में लिखा है कि—

"जो कर्मों से आत्मा को लिप्त करती है उसको लेश्या कहते हैं। अथवा जो आत्मा और प्रवृत्ति अर्थात् कर्म का सम्बन्ध करने वाली है उसको लेश्या कहते हैं। इस प्रकार लेश्या का लक्षण करने पर अति प्रसंग दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, यहां पर प्रवृत्ति शब्द कर्म का पर्यायवाची ग्रहण किया है। अथवा कषाय से अनुरंजित काययोग, वचनयोग और मनोयोग की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। इस प्रकार लेश्या का लक्षण करने पर केवल कषाय और केवल योग को लेश्या नहीं कह सकते हैं, किन्तु, कषायानुविद्ध योग प्रवृत्ति को ही लेश्या कहते हैं यह बात सिद्ध हो जाती है। इससे बारहवें आदि गुणस्थानवर्ती वीतरागियों के केवल योग को लेश्या नहीं कह सकते हैं ऐसा निश्चय नहीं कर लेना चाहिए, क्योंकि, लेश्या में योग की प्रधानता है। कषाय प्रधान नहीं है, क्योंकि, वह योग प्रवृत्ति का विशेषण है। अतएव उसकी प्रधानता नहीं हो सकती है। कहा भी है कि—

लिंपदि अप्पी कीरदि एदाए णियय-पुण्णं-पावं च।
जीवो त्ति होइ लेस्सा-गुण-जाणय क्खादा ॥९४॥ गो० जी० ४४९

अर्थ—जिसके द्वारा जीव पुण्य और पाप से अपने को लिप्त करता है उनके आधीन करता है उसको लेश्या कहते है ऐसा लेश्या के स्वरूप को जानने वाले गणधरदेव आदि ने कहा है।

नोट—यहाँ पर योग प्रवृति को लेश्या कहा है न कि कषाय को। हिंसा में प्रमाद मूल है, कषाय में अभिलाषा मूल है और लेश्या में प्रवृति मूल है। पुण्य और पाप से लिप्त करता है उसको लेश्या कहते हैं ऐसा लेश्या का लक्षण करने से विचार करना होगा कि पुण्य पाप प्रकृतियों का नाम है, या पुण्य पाप भावों का नाम है। यदि पुण्य पाप प्रकृतियों को माना जावे तो जिस भाव से पुण्य पाप प्रकृतियों का बन्ध होता है उसे लेश्या कहना होगा। तब तो बन्ध मिथ्यात्व कषाय और क्रिया (योग) से होता है। श्रद्धा गुण की विकारी पर्याय का नाम मिथ्यात्व है। चारित्र गुण की विकारी पर्याय का नाम कषाय है और क्रिया गुण की विकारी पर्याय का नाम प्रवृति है। जिस जीवों को मिथ्यात्व भाव नहीं है उनको कषाय तथा प्रवृति से पुण्य पाप का बन्ध पड़ता है। जिन जीवों को मिथ्यात्व तथा कषाय नहीं है उन जीवों को भी प्रवृति से भी पुण्य बन्ध पड़ता है इससे सिद्ध होता है कि, केवली परमात्मा को लेश्या है परन्तु उनको मिथ्यात्व तथा कषाय नही है। जिससे सिद्ध होता है कि क्रिया नाम के गुण कि विकारी पर्याय प्रवृति (गमनागमन) ही मात्र लेश्या है। यदि पुण्य भाव, पाप भाव को लेश्या माना जावे तो पुण्य और पाप भाव चारित्रगुण की विकारी पर्याय है। तब जिन जीवों को कषाय है उनको ही लेश्या कहना चाहिए तब बारहवें आदि गुण स्थान वर्ती वीतरागी, जीवों को लेश्या का अभाव होता है। परन्तु आगम, उनको भी लेश्या मानते है, इससे सिद्ध होता है कि लेश्या क्रिया गुण कि विकारी पर्याय का नाम है। मात्र कषाय और मात्र योग को लेश्या कह नहीं सकता है यह कहना भी ठीक नहीं हैं क्योंकि आगे वह बात भी स्वीकार की गयी है। देखिए—

धवलग्रन्थ पृष्ठ ३८६-३८८ पुस्तक नम्बर १ में लिखा है कि—

शंका—"लेश्या" इस शब्द से क्या कहा जाता है ?

समाधान—जो कर्म स्कन्ध से आत्मा को लिप्त करती है उसे लेश्या कहते हैं।

यहां पर "कषाय से अनुरंजित योग प्रवृति को लेश्या कहते हैं" यह अर्थ ग्रहण नही करना चाहिए, क्योंकि इस अर्थ के ग्रहण करने पर सयोगी केवली को लेश्या रहित पने की आपत्ति प्राप्त होती है।

शंका—यदि सयोगी केवली को लेश्या रहित मान लिया जावे तो क्या हानि है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि ऐसा मान लेने पर "सयोगी केवली के शुक्ल लेश्या पाई जाती है" इस वचन का व्याघात हो जाता है।

शंका—लेश्या योग को कहते हैं अथवा कषाय को कहते हैं या योग और कषाय, दोनों को कहते हैं ? इनमें से आदि के दो विकल्प अर्थात् योग या कषाय रुप लेश्या तो मान नहीं सकते, क्योंकि वैसा मानने पर योग मार्गण और कषाय, मार्गणा में ही उसका अन्तर्भाव हो जायगा। तीसरा विकल्प भी नहीं मान सकते, क्योंकि, तीसरा विकल्प भी आदि के दो विकल्पों के समान है अर्थात् तीसरे विकल्प के मानने पर भी लेश्या का उक्त दोनों मार्गणाओं में अथवा किसी एक मार्गणा में अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिए लेश्या की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नहीं होती है ?

समाधान—शंकाकार ने जो ऊपर तीन विकल्पों को उठाया है उनमें से पहले और दूसरे विकल्प में दिए गए दोप तो प्राप्त नहीं होते, क्योंकि, लेश्या को केवल कषाय और केवल योग रुप माना ही नहीं है। उसी प्रकार तीसरे विकल्प में दिया गया दोष भी प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि योग और कषाय इन दोनों का किसी एक में अन्तर्भाव मानने में विरोध आता हैं। यदि कहा जाय कि लेश्या को दोय रुप मान लिया जाय जिससे उसका योग और कषाय इन दोनों मार्गणाओं में अन्तर्भाव हो जायगा सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, कर्म लेप रुप एक कार्य को करने वाले होनी की अपेक्षा एक पने को प्राप्त हुए योग और कषाय को लेश्या माना है। यदि कहा जाय कि—एकता को प्राप्त हुए योग और कषाय रुपलेश्या होने से उन दोनों में लेश्या का अन्तर्भाव हो जायगा सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, दो धर्मों के संयोग से उत्पन्न हुए द्वयात्मक अतएव किसी एक तीसरी अवस्था को प्राप्त हुए किसी एक धर्म का केवल एक के साथ एकत्व अथवा समानता मान लेने में विरोध आता है।

शंका—योग और कपाय के कार्य से भिन्न लेश्या का कार्य नहीं पाया जाता है, इसलिए उन दोनों से भिन्न लेश्या नहीं मानी जा सकती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, विपरीतता को प्राप्त हुए मिथ्यात्व, अविरत आदि के आलमबन रुप आचार्यादि बाह्य पदार्थों के सम्पर्क से लेश्या भाव को प्राप्त हुए योग और कषायों से, केवल योग और केवल कपाय के कार्य से भिन्न संसार की वृद्धि रुप कार्य की उपलब्धि होती है, जो केवल योग और केवल कषाय का कार्य नहीं कहा जा सकता है, इसलिये लेश्या उन दोनों से भिन्न है, यह बात सिद्ध हो जाती है।

शंका—संसार की वृद्धि का हेतु लेश्या है ऐसी प्रतिज्ञा करने पर "जो लिप्त करती हैं उसे लेश्या कहते हैं" इस वचन के साथ विरोध आता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कर्म लेपकी अविनाभावी होने रुप से संसार की वृद्धि भी लेश्या ऐसी संज्ञा देने से कोई विरोध नहीं आता है। अतः उन दोनों से पृथग्भूत लेश्या है यह निश्चित हो जाता है।

कषाय का उदय छह प्रकार का होता है। वह इस प्रकार है। तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर, मन्दतम। इन छह प्रकार के कषाय के उदय से उत्पन्न हुई परिपाटी क्रम से लेश्या, भी छह प्रकार की हो जाती है। कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, पीत लेश्या, पद्म लेश्या, और शुक्ल लेश्या॥

नोट—लेश्या एक प्रकार की है परन्तु कषाय के कारण उपचार से छह प्रकार की कही जाती हैं। यदि लेश्या छह प्रकार की होती तो एक लेश्या के अभाव में दूसरी लेश्या आने से कुछ शुद्धि होती। अर्थात् कृष्ण लेश्या जाने से नील लेश्या होने से गुण में शुद्धता जरूर होती परन्तु लेश्या में शुद्धता होती हीं नहीं है, यदि लेश्या में शुद्धता होती तो लेश्या को क्षयोपशम भाव अर्थात् मिश्र भाव कहते, परन्तु लेश्या को औदयिक ही भाव माना है, अर्थात् गुण सम्पूर्णपने विकारी परिणमन करता है। ऐसा क्यों कहते ? इससे सिद्ध होता है कि लेश्या एक प्रकार की है अर्थात् प्रवृति का नाम है, परन्तु, लेश्या में कषाय का आरोप कर लेश्या छह प्रकार की मानी है। कषाय के कारण से लेश्या छह प्रकार की मानी जावे तो केवली को कषाय नही है, परन्तु वहाँ लेश्या है इससे सिद्ध होता है कि लेश्या को जो छह प्रकार की मानी है वह उपचार मात्र है। केवल योग को लेश्या नहीं कह सकते यह भी कहना उपचार है, देखिये—

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४३६ पुस्तक नम्बर ३ में लिखा है कि—

शंका – केवल योग को यह संज्ञा कैसे प्राप्त हो सकती है ?

समाधान – नहीं, क्योंकि, "जो लिपन करती है वह लेश्या है" इस निरुक्ति के अनुसार योग के भी लेश्या संज्ञा सिद्ध होती है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३९१ पुस्तक नम्बर १ में लिखा है कि—

शंका—जिन जीवों की कषाय क्षीण अथवा उपशान्त होगई है उनके शुक्ल लेश्या का होना कैसे सम्भव है ?

समाधान नहीं, क्योंकि, जिन जीवों की कषाय क्षीण अथवा उपशान्त होगई है उनमें कर्म लेप का कारण योग पाया जाता है इसलिये इस अपेक्षा से उनके शुक्ल लेश्या के सद्भाव मान लेने में कोई विरोध नहीं है।

यही बात धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४३६ पुस्तक नम्बर २ में भी कही गई है।

लेश्या दो प्रकार की मानी गई है (१) द्रव्य लेश्या (२) भाव लेश्या। द्रव्य लेश्या शरीर के रंग का नाम है और भाव लेश्या आत्मा के गुण की विकारी पर्याय है। एक गुण में दूसरे गुण का अन्योन्य अभाव है यह अनेकान्त भूलना नहीं चाहिए। देखिये दोनों लेश्या का क्या स्वरूप कहते है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ७८८ पुस्तक नम्बर २ में लिखा है कि –

लेस्या य दव्व-भावं कम्मं णोकम्मसिस्सयं दव्वं।
जीवस्स भावलेस्सा परिणामो अप्पणो जो सो ॥२२८॥

अर्थ—लेश्या दो प्रकार की है। (१) द्रव्य लेश्या (२) भाव लेश्या। नोकर्म वर्गणाओं से मिश्रित कर्म वर्गणाओं को द्रव्य लेश्या कहते हैं। तथा जीव का कषाय और योग के निमित्त से होने वाला जो आत्मिक परिणाम है वह भाव लेश्या कहलाती है।

नोट—यहाँ योग और कषाय के निमित्त से होने वाला परिणाम को भाव लेश्या कही है यह भी सदोष लक्षण है, क्योंकि, सयोगि जिनको कषाय नही है मात्र योग है, उसको लेश्या नहीं कह सकते हैं, परंतु, आगम में इनको भी लेश्या कही है इससे सिद्ध होता है कि यह लक्षण जो बनाया है वह सदोष है। एक गुण को एक ही पर्याय होती है। चारित्र गुण की कषाय पर्याय होती है जब क्रिया गुण की प्रवृति पर्याय है। एक गुण में दूसरे गुण का अभाव है। चारित्र गुण को घात करने वाला मोहनीय कर्म है जब क्रियागुण को घात करने वाला नाम कर्म के अन्तर्गत शरीर नामा नाम कर्म का उदय है। इससे भी सिद्ध होता है कि दो गुण की विकारी अवस्था का नाम लेश्या नही हो सकता है। यदि लेश्या क्रिया गुण का विकार का नाम है तो केवली को भी लेश्या होनी चाहिए, क्योंकि, केवली का क्रिया गुण विकारी है, यदि लेश्या चारित्र गुण का विकार का नाम है तो कषाय और लेश्या एक ही हो जाते हैं। ऐसी हालत में केवली में लेश्या नहीं होनी चाहिए, क्योंकि, केवली के आत्मा में चारित्र गुण शुद्ध होगया हे। देखिये यहाँ पर लेश्या को चारित्र गुण का विकार माना है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ५३२-५३५ पुस्तक नम्बर २ में क्या लिखा है—देवों के द्रव्य से छहों लेश्या होती है।

शंका—देवों के पर्याप्त काल में द्रव्य से छहों लेश्याएं होती है यह वचन घटित नहीं होता है,

क्योंकि, उनके पर्याप्त काल में भाव से छहों लेश्याओं का अभाव है। यदि कहा जाय कि देवों के भाव से छहों लेश्याएँ मत होवें किन्तु द्रव्य से छहों लेश्याएँ होती हैं, क्योंकि, द्रव्य और भाव में एकता का अभाव है अर्थात् भेद है। सो ऐसा कथन भी नहीं बनता है, क्योंकि, जो भाव लेश्या होती है उसी लेश्या वाले ही औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीर सम्बन्धी नोकर्म परमाणु आते हैं। यदि कहा जाय कि उक्त बात कैसे जानी जाती है तो उसका उत्तर यह है, कि सौधर्म आदि कल्पवासी देवों के भाव लेश्या के अनुरूप ही द्रव्य लेश्या का प्ररूपण किये जाने से उक्त बात जानी जाती है। तथा देवों के पर्याप्त काल में तेज, पद्म, शुक्ल तीन लेश्याओं को छोड़कर अन्य लेश्याएँ होती ही नहीं हैं, इसलिए देवों के पर्याप्त काल में द्रव्य की अपेक्षा भी तेज, पद्म और शुक्ल लेश्याएँ होनी चाहिए। इस प्रकरण में निम्न गाथाएँ उपयुक्त हैं—

किण्हा भमरसमवण्णा णीला पुण णील गुलिय संकासा।
काओ कओदवण्णा तेऊ तवणिज्जवण्णा य ॥२२३॥
पम्मा पउमसवण्णा सुक्का पुण कासकुसुमसंकासा।
किण्हादि दव्वलेस्सा वण्ण विसेसो मुणेयव्वो ॥२२४॥

अर्थ—कृष्ण लेश्या भौंरे के समान, अत्यन्त काले वर्ण की होती है। नील लेश्या नील की गोली के समान नील वर्ण की होती है। कापोत लेश्या कापोत वर्ण वाली होती है। तेजो लेश्या सोने के समान वर्ण वाली होती है। पद्म लेश्या पद्म के समान वर्ण वाली होती है। और शुक्ल लेश्या कांस के फूल के समान स्वेत वर्ण की होती है। इस प्रकार कृष्णादि द्रव्य लेश्याओं के वर्ण विशेष जानने चाहिए ॥२२३-२२४॥

भाव लेश्याओं के स्वरूप का थोड़े में संग्रह रूप से यह गाथा ज्ञान कराती है।

णिम्मूलखंध साहुवसाहं बुच्चित्तु वाउ—पडिदाइं।
अब्भंतर लेस्साणं भिंदइ एदाइं वयणाइं ॥२२५॥ गो. जी. ५०८

अर्थ—जड़ मूल से वृक्ष को काटो, स्कन्ध से काटो, साखाओं से काटो, उपसाखाओं से काटो, फलों को तोड़कर खाओ और वायु से पतित फलों को खाओ इस प्रकार के वचन अभ्यन्तर अर्थात् भाव लेश्याओं के भेद को प्रगट करते हैं ॥२२५॥

समाधान—ऊपर कही गई ये गाथाएं तो तुम्हारा पक्ष को नहीं साधन करती हैं, क्योंकि, वे गाथाएं उभय पक्ष में साधारण अर्थात् समान है। और न तुम्हारी युक्ति भी घटित होती है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है। द्रव्य लेश्या अपर्याप्त काल में होने वाली भाव लेश्या का तो अनुकरण करती नहीं है, अन्यथा अपर्याप्त काल में अशुभ तीनों लेश्या वाले उत्तम भोग भूमिया मनुष्यों के गौर वर्ण का अभाव प्राप्त हो जायगा। इसी प्रकार पर्याप्त काल में भी पर्याप्त जीव सम्बन्धी द्रव्य लेश्या भाव लेश्या का नियम से अनुकरण नहीं करती है, क्योंकि, वैसा मानने पर छह प्रकार की भाव लेश्याओं में निरन्तर परिवर्तन करने वाले पर्याप्त तिर्यंच और मनुष्यों के द्रव्य लेश्या के अनियम पने का प्रसंग प्राप्त हो जायगा। और यदि द्रव्य लेश्या के अनुरूप ही भाव लेश्या मानी जाय तो धवल वर्ण वाले बगुले के भी भाव से शुक्ल लेश्या का प्रसंग प्राप्त होगा। तथा धवल वर्ण वाले आहारक शरीरों के और धवल वर्ण वाले विग्रह गति में विद्यमान सभी जीवों के भाव की अपेक्षा से शुक्ल लेश्या की आपत्ति प्राप्त होगी। दूसरी बात यह भी है कि द्रव्य लेश्या वर्ण नामा नाम कर्म से उदय से होती है भाव लेश्या नहीं। इसलिए दोनों

लेश्याओं के एक कह नहीं सकते, क्योंकि, अघातिया और पुद्गल विपाकी वर्ण नामा नाम कर्म तथा घातिया और जीव विपाकी (चारित्र) मोहनीय कर्म इन दोनों की एकता में विरोध है। यदि कहा जाय कि कर्मों के विश्र सोपचय का वर्ण तो भाव लेश्या से होता है और औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीरों के वर्ण, वर्ण नामा नाम कर्म के उदय से होते हैं, इसलिए हमारे कथन में यह उक्त दोप नहीं आता है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, कृष्ण लेश्या वाला जीव चंडकर्मा होता है वैर नही छोड़ता है, इत्यादि रूप से बाहरी कार्यों में उत्पन्न करने में तथा स्थिति वंध और प्रदेश बन्ध में ही भाव लेश्या का व्यापार देखा जाता है, इसलिए यह वात सिद्ध होती है कि भाव लेश्या द्रव्य लेश्या होने में कारण नहीं है। इस प्रकार उक्त विवेचन से यह फलितार्थ निकला कि वर्ण नामा नाम कर्म के उदय से भवनवासी, व्यंतर, और ज्योतिषी देवों के द्रव्य की अपेक्षा छहों लेश्याएं होती हैं, तथा भवनत्रीक से ऊपर में देवों में तेज, पद्म, शुल्क लेश्याए होती हैं। जैसे पांचो वर्ण और पांचों रस वाले काक के अथवा पाँचों वर्ण वाले रसों से युक्त काकके कृष्ण व्यपदेश देखा जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक शरीर में द्रव्य से छहों लेश्याओं के होने पर भी एक वर्ण वाली लेश्या के व्यवहार करने में कोई विरोध नहीं है।

नोट—देखिये यहां लेश्या को मोहनीय कर्म के होने वाली चारित्र गुण की विकारी पर्याय को सिद्ध किया। इतना ही नहीं परन्तु लेश्या से प्रदेश बन्ध और स्थिति वन्ध माना परन्तु यथार्थ में लेश्या से प्रदेश बन्ध और प्रकृति बन्ध होता है और कषाय से ही स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध होता है। लेश्या से प्रकृति बन्ध इस कारण कहा है, कि केवली को साता वेदनीय का बन्ध होता है परन्तु वहां स्थिति बन्ध नहीं होता हैं इससे यह सिद्ध हुआ कि लेश्या से स्थिति बन्ध नही होता है। लेश्या यदि चारित्र गुण का विकार होता तो केवली को लेश्या नहीं होनी चाहिए क्योंकि, वहाँ चारित्र गुण शुद्ध परिणमन करता हैं। और मोहनीय कर्म का अत्यन्त नाश हो चुका है इससे भी सिद्ध होता है कि लेश्या क्रिया गुण की विकारी पर्याय है। और क्रिया गुण में अंश अंश में शुद्धता आती नहीं है। उनकी दोही अवस्था होती है। अशुद्ध या शुद्ध। परन्तु उनमें क्षयोपशम भाव होता ही नही है क्योंकि अघाति कर्मों में क्षयोपशम होता ही नही है। क्योंकि अघाति कर्मो में सर्व घाति या देश घाति कर्म का भेद नहीं है। देखिये अब लेश्या को कौन सा भाव कहा है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ १०४-१०५ पुस्तक नं० ७ में लिखा है कि—

लेश्या मार्गणानुसार जीव कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, तेजो लेश्या, पद्म लेश्या, और शुक्ल लेश्या वाला कैसे होता है? सूत्र नं० ॥६०॥

आदइएण भावेण ॥६१॥

अर्थ—औदायिक भाव से जीव कृष्ण आदि लेश्या वाला होता है ॥६१॥

नोट—गुण की संपूर्ण विकारी अवस्था का नाम औदायिक भाव है।

"उदय में आये हुऐ कषाय अनुभाग के स्पर्धकों के जघन्य स्पर्धक से लेकर उत्कृष्ट स्पर्धक पर्यन्त स्थापित करके उनको छह भागों में विभक्त करने पर प्रथम भाग मंदतम कषायनुभाग का होता है और उसके उदय से जो कपाय उत्पन्न होती हैं उसी का नाम शुक्ल लेश्या हैं। दूसरा भाग मन्दतर कषाय उत्पन्न अनुभाग का है और उसी के उदय से उत्पन्न हुए कषाय का नाम पद्म लश्या हैं। तृतीय भाग मन्द कषाय अनुभाग का है। और उसके उदय से उत्पन्न कषाय तेजो लेश्या है। चतुर्थ भाग तीव्र कपाय अनुभाग का है और उसके उदय से उत्पन्न कषाय कापोत लेश्या होती है। पांचवा भाग तीव्रतर कषायानुभाग का है और

उसके उदय से उत्पन्न कषाय को नील लेश्या कहते है। छटंवा भाग तीव्रतम कषायानुभाग का ,और उसके उत्पन्न कषाय का नाम कृष्ण लेश्या है। चूंकि यह छहों ही लेश्याए कषायों के उदय से होती हैं इसलिए वह औदयिक हैं।

शंका—यदि कषायों के उदय से लेश्याओं का उत्पन्न होना कहा जाता है, तो बारहवें गुणस्थान वर्ती क्षीण कषाय जीवों के लेश्या के अभाव का प्रसंग आता है?

समाधान—सचमुच ही क्षीण कषाय जीवों में लेश्या के अभाव का प्रसंग आता यदि केवल कषायोदय से ही लेश्या की उत्पत्ति मानी जाती, किन्तु शरीर नाम कर्म के उदय से उत्पन्न योग भी तो लेश्या माना गया है, क्योंकि, वह भी कर्म के बन्ध में निमित्त होता है इस कारण कषाय के नष्ट हो जाने पर भी चूंकि योग रहता है, इसलिए क्षीण कषाय जीवों के लेश्या मानने में कोई विरोध नहीं आता।

शंका—यदि बन्ध के कारणों को ही लेश्या भाव कहा जाता है तो प्रमाद को भी लेश्या भाव क्यों नही मान लिया जाय?

समाधान—नहीं, क्योंकि, प्रमाद का तों कषायों में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

शंका—असंयम को भी लेश्या भाव क्यों नही मानते?

समाधान—नहीं, क्योंकि, असंयम का भी तों लेश्या कर्म में अन्तर्भाव हो जाता है।

शंका—मिथ्यात्व को लेश्या भाव क्यों नही मानते?

समाधान—मिथ्यात्व को लेश्या कह सकते हैं, क्योंकि, उसमें कोई विरोध नहीं आता। किन्तु यहाँ कषायों का ही प्राधान्य है, क्योंकि, कषाय ही लेश्या कर्म में कारण है। और अन्य बन्ध कारणों में उसका अभाव हैं।

नोट—यहां मिथ्यात्व को भी लेश्या माना, कषाय को भी लेश्या माना और योग (क्रिया) को भी लेश्या माना। श्रद्धा गुण की, विकारी पर्याय का नाम मिथ्यात्व है। चारित्र गुण की विकारी पर्याय का नाम कषाय है और क्रिया गुण की विकारी पर्याय का नाम लेश्या है। यदि मिथ्यात्व लेश्या हो जाता है तो उनको शरीर नामा नाम कर्म कैसे घात करता? यदि मिथ्यात्व लेश्या होता तो लेश्या में क्षयोपशमिक, और उपशम भाव होना चाहिए परन्तु होता नहीं है जिससे सिद्ध होता है कि मिथ्यात्व लेश्या नहीं है। कषाय यदि लेश्या होती तो नरक में तीनों ही अशुभ लेश्या है तो भी वहां के जीव नियम से संज्ञी पंचेन्द्रिय बनते हैं, जब प्रथम दूसरे के स्वर्ग के जीवों के पीत लेश्या होते संते वह निगादे एकेन्द्रिय में जाते हैं इससे सिद्ध हुआ की लेश्या कषाय नहीं है। कषाय लेश्या होती तो जैसे कषाय में क्षयोपशमिक तथा उपशम भाव होते हैं। ऐसे लेश्या में भी होना चाहिए था, परन्तु होता ही नही मात्र औदयिक ही भाव होता है, अतः लेश्या कषाय नहीं है। लेश्या क्रियागुण की विकारी पर्याय का नाम है उनको घात करने वाले शरीर नामा नाम कर्म है और वह अघाति कर्म है और अघाति कर्म में क्षयोपशम तथा उपशम भाव होता ही नहीं है। जब तक शरीर का संयोग है तब तक ही लेश्या रहती है और शरीर का अभाव में लेश्या, योग रहता ही नहीं है। योग में अंश में शुद्धता आती ही नहो है। मुनिराज को गुप्ति कही जाती हैं यह व्यवहार से कही जाती है, यथार्थ में गुप्ति नहीं है, मात्र शुभ योग है। शुभ योग को गुप्ति कहना व्यवहार है। और शुभ योग को गुप्ति मानना मिथ्यात्व है। शुभ योग मिथ्यात्व नहीं हैं परन्तु उनको गुप्ति मानना (मान्यता ही) मिथ्यात्व है। यथार्थ में गुप्ति, चौदवें गुण स्थान के प्रथम समय में ही होती है। अलेश्या कौन सा भाव है वह दिखाते हैं।

धवलग्रन्थ पृष्ठ १०५-१०६ पुस्तक नम्बर ७ में लिखा है कि—

"अलेस्सिओ णाम कधं भवदि ?॥ सूत्र नं० ६२ ॥

अर्थ—जीव अलेश्यिक कैसे होता है ॥६२॥

खइयाए लद्धीए ॥ सूत्र नं० ६३ ॥

अर्थ—क्षायक लब्धि से जीव अलेश्यिक होता है ॥६३॥

लेश्या के कारण भूत कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुए जीव परिणाम को क्षायक लब्धि कहते हैं। उसी क्षायक लब्धि से जीव अलेश्यिक होता है। यह सूत्र का तात्पर्य है। शरीर नाम कर्म की सत्ता का होना क्षायिकत्व के विरुद्ध नहीं है, क्योंकि, क्षायक भाव शरीर नाम कर्म के आधीन नहीं है।

नोट—यहाँ लेश्या को क्षायिक भाव कहा हैं और लेश्या के कारण शरीर नामा नाम कर्म था उसी का क्षय तो हुआ नहीं तब क्षायिक पना कैसे होता है ? १३ वें गुण स्थान में सत्तामें जितनी प्रकृतियाँ थी उतनी ही यदि चौदहवाँ गुण स्थान में रही तो प्रकृतियों का क्षय तो हुआ नहीं और क्षायिक भाव कहना कहां तक योग्य है ? ऐसा कहने से क्षय का जो लक्षण है वह लक्षण का नाश हो जाता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २१५ पुस्तक १ में क्षय का लक्षण दिखाया है कि—"जिनके मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृति के भेद से प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेश बन्ध का क्षय हो जाना उसे क्षय कहते हैं।" जब क्षय का यह लक्षण है तब अलेश्यिक को क्षायिक भाव कहना और लेश्या के कारण भूत कर्मो का क्षय न होना यह दोनों बातों में विरोध आते हैं। वह विरोध हैं या नहीं वह स्वयं पाठक विचार करलें। हमको मौन रहना ही उचित मार्ग है। योग को घात करने वाले जो कर्म थे वही कर्म लेश्या का घात करने वाले हैं, क्योंकि, चौदहवे गुण स्थान के पहले समय में अयोगि और अलेश्यिक होता है। अयोग भाव को क्षायिक भाव माना है और वहाँ लिखा है कि "योग के कारण भूत शरीरादिक कर्मो के निर्मूल क्षय से उत्पन्न होने के कारण अयोग भाव क्षायिक भाव है।" योग में शरीरादिक कर्मो के निर्मूल क्षय से अयोग कहना और अलेश्यिक में "शरीर नाम कर्म की सत्ता का होना क्षायिकत्व में विरुद्ध नहीं है" यह कहना क्या परस्पर विरोध कथन नहीं है ? पाठक शान्ति से विचार करें। शरीरादिक कर्मो के निर्मूल क्षय से अयोग होता है तब चौदहवे गुण स्थान में द्रव्य से लेश्या मानना कहाँ तक उचित है। जब तक शरीर का संयोग है तब तक सयोगि होता है और शरीर का अत्यन्त अभाव से अयोग होता है। शरीर अंगोपाग आदि का होना शरीर नामा नाम कर्म तथा अंगोपादिक आदि नामा नाम कर्म का उदय है तब तक ही उन प्रकृतियों के फल रूप शरीर रहता है जब उन प्रकृतियों का अभाव रहता है तब शरीर कैसे रह सकता है, क्योंकि, जहाँ कारण का अभाव है वहाँ कार्य का भी अभाव होता है यह न्याय है, तो भी चौदहवें गुणस्थान में द्रव्य लेश्या मानना उचित नहीं है। धवल ग्रन्थ पुस्तक नम्बर २ में आलाप का वर्णन करते आलाप नम्बर २५-१३८ में लिखा है कि अयोगि केवली को द्रव्य से छहों लेश्याए होती हैं और भाव से लेश्या रहित स्थान है।" तथा वहीं ग्रन्थ के पृष्ठ नम्बर ८५५ में आलाप नम्बर ५४४ में लिखा है कि "अयोगि केवली को योग भी नहीं है काय भी नहीं है। और द्रव्य से छहो लेश्याए होती है"

योग और लेश्या का निमित्त कारण काय है जब अयोगि एवं अलेश्यिक होता है तब विकार का निमित्त का भी अत्यन्त अभाव हो जाता है तब चौदहवें गुण स्थान में अयोगि एवं अलेश्यिक जीव हैं तब वहां काय मानना योग्य नहीं है और काय ही नहीं है तब वहां छहों द्रव्य से लेश्या मानना न्याय संगित नहीं है।

भाव लेश्या में दो मत—

कितने ही आचार्य शरीर रचना के लिये आये हुए परमाणुओं के वर्ण को लेकर संयतासंयत गुण स्थान वर्ती जीवों के भाव लेश्या का वर्णन करते है, किन्तु यह उनका कहना घटित नहीं होता है, क्योंकि वैसा मानने पर भाव और द्रव्य लेश्या में कोई भेद ही नहीं रह जाता है, और "जो लिम्पन करती हैं उसे लेश्या कहते है" इस आगम वचन का व्याघात भी होता है। इसलिये "कर्म लेप का कारण होने से योग और कषाय से अनुरंजित प्रवृति ही भाव लेश्या है" ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए। धवलग्रन्थ पृष्ठ ४१२ पुस्तक नम्बर २

नोट—यह भाव लेश्या का लक्षण करने पर केवली को लेश्या बन नहीं सकती है, क्योंकि, यहां लेपन है परन्तु "कषाय से अनुरंजित योग" नहीं है जिसे वह कथन भी व्याघात का कारण बन जाता है—प्रवृति सो लेश्या मानने में कोई विरोध आता नहीं यही निर्दोष लक्षण है।

औदारिक मिश्र काययोग मे कापोत लेश्या द्रव्य से होने का क्या कारण है?

शंका—औदारिक मिश्र योग में द्रव्य से एक कापोत लेश्या होने का क्या कारण है?

समाधान—औदयिक मिश्र काययोग में वर्तमान मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि जीवों के शरीर की कापोत लेश्या ही होती है, क्योंकि धवल विश्र सोपचय, सहित छहों वर्णों के कर्म परमाणुओं के साथ मिले हुए छहों वर्ण वाले औदारिक शरीर के परमाणुओं के कापोत वर्ण की उत्पत्ति बन जाती है। इसलिये औदारिक मिश्र काययोगी जीवों के द्रव्य से एक कापोत लेश्या ही होती है।

कपाट समुद्घात गत सयोगि केवली के, शरीर की भी कापोत लेश्या ही होती है। यहाँ पर भी पूर्व के समान ही कारण कहना चाहिए। यद्यपि सयोगी केवली के पहले का शरीर छहों वर्ण वाला होता है, तथापि वह यहां ग्रहण नहीं किया गया हैं, क्योंकि, अपर्याप्त योग में वर्तमान कपाट समुद्घात गत सयोगी केवली का पहले के शरीर के साथ सम्बन्ध नहीं रहता है। अथवा पहले के छहोंवर्ण वाले शरीर का आश्रय लेकर उपचार से द्रव्य की अपेक्षा सयोगी केवली के छहों लेश्या होती है। धवलग्रन्थ पृष्ठ ६५४ पुस्तक नम्बर २

औदारिक मिश्र कामयोगी को भाव से छहों लेश्या कैसे होती है?

शंका—औदारिक मिश्र काययोगी जीवों के भाव से छहों लेश्याए होने का क्या कारण है?

समाधान—औदारिक मिश्र काय योग में वर्तमान मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि जीवों के भाव से कृष्ण, नील और कापोत लेश्या होती है। और कपाट समुद्घात गत औदारिक मिश्र काययोगी सयोगी केवली के एक शुक्ल लेश्या ही होती है। किन्तु जो देव और नारकी मनुष्यगति में उत्पन्न हुए है, औदारिक मिश्र काययोग में वर्तमान है, और जिनकी पूर्व भव सम्बन्धी भाव लेश्याए अभी तक नष्ट नहीं हुई है, ऐसे जीवों के, भाव से छहों लेश्याए पाई जाती हैं, इसलिए औदारिक मिश्र काययोगी जीवों के छहों लेश्याए भाव से कही गई है। धवलग्रन्थ पृष्ठ ६५४ पुस्तक नम्बर २

भव्याभव्य अधिकार

भव्यत्व भाव और अभव्यत्व भाव हरेक जीवों में अनादि काल से शक्ति रूप है। जिस जीवों में भव्यत्व भाव है वही जीव सम्यग्दर्शन रूप पर्याय प्रगट कर सकता है। जिस जीवों में अभव्यत्व भाव है वह जीव में सम्यग्दर्शन की शक्ति होते सन्ते कभी भी प्राप्त कर नहीं सकते हैं। भव्यत्व भाव पारिणामिक भाव है। पारिणामिक भाव उसे कहते हैं कि जिस भाव में परकारणों का अभाव रहता है अर्थात् कर्मों का सद्भाव अभाव विना स्वयं आत्मपरिणाम होता है उसे पारिणामिक भाव कहते हैं। औदयिक, क्षयोपशमिक, औपशमिक, क्षायिक और पारिणामिक भावों में से एक गुण एक ही समय में एक ही भाव से परिणमन करता है उसी समय उस गुण में अन्य भावों रूप परिणमन करने की शक्ति है। एक ही साथ में एक गुण में दो भाव कभी नहीं होता है। जिस गुणों के विकार से आत्मा में बन्ध होता है वही गुण पारिणामिक भाव से परिणमन कर सकता है। अभेद विवक्षा से जीवत्व भाव पारिणामिक भाव हैं परन्तु वह शक्ति रूप है। जब भेद किया जाय तब ज्ञानदर्शन हो जाता है। वह व्यक्त रूप तो मात्र क्षयोपशमिक या क्षायिक ही भाव से होता है। आत्मा के अनन्त गुणों में से केवल श्रद्धा गुण, चारित्र गुण और क्रिया गुण के विकार से ही बन्ध होता है और गुणों से बन्ध कभी भी होता ही नहीं है। श्रद्धा गुण पारिणामिक भाव से दूसरे गुण स्थान में परिणमन कर जाता है। चारित्र गुण ग्यारवे गुण स्थान मे पारिणामिक भाव से विकार रूप परिणमन करता है। एवं जिन जीवों ने अनन्तानुबन्धी कषाय का विसंयोजन किया है बाद में जब वह जीव प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में जाता है, वहाँ, जब तक अप्रत्याख्यानावरणीय प्रकृति का परमाणु अनन्तानुबन्धी रूप नही परिणमन करता है तब तक चारित्र गुण अनन्तानुबन्धी रूप पारिणामिक भाव से परिणमन करता है। उसी प्रकार चौदहवे गुणस्थान के अन्त के समय में क्रिया गुण पारिणामिक भाव से परिणमन कर लोक के अग्र भाग में जाता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि भव्यत्व भाव और अभव्यत्व भाव आत्मा के किस गुण की पर्याय है। भव्यत्व भाव का खास तौर सम्बन्ध सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की शक्ति रूप है इससे सिद्ध होता है कि श्रद्धा गुण ने पारिणामिक भाव से अमुक जीवों में भव्यत्व रूप और अमुक जीवों में अभव्यत्व रूप अनादि काल मे पारिणामिक भाव से परिणमन किया है। और यह भव्यत्व या अभव्यत्व रूप शक्ति हरेक जीवों में अनादि अनन्त है। शक्ति का कभी नाश होता ही नही है। श्रद्धा गुण की व्यक्त पर्याय हरेक जीवों में अनादि काल से मिथ्यात्व रूप ही है। बाद में भव्य जीवों में श्रद्धागुण किसी जीवों में औपशमिक भाव रूप, किसी जीवों में क्षयोपशमिक भाव रूप, परिणमन कर जाता है, परन्तु, उन भावों से गिर कर मिथ्यात्व रूप औदयिक भाव में परिणमन कर सकता है। परन्तु जब श्रद्धा गुण क्षायिक भाव से परिणमन करता है तब वह औदयिक, क्षयोपशमिक और औपशमिक भाव रूप कभी परिणमन करता नहीं है। यथार्थ में क्षायिक भाव एक समय की ही पर्याय है बाद में वही गुण पारिणामिक भाव से सादि अनन्त काल तक परिणमन करता है। परन्तु भूत प्रज्ञापन नय की अपेक्षा से उनको क्षायिक भाव कहा जाता है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ १७८ पुस्तक नम्बर ७ में लिखा है कि—

अभव्य सिद्धिक कितने काल तक रहता है ? ॥सूत्र नं० १८६॥

अणादिओ अपज्जवसिदो ॥१८७॥

अर्थ—जीव अनादि अनन्त काल तक अभव्य सिद्धि होता है ॥१८७॥

शंका—अभव्य भाव जीव की एक व्यंजन पर्याय का नाम है इसलिए उसका विनाश अवश्य होना चाहिए, नहीं तो, अभव्यत्व के द्रव्य होने का प्रसंग आजायगा ?

समाधान—अभव्यत्व जीव की व्यंजन पर्याय भले ही हो, पर सभी व्यंजन पर्याय का अवश्य नाश होना चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि, ऐसा मानने से एकान्तवाद का प्रसंग आ जायगा। ऐसा भी नहीं है कि जो वस्तु विनिष्ट नहीं होती वह द्रव्य ही होना चाहिए, क्योंकि, जिसमें उत्पाद, व्यय ध्रौव्य पाये जाते हैं उसे द्रव्य रूप से स्वीकार किया गया है।

नोट—यहाँ पर अभव्य भाव को व्यंजन पर्याय मानी है और व्यंजन पर्याय प्रदेशत्व गुण की पर्याय का नाम है। संसारी जीवों में प्रदेशत्व नाम का गुण अनादि काल से विकारी है और वह विकार औदयिक भाव का है न कि परिणामिक भाव का। उन विकार होने में शरीर नामा नाम कर्म का उदय निमित्त कारण है। यदि प्रदेशत्व गुण की पर्याय का नाम भव्यत्व और अभव्यत्व माना जावे तो वह गुण हरेक द्रव्यों में है तो हरेक द्रव्यों में भव्यत्व और अभव्यत्व होना चाहिए परन्तु ऐसा है नहीं। व्यंजन पर्याय का सम्यग्दर्शन में बाधक साधक होना असम्भव है। पाठकगण स्वयं विचार कर लेवें कि क्या भव्यत्व अभव्यत्व भाव प्रदेशत्व गुण की पर्याय हो सकती है?

धवल ग्रन्थ पृष्ठ १७६-१७७ पुस्तक नंबर ७ में लिखा है कि—

अणादिओ सपज्जवसिदो ॥सूत्र नं० १८४॥

अर्थ—जीव अनादि सान्त भव्य सिद्धिक होता है ॥१८४॥

क्योंकि अनादि स्वरूप से आये हुए भव्य भाव का अयोगि केवली के अन्तिम समय में विनाश पाया जाता है।

शंका—अभव्य के समान भी तो भव्य जीव होता है, तब फिर भव्य भाव को अनादि और अनन्त क्यों नहीं परुपण किया?

समाधान—नहीं, क्योंकि, भव्यत्व में अविनाश शक्ति का अभाव है, अर्थात् यद्यपि अनादि से अनन्त काल तक रहने वाले भव्य जीव हैं तो सही पर उनमें शक्ति रूप से तो संसार विनाश की संभावना है अविनाशत्व की नहीं।

शंका—यहाँ पर भव्यत्व शक्ति का अधिकार है उसकी व्यक्ति का नहीं यह कैसे जाना जाता है?

समाधान—भव्यत्व को अनादि सपर्यय वसित कहने वाले सूत्र की अन्यथा उत्पति बन नहीं सकती इसी से जाना जाता है कि यहाँ भव्यत्व शक्ति से अभिप्राय है।

सूत्र नं० १८५ "जीव सादिसान्त भव्य सिद्धिक भी होता है" ॥१८५॥

शंका—अभव्य भव्यत्व को प्राप्त हो नहीं सकता, क्योंकि, भव्य और अभव्य भाव एक दूसरे के अत्यन्त अभाव को धारण करने वाला होने से एक ही जीव में क्रम से भी उनका अस्तित्व मानने में विरोध आता है। सिद्ध भी भव्य होता नहीं है, क्योंकि, जिन जीवों के समस्त कर्माश्रव नष्ट हो गये हैं उनके पुनः उन कर्माश्रवों की उत्पत्ति मानने में विरोध आता है। अतः भव्यत्व आदि नहीं हो सकता?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, पर्यायार्थिक नय के अवलम्बन से जब तक सम्यक्त्व नहीं किया तब तक जीव का भव्यत्व भाव अनादि अनन्त रूप है. क्योंकि, तब तक उनका संसार अन्त रहित है। किन्तु सम्यक्त्व के ग्रहण कर लेने पर अन्य ही भव्य भाव उत्पन्न हो जाता है। क्योंकि, सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाने पर फिर केवल अर्ध पुद्गल परिवर्तन मात्र काल तक संसार में स्थिति रहती है। इसी प्रकार एक समय कम-उपार्ध पुद्गल परिवर्तन संसार वाले, दो समय कम उपार्ध पुद्गल परिवर्तन

संसार वाले आदि जीवों के पृथक-पृथक भव्य भाव का कथन करना चाहिए । इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि भव्य जीव सादीसान्त होते हैं।

नोट—संसार का कारण औदयिक भाव है, न कि पारिणामिक भाव और संसार अन्त का कारण क्षायिक भाव है न कि पारिणामिक भाव। पारिणामिक भाव का व्यय होकर कौनसा भाव प्रगट हुआ ? यदि पारिणामिक भाव का व्यय होकर पारिणामिक ही भाव की उत्पत्ति हुई तो नया कौनसा भाव हुआ ? भव्यत्व रूप पारिणामिक भाव हरएक जीवों में अनादिकाल से शक्ति रूप है या व्यक्ति रूप है ? यदि व्यक्ति रूप है तो जो जीवों का कभी संसार नाश होने वाला नहीं है उसी जीव में भी पारिणामिक भाव व्यक्त रूप है, तो संसार नाश करने वाला और संसार नाश नहीं करने वाले व्यक्त पारिणामिक भाव में क्या अन्तर है ? यदि पारिणामिक भाव शक्ति रूप है तो सभी जीवों में वही पारिणामिक भाव शक्ति रूप अनादि अनन्त रहते हैं यह स्वयं सिद्ध होते हैं। जैसे सभी संसारी जीवों में जीवत्व नाम का पारिणामिक भाव शक्ति रूप है उनकी व्यक्ति कभी नहीं होती है परन्तु पारिणामिक भाव शक्ति रूप होते सन्ते संसारी जीवों में व्यक्त रूप क्षयोपशमिक भाव है और मुक्त जीवों में तथा केवल ज्ञानी जीवों में क्षायिक भाव रूप व्यक्ति है। संसार का कारण जीवत्व रूप पारिणामिक भाव है या क्षयोपशमिक है ? मुक्त होने का कारण केवल क्षायिक भाव ही है। उसी प्रकार प्रत्येक संसारी जीवों में भव्यत्व अभव्यत्व भाव पारिणामिक भाव शक्ति रूप है और व्यक्त रूप औदयिक भाव है। जिसका संसार है उनको तो औदयिक रूप रहता है और जिसका संसार नाश होने वाला है उनका क्षायिक रूप रहता है तो भी पारिणामिक भाव रूप भव्यत्व अभव्यत्व भाव शक्ति रूप तो अनादि अनन्त रहता है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४७६-४७८ पुस्तक नम्बर ४ में लिखा है कि—

"एगजीवं पडुच्च अणादिओ सपज्जवसिदो सादिओ सपज्जवसिदो ॥ सूत्र नं० ३१०॥"

अर्थ—एक जीव की अपेक्षा अनादि सान्त और सादी सान्त भव्य जीव का काल है ॥३१०॥

जैसे भव्य दो प्रकार का है। अनादि सान्त और सादी सान्त। पूर्व में नहीं प्राप्त हुआ है सम्यक्त्व जिसको ऐसे जीव को अनादि सान्त भव्यत्व होता है। सम्यक्त्व को प्राप्त करके मिथ्यात्व को गये हुए जीव के सादी सान्त भव्यत्व होता है।

शंका—जो वस्तु अनादि है वह अकृत्रिम होती है और उसका विनाश नहीं होता ? (इसलिये मिथ्यात्व को अनादि होने से अकृत्रिमता सिद्ध है फिर उनका विनाश नहीं होना चाहिए) ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अज्ञान का और कर्म बन्धन का उनके अनादि होते हुए भी विनाश पाया जाता है।

शंका—कारण रहित वस्तु का विनाश नहीं होता है इसलिये अज्ञान या कर्म बन्धन का विनाश नहीं होना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अज्ञान या कर्म बन्धन का कारण अनादि बन्धन बद्ध कर्म ही है।

शंका—मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग के द्वारा कर्माश्रव से विरहित सिद्ध जीवों का पुनः संसार में पतन नहीं होता है इसलिए भव्यत्व सादी सान्त नहीं है। और न प्रतिपन्न सम्यक्त्वी जीव के भी भव्यत्व सादी होता है, क्योंकि, सम्यक्त्व की प्राप्ति के पूर्व भी उस जीव में भव्यत्व पाया जाता है ?

समाधान—अब उक्त आशंका का परिहार कहते हैं। संसार में पुनः लौटकर आने वाले शुद्ध जीवों की अपेक्षा से भव्यत्व को सादी नहीं कह सकते, क्योंकि, कर्माश्रवों के नष्ट हो जाने से वे संसार में

पुनः लौटकर नहीं आते हैं। किन्तु ग्रहण किया है सम्यक्त्व को जिसने ऐसे जीव के भव्यत्व को सादी कहते हैं। तथा वह पूर्व में भी नहीं हैं, क्योंकि, इस सादी सान्त भव्यत्व के पूर्व वर्ती उस अनादि भव्यत्व के साथ एकत्व का विरोध है।

शंका—पहले के भव्यत्व को भी यदि सादी सान्त मान लिया जाय तो क्या हानि है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, शक्ति की अपेक्षा से उसके सान्तता का उपदेश किया गया है। व्यक्ति की अपेक्षा सम्यक्त्व ग्रहण के बिना अनन्त संसारी जीव के सान्त भव्यत्व नहीं माना जा सकता है, क्योंकि, ऐसा मानने में विरोध आता है। अर्थात् फिर तो भव्यत्व को अनादि अनन्त होना पड़ेगा अन्यथा भव्य जीवों के विच्छेद का प्रसङ्ग प्राप्त होगा।

अत्थि अणंता जीवा जेहि ण पत्तो तसाण परिणामो।
भाव कलंकइपउरा णिगोदवासं ण मुंचत्ति ॥४२॥ गो. जी. १९७

अर्थ—ऐसे अनन्तानन्त जीव है कि जिन्होंने त्रसों की पर्याय अभी तक नहीं पाई है और जो दूषित भावों की अतिप्रचुरता के कारण कभी भी निगोद के वास को नहीं छोड़ते हैं ॥४२॥

एय णिगोदसरीरे जीवा दव्वापमाण दो दिट्ठा।
सिद्धे हि अणंतगुणा सव्वेण वित्तीद कालेण ॥४३॥ गो. जी. १९६

अर्थ—एक निगोद शरीर में द्रव्य प्रमाण से जीव सिद्धों से तथा समस्त अतीत काल के समयों से अनन्तगुणे देखे गये हैं ॥४३॥

इत्यादि सूत्रों के देखे जाने से भी भव्य जीवों के विच्छेद का अभाव सिद्ध है। तथा मोक्ष को नहीं जाने वाले जीवों के भव्य पना नहीं होता ऐसा भी कहना युक्त नहीं है। क्योंकि, मोक्ष गमन की शक्ति सद्भाव की अपेक्षा उनके भव्यत्व के पाये जाने का उपदेश है। तथा यह भी कोई नियम नहीं है कि भव्यत्व की शक्ति रखने वाले सभी जीवो के उसकी व्यक्ति होना ही चाहिए अन्यथा सभी स्वर्ण पाषाण के स्वर्ण पर्याय से परिणमन का प्रसङ्ग प्राप्त होगा ? क़िन्तु इस प्रकार से देखा नहीं जाता है।

शंका—निवृति (मोक्ष) को जाने के कारण नित्यव्यात्मक भव्य राशि विच्छेद को प्राप्त नहीं होगी यह कैसे जाना ?

समाधान—क्योंकि, वह राशि अनन्त है। और वही राशि अनन्त कही जाती है जो व्यय के होते रहने पर भी समाप्त नहीं होती है। अन्यथा फिर उस राशि की अनन्त संज्ञा अनर्थक हो जायगी। इसलिए भव्यत्व तीन प्रकार का ही होना चाहिए। तथा सूत्र के साथ भी कोई विरोध नहीं आता है, क्योंकि, सूत्र में शक्ति की अपेक्षा सूत्र में भव्यत्व के अनादि सान्तता का उपदेश दिया गया है।

नोट—शक्ति का कभी नाश नहीं होता परन्तु व्यक्त पर्याय में ही नाश पना होता है। वर्तमान पर्याय का व्यय, शक्ति रूप पर्याय की उत्पत्ति और द्रव्य या गुण ध्रौव्य रहता है। देखिये उत्पाद व्यय पर्याका कथन करते धवल ग्रन्थ पृष्ठ १०६ पुस्तक नम्बर ७ में क्या लिखा है।

"भवियाणुवादेण भवसिद्धिओ अभव सिद्धिओ णाम कधं भवदि ? ॥सूत्र नं० ६४॥

अर्थ—जीव भव्य सिद्धिक और अभव्य सिद्धिक किस भाव से होता है ॥६४॥

पारिणामिएण भावेण ॥६५॥

अर्थ—पारिणामिक भाव से जीव भव्य सिद्धिक व अभव्य सिद्धिक होता है ॥६५॥

णेव भवसिद्धिओ णेव अभवसिद्धिओ णाम कधं भवदि ? ॥६६॥

अथ—जीव न भव्य सिद्धिक न अभव्य सिद्धिक किस भाव से होता है ? ॥६६॥

खइयाए लद्धीए ॥६७॥

अर्थ—क्षायिक (भाव से) लब्धि से जीव न भव्य सिद्धिक न अभव्य सिद्धिक होता है। सूत्रनं०६७॥

नोट—पारिणामिक भाव से भव्य और अभव्य होता है। पारिणामिक भाव से कर्म का बन्ध होता ही नहीं तब कौनसे कर्म का नाश करके जीव न भव्य न अभव्य सिद्धिक हुआ ? कर्म का नाश किया बिना क्षायिक भाव होता नहीं हैं। जब कर्म ही नहीं है तब नाश किसका किया ? शान्ति से विचारना चाहिये। भव्य भाव का नाश हुआ तब कौनसी क्षायिक पर्याय उत्पन्न हुई और कौनसा गुण ध्रौव्य रहा ? यथार्थ में भव्य भाव शक्ति रूप अनादि अनन्त ही हरेक भव्य जीवों में है। उसी प्रकार अभव्य भाव भी शक्ति रूप अनादि अनन्त रूप ही हैं। तो भी भव्य भाव में अनादि सान्त, सादी सान्त कहना यह सब उपचार का ही कथन है। उपचार को उपचार मानना सम्यक् ज्ञान है परन्तु उपचार को सत्य मानना मिथ्याज्ञान है। जिनागम में उपचार का कथन अनेक है परन्तु उपचार को उपचार मानना चाहिए परन्तु उपचार को सिद्धान्त मानना मिथ्याज्ञान है। सिद्धों में भव्य सिद्धिक तथा अभव्य सिद्धिक इन दोनों विकल्पों से रहित स्थान धवल ग्रन्थ पुस्तक नम्बर २ में आलाप नं० २६, २४०, ३३१, ३५१, ३७१, ४७३, ५२६ और ५४५ में लिखा है। यथार्थ में तो भव्य सिद्धिक तथा अभव्य सिद्धिक इन दोनों विकल्पों वीतराग अवस्था से ही नहीं होता है। क्योंकि विकल्प राग है और वीतरागी राग से अत्यन्त रहित है। तब सिद्धों को विकल्पों से रहित कहना कहाँ तक उचित है।

भव्यत्व भाव को पारिणामिक माना है। और भव्यत्व भाव का नाश क्षायिक भाव से होता है। कर्म का बन्ध ही नहीं है तो किस कर्म का नाश कर क्षायिक भाव हुआ ? यह सोचकर श्री धवल ग्रन्थ पुस्तक नम्बर १४ पृष्ठ १२ में लिखा है कि—

"अविपाकप्रत्ययिक जीव भाव बन्ध दो प्रकार का है—औपशमिक अविपाक प्रत्ययिक जीव भाव बन्ध और क्षायिक अविपाक प्रत्ययिक जीव भाव बन्ध ॥सूत्र नं० १६॥

इस तरह दो प्रकार का ही अविपाक प्रत्ययिक जीव भाव बन्ध होता हैं।

शंका—जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व आदिक जीव भाव पारिणामिक भी है, उनका यहाँ क्यों कथन नहीं किया ?

समाधान—कहते हैं, आयु आदि प्राणों का धारण करना जीवन है। वह अयोगी के अन्तिम समय से आगे नहीं पाया जाता, क्योंकि, सिद्धों के प्राणों के कारण भूत आठों कर्मों का अभाव है। इसलिए सिद्ध जीव नहीं हैं, अधिक से अधिक वे जीवित पूर्व कहे जा सकते हैं।

शंका—सिद्धों के भी जीवत्व क्यों नहीं स्वीकार किया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, सिद्धों में जीवत्व उपचार से है, और उपचार को सत्य मानना ठीक नहीं है।

सिद्धों में प्राणों का अभाव अन्यथा बन नहीं सकता, इससे मालूम पड़ता हैं कि जीवत्व पारिणामिक नहीं है। किन्तु वह कर्म के विपाक से उत्पन्न होता है, क्योंकि, "जो जिसके सद्भाव और असद्भाव का अविनाभावी होता है, वह उसका है, ऐसा कार्य कारण भाव के ज्ञाता कहते हैं" ऐसा न्याय है। इसलिये जीव भाव औदयिक है, यह सिद्ध होता है। तत्वार्थ सूत्र में जीवत्व को जो पारिणामिक कहा है, वह प्राणों

के धारण करने की अपेक्षा से नहीं कहा है किन्तु चैतन्य गुण की अपेक्षा से वहाँ वैसा कथन किया है, इसलिए वह कथन भी विरोध को प्राप्त नहीं होता।

चार अघाति कर्मों के उदय से उत्पन्न हुआ असिद्ध भाव है। वह दो प्रकार का हैं। अनादि अनन्त और अनादि सान्त। इनमें से जिनके असिद्ध भाव अनादि अनन्त है वे अभव्य जीव है, और जिनके दूसरे प्रकार का है वे भव्य जीव है। इसलिये भव्यत्व और अभव्यत्व में भी विपाक प्रत्ययिक है।

शंका—तत्त्वार्थ सूत्र में इन्हें पारिणामिक कहा है, इसलिए इस कथन का उसके साथ विरोध कैसे नहीं होगा?

समाधान—नहीं होगा, क्योंकि, असिद्धत्व का अनादि अनन्त पना और अनादिसान्त पना निष्कारण है, यह समझ कर उन्हें वहाँ पारिणामिक स्वीकार किया गया है।

नोट—यहाँ भव्यत्व भाव को औदयिक भाव माना है। जो जीव चार अघाति कर्मों के उदय से उत्पन्न हुआ असिद्ध भाव है उनका नाश कर सकता है वह भव्य है और जो नाश नहीं कर सकता है वह अभव्य जीव है। किन्तु ऐसे अनन्त भव्य जीव है जो कभी असिद्ध भाव का नाश नहीं कर सकता है वह इस लक्षण से सभी अभव्य बन जावेगा यह दोष आता है। जिससे सिद्ध होता है कि भव्यत्व जीवों में भव्यत्व शक्ति अनादि अनन्त है और अभव्यत्व जीवां में अभव्यत्व शक्ति अनादि अनन्त है यह स्वीकार करना न्याय युक्त है।

वेद अधिकार

जिनागम में वेद दो प्रकार का माना है। १ भाव वेद २ द्रव्य वेद। स्त्री पुरुष की साथ में रमण करने का भाव का नाम भाव वेद है और स्त्री, पुरुष रुप शरीर का आकार का नाम द्रव्य वेद है। परन्तु यह मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि स्त्री पुरुष का आकार का नाम द्रव्य वेद कहोगे तब मोहनीय नामा कर्म के उत्तर भेद स्त्री वेद पुरुष वेद नपुशंक वेद को क्या कहोगे? यथार्थ में मोहनीय नामा कर्म की प्रकृति का नाम द्रव्य वेद हैं और स्त्री पुरुष रूप शरीर का आकार तो अंगोपांगनामा नाम कर्म का फल है। मोक्ष रूपी पर्याय मात्र पुरुष ही प्राप्त कर सकता है, परन्तु स्त्री में यह शक्ति नहीं है। स्त्री में शक्ति मात्र ७ सातवां गुण स्थान तक भाव करने की है धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३३२ पुस्तक नं० १ में लिखा है कि–

"सम्मा मिच्छाइट्ठि-असंजद सम्माइट्ठि-संजदा संजद-सजंद ट्ठाणेणियमा पज्जत्तियाओ ॥९३॥"

अर्थ—मनुष्य स्त्रीयां सम्यग्मिथ्या दृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, संयत गुण स्थान में नियम से पर्याप्तक होती है। सूत्र नं० ॥६३॥

शंका—हुण्डावसर्पिणी काल सम्बन्धी स्त्रियों में सम्यग्दृष्टि जीव क्यों नहीं उत्पन्न होता है?

समाधान—नहीं, उनमें सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं।

शंका—यह किस प्रमाण से जाना जाता है?

समाधान—इसी आगम प्रमाण से जाना जाता है।

शंका—तो इसी आगम से द्रव्य स्त्रीयों का मुक्ति जाना भी सिद्ध हो जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वस्त्र सहित होने से उनके संयता संयत गुण स्थान होता है अतएव उनके संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

शंका—वस्त्र सहित होते हुए भी उन द्रव्य स्त्रीयों के भाव संयम होने में कोई विरोध नही आना चाहिए ?

समाधान—उनके भाव संयम नहीं है, क्योंकि, अन्यथा अर्थात् भाव संयम के मानने पर उनके भाव असंयम का अविना भावी वस्त्रादिक का ग्रहण करना नहीं बन सकता है ।

नोट—यह मूल सूत्र करणानुयोग की अपेक्षा से है। सूत्र में पर्याप्त शब्द है वह शरीर सूचक है नहीं कि भाव सूचक। जिसका शरीर स्त्री रूप है वही स्त्री पर्याय अवस्था में ही तीसरा, चौथा, पांचवा और छट्वां, सातवां गुण स्थान रूप भाव कर सकती है परंतु अपर्याप्त अवस्था में यह भाव होता ही नहीं है। टीकाकार आचार्य वीरसेन स्वामी ने चरणांनु योग की अपेक्षा से टीका की है परन्तु सूत्र करणानुयोग की अपेक्षा से है। करणानुयोग वस्त्रादिक को बाधक नही मानता है जब चरणानुयोग वस्त्रादिक को बाधक मानता है। गुण स्थान करणानुयोग की अपेक्षा से है न कि चरणानुयोग की अपेक्षा से है। चरणानुयोग वाह्य व्यवहार मात्र है। द्रव्यलिगी मुनि को चरणानुयोग छट्ठवाँ गुण स्थान मान कर उनकी नवदा भक्ति करता है जब करणानुयोग की अपेक्षा से तो वह मिथ्यात्व गुण स्थान वर्ती जीव है। करणानुयोग "मूर्छा परिग्रह" मानता है जब चरणानुयोग वाह्य पदार्थ को परिग्रह मानता है। भरत चक्रवर्ती की पास में छह खण्ड की विभूति होते संते करणानुयोग भरत महाराज को "वैरागी" कहता है। यह तो अनुयोग की महिमा है। करणानुयोग की अपेक्षा से ही जीव प्रथम गुण स्थान से सीधा चौथा पांचवाँ व सातवां गुण स्थान का भाव कर सकता है । धवल ग्रन्थ पुस्तक नं ५ पृष्ठ नं० ८ २७।६६ ३७।१२१ ३८।१२१-२४ ४३।१४५ मे लिखा है कि "एक अनादि मिथ्यादृष्टि जीव ने तीनों ही करण करके उपशम सम्यक्त्व और संयम को एक साथ ही प्राप्त होता हैं"। यह कथन स्त्री या पुरूष के लिए नहीं है परन्तु साधारण मनुष्य के लिये है। वस्त्र बाधक चरणानुयोग ही मानता है। करणानुयोग में वस्त्र बाधक नहीं हैं ।

भावेण होइ णग्गो मिच्छताई य दोस चइऊणं ।
पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंग जिणाणाए ॥

अर्थ—पहले मिथ्यात्व आदि दोषों को छोड़कर भाव पूर्वक अन्तरङ्ग नग्न हो एक रुप शुद्धात्मा का श्रद्धान, ज्ञान, आचरण करे तत्तपश्चात् मुनिराज द्रव्य मय वाह्य लिंग जिनाज्ञानुकुल धारण करे—यही मार्ग है।

प्रथम भाव ही छद्मस्थ जीवों में होते है बाद में ही क्रिया होती है। वस्त्रत्याग करना क्रिया है। जैसे मन्दिर में आने का भाव हुआ बाद ही चलने की क्रिया होती है। दान देने का भाव हुआ बाद ही आहारादि सामग्री दी जाती है, आहार खाने का राग हुए बाद ही आहार खाने की क्रिया की जाती है—यही नियम है।

क्षयोपशम संप्राप्त प्रशस्त संज्वलनोदयः ।
लब्धबोधिः सुतं राज्ये निजे संयोज्य सुप्रभम् ॥

अर्थ—कर्मो के क्षयोपशम से भगवान् नमिनाथ को प्रशस्त संज्वलन का उदय हुआ अर्थात् प्रत्याख्यानावरण, अप्रत्याख्याना वरण, का उपशम होगया और रत्नत्रय को पाकर उन्होंने सुप्रभ नाम के अपने पुत्र को राज्य का भार सौंपा।

नेमिनाथ भगवान् ने नग्न अवस्था धारण किया बाद में अपने पुत्र को राज सौंपा होगा या वस्त्र सहित अवस्था में ? वस्त सहित होते सन्ते भाव से उन आत्मा का छठवां सातवां गुण स्थान था। यही तो भाव की महिमा है। यह कथन करणानुयोग की अपेक्षा से है, न की चरणानु योग की अपेक्षा से ?

न हि शालितंडुलस्य बहिरंगतुषे विद्यमाने सत्यभ्तंरतुषस्य त्यागः कर्तुमायाति। अभ्यंतरतुषत्यागे सति बहिरंगतुषत्यागो नियमेन भवत्येव। अनेन न्यायेन सर्वसंग परित्याग रूपे बहिरंग द्रव्यलिंगे सति भावलिंग भवति न भवति नियमो नास्ति, अभ्यंतरे तु भावलिंगे सति सर्वं संग परित्याग रूपं द्रव्य लिंग भवत्येवेति। है भगवन् भावलिंगे सति बहिरंगं द्रव्यलिंग भवतीति नियमो नास्ति साहारणा साहारणे त्यादि वचनादिति ? परिहारमाह—कोऽपि तपोधनो ध्यानारूढ़ स्तिष्टति तस्य केनापि दुष्ट भावेन वस्त्र वेष्टनं कृत। आभरणादिकं वा कृतं तथा ऽसौ निर्ग्रन्थ एव। कस्मात् ? इति चेत्, बुद्धि पूर्वकममत्वा भावात् पाण्डवादिवत्।

पाण्डवों के शरीर पर गेहने का संयोग होते सन्ते उस पर ममत्व न होने के कारण सिद्ध पद की प्राप्ति करली ? उसी समय यदि पाण्डवों की तसवीर ली जाती तो गेहने का संयोग साथ में था की नहीं ? शान्ति से विचार करना चाहिये ? गेहने का संयोग करणानुयोग बाधक नहीं मानता है।

मनुष्य तथा मनुष्यणी का चौदह गुण स्थान होता है यह कथन, धवलग्रन्थ पुस्तक नम्बर दो में आलाप दिखाते लिखा है ।

धवलग्रन्थ पृष्ठ ३३२ पुस्तक नम्बर १ में लिखा है कि—

शंका—स्त्रियों में चौदह गुण स्थान होते हैं, यह कथन किस अपेक्षा से किया है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, भाव स्त्री में अर्थात् स्त्री वेद युक्त मनुष्यगति में चौदह गुणस्थानों के सद्भाव मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है।

शंका—वादर कषाय गुणस्थान के ऊपर भाव वेद नहीं पाया जाता है, इसलिये भाववेद में चौदह गुण स्थानों का सद्भाव नहीं हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि यहां पर वेद की प्रधानता नहीं है किन्तु गति प्रधान हैं। और वह पहले नष्ट होती है।

शंका—यद्यपि मनुष्य गति में चौदह गुण स्थान संभव हैं। फिर भी उसे वेद विशेषण से युक्तकर देने पर उसमें चोदह गुणस्थान सम्भव नहीं हो सकते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, विशेषण के नष्ट हो जाने पर भी उपचार से विशेषणयुक्त संज्ञा को धारण करने वाली मनुष्य गति में चोदह गुणस्थानों का सद्भाव मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है।

नोट—जो पुरुष है और भाव से पुरुष वेद, स्त्री वेद या नपुंसक वेद रूप भाव है उसका आलाप करते उसको "संज्ञिक-असंज्ञिक, आहारक-अनाहारक, साकार उपयोगी-अनाकार उपयोगी" कहा जा सकता है परन्तु पुरुष को "संज्ञिनी-असंज्ञिनी, आहारिणी-अनाहारिणी, साकार उपयोगिनी-अनाकार उपयोगिनी" नहीं कहा जा सकता है। परन्तु जिसका शरीर "स्त्री" रूप है उसी को ही "संज्ञिनी-असंज्ञिनी, आहारिणी-अनाहारिणी, साकार उपयोगिनी-अनाकार उपयोगिनी" कहा जा सकता है यह बात न्याय की है और सर्व सम्मत है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ६७३-६८३ पुस्तक नम्बर २ में भाव स्त्री का आलाप करते आलाप नम्बर

२९५ से ३१० में "संज्ञिक-असंज्ञिक, आहारक-अनाहारक, साकार उपयोगी-अनाकार-उपयोगी" यह शब्द का प्रयोग किया है जिससे सिद्ध होता हैं कि यह पुरुष वाचक शरीर में जिसका भाव "स्त्री" रूप है उसी को ही यह शब्द का प्रयोग किया गया है। पंचेन्द्रि तिर्यंच योनिमती के आलाप करते आलाप नम्बर ८७ से ९८ पृष्ठ नम्बर ४९३ से ५०० पुस्तक नम्बर २ में लिखा है कि संज्ञिनी-असंज्ञिनी, आहारिणी-अनाहारिणी, साकार उपयोगिनी-अनाकार उपयोगिनी" यह शब्द जिसकी "स्त्री" रूप पर्याय है उनके लिए ही किया गया है न कि "पुरुष" लिंग तिर्यंच के लिए। उसी प्रकार वही ग्रन्थ में आलाप नम्बर ११४-१३८ पृष्ठ नम्बर ५१४-५३० में मनुष्यनी स्त्रियों के आलाप करते गुणस्थान चौदह "संज्ञिनी-असंज्ञिनी, आहारिणी-अनाहारिणी, साकार उपयोगिनी-अनाकार उपयोगिनी" यह शब्द का प्रयोग किया है. जिससे मालूम होता है कि यह जिसका "स्त्री" रूपी शरीर है उसके ही लिए यह शब्द का प्रयोग है न कि "पुरुष" रूपी जिसका शरीर है उसके लिए ? तो भी यह कथन भाव स्त्री के लिए किया गया है यह कहना कहाँ तक सत्य है वह पाठक स्वयं विचार करें ? लेखक क्या कहे ? आप स्वय ज्ञान स्वरूपी आत्मा हो पक्षपात छोड़कर समझने की बुद्धि से न्याययुक्त जो बात हो वह ग्रहण करो। "ऐसा कथन ने" अज्ञानी जीवों को विपरीत मार्ग पर चला दिया है।

तीनों वेदों की प्रवृति क्रम से ही होती है युगपत नहीं, क्योंकि, वेद पर्याय हैं। जैसे विवक्षित कषाय केवल अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त रहती है वैसे सभी वेद केवल एक अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ही नहीं रहते हैं, क्योंकि, जन्म से लेकर मरण तक भी किसी एक वेद का उदय पाया जाता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३४६ पुस्तक नम्बर १।

शंका—मैथुन संज्ञा कब नष्ट होती है ?

समाधान—अन्तर करण करने के अनन्तर अन्तर्मुहूर्त जाकर वेद का उदय नष्ट हो जाता है इसलिए अनुवृतिकरण गुणस्थान के द्वितीय भागवर्ती जीवों के मैथुन संज्ञा नहीं रहती है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४३६ पुस्तक नम्बर २।

वेद की भाव उदीरणा के विषय में धवल ग्रन्थ पृष्ठ १४१ पुस्तक नम्बर १ में लिखा है कि—

वेदस्सुदीरणाए बालत्तं पुण णियच्छदे बहुसो ।
थी-पुं-णवुंसए वि य विए त्ति तओ हवई वेओ ॥८९॥

अर्थ—वेद कर्म की उदीरणा से यह जीव नाना प्रकार के बाल भाव अर्थात् चांचल्य को प्राप्त होता है और स्त्री भाव, पुरुष भाव तथा नपुंसक भाव का वेदन करता है इसलिए उस वेद कर्म के उदय से प्राप्त होने वाले भाव को वेद कहते हैं।

वेदमार्गणा में कितना गुणस्थान है ? स्त्री वेदी पुरुष वेदी कितने क्षेत्र में रहते हैं ?

वेदमार्गणा के अनुवाद से स्त्री वेदी और पुरुष वेदियों में मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर अनिवृति गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थानवर्ती जीव कितने क्षेत्र में रहते हैं ? लोक के असंख्यातवें भाग में। सूत्र नं० ४३॥ धवल ग्रन्थ पृष्ठ १११ पुस्तक नम्बर ४।

अपगतवेदी कौन से गुणस्थान से कौन से गुणस्थान तक के जीव कितने क्षेत्र में रहते हैं ?

अपगत वेदी जीवों में अनिवृति गुणस्थान से अवेद भाग से लेकर अयोगी केवली गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थानवर्ती जीव कितने क्षेत्र में रहते हैं ? लोक के असंख्यातवें भाग में रहते हैं। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ११३ पुस्तक नम्बर ४।

कषाय अधिकार

अनन्त भवों को बांधना ही जिनका स्वभाव है वे अनन्तानुबन्धी कहलाते हैं। अनन्तानुबन्धी जो क्रोध, मान, माया, लोभ होते हैं वे अनन्तानु बन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ कहलाते हैं । जिन अविनष्ट स्वरूप वाले अर्थात् अनादि परम्परागत क्रोध, मान, माया, लोभ के साथ जीव अनन्त भव में भ्रमण करता है उन, क्रोध, मान, माया, लोभ कषायों की "अनन्तानुबन्धी" संज्ञा है यह अर्थ कहा गया है।

शंका – उन अनन्तानु बन्धी क्रोधादि कषायों का उदय काल अन्तर्मुहूर्त मात्र ही है और स्थिति चालीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम प्रमाण है। अतएव इन कषायों के अनन्तभवानुबन्धिता घटित नहीं होता ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, इन कषायों के द्वारा जीव में उत्पन्न हुए संस्कार का अनन्त भवों में अवस्थान माना गया है। अथवा जिन क्रोध, मान, माया, लोभ का अनुबन्ध अनन्त होता है वे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ कहलाता है। इनके द्वारा वृद्धिगत संसार अनन्त भवों में अनुबन्ध को नही छोड़ता है वे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ है। ये चारों ही कषाय सम्यक्त्व और चारित्र के विरोधक है, क्योंकि, वे सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनों को घातने वाली दो प्रकार की शक्ति से संयुक्त है।

शंका—यह कैसे जाना जाता है?

समाधान—गुरुओं के उपदेश से और युक्तियों से जाना जाता है कि अनन्तानु बन्धी कषायों की शक्ति दो प्रकार की होती है।

शंका—अनन्तानुबन्धी कषायों की शक्ति दो प्रकार की है इस विषय में क्या युक्ति है ?

समाधान—सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनों को घात करने वाले ये अनन्तानु बन्धी क्रोधादिक न तो दर्शन मोहनीय स्वरूप माने जाते हैं, क्योंकि, सम्यक्त्व प्रकृति, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व के द्वारा ही आवरण किये जाने वाले सम्यग्दर्शन के आवरण करने में फल का अभाव है । और न उन्हें चारित्र मोहनीय स्वरूप भी माना जा सकता है, क्योंकि, अप्रत्याख्याना वरण आदि कषायों के द्वारा आवरण किये गये चारित्र के आवरण करने मे फल का अभाव है। इसलिए उपर्युक्त प्रकार से इन अनन्तानुबन्धी क्रोधादिक कषायों का अभाव ही सिद्ध होता है। किन्तु उनका अभाव है नहीं, क्योंकि, सूत्र में इनका अस्तित्व पाया जाता है। इसलिए इन अनन्तानुबन्धी क्रोधादि कषायों के उदय से सासादन भाव की उत्पत्ति अन्यथा हो नहीं सकती है इस अन्यथा अनुपपति से उनके दर्शन मोहनीयता और चारित्र मोहनीयता अर्थात सम्यक्त्व और चारित्र को घात करने की शक्ति का होना सिद्ध होता है । तथा चारित्र में अनन्तानुबन्धी चतुष्क का व्यापार निष्फल भी नहीं है, क्योंकि, अप्रत्याख्यानादि के अनन्त उदय रूप प्रवाह के कारण भूत अनन्तानुबन्धी कषाय के निष्फलत्व का विरोध है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४१-४३ पुस्तक नम्बर ६

नोट—यहां पर अनन्तानु बन्धी की दो शक्ति कही है वह उपचार मात्र है क्योंकि, चारित्र गुण और श्रद्धा गुण अलग अलग है और उनके घात करने वाले कर्म भी अलग अलग हैं। अनन्तानुबन्धी के कर्म वर्गणा दर्शन मोहनीय रुप नहीं हो जाती है और दर्शन मोहनीय के कर्म वर्गणा, अनन्तानुबन्धी कर्म वर्गणा रुप नहीं होती है। दूसरे सासादन गुणस्थान में चारित्र गुण औदयिक भाव से परिणमन करता है जब श्रद्धागुण पारिणामिक भाव से परिणमन करता है। चारित्र गुण अनन्तानुबन्धी रुप परिणमन करते सन्ते, मिथ्यात्व सम्बन्धी १६ प्रकृतियों का बन्ध नही पड़ता है। श्रद्धागुण मिथ्यात्वरुप पारिणामिक

भाव से परिणमन् करते सन्ते वहां मिथ्यात्व सम्बन्धी १६ प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है इससे सिद्ध हुआ कि अनन्तानुबन्धी का कार्य चारित्र को ही घात करने का है, न की श्रद्धागुण को घात करने का है। तो भी अनन्तानुबन्धी और मिथ्यात्व की चाल एक है। मिथ्यात्त्व पर पदार्थों में अपनत्व कराता है, जब अनन्तानुबन्धी पर पदार्थों में इष्ट, अनिष्ट की कल्पना कराता है। एक श्रद्धा का विषय है एक आचरण का विषय है। दोनों विषय अलग अलग है।

धवलग्रन्थ पृष्ठ ४१२-४१३ पुस्तक नम्बर २ में लिखा है कि-संज्ञा चार प्रकार की है १ आहार संज्ञा २ भय संज्ञा ३ मैथुन संज्ञा ४ परिग्रह संज्ञा।

शंका—मैथुन संज्ञा का वेद में अन्तर्भाव हो जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, तीनों वेदों के उदय सामान्य के निमित्त से उत्पन्न हुई मैथुन संज्ञा और वेदों के उदय विशेष स्वरूप वेदन इन दोनों में एकत्व नहीं बन सकता है। इसी प्रकार परिग्रह संज्ञा भी लोभ कषाय के साथ एकत्व को प्राप्त नहीं होती है, क्योंकि वाह्य पदार्थों का विषय करने वाला होने के कारण परिग्रह संज्ञा को धारण करने वाले लोभ से लोभ कषाय के उदय रुप सामान्य लोभ का भेद है। अर्थात वाह्य पदार्थों के निमित्त से जो लोभ होता है उसे परिग्रह संज्ञा कहते हैं और लोभ कषाय के उदय से उत्पन्न हुए परिणामों को लोभ कहते है।

शंका—यदि ये चारों ही संज्ञाए वाह्य पदार्थों के संसर्ग से उत्पन्न होती है तो अप्रमत गुणस्थान वर्ती जीवों के संज्ञाओं का अभाव हो जाना चाहिए ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अप्रमतों में उपचार से उन संज्ञाओं का सद्भाव स्वीकार किया गया है।

धवलग्रन्थ पृष्ठ ४३५ पुस्तक नम्बर २ में लिखा है कि—अपूर्व करण गुणस्थान के अन्तिम समय में भय की उदीरणा तथा उदय नष्ट होगया है इसलिए वहां पर भय संज्ञा नहीं है।

नोकपाय नाम क्यों रखा है इसका खुलासा धवलग्रन्थ पृष्ठ ४५-४६ पुस्तक नम्बर ६ में दिया है कि—

ईषत कषाय को नोकपाय कहते हैं। यहां पर नोकषाय शब्द में प्रयुक्त नो शब्द एक देश का प्रतिषेध करने वाला ग्रहण करना चाहिये अन्यथा इन स्त्री वेदादि नवों कषायों के अकषायता का प्रसंग प्राप्त होगा।

शंका—होने दो क्या हानि है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अकषाओं के चारित्र को आवरण करने का विरोध है।

शंका—कपायों से नोकपायों के अल्पपना कैसे है ?

समाधान—स्थितियों की अनुभाग की और उदय की अपेक्षा कपायों से नोकपायों के अल्पता पाई जाती हैं।

शंका—नोकपायों का उदय काल कषायों की अपेक्षा बहुत पाया जाता है इसलिए नो कषायों की अपेक्षा से कषायों के अल्पपना क्यों नहीं मान लेते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उदयकाल की अधिकता होने से चारित्र विनाशक कषायों की अपेक्षा चारित्र में मल को उत्पन्न करने रुप फल वाले कर्मों के महता नहीं बन सकती है।

धवलग्रन्थ पृष्ठ ३५६-३६० पुस्तक नम्बर १३ में लिखा है कि—

शंका—नोकषायों में अल्परुपता किस कारण से हैं ?

समाधान—स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध की अपेक्षा उनमें अल्परूपता है। तथा कषायों से नोकषाय अल्प है। क्योंकि क्षपक श्रेणी में नोकपायों के उदय का अभाव हो जाने पर तत्पश्चात कषायों के उदय का विनाश होता है। अथवा नोकषाय के उदय के अनुबन्ध काल को देखते हुए कषायों के उदय के अनुवन्ध काल अनन्तगुणा उपलब्ध होता हैं इस कारण भी नोकपायों की अल्पता जानी जाती है।

शंका—कषायों का उदय काल अन्तर्मुहूर्त है और नोकषाव का उदयकाल अनन्त है इस कारण नोकषाय की अपेक्षा कषायों में ही स्तोकपना है। इसलिये उनकी उससे विपरीत संज्ञा क्यों नहीं स्वीकार की गई है ?

सकाधान—नहीं, क्योंकि, इस प्रकार यपां विवक्षा नहीं है।

जीव जाति अधिकार

ऐकेन्द्रिय जीव

जिनागम में निगोद का अर्थ दो प्रकार से किया गया है। १ जिस जीव को साधारण नामा नाम कर्म का उदय है वह निगोद जीव है २ जिस जीव का स्वास के अठारवे भाग में मरण होता है उसे निगोद जीव कहते है।

निगोद जीव एकेन्द्रिय में ही होते है ?

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ५०४-५०६ पुस्तक नं० ७ में लिखा है कि—

षटखंडागम में खुदाबधो मध्ये भागा भागाणुगमें लिखा है कि—

सूत्र—सूक्ष्म वनस्पति कायिक व सूक्ष्म निगोद जीव सर्व जीवों के कितने वे भाग प्रमाण है ॥२६॥

उत्तर—उक्त जीव सर्व जीवों के असंख्यात बहुभाग प्रमाण है। सूत्र नं० ॥३०॥

प्रश्न—सूक्ष्म वनस्पति कायिक, व सूक्ष्म निगोद जीव पर्याप्त सर्व जीवों के कितने वे भाग प्रमाण हैं ? सूत्र नं० ॥३१॥

उत्तर—उपर्युक्त जीव सर्व जीवों के संख्यात बहुभाग प्रमाण है। सूत्र नं० ३२। सूक्ष्म वनस्पति कायिकों को कह कर पुनः निगोद जीवों को पृथक कहते हैं, इससे जाना जाता है कि सब सूक्ष्म वनस्पति कायिक ही सूक्ष्म निगोद जीव नहीं होते।

शंका—यदि ऐसा है तो "सर्व सूक्ष्म वनस्पति कायिक निगोद ही है" इस वचन की साथ विरोध आता है ?

समाधान—उक्त वचन के साथ विरोध नहीं होगा, क्योंकि, सूक्ष्म निगोद जीव सूक्ष्म वनस्पति कायिक ही है ऐसा अवधारण नहीं है।

शंका—तो फिर सूक्ष्म वनस्पति कायिकों को छोडकर अन्य सूक्ष्म निगोद जीव कौन सा है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, सूक्ष्म निगोद जीवों के समान उनके आधार भूत (बादर) वनस्पति कायिकों में भी सूक्ष्म निगोद जीवत्व की संम्भावना है इस कारण सूक्ष्म वनस्पति कायिक ही सूक्ष्म निगोद जीव नहीं होते यह बात सिद्ध होती है।

शंका—सूक्ष्म नाम कर्म के उदय से जिस प्रकार वनस्पति कायिकादिक जीवों के सूक्ष्मपना होता उसी प्रकार निगोद नाम कर्म के उदय से निगोदत्व होता है। किन्तु वादर वनस्पति कायिक प्रत्येक शरीर जीवों के निगोद नाम कर्म का उदय नहीं है जिससे कि उनकी "निगोद" संज्ञा हो सके ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वादर वनस्पति कायिक प्रत्येक शरीर जीवों के भी आधार में आधेय का उपचार करने से निगोद पने का कोई विरोध नहीं है।

शंका—यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—निगोद प्रतिष्ठित जीवों के, "वनस्पति कायिकों के आगे निगोद जीव विशेष अधिक हैं" इस प्रकार से सूत्र वचन से भी जाना जाता है।

प्रश्न—सूक्ष्म वनस्पति कायिक व सूक्ष्म निगोद जीव अपर्याप्त सव जीवों के कितने वें भाग प्रमाण हैं ? सूत्र नं० ३३॥

उत्तर—उक्त जीव सर्व जीवों के संख्यातवें भाग प्रमाण हैं। सूत्र नं० ३४॥

"निगोद में जो जीते हैं अथवा निगोद भाव से जो जीते हैं वे निगोद जीव हैं" उस प्रकार उनसे भेद करना चाहिए।

शंका—"निगोद जीव सव वनस्पति कायिक ही है अन्य नहीं है" इस प्रकार से कुछ भागाभाग सूत्र स्थिति है, क्योंकि, सूक्ष्म वनस्पति कायिक भागाभाग के तीनों ही सूत्रों में निगोद जीवों के निर्देश का अभाव है। इसलिये उन सूत्रों से इन सूत्रों का विरोध होगा ?

समाधान—यदि ऐसा है तो उपदेश को प्राप्त कर "यह सूत्र है और यह सूत्र नहीं है" ऐसा आगम निपुण जीव कह सकते हैं किन्तु यहाँ हम कहने के लिए समर्थ नहीं हैं, क्योंकि, हमें वैसा उपदेश प्राप्त नही है।

नोट—निगोद किसको जिनागम में कहा है वह समझने में नहीं आने से यह शंका उत्पन्न हुई है। यथार्थ में जो जीव श्वास के अठारवें भाग मे मरण करते हैं उसे यहाँ 'निगोद" संज्ञा दी गई है। तब वह निगोद कौन है यह शंका उठ सकती है ? उसी का खुलासा धवल ग्रन्थ पृष्ठ ५७५-५८९ पुस्तक नम्बर २ में लिखा गया है वही निगोद जीव है। क्योंकि, उसी का श्वास के अठारवें भाग में मरण होता है। वह यह जीव है।

"अपर्याप्त नाम कर्म के उदय वाले सूक्ष्म एकेन्द्रिय लब्ध्य पर्याप्तकों के एक अपर्याप्त आलाप जानना। पृष्ठ ५७५ आलाप नं० १९१।

द्विन्द्रिय जाति और लब्ध्य पर्याप्तक नाम कर्म के उदय वाले द्विन्द्रिय अपर्याप्तक जीवों के एक अपर्याप्त आलाप कहना॥ पृष्ठ ५७७ आलाप नं० १९४।

त्रिन्द्रिय जाति और लब्ध्य पर्याप्तक नाम कर्म के उदय वाले त्रिन्द्रिय अपर्याप्तक जीवों के एक अपर्याप्तक आलाप कहना। पृष्ठ ५७९ आलाप नं० १९७।

चतुरिन्द्रिय जाति और लब्ध्य पर्याप्तक नाम कर्म के उदय वाले चतुरिन्द्रिय जीवों के एक अपर्याप्त आलाप कहना। पृष्ठ ५८२ आलाप नं० २००।

पंचेन्द्रिय जाति और लब्ध्य पर्याप्तक नाम कर्म के उदय वाले पंचेन्द्रिय जीवों के एक अपर्याप्तक आलाप कहना। पृष्ठ ५८९ आलाप नम्बर २१०, २११, २१२

नोट—यह सब को निगोद संज्ञा दी गई है। क्योंकि सब जीवों का स्वास के अठारवें भाग में मरण होता है। यह बात लक्ष्य में नहीं आने से ऐसा मान लिया कि "निगोद जीव वनस्पति कायिक में ही है" यह धारणा गलत है। इसे ऊपर से धवल ग्रन्थ पृष्ठ ५३९-५४५ पुस्तक नम्बर ७ में लिखा है कि—

"वनस्पति कायिकों से निगोद जीव विशेष अधिक है ॥सूत्र नं० ५९॥

अन्य प्रकार से अल्प बहुत्व के निरूपणार्थ उत्तर सूत्र कहते हैं। बादर वनस्पति कायिक प्रत्येक शरीर जीवों से बादर निगोद जीव प्रतिष्ठित असंख्यात गुणे है ॥सूत्र नम्बर ६३॥

बादर निगोद जीव निगोद प्रतिष्ठितों से बादर पृथिवी कायिक जीव असंख्यात गुणे हैं ॥सूत्र नम्बर ६४॥

बादर पृथिवी कायिकों से बादर अप्कायिक जीव असंख्यात गुणे हैं ॥सूत्र नम्बर ६५॥

बादर अप्कायिक जीवों से वायु कायिक जीव असंख्यात गुणे है ॥सूत्र नम्बर ६६॥

"""""""॥७१॥अकायिक जीवों से बादर वनस्पति कायिक जीव अनन्त गुणे हैं ॥सूत्र नं० ७२॥

बादर वनस्पति कायिकों से सूक्ष्म वनस्पति कायिक जीव असंख्यात गुणे हैं ॥सूत्र नम्बर ७३॥

सूक्ष्म वनस्पति कायिकों से वनस्पति कायिक जीव विशेष अधिक है ॥सूत्र नम्बर ७४॥

वनस्पति कायिकों से निगोद जीव विशेष अधिक है ॥सूत्र नम्बर ७५॥

वनस्पति कायिक में प्रत्येक तथा साधारण दोनों जीव आजाते हैं। तब उनसे विशेष निगोद जीव हो सकता है यह शंका रखकर शंका की है।

शंका—यह सूत्र निष्फल है, क्योंकि, वनस्पति कायिक जीवों से प्रथग्भूत निगोद जीव पाये नहीं जाते हैं। तथा "वनस्पति कायिक जीवों से प्रथग्भूत पृथिवी कायिकों में निगोद जीव है" ऐसा आचार्यों का उपदेश भी नही है जिससे इस वचन को सूत्रत्व का प्रसङ्ग हो सके ?

समाधान—तुम्हारे द्वारा कहे हुए वचन में भले ही सत्यता हो, क्योंकि, बहुत से सूत्रों में वनस्पति कायिक जीवों के आगे "निगोद" पद नहीं पाया जाता, निगोद जीवों के आगे वनस्पति कायिको का पाठ पाया जाता है, और ऐसा बहुत से आचार्यों से सम्मत भी है। किन्तु "यह सूत्र ही नहीं है" ऐसा निश्चय करना उचित नहीं है। इस प्रकार तो वह कह सकते है जो कि चौदह पूर्वों का धारक हो, अथवा केवल ज्ञानी हो। परन्तु वर्तमान काल में न तो वे दोनों है और न उनके पास में हुए अन्य महापुरुष भी इस समय उपलब्ध होते हैं। अतएव सूत्र की आसातना (छेद-तिरस्कार) से भयभीत रहने वाले आचार्यों को स्थाप्य समझकर दोनों को ही सूत्रा का व्याख्यान करना चाहिए।

शंका—निगोद जीवों के ऊपर वनस्पति कायिक जीव बादर वनस्पति कायिक प्रत्येक, शरीर मात्र से विशेष अधिक होते हैं, परन्तु वनस्पति कायिक जीवों के आगे निगोद जीव किससे विशेष अधिक होते हैं ?

समाधान—"वनस्पति कायिक जीव" ऐसा कहने पर बादर निगोद से प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित जीवों का ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि, आधेय से आधार का भेद देखा जाता है।

शंका—वनस्पति नाम कर्म के उदय से संयुक्त होने की अपेक्षा सबों के एकता है ?

समाधान—वनस्पति नाम कर्मोदय की अपेक्षा उससे एकता रहे किन्तु उसकी यहां विवक्षा नहीं है, यहां आधारत्व और अनाधारत्व की ही विवक्षा है। इस कारण वनस्पति कायिक जीवों में बादर निगोदों से प्रतिष्टित व अप्रतिष्टित शरीर जीवों से विषेश अधिक है ऐसा समझना चाहिए।

शंका—बादर निगोद जीवों से प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित जीवों के "निगोद" संज्ञा कैसे घटित होती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, आधार में आधेय का उपचार करने से उनके निगोदत्व सिद्ध होता है।

शंका—वनस्पति नाम कर्म के उदय से संयुक्त सब जीवों के "वनस्पति" संज्ञा सूत्र में देखी जाती है। बादर निगोद जीवों से प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित जीवों के यहाँ सूत्र में वनस्पति संज्ञा क्यों न निर्दिष्ट की ?

समाधान—उस शंका का उत्तर गौतम से पूछना चाहिए। हमने तो "गौतम" बादर निगोद जीवों से प्रतिष्टित जीवों के वनस्पति संज्ञा नहीं स्वीकार करते इस प्रकार उनका अभिप्राय कहा है।

नोट—यथार्थ में वनस्पति कायिक छोड़ कर निगोद नहीं होते हैं ऐसी मान्यता के कारण गौतम को पूछो ऐसा कहा गया है, परन्तु, त्रस में भी निगोद होते हैं यह बात लक्ष्य में आयी नहीं है। यथार्थ में जो जीव स्वास के अट्ठारवे भाग में मरण को प्राप्त होते हैं ऐसे सब त्रस स्थावर जीवों को निगोद संज्ञा दी गई है यही सूत्र का परमार्थ अर्थ है।

बादर निगोद प्रतिष्ठित जीव कौन हैं ?

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३४७-३४८ पुस्तक नं० ३ में लिखा है कि—

शंका—प्रत्येक शरीर और साधारण शरीर इन दोनों जीव राशियों को छोड़ कर बादर निगोद प्रतिष्ठित जीव राशि क्या है यह नहीं मालूम पड़ता है ?

समाधान—यह सत्य है कि उक्त दोनों राशियों के अतिरिक्त वनस्पति कायिकों से और कोई जीव राशि नहीं हैं। किन्तु प्रत्येक शरीर वनस्पति कायिक जीव दो प्रकार के हैं। एक तो बादर निगोद जीवों के योनिभूत प्रत्येक शरीर और दूसरे उनसे विपरीत शरीर वाले अर्थात् बादर निगोद जीवों के अयोनि भूत प्रत्येक शरीर जीव। उनमें से जो बादर निगोद जीवों के योनिभूत शरीर प्रत्येक शरीर जीव है उन्हें बादर निगोद प्रतिष्टित कहते हैं ?

शंका—तो बादर निगोद जीवों के योनिभूत प्रत्येक शरीर जीव कौन हैं ?

समाधान—मूली, अदरक, भल्लक, (भद्रक) सूरण, गलोई, (गुरवेल) लोकेश्वर, प्रभा ? आदि बादर निगोद प्रतिष्ठित है। कहा भी हैं कि—

> बीजे जोणी भूदे जीवो वक्कमइ सो व अण्णो वा।
> जे वि य मूलादीया ते पत्तेया पढमदाए ॥७६॥

गो० जी० १८७ पन्नापना नं० १-४५ गाथा ५१

अर्थ—योनिभूत बीज में वही जीव उत्पन्न होता है अथवा दूसरा कोई जीव उत्पन्न होता हैं वह और जितने मूली आदिक सप्रतिष्टित प्रत्येक हैं वे प्रथम अवस्था में प्रत्येक ही हैं ?

शंका—सूत्र में बादर वनस्पति कायिक-प्रत्येक शरीर जीवों को ही ग्रहण किया हैं उनके भेदों का क्यों नहीं किया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, बादर वनस्पति कायिक प्रत्येक शरीर जीवों में ही उनका अन्तर्भाव हो जाता हैं।

वनस्पति कायिक जीवों से निगोद जीव विशेष अधिक है ऐसा सूत्र नं० ७५ धवल ग्रन्थ नं० ७ में कहा जब धवल ग्रन्थ पृष्ट ३८६ पुस्तक नं० ३ में क्या कहते हैं ?

निगोदजीव सूक्ष्म वनस्पति कायिक द्रव्य से विशेष अधिक है। वनस्पति कायिक जीव निगोद जीवों से विशेष अधिक हैं।

नोट—यह सब कथन करने की रीत है अभिप्राय समझने में न आवे तो जीव, शास्त्र स्वाध्याय करते उलटी पकडने कारण अज्ञानी रह जाय।

विग्रह गति में वनस्पति जीव, प्रत्येक शरीर है या साधारण शरीरी है

धवलग्रन्थ पृष्ठ ३३२-३३३ पुस्तक नम्बर ३ में लिखा है कि—

शंका—विग्रह गति में विद्यमान वनस्पति कायिक जीव क्या प्रत्येक शरीरी है, या साधारण शरीरी है ? यदि इस प्रश्न का फल पूछा जाय तो यह है कि—वे जीव इन दोनों विकल्पों में से प्रत्येक शरीर तो हो नहीं सकता, क्योंकि, कार्मणकाय योग में रहने वाले वनस्पति कायिक जीव, अनन्त होने से वनस्पति कायिक प्रत्येक शरीर जीवों के अनन्तत्व का प्रसंग आ जाता है। परन्तु सूत्र में ऐसा है नहीं, क्योंकि, सूत्र में वनस्पति कायिक प्रत्येक शरीर जीवों का असंख्यात लोक प्रमाण कहा है। उसी प्रकार वे जीव साधारण शरीर भी नहीं हो सकते है क्योंकि वहां पर कहा है कि—

साहारणमाहारो साहारणमाण पाण गहणं च।
साहारण जीवाणं साहारणलक्खणं भणिदं ॥७४॥ गो० जी० १९२

अर्थ—साधारण जीवों का साधारण ही तो आहार होता है और साधारण स्वाछोच्छ्वास का ग्रहण होता है। इस प्रकार आगम में साधारण जीवों का साधारण लक्षण कहा है।

इत्यादि गाथाओं के द्वारा कहा गया साधारण जीवों का लक्षण नहीं पाया जाता है। और प्रत्येक शरीर तथा साधारण शरीर इन दोनों से व्यतिरिक्त वनस्पति कायिक जीव पाये नहीं जाते हैं। क्योंकि इस प्रकार का, उपदेश नहीं पाये जाते हैं। इसलिए "जिनका देह प्रत्येक है वे प्रत्येक शरीर हैं" यह कथन घटित नहीं होता है ?

समाधान—यहां पर उपर्युक्त शंका का परिहार करते हैं, जिस जीव ने एक शरीर में स्थित होकर अकेले ही सुख दुःख के अनुभव करने योग्य कर्म उपार्जित किया है वह जीव प्रत्येक शरीर है। तथा जिस जीव ने एक शरीर में स्थित, बहुत जीवों के साथ सुख दुख रूप कर्म फल के अनुभव करने योग्य कर्म उपार्जित किया है वह जीव साधारण शरीर है। परन्तु जिनकी आयु छिन्न नहीं हुई है अर्थात्, जो जीव अपनी पर्याय को छोड़कर प्रत्येक व साधारण पर्याय में उत्पन्न नहीं हुआ है उस जीव के इस प्रकार का व्यपदेश नहीं हो सकता है, क्योंकि, वहां पर प्रत्यासत्ति नहीं पाई जाती है। विग्रह गति में तो प्रत्यासत्ति पाई जाती है इसलिए वहां पर यह व्यपदेश होता है अतएव यहां पूर्वोक्त दोप सम्भव नहीं है। अथवा प्रत्येक शरीर नाम कर्म के उदय से युक्त वनस्पति कायिक जीव प्रत्येक शरीर है और साधारण नाम कर्म के उदय से युक्त वनस्पति कायिक जीव साधारण शरीर है ऐसा कथन करना चाहिए।

शंका—शरीर ग्रहण होने के प्रथम समय में दोनों शरीरों में से किसी एक का उदय होता है

इसलिये विग्रह गति में रहने वाले जीवों के प्रत्येक शरीर और साधारण शरीर इन दोनों में से कोई भी संज्ञा नहीं प्राप्त होती है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, विग्रह गति में भी प्रत्यासत्ति पाई जाती है, इसलिए उपचार से उन जीवों के प्रत्येक शरीर अथवा साधारण शरीर संज्ञा सम्भव है। अथवा साधारण नाम कर्म के उदय के आधीन हुए और विग्रह गति में विद्यमान हुए अनन्त जीव परस्पर अनुगत होने से एकत्व को प्राप्त हुए एक शरीर में रहते हैं, इसलिए वे प्रत्येक शरीर नहीं हैं।

विग्रह गति में वनस्पति कायिक कैसे कहा जाता है ?

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३५६ पुस्तक नम्बर ३ में लिखा है कि—

वनस्पति ही काय अर्थात् शरीर जिन जीवों को होता है वे वनस्पति काय कहलाते हैं। तथा वनस्पति काय ही वनस्पति कायिक कहलाता है।

शंका—यदि ऐसा है तो विग्रह गति में विद्यमान जीवों को वनस्पति कायिकपना नहीं प्राप्त होता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, वनस्पति काय के सम्बन्ध से सुख और दुःख के अनुभव करने मे निमित्तभूत कर्म के साथ एकत्व को प्राप्त हुए जीवों के उपचार से विग्रह गति मे वनस्पति कायिक कहने में कोई विरोध नहीं आता है। जिन जीवों के वनस्पति नाम कर्म का उदय पाया जाता है वे विग्रह गति में रहते हुए भी वनस्पति कायिक कहे जाते है।

नोट—यह तो उपचार मात्र है। जहाँ काय ही नहीं है वहाँ कायिक कहना उचित नहीं है। यदि विग्रह गति मे कायिक जीव कहा जावे तो "वनस्पति जीव" संज्ञा किसको दी जावेगी ? जिनागम मे जहाँ अपनी बात सिद्ध करना हे वहाँ "उपचार" शब्द का प्रयोग किया जाता हे। "उपचार" शब्द यह दिखाता है कि "यथार्थ म वह नही है" तव यथार्थ में क्या है यह न कहना सत्य का घात करना है। सत्य कहने में बाधा क्या है ? सत्य को कहाँ तक छिपा रखोगे ? सत्य छिपाया नहीं जा सकता हे ? विग्रह गति में वनस्पति कायिक जीव नही कहा जाता है परन्तु "वनस्पति जीव" है यही यथार्थ में संज्ञा है।

एकेन्द्रिय जीव के दो भेद—

एकेन्द्रिय जीव वादर और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार के हैं।

शंका—बादर शब्द स्थूल का पर्यायवाची है और स्थूल का स्वरूप कुछ नियत नहीं है, इसलिये यह मालूम नहीं पड़ता है कि कौन जीव स्थूल है, जो चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य है वे स्थूल हैं यदि ऐसा कहा जावे सो भी नहीं बनता है, क्योंकि, ऐसा मानने पर जो स्थूल जीव चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य नही है उन्हें सूक्ष्मपने की प्राप्ति हो जायगी। और जिनका चक्षु इन्द्रिय से ग्रहण नहीं हो सकता है ऐसे जीवों को वादर मान लेने पर सूक्ष्म और बादरों में कोई भेद नही रह जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यह आशंका आर्ष के स्वरूप की अनभिज्ञता की द्योतक है। यह बादर शब्द स्थूल का पर्यायवाची नही है, किन्तु वादर नामा नाम कर्म का वाचक है, इसलिये उस बादर नाम कर्म के उदय के सम्बन्ध से जीव भी वादर कहा जाता है।

शंका—शरीर की स्थूलता को उत्पन्न करने वाले कर्म को बादर और सूक्ष्मता को उत्पन्न करने

वाले कर्म को सूक्ष्म कहते हैं। तथापि जो चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है वह सूक्ष्म शरीर है, और जो उसके द्वारा ग्रहण करने योग्य है वह वादर शरीर है। अतः सूक्ष्म और वादर कर्म के उदय वाले सूक्ष्म और वादर शरीर से युक्त जीवों को सूक्ष्म और वादर संज्ञा हठात् प्राप्त हो जाती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो चक्षु से ग्राह्य है वे वादर हैं और जो चक्षु से अग्राह्य है वे सूक्ष्म हैं। सूक्ष्म और वादर जीवों के इन उपर्युक्त लक्षणों से ही भेद प्राप्त होगया। यदि उपर्युक्त लक्षण न माने जायँ तो सूक्ष्म और वादरों में कोई भेद नहीं रह जाता है?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, स्थूल तो हो और चक्षु से ग्रहण करने योग्य न हो इस कथन में क्या विरोध है।

शंका—सूक्ष्म शरीर से असंख्यात गुणी अधिक अवगाहना वाले शरीर को वादर कहते हैं और उस शरीर से युक्त जीवों को उपचार से वादर जीव कहते हैं। अथवा वादर शरीर से असंख्यात गुणहीन अवगाहना वाले शरीर को सूक्ष्म कहते हैं और उस शरीर से युक्त जीवों को उपचार से सूक्ष्म जीव कहते हैं?

समाधान— यह कल्पना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, सबसे जघन्य वादर शरीर से सूक्ष्म नाम कर्म के द्वारा निर्मित सूक्ष्म शरीर की अवगाहना असख्यात गुणी होने से ऊपर के कथन में अनेकान्त दोष आता है। इसलिए जिन जीवों के वादर नाम कर्म का उदय पाया जाता है वह वादर है और जिनके सूक्ष्म नाम कर्म का उदय पाया जाता है वे सूक्ष्म हैं यह बात सिद्ध हो जाती है।

शंका—सूक्ष्म नाम कर्म के उदय और वादर नाम कर्म के उदय में क्या भेद है?

समाधान—वादर नाम कर्म का उदय मूर्त पदार्थों से आघात करने योग्य शरीर को उत्पन्न करता है। और सूक्ष्म नाम कर्म का उदय दूसरे मूर्त पदार्थों के द्वारा आघात नहीं करने योग्य शरीर को उत्पन्न करता हैं यही उन दोनों मे भेद है।

शंका—सूक्ष्म जीवों का शरीर सूक्ष्म होने से ही अन्य मूर्त द्रव्यों के द्वारा आघात को प्राप्त नहीं होना है, इसलिये मूर्त द्रव्यों के साथ प्रति घात का नहीं होना सूक्ष्म नाम कर्म के उदय से नहीं मानना चाहिए?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ऐसा मानने पर दूसरे मूर्त पदार्थों के द्वारा आघात को नहीं प्राप्त होने से, सूक्ष्म संज्ञा को प्राप्त होने वाले सूक्ष्म शरीर से असंख्यातगुणि हीन अवगाहना वाले, और वादर नाम कर्म के उदय से वादर संज्ञा को प्राप्त होने वाले वादर शरीर की सूक्ष्मता के प्रति कोई विशेपता नहीं रह जाती है, अतएव उसका भी मूर्त पदार्थो से प्रतिघात नहीं होगा ऐसी आपत्ति आ जायगी।

शंका—आ जाने दो?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ऐसा मानने पर सूक्ष्म और वादर नाम कर्म के उदय में फिर कोई विशेपता नहीं रह जाती है।

शंका—सूक्ष्म नाम कर्म का उदय सूक्ष्म शरीर को उत्पन्न करने वाला है इसलिए उन दोनों के उदय में भेद है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, सूक्ष्म शरीर से भी असंख्यातगुणि हीन अवगाहना वाले और वादर नाम कर्म के उदय से उत्पन्न वादर शरीर की उपलब्धि होती है।

शंका—यह कैसे जाना?

समाधान—वेदना नामक चौथे खण्डागम के क्षेत्रानुयोग द्वारा सम्बन्धी सूत्रों से जाना जाता है। इससे यह बात सिद्ध हुई कि जिसका मूर्त पदार्थों से प्रतिघात नहीं होता है ऐसा शरीर को निर्माण करने वाला सूक्ष्म नाम कर्म हैं और उससे विपरीत अर्थात् मूर्त पदार्थों से प्रतिघात को प्राप्त होने वाले शरीर को निर्माण करने वाला बादर नाम कर्म है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २४९-२५३ पुस्तक नम्बर १।

पृथ्वी काय का कैसा अर्थ करना चाहिये ?

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३३ पुस्तक नम्बर ३ में लिखा है कि—

पृथ्वी है काय अर्थात् शरीर जिनके उन्हें पृथ्वी काय जीव कहते हैं ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि, पृथ्वी काय का ऐसा अर्थ करने पर विग्रह गति में विद्यमान जीव के अकायित्व का अर्थात् पृथ्वी कायित्व के अभाव का प्रसङ्ग आ जाता है।

शंका—तो फिर पृथ्वी कायिक का कैसा अर्थ करना चाहिए ?

समाधान—पृथ्वी काय नाम कर्म के उदय से युक्त जीवों को पृथ्वी कायिक कहते हैं इस पृथ्वी कायिक जीव का अर्थ करना चाहिए।

शंका—पृथ्वी कायिक नाम कर्म कहीं भी अर्थात् कर्मों के भेदों में नहीं कहा गया है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, पृथ्वी काय नाम का कर्म एकेन्द्रिय नामक कर्म के भीतर अन्तर्भूत है।

शंका—यदि ऐसा है तो सूत्र सिद्धि कर्मो की संख्या का नियम नहीं रह सकता है ?

समाधान—ऐसा प्रश्न करने पर आचार्य कहते हैं कि सूत्र में कर्म आठ ही अथवा एक सौ अड़तालीस ही नही है, क्योकि, आठ या एक सौ अड़तालीस संख्या को छोड़कर दूसरी संख्या का प्रतिषेध करने वाला "एवं" ऐसा पद सूत्र में नहीं पाया जाता है।

शंका—तो फिर कर्म कितने हैं ?

समाधान—लोक में घोड़ा, हाथी, भेड़िया, मगर, सलय, मत्कुण, उदेहिका (दीमक) गोमी और इन्द्र आदि रूप से जितने कर्मों का फल पाया जाता है, कर्म भी उतने ही होते है।

नोट—एकेन्द्रिय का चार चार भेद दिखाया है। १ शुद्ध पृथ्वी, २ पृथ्वी जीव, ३ पृथ्वी कायिक और ४ पृथ्वी काय। जैसे जल में से बना नमक शुद्ध पृथ्वी है। जो जीव पृथ्वी काय में उत्पन्न होने को जा रहा है ऐसा विग्रह गति में जो जीव है वह पृथ्वी जीव है। जिस जीव को पृथ्वी शरीर है वह पृथ्वी शरीर है वह पृथ्वी कायिक जीव है। जिस पृथ्वी में से जीव निकल गया ऐसी पृथ्वी को पृथ्वी काय कहा जाता है इस कथन के साथ उपर्युक्त कथन से विरोध को प्राप्त होने का प्रसंग आता है। परन्तु जैन धर्म स्याद्वादी है जिससे जहाँ चाहे वह अर्थ कर सकते हैं यही तात्पर्य है।

एकेन्द्रिय जीवों में अंगोपांग-संस्थान होता है ?

धवलग्रन्थ पृष्ठ ११२ पुस्तक नम्बर ६ में लिखा है कि—

शंका—एकेन्द्रिय जीवो के अंगोपांग क्यों नहीं बतलाये ?

समाधान—नहीं क्योंकि, उनके पैर हाथ, नितम्ब, पीठ, शरीर, और उर का अभाव होने से अंगोपांग नहीं होता है।

शंका—एकेन्द्रियों को छहों संस्थान क्यों नहीं बतलाये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, प्रत्येक अवयव में प्ररूपति लक्षण वाले पांच संस्थानों को समूह स्वरूप से धारण करने वाले एकेन्द्रियों के पृथक पृथक छह संस्थानों के अस्तित्व का विरोध है।

एकेन्द्रिय में द्रव्य वेद है या नहीं ?

धवलग्रन्थ पृष्ठ ३४४ पुस्तक नम्बर १ में लिखा है कि—एकेन्द्रिय से लेकर अनिवृतिकरण गुण स्थान तक नपुंसक वेद वाले जीव पाये जाते है। सूत्र नम्बर ॥१०३॥

शंका—एकेन्द्रिय जीव के द्रव्य वेद नहीं पाया जाता है इसलिए, द्रव्य वेद की उपलब्धि नहीं होने से एकेन्द्रिय जीवों में भाव नपुंसक वेद का अस्तित्व कैसे बतलाया ?

समाधान—एकेन्द्रिय में द्रव्य वेद मत होओ, क्योंकि, उनकी यहाँ पर प्रधानता नहीं है। अथवा द्रव्य वेद की एकेन्द्रियों में उपलब्धि नहीं होती है इसलिए उनका अभाव सिद्ध नहीं होता है। पर सम्पूर्ण प्रदेयों में व्याप्त होकर रहने वाले उपलम्भ प्रमाण से (केवल ज्ञान से) उसकी सिद्धि हो जाती है। परन्तु वह उपलम्भ (केवल ज्ञान) छद्मस्थों में नहीं पाया जाता है।

शंका—जो स्त्री भाव और पुरुष भाव से सर्वथा अभिन्न है ऐसे एकेन्द्रियों के स्त्री और पुरुष विषयक अभिलाषा कैसे वन सकती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जो पुरुष स्त्री वेद से सर्वथा अज्ञात है और भू-गृह के भीतर वृद्धि को प्राप्त हुआ है ऐसे पुरुष के साथ युक्त कथन का व्यभिचार देखा जाता है।

नोट—वनस्पति काय में अमुक पेड़ नर का है अमुक पेड़ मादा का है यह व्यवहार वर्तमान में भी देखा जाता है। साइन्स के प्रोफेसर का यह मत है कि एकेन्द्रिय वनस्पति कायक मे द्रव्य लिग देखा जाता है।

जल अनेक वर्ण वाला होता है ?

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ६०६-६१० पुस्तक नम्बर २ में लिखा है कि—

सूक्ष्म अप्कायिक जीवों में पर्याप्त काल में द्रव्य से कापोत लेश्या कहना चाहिए। तथा बादर कायिक जीवों के स्फटिक वर्ण वाली शुक्ल लेश्या कहना चाहिए, क्योंकि, घनोदधिवात और घनवलयवात द्वारा आकाश से गिरे हुए पानी का धवल वर्ण देखा जाता है। यहाँ पर कितने ही आचार्य ऐसा कहते है कि धवल, कृष्ण, नील, पीत, रक्त और आताम्र वर्ण का पानी देखा जाने से पानी धवल वर्ण ही होता है ऐसा कहना ठीक नहीं है। परन्तु उनका यह कथन युक्तिसंगत नही है, क्योंकि, आधार के होने पर मिट्टी के संयोग से जल अनेक वर्ण वाला हो जाता है ऐसा व्यवहार देखा जाता है किन्तु जल का स्वभाविक वर्ण धवल ही है।

तेजस कायिक जीवों का प्रमाण कैसे निकालना चाहिये ?

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३३७ पुस्तक नम्बर ३ में लिखा है कि—

तेजस्कायिक राशि की अन्योन्य गुणाकार सलाकाएँ चौथी वार स्थापित अन्योन्य गुणाकार शलाका राशि प्रमाण है।

कितने ही आचार्य चौथी बार स्थापित शलाका राशि के आधेप्रमाण के व्यतीत होने पर तेजस्कायिक जीव राशि उत्पन्न होती है ऐसा कहते हैं। परन्तु कितने ही आचार्य इस कथन को नहीं मानते हैं, क्योंकि, साढ़े तीन बार राशि का समुदायवर्ग धारा में उत्पन्न नहीं हैं।

शंका—यह ठीक है कि हूठवार (साढ़ेतीन) राशि का समुदाय वर्गोत्पन्न नहीं है पर तेजस्कायिक राशि की अन्योन्य गुणाकार शलाकाएं वर्गधारा में उत्पन्न है यह कैसे जाना जाता है?

समाधान—उक्त आचार्यों के मत में यह परिकर्म के वचन से जानी जाती है।

कितने ही आचार्य इस प्रकार कहते हैं कि यह पूर्वोक्त राशि (हूठवार राशि) तेजस्कायिक राशि की गुणाकार शलाका राशि के प्रमाण रूप नहीं है। फिर कौनसी राशि तेजस्कायिक राशि की गुणाकार शलाका राशि के प्रमाण रूप है ऐसा पूछने पर वह कहते हैं कि गुण्यमान लोक के गुणाकार रूप से प्रवेश को प्राप्त होने वाले लोकों की जितनी शलाकाएं हों उतनी तेजस्कायिक राशि की अन्योन्य गुणाकार शलाकाएं कही जाती हैं। ये अन्योन्य गुणाकार शलाकाएं वर्ग में उत्पन्न हुई हैं पहले की अर्थात् साढ़ेतीन वार राशि रूप नहीं हैं इसलिए हूठवार राशि प्रमाण गुणाकार शलाकाओं का उपदेश विरोध को प्राप्त होता है यह उपदेश नहीं है।

पृथ्वी कायिक आदि प्रत्येक शरीर में अधिक से अधिक कितने काल तक जीव रहता है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ १४४-१४५ पुस्तक नम्बर ७ में लिखा है कि—अधिक से अधिक कर्म स्थिति प्रमाण काल तक जीव वादर पृथ्वी कायादिक प्रत्येक शरीर पर्याय में रहते हैं। सूत्र नम्बर ७७॥

सूत्र में जो कर्म स्थिति शब्द है उससे सत्तर कोड़ा कोड़ी सागरोपम मात्र काल का ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि, विशेष कर्मों की स्थिति को छोड़कर कर्म सामान्य की आयु स्थिति का ही यहाँ ग्रहण किया गया है। कितने ही आचार्य ऐसा कहते हैं कि—सत्तर सागरोपम कोड़ा कोड़ी कोआवली के असंख्यातवें भाग से गुणा करने पर वादर पृथ्वी कायादि जीवों को काय स्थिति का प्रमाण आता है किन्तु उनकी यह कर्म स्थिति संज्ञा कार्य में कारण के उपचार से ही सिद्ध होती है।

शंका—ऐसा व्याख्यान है ऐसा कैसे जाना जाता है?

समाधान—"कर्म स्थिति को आवली के असंख्यातवें भाग से गुणित करने पर वादर स्थिति होती है" ऐसे परिकर्म के वचन को अन्यथा उपपति वन नहीं सकती इससे उपर्युक्त व्याख्यान जाना जाता है।

वहाँ पर यद्यपि सामान्य से "बादर स्थिति होती है" ऐसा कहा है तो भी पृथिवी कायादिक वादर प्रत्येक शरीर जीवों की स्थिति ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि, सूत्र में वादर स्थिति का प्ररूपण असंख्यात असंख्यात अवसर्पिणी प्रमाण कहा गया है।

जव धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३८९-३९० पुस्तक नम्बर ४ में क्या लिखा है देखिये—

उक्कस्सेण अंगुलस्स असंखेज्जदि भागो असंखेज्जासखेज्जाओ ओसप्पिणि-उस्सप्पिणीओ ॥सूत्र नं० ११२॥

अर्थ—एक जीव की अपेक्षा वादर एकेन्द्रिय जीवों का उत्कृष्ट काल अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण असंख्यातासंख्यात अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी प्रमाण है। ॥सूत्र नम्बर ११२॥

शंका—"कर्म स्थिति को आवली के असख्यातवें भाग से गुणा करने पर बादर स्थिति होती है" इस प्रकार के परिकर्म वचन के साथ यह सूत्र विरोध को प्राप्त होता है?

समाधान—परिकर्म के साथ विरोध होने से यह सूत्र अवक्षिप्तता (विरुद्धता) नहीं प्राप्त होती

है, किन्तु, परिकर्म का उक्त वचन सूत्र का अनुसरण करने वाला नहीं है, इसलिए उसके ही अवक्षिप्तता को प्रसङ्ग आता है।

नोट—प्रथम पक्ष में परिकर्म के वचन की शाख देकर कथन सिद्ध किया जब उत्तर में परिकर्म का उक्त वचन सूत्र को गलत सिद्ध कर दिया इसी का नाम स्याद्‌वाद है। जहाँ जरूर पड़ जाये वहाँ वस्तु का गला घोटकर भी सूत्र की सिद्धि करना यही उद्देश्य है। विशेष पाठक स्वयं विचार कर्में ? सबकी जुम्मेवारी अपने अपने सिर पर है कोई कोई का कर्ता हर्ता है नहीं यही सत्य है।

द्वीन्द्रियादि कहने से क्या अर्थ करना चाहिए ?

द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय ऐसा कहने पर द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति और चतुरिन्द्रिय जाति नाम कर्म के रूप से युक्त जीवों का ग्रहण करना चाहिये।

शंका—"जिन जीवों के दो इन्द्रिया पायी जाती हैं वे द्वीन्द्रिय जीव है" ऐसा ग्रहण करने में क्या दोष आता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उपर्युक्त ग्रहण करने पर अपर्याप्त काल में विद्यमान जीवों के इन्द्रियाँ नहीं पाई जाने से उनके ग्रहण होने का प्रसंग प्राप्त हो जायगा।

शंका—क्षयोपशम को इन्द्रिय कहते है, द्रव्येन्द्रिय को इन्द्रिय नहीं कहते है इसलिए अपर्याप्त काल में द्रव्येन्द्रियों के नही रहने पर भी द्वीन्द्रियादि पदों द्वारा उन जीवों का ग्रहण हो जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यदि इन्द्रिय का अर्थ क्षयोपशम किया जाय तो जिनका क्षयोपशम नष्ट हो गया है ऐसे सयोगी केवली को अनिन्द्रिय पने का प्रसंग आ जाता हैं।

शंका—आ जाने दो ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, सूत्र सयोगि केवली को पंचेन्द्रिय रूप से प्रतिपादन करता है।

द्वीन्द्रियादि जीव कितने काल में अपहृत होते हैं ?

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३१२ पुस्तक नम्बर ३ में लिखा है कि—

असंखेज्जाहि असिप्पिणि, उस्सप्पिणि हि अवहिरंति कालेण ॥सूत्र नं० ७८॥

अर्थ—ये द्वीन्द्रियादि सर्व जीव राशियाँ सर्व काल आय के अनुरूप व्यय से युक्त है इसलिए यदि विच्छेद को प्राप्त नहीं होती है तो असंख्यात अवसर्पिणीयों और असंख्यात उत्सर्पिणियों के द्वारा अपहृत होती है यह कथन कैसे घटित हो सकता है ?

समाधान—यह सत्य है कि उपर्युक्त द्विन्द्रियादिक जीव राशियां विच्छिन्न नही होती है, किन्तु, इन राशियों का आय के बिना यदि व्यय ही होता है तो निश्चय से विच्छिन्न हो जाती। यदि ऐसा न माना जाय तो "द्विन्द्रियादिक राशियां असंख्यात है" यह कथन नहीं बन सकता है। इसी अर्थ का ज्ञान कराने के लिए "अवहिरंति" ऐसा कहा है।

नोट—यहाँ सूत्र में "असंखेज्जाहि" पाठ है किन्तु अर्थ संदर्भ की दृष्टि से वहाँ "असंखेज्जा संखेज्जाहि" ऐसा पाठ प्रतीत होता है। खुदाबन्ध खण्ड के इसी प्रकरण में इन्हीं जीवों की सामान्य संख्या

बतलाते हुए यह सूत्र पाया जाता है "असंखेज्जासंखेज्जाहि" ओसप्पिणि-उस्सप्पिणि हि अवहिरंति कालेण" किन्तु यहाँ पर टीका में भी "असंखेज्जाहि" पद होने से उसी पाठ की रक्षा की गई है। सूत्र की रक्षा करना यही प्रयोजन है परन्तु सूत्र में कोई छद्मस्थ की गलती देखने में आवे तो सुधारने से सामान्य जीवों को विशेष लाभ होगा यह प्रयोजन का तो लोप ही होगया है। यह भी पक्ष है, और जहाँ पक्ष है, वहाँ मोक्ष मार्ग मिलना कठिन है। मेरा सोही सत्य है यह मानत्या सुधार कर सत्य सोही मेरा है ऐसी मान्यता बना जावे तो स्वयं का तथा पर जीवों का यथार्थ कल्याण हो सकता है बाकी तो बोलने की बातें है।

विकलत्रय जीवों का नाना जीवों की अपेक्षा तथा एक जीव की अपेक्षा जघन्य तथा उत्कृष्ट काल कितना है?

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३९७-३९८ पुस्तक नम्बर ४ में लिखा है—

बीइंदिया तीरिंदिया चउरिंदिया बीइंदिय तीइंदिय चउरिंदिय पज्जत्ता केवचिरं कालदो होंति णाणाजीवं पडुच्चसव्वद्धा ॥ सूत्र नं० १२८ ॥

अर्थ—द्विन्द्रिय, त्रिन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव तथा द्विन्द्रिय पर्याप्तक, त्रिन्द्रिय पर्याप्तक और चतुरिन्द्रिय पर्याप्पक जीव कितने काल तक होते है? नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल होते हैं। सूत्र नं० १२८ स० सि० १-८ ॥

एगजीवं पडुच्च जहण्णेण खुद्दाभवग्गहणं अंतोमुहुत्तं ॥ सूत्र नं० १२९ ॥

अर्थ—एक जीव की अपेक्षा उक्त जीवों का जघन्य काल क्रमशः क्षुद्र भव ग्रहण और अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है ॥१२९॥

उक्कस्सेण संखेज्जाणि वासस हस्साणि ॥ सूत्र नं० १३० ॥

अर्थ—एक जीवों की अपेक्षा उक्त जीवों का उत्कृष्ट काल संख्यात हजार वर्ष है ॥ १३० ॥

त्रीन्द्रिय जीवों की उनंचास दिवस उत्कृष्ट आयु स्थिति का प्रमाण है, चतुरिन्द्रिय- जीवों की छहमास और द्वीन्द्रिय जीवों की वारह वर्ष उत्कृष्ट आयु स्थिति होती है।

शंका—ऐसा है तो सूत्र में कही गई "संख्यात हजार वर्षो की स्थिति" नहीं घटित होती है?

समाधान—यह कोई दोप नहीं है, क्योंकि, वे बतलाई स्थितियाँ एक आयु सम्बन्धी है इनसे यहाँ पर कोई कार्य नहीं है। किन्तु यहां पर भव स्थिति का अधिकार है।

शका—भव स्थिति किसे कहते हैं?

समाधान अनेक आयु स्थितियों के समूह को भव स्थिति कहते है।

शंका—यदि ऐसा है तो असंख्यात हजार वर्ष प्रमाण भव स्थिति क्यों नहीं होती है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, असंख्यात वार अथवा संख्यात वर्ष सहस्त्र के विरोधी संख्यातवार भी उनमें उत्पति होने की संभावना का अभाव है। अविवक्षित इन्द्रिय वाले जीवों से आकर के विवक्षित इन्द्रिय वाले जीवों में उत्पन्न होकर संख्यात सहस्त्र वर्ष ही भ्रमण करता है, असंख्यात वर्ष भ्रमण नही करता है ऐसा अर्थ कहा हुआ समझना चाहिए।

नोट—यथार्थ में एक जीव की उत्कृष्ट आयु कितनी होती है उसका जबाव "संख्यात हजार वर्ष" सूत्र में किया गया है परन्तु एक जीव की उत्कृष्ट आयु इतनी होती नहीं हैं परन्तु त्रीन्द्रिय जीव की

उनंचास दिवस चतुरिन्द्रिय जीव की छह मास और द्वीन्द्रिय जीव की बारह वर्ष होती है यह परम सत्य है। परन्तु सूत्र की रक्षा के अर्थी सूत्र का गला घोंटकर अर्थ किया गया है। यह रितमोक्षमार्ग में उचित नहीं है, परन्तु क्या किया जावे सब जीव स्वतंत्र है यह कहना ही मात्रप्रयोजन भूत है। पाठक स्वयं विचार करें?

त्रसकायिक लब्ध्य पर्याप्तक जीवों का प्रमाण

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३६२ पुस्तक नम्बर ३ में लिखा है कि—

तसकाइय अपज्जता पंचिंदिय अपज्जताण भंगो ।।सूत्र नम्बर १०२।।

अर्थ—त्रस कायिक लब्ध्य पर्याप्तक जीवों का प्रमाण पंचेन्द्रिय लब्ध्य पर्याप्तकों के प्रमाण के समान है ।।१०२।।

शंका—जब कि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय लब्ध्य पर्याप्तकों को एकत्र करने पर त्रस कायिक लब्ध्य पर्याप्तक जीव होते हैं, तब फिर त्रस कायिक लब्ध्य पर्याप्तकों की प्ररूपणा पंचेन्द्रिय लब्ध्य पर्याप्तों की प्ररूपणा के समान कैसे हो सकती है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, उभयत्र अर्थात् पंचेन्द्रिय लब्ध्य पर्याप्तक जीव और त्रस कायिक लब्ध्य पर्याप्तक इन दोनों का प्रमाण लाने के लिए प्रतरांगुल के असंख्यातवें भाग रूप, भांग हार को देखकर इस प्रकार का उपदेश किया। अर्थ की अपेक्षा जो उन दोनों की प्ररूपणा में विशेष है उसका गणधर भी निवारण नहीं कर सकते है।

नोट—स्वयं टीकाकार ने क्या जवाब दिया है वह पाठक विचार करें—

औदारिक शरीर की जघन्य संघातन कृति किसके होती है?

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३३३ पुस्तक नम्बर ९ में लिखा है कि—

शंका—औदारिक शरीर की जघन्य संघातन कृति किसके होती है?

समाधान—जो कोई जीव सूक्ष्म है, अपर्याप्त है, प्रत्येक शरीरी है, अनादि लम्भ में पतित है, अर्थात् जिसने अनेक बार इस पर्याय को ग्रहण किया है, प्रथम समय में तद्भवस्थ हुआ है, प्रथम समय से अहारक है, और सबसे जघन्य योग वाला है, उसके औदारिक शरीर को जघन्य संघातन कृति होती है। इससे भिन्न अजघन्य संघातन कृति होती है।

शंका—"अनादि लम्भ में पतित" यह किस लिये कहा जाता है?

समाधान—यह ठीक नहीं है, चूंकि प्रथम लम्भ में सर्व जघन्य उपपाद योग नहीं पाया जाता अतः "अनादि लम्भ में पतित" ऐसा कहा गया है।

प्रत्येक शरीर के "यह सत्कर्म प्रकृति प्राभृत का वचन है, और पूर्व कोटि प्रमाण आयु के अन्तिम समय में उत्कृष्ट स्वामित्व का निर्देश ये दोनो वचन चूंकि सूत्र विरुद्ध हैं इसलिए इनका अनादर नहीं करना चाहिए, क्योंकि, दो सूत्रों के मध्य में विरोध होने पर चुप्पी का अवलम्बन करना ही न्याय है।

नोट—जहां जहां दो मत मिले वहां पर पाठकों को भी चुप्पी का अवलम्बन करना यही उचित मार्ग है।

तिर्यंच जीव—

(१) तिर्यंच सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासंयत गुणस्थान में नियम से पर्याप्तक होते हैं ॥ सूत्र नं० ८५ ॥

शंका—जिन्होंने मिथ्यादृष्टि अवस्था में तिर्यंचायु का बन्ध करने के पश्चात् देश संयम को ग्रहण कर लिया है और मोह की सात प्रकृतियों का क्षय कर दिया है ऐसे मनुष्य तिर्यंचों में क्यों नहीं उत्पन्न होते ? यदि होते हैं तो इससे तिर्यंच-अपर्याप्तों में देश संयम के प्राप्त होने की आपत्ति आती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, देवगति को छोड़कर शेष तीन गति सम्बन्धी आयु बन्ध से युक्त जीवों के अणुव्रत को ग्रहण करने की बुद्धि ही उत्पन्न नहीं होती है। कहा भी है कि—

चत्तारि व छेत्ताइं आउग बंधे वि होइ सम्मत्तं ।
अणुवद महव्वदाइं ण लहइ देवायुगं मोत्तुं ॥१६९॥ गो० जी० ६५३ गो० क० ३३४॥

अर्थ—चारों गति सम्बन्धी आयु कर्म के बन्ध हो जाने पर भी सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो सकता है परन्तु देवायु को छोड़कर शेष तीन आयु कर्म के बन्ध होने पर यह जीव अणुव्रत और महाव्रत को ग्रहण नहीं करता है। धवल ग्रन्थ पुस्तक नं० १ पृष्ठ ३२७ ।

(२) पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिमतियों में क्षायिक भाव क्यों नहीं है ?

धवल ग्रन्थ पृष्ठ १०७ पुस्तक नम्बर ५ में लिखा है कि—

"पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिमतियों में उपशम सम्यग्दृष्टि और क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीवों का ही पाया जाना सम्भव है।

शंका—उनमें क्षायिक भाव क्यों नहीं सम्भव है ?

समाधान—क्योंकि, बद्धायुस्क क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवों के स्त्री वेदियों में उत्पत्ति नहीं होती है तथा मनुष्य गति के अतिरिक्त शेष गतियों में दर्शन मोहनीय कर्म की क्षपणा का अभाव है इसलिए पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिमतियों में क्षायिक भाव नहीं पाया जाता है।

(३) योनिमति पंचेन्द्रिय तिर्यंच मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थान में पर्याप्त भी होती है और अपर्याप्त भी होता है ॥ सूत्र नं० ८७ ॥

शंका—सासादन गुणस्थान वाला जीव मर कर जिस प्रकार नारकियों में उत्पन्न नहीं होते हैं उसी प्रकार तिर्यंचों में भी उत्पन्न नहीं होना चाहिए ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, नारकी और तिर्यंचों में साधर्म्य नहीं पाया जाता है इसलिये नारकियों का दृष्टान्त तिर्यंचों को लागू नहीं हो सकता है। धवल ग्रन्थ पुस्तक नम्बर १ पृष्ठ ३२८ ।

(४) योनिमति तिर्यंच सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि और संयतासंयत गुणस्थान में नियम से पर्याप्तक होते हैं ॥ सूत्र नं० ८८ ॥

शंका—ऐसा क्यों होता है ?

समाधान—क्योंकि, उपर्युक्त गुणस्थानों में मर कर योनिमति तिर्यंच उत्पन्न नहीं होते हैं।

शंका—जिस प्रकार बद्धायुष्क क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव नारक सम्बन्धी नपुंसक वेद में उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार यहाँ पर स्त्री वेद में क्यों नहीं उत्पन्न होते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, नरक में एक नपुंसक वेद का ही सद्भाव है। जिस किसी गति में उत्पन्न होने वाला सम्यग्दृष्टि जीव गति सम्बन्धी विशिष्ट वेदादिक में ही उत्पन्न होता है। यह अभिप्राय यहाँ ग्रहण करना चाहिए। इससे यह सिद्ध हुआ कि सम्यग्दृष्टि जीव मर कर योनिमति तिर्यंच में नहीं उत्पन्न होते हैं। धवल ग्रन्थ पुस्तक नंबर १ पृष्ठ ३२८।

(५) तिर्यंचों में उत्पन्न हुए भी क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव अणुव्रती को नहीं ग्रहण करते हैं, क्योंकि, क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव यदि तिर्यंचों में उत्पन्न होते हैं तो भोग भूमि में ही उत्पन्न होते हैं और भोग भूमि में उत्पन्न हुए जीवों के अणुव्रतों का ग्रहण करना बन नहीं सकता है।

शंका—जिन्होंने दान नहीं दिया है ऐसे जीव भोग भूमि में कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, भोगभूमि में उत्पत्ति का कारण सम्यग्दर्शन है और वह जिनके पाया जाता है उन्हें वहाँ उत्पन्न होने में कोई विरोध नहीं आता है। तथा पात्र दान की अनुमोदना से रहित जीव सम्यग्दृष्टि हो नहीं सकता है। धवल ग्रन्थ पुस्तक नम्बर १ पृष्ठ ३२६।

नोट—सम्यग्दर्शन न भोगभूमि का कारण है न स्वर्ग का कारण है। सम्यग्दर्शन तो स्वभाव भाव है उससे बन्ध नहीं होता। परन्तु सम्यग्दर्शन के साथ में जो पुण्य भाव है वही भोगभूमि तथा स्वर्ग में ले जाता है। भोगभूमि में तो मिथ्यादृष्टि जीव भी जाते हैं। भोगभूमि का कारण दान देना ही नहीं है परन्तु पुन्य भाव है। पुन्य भाव अनेक प्रकार के होते हैं—जैसे प्रशस्तराग-अनुकम्पा लोकोपकारी कार्यादि।

(६) शंका—तिर्यंचों में क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव संयता संयत क्यों नहीं होते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, तिर्यंचों में यदि क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं तो वे भोग भूमि में ही उत्पन्न होते है दूसरी जगह नहीं। परन्तु भोग भूमि में उत्पन्न हुए जीवों के अणुव्रत की उत्पति नहीं हो सकती है, क्योंकि, वहां अणुव्रत के होने में आगम से विरोध आता है। धवलग्रन्थ नं० १ पृष्ठ ४०२

(७) शंका—संयता संयत गुणस्थान में तिर्यंचों को कौन सा सम्यक्त्व होते है ?

समाधान—क्षायिक सम्यक्त्व के बिना दो सम्यक्त्व होते है। क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होने का यह कारण है कि—संयता संयत तिर्यंच दर्शन मोहनीय कर्म का, क्षपण नहीं करते हैं, क्योंकि यहां पर जिन अर्थात् केवली या श्रुत केवली का अभाव है। और पूर्व में तिर्यंचायु को बांधकर पीछे क्षायिक सम्यग्दृष्टि होने वाले मनुष्य कर्म भूमियों में उत्पन्न नहीं होते हैं, किन्तु भोग भूमि में ही उत्पन्न होते हैं। परन्तु भोग भूमि में उत्पन्न होने वाला तिर्यंच संयमा संयम को प्राप्त नहीं होते, इसलिये तिर्यंचों के संयता संयत गुणस्थान में क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता है। धवलग्रन्थ पुस्तक नं० २ पृष्ठ ४८१-४८२

(८) तिर्यंचों में प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति कौन करते है ?

पंचेन्द्रियों में भी प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करने वाले तिर्यंच जीव संज्ञी जीवों में ही उत्पन्न करते है असंज्ञीयों में नहीं ॥ सूत्र नं० १६ ॥

संज्ञी तिर्यंचों में भी प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करने वाले जीव गर्भोपक्रान्तिक तिर्यंचों में ही उत्पन्न करते हैं—सम्मूर्छनों में नहीं ॥सूत्र नं० १७॥

गर्भोत्क्रान्तिक तिर्यंचों में भी, प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करने वाले जीव पर्याप्तकों में ही उत्पन्न करते है, अपर्याप्तकों में नहीं ॥सूत्र नं० १८॥

पर्याप्तक तिर्यंचों में भी प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करने वाले दिवस पृथक्त्व लगाकर उपरिमकाल में उत्पन्न करते हैं नीचे के काल में नहीं ॥सूत्र नं० १६॥

दिवस पृथक्त्व कहने से यहां केवल सात आठ दिन का ही ग्रहण नहीं करना चाहिये, क्योंकि यह पृथक्त्व शब्द वैपुल्य वाचक है। अतः बहुत से दिवस पृथक्त्व व्यतीत हो जाने पर पूर्वोक्त जीव प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं।

एवं जाव सव्वदीव समुद्देसु ॥सूत्र नं० २०॥

अर्थ—इस प्रकार सब द्वीप समुद्रों में तिर्यंच प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं ॥२०॥

शंका—चूंकि, भोग भूमि के प्रतिभाग समुद्रों में प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति मानना युक्त नहीं है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि पूर्व भव के वैरी देवों के द्वारा उन समुद्रों में डाले गए पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की सम्भावना है।

शंका—संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच किस कारण से सम्यक्त्व की प्राप्ति करते है ?

समाधान—तीहि कारणेहि पढम सम्मत्त मुप्पादेंति, केई जाइस्सरा केई सोऊण केइं जिणबिंबं दट्ठूण ॥सूत्र नं० २२॥

अर्थ—पूर्वोक्त पंचेन्द्रि तिर्यंच तीन कारणों से प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं। कितने ही तिर्यंच जाति-स्मरण से, कितने ही धर्मोपदेश सुनकर, और कितने ही जिन बिम्बों के दर्शन करके ॥सूत्र नं० २२॥

शंका—जिन बिम्ब का दर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण किस प्रकार होता है ?

समाधान—जिन बिम्ब के दर्शन से निधत और निकाचित रुप भी मिथ्यात्वादि का कर्म कलाप का क्षय देखा जाता है जिससे जिन बिम्ब का दर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण होता है कहा भी है कि—

दर्शनेन जिनेन्द्राणां पापसंघातकुंजरम् ।
सतधा भेदमायाति गिरिर्वज्रहतो यथा ॥१॥

अर्थ—जिनेन्द्रों के दर्शन से पापसंघात रूपी कुंजर के सौ टुकड़े हो जाते है, जिस प्रकार कि, वज्र के आघात से पर्वत के सौ टुकड़े हो जाते हैं। धवल ग्रन्थ पुस्तक नम्बर ६ पृष्ठ ४२७-४२८

नोट—यहाँ पर निधत और निकांचित कर्म के टुकड़े हो जाते हैं वह कहना केवल उपचार है। क्योंकि, निधत निकांचित का स्वरूप आगम में इस प्रकार किया गया है—

उदए संक्रम उदए चदुसु वि दादुं कमेण णो सक्का ।
उपसंतं च णिधत्तं णिकाचिदं चावि जं कम्मं ॥१८॥ गो. पृ. ४४०

अर्थ—जो कर्म उदय में न दिया जा सके, वह उपशान्त, जो संक्रमण और उदय दोनों में ही न

दिया जा सके वह निधत, तथा जो उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण व उदय चारों में ही न दिया जा सके वह निकांचित करण है।

जिस समय आयु का बन्ध पड़ता है उसी समय में जो गति तथा गोत्र का बन्ध पड़ता है वही निकांचित निधत है । श्रेणिक राजा-कृष्णादि उसको तोड़ न सका। निकांचित निधत कर्म अघातिया कर्म में ही होते है न कि घातिया कर्मो में। यदि घातियाँ कर्मो में निकाचितादि बन्ध होवे तो आत्मा पराधीन बन जाती है परन्तु वस्तु का ऐसा स्वभाव नहीं है।

(९) तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध वाले जीव तिर्यंचों में क्यों नहीं जाता है ?

तीन गतियों के असंयत सम्यग्दृष्टि जीव तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध के स्वामी है, क्योंकि, तिर्यंच गति के साथ तीर्थंकर के बन्ध का अभाव है।

शंका—तिर्यंच गति में तीर्थकर कर्म के भले ही न हो, क्योंकि, वहाँ जिनों का अभाव है । किन्तु जिन्होंने पूर्व में तिर्यचायु को बांध लिया है उनके पीछे सम्यक्त्वादि गुणों के प्राप्त हो जाने से तीर्थंकर कर्म को बांध कर पुन: तिर्यंचों में उत्पन्न होने पर तीर्थंकर के बन्ध का स्वामी पना पाया जाता है ?

समाधान—ऐसा होना सम्भव नही है, क्योंकि, जिन्होंने पूर्व में तिर्यच या मनुष्य आयु का बन्ध कर लिया है उन जीवों के नरक व देव आयुओं के वन्ध से संयुक्त जीवों के समान तीर्थंकर कर्म के बन्ध का अभाव है।

शंका—वह भी कैसे सम्भव है ?

समाधान—क्योंकि, जिस भव में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध प्रारम्भ किया गया है उससे तृतीय भव में तीर्थंकर प्रकृति के सत्वयुक्त जीवों में मोक्ष जाने का नियम है। परन्तु तिर्यंच और मनुष्यों में उत्पन्न हुए मनुष्य सम्यग्दृष्टियों की देवों में उत्पन्न न होकर देव नारकियो में उत्पन्न हुए जीवों के समान मनुष्यों में उत्पत्ति होती नहीं है, जिससे कि तिर्यंच व मनुष्यों में उत्पन्न हुए मनुष्य सम्यग्दृष्टियों की तृतीय भव में मुक्ति हो सके। इस कारण तीन गतियां के असंयत सम्यग्दृष्टि तीर्यंकर प्रकृति के बन्ध के स्वामी है यह बात सिद्ध होती है। धवल ग्रन्थ पुस्तक नम्बर ८ पृष्ठ ७४-७५

(१०) शंका—शुक्ल लेश्या वाले तिर्यंच शुक्ल लेश्या वाले देवों में नहीं उत्पन्न होते है यह कैसे जाना ?

समाधान—चूँकि पांच वटे चौदह भाग प्रमाण स्पर्शन क्षेत्र के उपदेश का अभाव है इससे जाना जाता है कि, शुक्ल लेश्या वाले तिर्यंच जीव मरकर शुक्ल लेश्या वाले देवों में उत्पन्न नहीं होते है । धवल ग्रन्थ पुस्तक नम्बर ४ पृष्ठ ३००

(१०) संज्ञी सम्मूर्च्छिम पर्याप्तकों में अवधिज्ञान तथा उपशम सम्यक्त्व की संभावता का अभाव है।

शंका—यह कैसे जाना जाता है कि, संज्ञी सम्मूर्छिन पर्याप्तक जीवों में अवधिज्ञान और उपशम सम्यक्त्व का अभाव है ?

समाधान—"पंचेन्द्रियों में दर्शन मोह उपशम करता हुआ गर्भोक्रान्तिक जीवों में ही उपशमन करता है, सम्मूर्छिन जीवों में नहीं" इस प्रकार के चुलिका सूत्र से जाना जाता है।

शंका—संज्ञी सम्मूर्च्छिन जीवों में अवधिज्ञान का अभाव कैसे जाना जाता है ?

समाधान—क्योंकि, अवधिज्ञान को उत्पन्न कराके अन्तर के प्ररूपण करने वाले आचार्यों का अभाव है। अर्थात् किसी भी आचार्य ने इस प्रकार अन्तर प्ररूपणा नही की ॥धवल ग्रन्थ पुस्तक नम्बर ५ पृष्ठ नम्बर ५९ ॥

(१२) असंयत सम्यग्दष्टि तिर्यंचों के अपर्याप्त काल में कौनसा सम्यग्दर्शन है ?

शंका—अपर्याप्त काल मे असयत सम्यग्दृष्टि तिर्यंचों को कौनसा सम्यग्दर्शन रहता है ?

समाधान—उपशम सम्यक्त्व के विना क्षायिक तथा क्षयोपशममिक ये दो सम्यक्त्व होते हैं। पूर्वोक्त दो सम्यक्त्वों के होने का यह कारणहै कि, जिन मनुष्यों ने सम्यग्दर्शन होने के पहले तिर्यंच आयु को बांध लिया है पीछे सम्यक्त्व को ग्रहण कर और दर्शन मोहनीय को क्षपण करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर असंख्यात वर्ष की आयु वाले भोग भूमि के तिर्यंचों में ही उत्पक्त होते हैं अन्यत्र नहीं, इस कारण भोग भूमि के तिर्यंचों में उत्पन्न होने वाले जीवों की अपेक्षा से असयत सम्यग्दृष्टि के अपर्याप्त काल में क्षायिक सम्यक्त्व पाया जाता है। और उन्हीं भोग भूमि के तिर्यंचों में उत्पन्न होने वाले जीवों के कृत्य-कृत्य वेदक की अपेक्षा वेदक सम्यक्त्व भी पाया जाता है। इस प्रकार तिर्यंच असंयत सम्यग्दृष्टियों के अपर्याप्त काल में दो सम्यक्त्व होते हैं। धवल ग्रन्थ पुस्तक नम्बर २ पृष्ठ ४८१

(१३) सम्यक्त्व सहित तिर्यंच गति में जाने वाले जीव सम्यक्त्व सहित ही वहां से निकलते हैं।

सम्मतेण अधिगदा णियमा सम्मेत्तेण चेव णीति ॥ सूत्र नं० ५९॥

अर्थ—सम्यक्यत्व सहित तिर्यंच गति में आने वाले जीव नियम से सम्यक्त्व के साथ ही वहाँ से निकलते हैं ॥सूत्र नम्बर ५९॥

क्योंकि, क्षायिक सम्यग्दृष्टियों का व कृत्य-कृत्य वेदक सम्यग्दृष्टियों का तिर्यच गति जाने पर अन्य गुणस्थान में संक्रमण नहीं होता है। धवल ग्रन्थ पुस्तक नंबर ६ पृष्ठ ४४१

(१४) पुरुष वेदी असंयत सम्यग्दष्टि तिर्यंचों में स्त्री वेदी असंयत सम्यग्दष्टि पर्याप्त जीवों हीन क्यों ?

शंका—पंचेन्द्रिय तिर्यंच पर्याप्तों में पुरुष वेदी असंयत सम्यग्दृष्टि जीव राशि से वहां पर स्त्री वेदी असंयत सम्यग्दृष्टि जीव राशि असंख्यात गुणी हीन किस कारण से हैं ?

समाधान—पुरुष वेदी की अपेक्षा अप्रशस्त स्त्री वेद के उदय के साथ प्रचुर रूप से दर्शन मोहनीय के क्षयोपशम का अभाव है।

शंका—यदि ऐसा है तो उन्हीं पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में स्त्री वेदी असंयत सम्यग्दृष्टि जीव राशि से स्त्री वेदियों से भी अप्रशस्त नपुंसक वेदी असंयत सम्यग्दृष्टि जीव राशि के असंख्यात गुणीहीनता प्राप्त हो जाती है ?

समाधान—स्त्री वेदियों से नपुंसक वेदियों के असंख्यात गुणीहीनता प्राप्त होती है तो हो जाओ, क्योंकि ऐसा स्वीकार कर लेने में कोई विरोध नहीं आता है। धवल ग्रन्थ पुस्तक नम्बर ३ पृष्ठ २३८।

(१५) संपूर्ण द्वीप समुद्रों में संयमासंयम तिर्यंच होते हैं ?

एवं जाव सव्व दीव समुद्देसु ॥ सूत्र नं० १५७ ॥

अर्थ—सर्व द्वीप समुद्रों में संयमासंयम तिर्यंच होते हैं ॥१५७॥

शंका—स्वयंभूरमण द्वीप वर्ती स्वयं प्रभ पर्वत के इस ओर मानुषोतर पर्व के उस ओर असंख्यात द्वीपों में भोग भूमि के समान रचना होने से वहाँ पर देशव्रती नहीं पाये जाते हैं इसलिए वह सूत्र घटित नहीं होते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वैर के सम्बन्ध से देवों अथवा दानवों के द्वारा कर्म भूमि से उठाकर डाले गये कर्म भूमिज तिर्यंचों का सब जगह सद्भाव होने में कोई विरोध नहीं आता है इसलिए वहां पर तिर्यंचों के पांचों गुणस्थान बन जाता है। धवल ग्रन्थ पुस्तक नम्बर १ पृष्ठ ४०२।

नोट—यहाँ सूत्र की सिद्धि तर्क द्वारा की परन्तु मानुपोतर पर्वत के उस ओर स्वयं प्रभ पर्व के इस ओर तिर्यंच त्रसजीव न रहते है इस सूत्र के साथ में विरोध आ जाता है।

(१६) तिर्यंचों में आहार दान कैसे दिया जाता है ?

शंका—तिर्यंचों में आहार दान देना कैसे सम्भव हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जो तिर्यंच संयतासंयत जीव सचित भंजन के प्रत्याख्यान अर्थात् व्रत को ग्रहण कर लेते हैं उनके लिए सल्लकी के पत्तों आदि का दान करने वाले तिर्यंचों के दान देना मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है। धवल ग्रन्थ पुस्तक नम्बर ७ पृष्ठ नं० १२१।

(१७) पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनि मति के अवहार काल सम्बन्धी दो मत।

पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिमतियों के अवहार काल से सम्बन्ध रखने वाला यह कितने ही आचार्यों का (कथन) व्याख्यान घटित नहीं होता है, क्योंकि, तीनसौ योजनों के अंगुलों का वर्गमान व्यंतर देवों का अवहार काल होता है ऐसा आगे व्याख्यान देखा जाता है।

शंका—यह पूर्वोक्त पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिमति सम्बन्धी अवहार काल का व्याख्यान असत्य है और व्यन्तर देवों के अवहार काल का व्याख्यान सत्य है यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—ऐसा कुछ हमारा एकान्त मत नहीं हैं, किन्तु, हमारा इतना ही कहना है कि उक्त दोनों कथनों में से एक कथन असत्य होना चाहिए। अथवा उक्त दोनों ही व्याख्यान असत्य हैं यह हमारी प्रतिज्ञा है।

शंका—उक्त दोनों व्याख्यान असत्य है अथवा उक्त दोनों व्याख्यानों में से एक व्याख्यान तो असत्य ही है ऐसा कैसे जाना जाता है ?

समाधान—"पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिमतियों से वाण व्यन्तर देवों संख्यात गुणे है और उनकी देवियां वाणव्यन्तर देवों से संख्यातगुणी है" इस खुद्दा बन्ध के सूत्र से उक्त अभिप्राय जाना जाता है। सूत्र को अप्रमाण करके उक्त व्याख्यान प्रमाण है ऐसा तो कहा नहीं जा सकता है अन्यथा अतिप्रसंग दोष आजायगा। यदि एक-एक देव के एक-एक ही देवी होती है यह युक्ति दी जाय सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, भवनवासी आदि देवों के बहुत सी देवियों का आगम में उपदेश पाया जाता है। और "देवों से देवियां बत्तीस गुणी होती हैं" ऐसा व्याख्यान भी देखा जाता है। इसलिए वाण व्यन्तर देवों का अवहार काल तीनसौ योजनों के अंगुलों का वर्गमात्र है, यदि ऐसा निश्चय है तो पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिमतियों के अवहार काल उत्पन्न करने के लिए तीनसौ योजन के अंगुलों के वर्ग में जो राशि जिन देव ने देखी हो तदनुसार बत्तीस अधिक सौ आदि रूप गुणाकार का प्रवेश करना चाहिए। अथवा "पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिमतियों का अवहार काल छहसौ योजनों के अंगुलों का वर्ग मात्र हैं" यदि ऐसा निश्चय है तो वाण व्यन्तर देवों का

अवहार काल उत्पन्न करने के लिए तेवीस आदि जो संख्या जिनेन्द्र देव ने देखी हो उससे छहसौ योजनों के अंगुलों के वर्ग को अपवर्तित करना चाहिए। अथवा वाण व्यन्तर और पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिमति इन दोनों के अवहार काल के लिए दोनों स्थानों में भी प्रतरांगुल के उसके योग्य गुणाकार दे देना चाहिए। धवल ग्रन्थ पुस्तक नम्बर ३ पृष्ठ २३१-२३२।

असंज्ञी कौनसा भाव है ?

असंज्ञी में कौनसा भाव है ? औदयिक भाव है ॥ सूत्र नं० ६० ॥

क्योंकि, नोइन्द्रियावरण कर्म के सर्वघाति स्पर्धकों के उदय से असंज्ञित्व भाव उत्पन्न होता है। पृष्ठ २३७ धवल ग्रन्थ पुस्तक नम्बर ५

नोट—घाति कर्म, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय कर्म, मोहनीय कर्म और अन्तराय कर्म है। उनमें ही सर्वघाति और देश घाति का भेद है परन्तु अघाति कर्म में देशघाति सर्वघाति के भेद नहीं है। ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम तो सर्व छद्मस्थ को रहता है तो भी ज्ञानावरणीय कर्म की अपेक्षा असंज्ञी का औदयिक भाव बन नहीं सकता है परन्तु यदि नाम कर्म के उदय की अपेक्षा असंज्ञी को औदयिक भाव कहा जावे तो कोई अपेक्षा से उचित है। यदि ज्ञान का औदयिक भाव रूप परिणमन हो जावे तो आत्मा जड स्वभावी बन जावे क्योंकि गुण का संपूर्ण विकारी परिणमन का नाम औदयिक भाव है ऐसा जानना चाहिए।

नारकी

नारकी जीव सम्यक्त्व कब उत्पन्न करता है ?

नारकी जीव पर्याप्तकों में ही प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं अपर्याप्तकों में नहीं ॥सूत्र नं० ३॥

पर्याप्तकों में प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करने वाले अन्तमुहूर्त से लगा कर अपने योग्य अन्तमुहूर्त के पश्चात् सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं उससे नीचे नहीं ॥४॥

पूर्वोक्त सूत्र से पर्याप्तकों के सर्व काल सम्यक्त्वोत्पत्ति का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। उसी के प्रतिषेध के लिए यह सूत्र आया है। पर्याप्त होने से प्रथम समय से लगाकर तत्प्रायोग्य अन्तमुहूर्त तक निश्चय से जीव प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं करते, क्योंकि, अन्तमुहूर्त काल के विना प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करने योग्य विशुद्धि की उत्पत्ति का अभाव है।

शंका—आयु के अन्तमुहूर्त शेष रहने पर भी नारकी जीव प्रथम सम्यक्त्व को नहीं करते है इसलिए उस काल में भी सम्यक्त्वोत्पत्ति का अभाव कहना चाहिये ?

समाधान—नहीं, पर्यायार्थिक नय के अवलम्बन से प्रत्येक समय पृथक-पृथक सम्यक्त्व की उत्पत्ति होने पर जीवन के ही चरम समय तक सम्यक्त्व की उत्पत्ति पायी जाती है। चरम समय में भी सम्यक्त्वोत्पत्ति का प्रतिषेध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि, दर्शन मोहनीय के कर्म के उदय के बिना उत्पन्न होने वाले चरम समयवर्ती सासादन भाव की भी उपचार के प्रथम सम्यक्त्व संज्ञा मानी जा सकती है। अथवा यह सूत्र देशामर्षक है जिससे जीवन के अवसान काल में भी प्रथम सम्यक्त्व के ग्रहण का प्रतिषेध सिद्ध हो जाता है। धवल ग्रन्थ पुस्तक ६ पृष्ठ ४१६-४२०

(२) नारकी जीवों के सम्यक्त्व होने का क्या कारण है ?

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४२२-४२३ पुस्तक नम्बर ६ में लिखा है कि—

केइं जाइस्सरा केइं सोऊणं केइं वेदणाहि भूदा ।।सूत्र नं० ८।।

अर्थ—कितने ही नारकी जीव जाति स्मरण से, कितने ही धर्मोपदेश से सुनकर और कितने ही वेदना से अभिभूत होकर सम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं ।।८।।

शंका—चूंकि, सभी नारकी जीव, विभंग ज्ञान के द्वारा एक, दो या तीन आदि भव ग्रहण जानते है । इसलिए सभी के जाति स्मरण होता है अतएव सभी नारकी जीव सम्यग्दृष्टि होना चाहिए ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं हैं, क्योंकि सामान्य रूप से भव स्मरण के द्वारा सम्यक्त्व की उत्पत्ति नहीं होती । किन्तु धर्म बुद्धि से पूर्व भव में किये गये अनुष्ठानों की विफलता के दर्शन से ही प्रथम सम्यक्त्व उत्पत्ति का कारणत्व इष्ट है । जिससे पूर्वोक्त दोष प्राप्त नहीं होता और इस प्रकार की बुद्धि सब नारकी जोवों के होती नहीं है, क्योंकि, तीव्र मिथ्यात्व के उदय से वशीभूत नारकी जीवों के पूर्व भव का स्मरण होते हुए भी उक्त प्रकार के उपयोग का अभाव है । इस प्रकार जाति स्मरण प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण है ।

शंका—नारकी जीवों के धर्म श्रवण किस प्रकार सम्भव है, क्योंकि, वहाँ तो ऋषियों के गमन का अभाव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अपने पूर्व भव के सम्बन्धी जीवों के धर्म उत्पन्न कराने में प्रवृत और समस्त वाधाओं से रहित सम्यग्दृष्टि देवों का नरक में गमन देखा जाता है ।

शंका—वेदना का अनुभव सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि, वह अनुभवन तो सब नारकीयों के साधारण होता है । यदि वह अनुभवन सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण हो तो सब नारकी जीव सम्यग्दृष्टि होंगे ? किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, वैसा पाया नहीं जाता है ?

समाधान—वेदना सामान्य सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण नहीं है । किन्तु जिन जीवों के ऐसा उपयोग होता है कि अमुक वेदना अमुक मिथ्यात्व के कारण या अमुक असंयम से उत्पन्न हुई उन्हीं जीवों की वेदना सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण होती है । अन्य जीवों की वेदना सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण नहीं होती, क्योंकि, उसमें उक्त प्रकार के उपयोग का अभाव है ।

(३) सातवीं नरक से निकला नारकी तिर्यंच गति में सम्यक्त्व की प्राप्ति कर सकता है या नहीं ?

सूत्र—सातवीं पृथ्वी से निकले हुए नारकी जीव केवल तिर्यंच गति में ही जाते हैं ।। २०४ ।। तिर्यंचों में उत्पन्न होने वाले तिर्यंच इन छह की उत्पत्ति नहीं करते हैं । आभिनिबोधिक-ज्ञान को उत्पन्न नहीं करते है, श्रुतज्ञान को उत्पन्न नहीं करते हैं । अवधि ज्ञान को उत्पन्न नहीं करते हैं । सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान को उत्पन्न नहीं करते हैं । सम्यक्त्व को उत्पन्न नहीं करते हैं और संयमासंयम को उत्पन्न नहीं करतें हैं ।। सूत्र नं० २०५ ।।

शंका—तिर्यंचों में तीर्थङ्कर आदि भी तो उत्पन्न नहीं होते हैं अतएव तीर्थङ्कर आदि का यहाँ प्रतिषेध क्यों नहीं किया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, तीर्थङ्करादिकों का तो तिर्यंचों में उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। सर्व प्रतिषेध में पहले प्रतिषेध्य वस्तु की उपलब्धि पाई जाती है।

शंका—उपर्युक्त तिर्यंचों में सासादन गुणस्थान की प्राप्ति का प्रतिषेध क्यों नहीं किया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, सम्यक्त्व का प्रतिषेध कर देने पर सम्यक्त्व से उत्पन्न होने वाले सासादन सम्यक्त्व गुण के प्रतिषेध की सिद्धि विना कहे ही हो जाती है।

विशेषार्थ—यहाँ सप्तम नरक से आये हुए तिर्यंच जीवों के सम्यक्त्व की प्राप्ति का सर्वथा प्रतिषेध किया गया है, किन्तु तिलोयपण्णति (२-२९२) वथा प्रज्ञापना (२०-१०) में उनमें से कितने ही जीवों द्वारा सम्यक्त्व ग्रहण किये जाने का विधान पाया जाता है।

(४) सम्यक्त्व सहित नरक में जाने वाले जीव सम्यक्त्व सहित ही नरक से वापस आते हैं ?

सम्मतेण अधिगदा सम्मतेण चेव णींति ॥ सूत्र नं० ४७ ॥ त० रा० ३-६ ॥

अर्थ—सम्यक्त्व सहित नरक में जाने वाले जीव सम्यक्त्व सहित ही वहाँ से निकलते हैं। सूत्र नं० ४७ ॥

क्योंकि नरक में उत्पन्न हुए क्षायिक सम्यग्दृष्टियों के अथवा कृत्यकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टियों के अन्य गुणस्थान में संक्रमण नहीं होता है। और सासादन सम्यक्त्वयीयों का नरक गति में प्रवेश नहीं है, क्योंकि, यहाँ प्रवेश के प्रतिपादन न करने की अन्यथा उत्पत्ति नहीं बनती। धवल ग्रन्थ पुस्तक नंबर ६ पृष्ठ ४३८।

(५) नरक गति के साथ एकेन्द्रियादि का वन्ध क्यों नहीं होता है ?

धवल ग्रन्थ पृष्ठ १०२-१०३ पुस्तक नंबर ६ में लिखा है कि—

शंका—नरक गति के साथ एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति नाम वाली प्रकृतियां क्यों नहीं बँधती हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, नरक गति के वन्ध के साथ इन द्विन्द्रियादि जाति आदि प्रकृतियों के वन्ध का विरोध है।

शंका—इन प्रकृतियों के सत्व का एक साथ एक जीव में अवस्थान देखा जाता है इसलिए बन्ध का विरोध नहीं होना चाहिए ?

समाधान—सत्व की अपेक्षा उक्त प्रकृतियों के एक साथ रहने का विरोध भले ही न हो, क्योंकि, ऐसा माना गया है। किन्तु वन्ध की अपेक्षा उन प्रकृतियों के एक साथ रहने में विरोध का अभाव नहीं है अर्थात् विरोध ही है, क्योंकि, इस प्रकार का उपदेश नहीं पाया जाता है। और सत्व में विरोध का अभाव देखकर वन्ध में भी उनका अभाव नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि, वन्ध और सत्व में एकत्व का विरोध है अर्थात् वन्ध और सत्व ये दोनों एक वस्तु नहीं है।

कितने ही आचार्य यह कहते हैं कि नरक गति नामक नाम कर्म की प्रकृति के साथ जिन प्रकृतियों का युगपत उदय होता है वे प्रकृतियां नरक गति नाम कर्म के साथ बन्ध को प्राप्त होती हैं। किन्तु उनक यह कहना घटित नहीं होता है, क्योंकि, वैसा मानने पर ध्रुव उदयशील होने से नरक गति नाम प्रकृति के साथ उदय में आने वाले स्थिर और शुभ नाम कर्मों का नरक गति के साथ बन्ध का प्रसंग आ जाता है।

किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, शुभ प्रकृतियों का अशुभ प्रकृतियों के साथ बन्ध का अभाव है। इसलिए नरक गति के साथ जिन प्रकृतियों का उदय नहीं है एकान्त से उनका बन्ध नहीं ही होता है। किन्तु जिन प्रकृतियों का एक साथ उदय होता है उनका नरक गति के साथ कितनी ही प्रकृतियों का बन्ध होता है, और कितनी ही प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिये।

(६) नारकीयों में राग द्वेष का जघन्य तथा उत्कृष्ट काल—

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४०-४१ पुस्तक नम्बर १ में लिखा है कि—

शंका—नरक गति में नारकीयों में प्रेम और द्वेष कितने काल तक होता है ?

समाधान—जघन्य काल की अपेक्षा एक समय होता है अर्थात् नरक गति में नारकीयों के प्रेम और द्वेष का जघन्य काल एक समय है। सूत्र नं० ११०।

नरक गति मे नारकीयों के राग और द्वेष का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।सूत्र नं० १११॥

मनुष्य

(१) कौनसा गुणस्थान में स्त्री पर्याप्तक होती है ?

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३३२ पुस्तक नं० १ में लिखा है कि—

सम्मामिच्छाइट्ठि असंजदसम्माइट्ठि संजदा-संजद संजद ट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥९३॥

अर्थ—मनुष्य स्त्रीया सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि, संयता संयत, संयत गुणस्थान में नियम से पर्याप्तक होती है ॥सूत्र नं० ९३॥

शंका—हुँडावसर्पिणी काल सम्बन्धी स्त्रियों में सम्यग्दृष्टि जीव क्यों नहीं उत्पन्न होते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उनमें सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते है।

शंका—यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

समाधान—इसी आगम प्रमाण से जाना जाता है।

शंका—तो इसी आगम से द्रव्य स्त्रियों का मुक्ति जाना भी सिद्ध हो जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वस्त्र सहित होने से उनके संयता-संयत गुणस्थान होता है अतएव उनके संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

शंका—वस्त्र सहित होते हुए भी उन द्रव्य स्त्रियों के भाव संयम होने में कोई विरोध नहीं आना चाहिये ?

समाधान—उनके भाव संयम नहीं, क्योंकि, अन्यथा अर्थात् भाव संयम के मानने पर उनके भाव असंयम का अविना भावी वस्त्रादिक का ग्रहण करना नहीं बन सकता है।

नोट—मूल सूत्र करणानु योग की अपेक्षा से है, जब टीका चरणानुयोग की अपेक्षा से की गई है। करणानुयोग वस्त्र को बाधक नही मानता है चरणानुयोग वस्त्र को बाधक मानता है। करणानुयोग की अपेक्षा "मूर्छा" परिग्रह माना गया है जब चरणानुयोग की अपेक्षा वस्त्रादिक परिग्रह माना गया है। भरत चक्रवर्ती के पास में छह खण्ड की विभूति परिग्रह रूप होते सन्ते उनको वैरागी माना गया है, यह

करणानुयोग की अपेक्षा माना गया है। उसी प्रकार करणानुयोग की अपेक्षा स्त्री का पर्याप्तक अवस्था में तीसरा, चौथा, पाँचवां और सातवां गुणस्थान हो सकता है। चरणानुयोग की अपेक्षा से स्त्री का पाँचवां गुणस्थान माना गया है। द्रव्यलिंगी मुनि का भी चरणानुयोग की अपेक्षा छठवां गुणस्थान है और इसी अपेक्षा से उनकी नवदा भक्ति की जाति है, जब करणानुयोग की अपेक्षा से उनका मिथ्यात्व गुणस्थान है।

क्षयोपशम संप्राप्त प्रशम्त संज्वलनोदय ।
लब्ध बोधिः सुतं राज्ये निजे संयोज्य सुप्रभम् ॥

अर्थ— कर्मो के क्षयोपशम से भगवान् नमिनाथ को प्रसस्त संज्वलन का उदय हुआ अर्थात् प्रत्याख्यानावरण अप्रत्याख्याना वरण का उपशम हो गया और रत्न त्रय को पाकर उन्होंने सप्रभ नाम के अपने पुत्र को राज्य का भार शोपा।

यह गाथा करणानुयोग की अपेक्षा से है। सातवां गुणस्थान का भाव हुआ बाद नमिनाथ भगवान् ने अपने पुत्र सुप्रभ को राज्य का भार शौंपा। क्या नमिनाथ भगवान ने नग्न अवस्था में राज्य का भार शौंपा होगा? शान्ति से विचारना चाहिए। इससे सिद्ध हुआ कि स्त्री का सातवाँ गुणस्थान करणानुयोग की अपेक्षा से होते हैं।

(२) स्त्री का चौदह गुणस्थान किस अपेक्षा से माना है?

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३३३ पुस्तक नम्बर १ में लिखा है कि—

शंका—स्त्रीयों में चौदह गुणस्थान होते है यह कथन किस अपेक्षा से किया है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, भाव स्त्री में अर्थात् स्त्रीवेद युक्त मनुष्य गति में चौदह गुणस्थानों के सद्भाव मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है।

शंका—बादर कषाय के ऊपर भाव वेद नहीं पाया जाता है इसलिए भाव वेद में चौदह गुणस्थानों का सद्भाव नही हो सकता है?

समाधान – नहीं, क्योंकि, यहाँ पर वेद की प्रधानता नहीं है, किन्तु, गति प्रधान है और वह पहले नष्ट नहीं होती है।

शंका—यद्यपि मनुष्य गति में चौदह गुणस्थान सम्भव है। फिर भी उसे वेद विशेषण युक्त कर देने पर उसमें चौदह गुणस्थान सम्भव नही हो सकते हैं?

समाधान—नहीं, क्योंकि, विशेषण को नष्ट हो जाने पर भी उपचार से उस विशेषण युक्त संज्ञा को धारण करने वाली मनुष्य गति में चौदह गुणस्थानों का सद्भाव मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है।

नोट—मनुष्य गति पर चौदह गुणस्थान माने हैं तो स्त्री का भी तो मनुष्य गति है इस अपेक्षा से स्त्री का चौदह गुणस्थान बन जाता है। भाव वेद स्त्री की अपेक्षा से कथन किया जावे तो पुरुष को संगीनी, आहारणी, उपयोगीनी ऐसा विशेषण नही दिया जाता है। यह विशेषण तो द्रव्य स्त्री को ही दिया जाता है ऐसा विशेषण धवल ग्रन्थ पृष्ठ ५१४-५३० पुस्तक नंबर २ आलाप नंबर ११४-११८ देखने से मालूम होगा कि यह कथन द्रव्य स्त्री वेद की अपेक्षा से ही किया गया है। भाव स्त्री वेद की अपेक्षा से तो

आदिका नौ गुणस्थान माना है और वहाँ संज्ञिक, असंज्ञिक, आहारक, अनाहारक, साकार उपयोगी, अनाकार उपयोगी लिखा हैं, परन्तु संज्ञिनी, असंज्ञिनी, आहारिणी, साकारउपयोगीनी, अनाकारउपयोगीनी नहीं लिखा है इससे सिद्ध होता है कि द्रव्य स्त्री की अपेक्षा से ही चौदह गुणस्थान लिखा गया है। यह परम सत्य है। परन्तु द्रव्य स्त्री का चौदह गुणस्थान होता ही नही है।

(३) मनुष्य स्त्री को आहारक योग क्यों नहीं होता है ?

शंका—मनुष्य स्त्रियों के आहारक काययोग और आहारक मिश्र काययोग नहीं होने का क्या कारण है।

समाधान—यद्यपि जिनके भाव की अपेक्षा स्त्री वेद तथा द्रव्य की अपेक्षा पुरुष वेद होता है वे (भाव स्त्री) जीव भी संयम को प्राप्त होते हैं। किन्तु द्रव्य की अपेक्षा स्त्री वेद वाले जीव संयम को नहीं प्राप्त होते है क्योंकि वे सचेल अर्थात् वस्त्र सहित होते है। फिर भी भाव की अपेक्षा स्त्री वेदी और द्रव्य अपेक्षा पुरुष वेदी संयम धारी जीवों के आहार ऋद्धि उत्पन्न नही होती है। किन्तु द्रव्य और भाव इन दोनों ही वेदों की अपेक्षा से पुरुष वेद वाले जीवों के ही आहार ऋद्धि उत्पन्न होती है। इसलिये स्त्री वेद वाले मनुष्यों के आहारक ऋद्धि के विना योग होते है।

(४) मिथ्यादृष्टि मनुष्य प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति कब करता है।

धवलग्रन्थ पृष्ठ ४२८, पुस्तक नम्बर ६ मे लिखा है कि—मिथ्यादृष्टि मनुष्य गर्भोक्रान्ति को में प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करते है, सम्मुर्च्छननों में नहीं ॥सूत्र नं० २५॥

गर्भोक्रान्तिकों में प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करने वाले मिथ्यादृष्टि मनुष्य पर्याप्तकों में ही उत्पन्न करते हैं अपर्याप्त को में नहीं ॥सूत्र नं० २६॥

पर्याप्तकों में प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करने वाले गर्भोक्रान्तिक, मिथ्यादृष्टि मनुष्य आठ वर्ष से लेकर ऊपर किसी समय भी उत्पन्न करत है उससे नीचे के काल मे नहीं ॥ सूत्र नं० २७ ॥

इसका कारण यह है कि, पर्याप्त काल के प्रथम समय से लेकर आठ वर्ष पर्यन्त की अवस्था में प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के अत्यान्ता भाव का नियम है।

(५) मनुष्य मिथ्यादृष्टि को सम्यक्त्व होने का क्या कारण है।

धवलग्रन्थ-पृष्ठ ४२६ पुस्तक नम्बर ६ में लिखा है कि—मिथ्यादृष्टि मनुष्य तीन कारणों से प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करते है। कितने ही मनुष्य जाति स्मरण से, कितने ही धर्मोपदेश सुनकर और कितने ही जिन बिम्ब के दर्शन करके ॥सूत्र नं० ३० ॥

शंका—जिन महिमाओं को देखकर कितने ही मनुष्य प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करते है इसलिए चार कारणों से मनुष्य प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं ऐसा कहना चाहिये ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जिन महिमा दर्शन का जिन बिम्ब दर्शन में अन्तर्भाव हो जाते है। अथवा मिथ्यादृष्टि मनुष्यों के आकाश में गमन करने की शक्ति न होने से उनके महा महोत्सव का देखना सम्भव नही है इसलिए उनके जिन बिम्ब दर्शन रुप कारण का अभाव है। किन्तु मेरु पर्वत पर किए जाने वाले जिनेन्द्र महोत्सव को विद्याधर मिथ्यादृष्टि देखते है

इसलिए उपर्युक्त अर्थ नहीं करना चाहिए। ऐसा कितने ही आचार्य कहते है। अतएव पुर्वोक्त अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए।

शंका—लब्धि सम्पन्न ऋषियों का दर्शन भी तो प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण होता है अतएव इस कारण को पृथक रुप से क्यों नहीं कहा ?

समाधान—नहीं कहा, क्योंकि, लब्धि सम्पन्न ऋषियों के दर्शन का भी जिन बिम्ब दर्शन में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

(६) मिथ्यादृष्टि मनुष्य मनुष्यनी की संख्या

धवलग्रन्थ पृष्ठ २५३-२६६ पुस्तक नम्बर ३ में लिखा है कि—मनुष्य पर्याप्तों में मिथ्यादष्टि मनुष्य द्रव्य प्रमाण की अपेक्षा कितने हैं ? कोड़ा कोड़ा कोड़ी के ऊपर और कोड़ा कोड़ा कोड़ा कोड़ी के नीचे छह वर्गो के ऊपर और सात वर्गो के नीचे अर्थात् छठवें और सातवें वर्ग के बीच की संख्या प्रमाण मनुष्य पर्याप्त होते हैं। सूत्र नं० ४५ ॥पृष्ठ २५३॥

मनुष्यनियों में मिथ्यादृष्टि जीव, द्रव्य प्रमाण की अपेक्षा कितने हैं ?

कोड़ा कोड़ा, कोडी के ऊपर और कोड़ा कोड़ा कोड़ा कोड़ी के नीचे छठवे वर्ग के ऊपर और सातवें वर्ग के नीचे मध्य की संख्या प्रमाण है ॥ सूत्र नं० ४८ ॥ पृष्ट २६०

यह भाव स्त्री वेद की अपेक्षा से जब गोमट्टसार की टीका में यह प्रमाण द्रव्य वेद की अपेक्षा वतलाया है। गो० जी० १५९ टीका,

मनुष्यनियों में सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर अयोगि केवली गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान मे जीव द्रव्य प्रमाण की अपेक्षा कितने हैं ? सूत्र नं० ४९। पृष्ठ २६१।

सामान्य मनुष्यों में सासादन सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थान प्रतिपन्न जीवों की जो संख्या कही गई है उसके संख्यातवें भाग मनुष्यनियों में सासादन सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थान प्रतिपन्न जीवों का प्रमाण है, क्योंकि, अप्रशस्त वेद के उदय के साथ प्रचुर जीवों का सम्यग्दर्शन का लाभ नहीं होता है।

शंका—यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—नपुंसक वेदी असंयत सम्यग्दृष्टि जीव सबसे स्तोक है। स्त्री वेदी असंयत सम्यग्दृष्टि जीव उनसे असंख्यात गुणे हैं। पुरुष वेदी असंयत सम्यग्दृष्टि जीव उनसे असंख्यात गुणे हैं। इस अल्प बहुत्व के प्रतिपादन करने वाले सूत्र से स्त्री वेदियों के अल्प होने के कारण का स्तोकपना जाना जाता है।

मनुष्य राशि के असंख्यात खण्ड करने पर उनमें से बहु भाग प्रमाण अपर्याप्त मनुष्य हैं। शेष एक भाग के संख्यात खण्ड करने पर उनमें से वहु भाग प्रमाण मनुष्यनि मिथ्यादृष्टि जीव हैं। शेप एक भाग के संख्यात खण्ड करने पर उनमें से वहुत भाग प्रमाण मनुष्य पर्याप्त मिथ्यादृष्टि जीव हैं। पृष्ठ २६४।

असंयत सम्यग्दृष्टि मनुष्यों के प्रमाण से मिथ्यादृष्टि पर्याप्त मनुष्यों का द्रव्य प्रमाण संख्यातगुणा है। गुणाकार क्या है ? संख्यात समय गुणाकार है। इसी प्रकार मनुष्यनियों में भी परस्थान अल्प बहुत्व का कथन करना चाहिए।

नोट—यहाँ पर पर्याप्त अपर्याप्त शब्द है जिससे द्रव्य पुरुष स्त्री का कथन सिद्ध होता है। भाव के कथन में पर्याप्त अपर्याप्त की कोई जरूरत नहीं हैं।

जब धवल ग्रन्थ पृष्ठ ५७६-५७७ पुस्तक नम्बर ७ में लिखा है कि—

मनुष्यनी सबसे स्तोक हैं। सूत्र नं० ८ ॥

मनुष्यों से नारकी असंख्यात गुणे हैं। सूत्र नं० १०। यह कथन खुद्दा बन्ध विसे है जब महादण्डक मे लिखा है कि—

मनुष्य पर्याप्त गर्भोक्रान्तिक सबसे स्तोक है। सूत्र नं० २॥

पर्याप्त मनुष्यों से मनुष्यणी संख्यात गुणी है। सूत्र नं० ३॥

वेद मार्गणा के हिसाब से—पृष्ठ ५५४ पुस्तक नम्बर ७ में लिखा है कि—

वेद मार्गणा के अनुसार पुरुष वेदी सबसे स्तोक है। सूत्र नं० १३०॥

पुरुष वेदियों से स्त्री वेदी संख्यात गुणे हैं। सूत्र नं० १३१॥

स्त्री वेदियों से अपगत वेदी अनन्त गुणे हैं। सूत्र नं० १३२॥

अपगत वेदियों से नपुंसक वेदी अनन्त गुणे हैं। सूत्र नं० १३३॥

(७) ढाई द्वीप और दो समुद्रों के बाहर मनुष्य मानने में क्या बाधा है ?

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४०३-४०४ पुस्तक नंबर १ में लिखा है कि—

शंका—वैर के सम्बन्ध से डाले गये संयत और संयता-संयत आदि मनुष्यों का संपूर्ण द्वीप और समुद्रों में सद्भाव रहा आवे ऐसा मान लेने में क्या हानि है।

समाधान—नहीं, क्योंकि, मानुषोत्तर पर्वत के उस तरफ देवों की प्रेरणा से भी मनुष्यों का गमन नहीं हो सकता है। ऐसा न्याय भी है कि जो स्वतः असमर्थ होता है वह दूसरों के सम्बन्ध से भी समर्थ नहीं हो सकता है। यदि ऐसा न माना जावे तो अति प्रसङ्ग दोष आता है। अतः मनुषोत्तर के उस ओर मनुष्य नहीं पाये जाते हैं।

(८) मनुष्य में उच्च गोत्री कौन है। या नीच गोत्री कौन है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३८८-३८९ पुस्तक नंबर १३ में लिखा है कि—

शंका—उच्च गोत्र का व्यापार कहाँ होना है ? राजादि रूप सम्पदा की प्राप्ति में तो उसका व्यापार होता नहीं है, क्योंकि, उसकी उत्पत्ति सातावेदनीय कर्म के निमित्त से होती है। पांच महाव्रतों को ग्रहण करने की योग्यता भी उच्च गोत्र के द्वारा नहीं की जाती है, क्योंकि, ऐसा मानने पर जो सब देव तथा अभव्य जीव पांच महाव्रत को नहीं धारण कर सकते हैं उनमें उच्च गोत्र का उदय का अभाव ठहरता है। सम्यक्ज्ञान के उत्पत्ति में उस का व्यापार होता है यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, उसकी उत्पत्ति ज्ञानावरण के क्षयोपशम से सहकृत सम्यग्दर्शन से होती है। तथा ऐसा मानने पर भी तिर्यंचों और नारकीयों के भी उच्च गोत्र का उदय मानना पड़ेगा क्योंकि, उनके सम्यक्ज्ञान होता हैं। आदेयता, यश और सौभाग्य की प्राप्ति में इसका व्यापार होता हैं, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, उनकी उत्पत्ति नाम कर्म के निमित्त से होती है। इक्ष्वाकु कुल आदि की उत्पत्ति में इसका व्यापार नहीं है, क्योंकि, वे काल्पनिक है। अतः परमार्थ से उनका अस्तित्व ही नहीं है। इसके अतिरिक्त वैश्य और ब्राह्मण साधुओं में उच्च गोत्र का उदय देखा जाता है। सम्पन्न जनों से जीवों की उत्पत्ति में इसका व्यापार होता है यह कहना भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि, इस तरह तो म्लेच्छ राजा से उत्पन्न बालक के भी उच्च गोत्र का उदय प्राप्त होता है। अणुव्रतियों से जीवों की उत्पत्ति में उच्च गोत्र का व्यापार होता है यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर औपपादिक देवों में उच्च गोत्र का उदय का अभाव प्राप्त होता है तथा

नाभिपुत्र नीच गोत्र ठहरते है। इसलिये उच्च गोत्र निष्फल है, और इसलिये उसमें कर्म पना भी घटित नहीं होता। उसका अभाव होने पर नीच गोत्र का भी अभाव हो जाता हैं, क्योकि, वे दोनों एक दूसरे के अविनाभावी है, इसलिये गोत्र कर्म है ही नहीं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिन वचन के असत्य होने से विरोध आता है। वह विरोध भी वहाँ उसके कारणों के नहीं होने से जाना जाता है। दूसरे केवल ज्ञान के द्वारा विषय किये गये सभी अर्थो में छद्मस्थों के ज्ञान प्रवृत्त भी नहीं होते हैं। इसलिये यदि छद्मस्थों को कोई अर्थ नहीं उपलब्ध होते हैं तो जिन वचन को अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। तथा गोत्र कर्म निष्फल है यह बात भी नहीं है, क्योकि, जिनका दीक्षायोग्य साधु आचार है, साधू आचार वालों के साथ जिन्होंने सम्बन्ध स्थापित किया है, तथा जो "आर्य" इस प्रकार के ज्ञान और वचन व्यवहार के निमित्त है, उन पुरुषों की परम्परा को उच्च गोत्र कहा जाता है। तथा उनमें उत्पत्ति का कारण भूत कर्म भी उच्च गोत्र है। यहां पूर्वोक्त दोष भी नहीं है, क्योंकि, उनके होने में विरोध है।

नोट—इससे सिद्ध होता है कि भरत क्षेत्र के सब मनुष्य उच्च गोत्र ही है, मात्र म्लेच्छ खण्ड के मनुष्य नीच गोत्र हैं। दूसरी बात श्री आदिनाथ ने अणुव्रत धारण नहीं किया है यह भी इससे सिद्ध होता है। आदिनाथ ने अणुव्रत धारण किया है वह बात जो आदि पुराण में है वह भी खण्डन हो जाता है। म्लेच्छ खण्ड वाले जब नीच गोत्री है तब उसकी पुत्रियां जो चक्रवर्ती के साथ सादी कर भरत क्षेत्र में आती है वह अर्जिका एवं उनके साथ जो पुरुष नोकरादि आते हैं वह मुनि बन सकते हैं तब उसी का गोत्र बदल जाता है। यदि संस्कार से गोत्र बदल जावे तो तिर्यंच भी संस्कार से उच्च गोत्री बन सकता है। उदय संस्कार से मिट नहीं सकता है। यह न्याय है। मनुष्य में नीच गोत्र जो कहा गया है वह उपचार से कहा गया है ऐसा सिद्ध होता है। उच्चगोत्र में देव तथा मनुष्य गति ही मिलती हैं यह बात भी गोमट्टसार गाथा २८५ में लिखी है इससे भी प्रतीत होता है कि सब मनुष्य उच्च गोत्री ही हैं परन्तु कार्य की अपेक्षा से व्यवहार में ऊच नीच का भेद है जो भेद परिवर्तन शील है। हरिजन, ईसाई, मुसलिम बन जाते हैं जिसकी साथ में सब प्रकार का स्पर्शादिक का व्यवहार देखा जाता हैं। इससे सिद्ध होता है कि व्यवहार गोत्र परिवर्तन शील है।

म्लेच्छ खण्ड के जीव महाव्रतादि धारण करते हैं या नहीं इस विषय में कषाय पाहुडसूत्त पृष्ठ ६७३, ६७४ पुस्तक १ में लिखा है कि—

मिथ्यात्व को जाने वाले चरम समयवर्ती संयम के जघन्य संयम स्थान सबसे मन्द अनुभाग वाला होता है। इससे उसके ही अर्थात् मिथ्यात्व को जाने वाले जीव के उत्कृष्ट लब्धि साथ अनन्त गुणित है। इससे असंयत सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाले जीव का जघन्य संयम स्थान अनन्त गुणित है। इससे उनका ही उत्कृष्ट संयम स्थान अनन्त गुणित हैं। इससे संयमासंयम को प्राप्त होने वाले जीव का जघन्य संयम स्थान अनन्त गुणित है। इससे उसका ही उत्कृष्ट संयम स्थान अनन्त गुणित है। इससे सयम को प्राप्त होने वाले कर्म भूमिज मनुष्य का जघन्य संयम स्थान अनन्त गुणित हैं। इससे संयम को प्राप्त करने वाले अकर्म भूमिज मनुष्य का जघन्य संयम स्थान अनन्त गुणित है। चु० सूत्र नं० ५१-५८

विशेषार्थ—ऊपर जो अकर्म भूमिज, मनुष्य के संयम लब्धि स्थान बतलाये गये है सो वहां पर अकर्म भूमिज का अर्थ भोग भूमि न करके म्लेच्छ खण्डन करना चाहिये, क्योंकि, म्लेच्छो में साधारणतः

धर्म, कर्म, की प्रवृति न पाई जाने से उन्हें अकर्म भूमिज कहा गया है। अतएव, यहां पर भरत ऐरावत तथा विदेह सम्बन्धी, कर्म भूमि के मनुष्यवर्ती म्लेच्छ खण्डों का ग्रहण करना चाहिये। यहां पर शंका भी की जा सकती है कि, जब—

"धर्म कर्म वहिर्भूता इत्य भी म्लेच्छ का मताः । अन्य थाऽन्यैः समाचारै-रार्यापतैर्न ते समाः ॥ आदिपुराण पर्व ३१ श्लोक १४३ ॥

इस प्रमाण के आधार से म्लेच्छों को धर्म कर्म परान्मुख माना गया है, तो उनके संयम का ग्रहण कैसे हो सकता है? इसका समाधान, जय धवला कार ने यह दिया है कि—"दिर्गविजय के लिये गए हुए चक्रवर्ती के स्कन्धावार (कटकसेना) के साथ जो म्लेच्छ राजादिक आर्य खण्ड में आ जाते है और उनका जो यहां वालों के साथ विवहादि सम्बन्ध हो जाता हं उनके संयम ग्रहण करने में कोई विरोध नहीं है। "अथवा दूसरा समाधान यह भी किया गया है कि" चक्रवर्ती आदि को विवाही गई म्लेच्छ कन्याओं के गर्भ से उत्पन्न हुई सन्तान की मातृ पक्ष की अपेक्षा यहां "अकर्म भूमिज" पद से विवक्षा की गई है क्योंकि इस प्रकार की अकर्म भूमिज सन्तान को दीक्षा लेने की योग्यता का निषेध नहीं पाया जाता है।

(६) मनुष्य सम्यगिमथ्यादृष्टि, संयतासंयत, और संयत गुण स्थान में नियम से पर्याप्तक ही होता है॥ सूत्र नं० ६० ॥

शंका—सूत्र में वताये गये इन सभी गुणस्थान वालों को यदि पर्याप्तपना प्राप्त होता है तो हो, परन्तु जिनकी आहारक शरीर सम्बन्धी छह पर्याप्तियाँ पूर्ण नहीं हुई है ऐसे आहारक शरीर को उत्पन्न करने वाले प्रमत्त गुणस्थानवर्ती जीवों के पर्याप्तपना नहीं बन सकता है। यदि पर्याप्त नाम कर्म के उदय की अपेक्षा आहारक शरीर को उत्पन्न करने वाले प्रमत संयतों को पर्याप्तक कहा जावे सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, पर्याप्त कर्म का उदय प्रमत संयतों के समान असंयत सम्यग्दृष्टियों के भी निवृ त्य पर्याप्त अवस्था में पाया जाता है इसलिए वहाँ पर भी अपर्याप्तपने का अभाव मानना पड़ेगा। संयम की उत्पत्ति रूप अवस्था की अपेक्षा से प्रमत संयत के आहारक की अपर्याप्तक अवस्था में पर्याप्तपना बन जाता है यदि ऐसा कहा जावे सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, इस प्रकार असंयत सम्यग्दृष्टियों के भी अपर्याप्त अवस्था में (सम्यग्दर्शन की अपेक्षा) पर्याप्तपने का प्रसंग आजायगा?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, द्रव्यार्थिक नय की अवलम्बन की अपेक्षा प्रमत संयतों को आहारक शरीर सम्बन्धी छह पर्याप्तियों के पूर्ण नहीं होने पर भी पर्याप्त कहा है।

शंका—उसी द्रव्यार्थिक नय का दूसरी जगह (विग्रह गति सम्बन्धी गुणस्थानों में) आलम्बन क्यों नहीं लिया जाता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वहाँ पर द्रव्यार्थिक नय के निमित्त नहीं पाये जाते हैं।

शंका—तो फिर वहाँ पर द्रव्यार्थिक नय का आलम्बन किस लिए लिया जारहा है?

समाधान—आहारक शरीर सम्बन्धी अपर्याप्त अवस्था को प्राप्त हुए प्रमत संयत की पर्याप्त के साथ समानता का दिखाना ही यहाँ पर द्रव्यार्थिक नय के अवलम्बन कारण है।

शंका—इसकी दूसरे पर्याप्तकों के साथ किस कारण से समानता है?

समाधान—दुःखभाव की अपेक्षा इसकी दूसरे पर्याप्तकों के साथ समानता है। जिस प्रकार

उपपात जन्म, गर्भ जन्म, या संमुर्च्छन जन्म से उत्पन्न हुए शरीरों को धारण करने वालों के दुःख होता है उस प्रकार आहारक शरीर को धारण करने वालों के दुःख नहीं होता है, इसलिए उस अवस्था में प्रमत संयत पर्याप्त है इस प्रकार का उपचार किया जाता है। अथवा पहले अभ्यास की हुई वस्तु के विस्मरण के बिना ही आहारक शरीर का ग्रहण होता है या दुःख के बिना ही पूर्व शरीर (औदारिक) का परित्याग होता है अतएव प्रमत संयत अपर्याप्त अवस्था मे भी पर्याप्त है। इस प्रकार का उपचार किया जाता है। निश्चय नय का आश्रय करने पर तो वह अपर्याप्त ही है। इस प्रकार समुद्घात गत केवली के सम्बन्ध में भी कथन करना चाहिए।

(१०) मनुष्य में आने वाले देव नारकी के जीवों सम्यक्त्व सहित आकर सासादन सहित कैसे निकलते हैं ?

शंका— संख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य व मनुष्य पर्याप्तकों में सम्यक्त्व सहित प्रवेश करने वाले देव और नारकी जीवों का वहाँ से सासादन सम्यक्त्व साथ किस प्रकार निर्गमन होता है ?

समाधान—देव और नारकी सम्यग्दृष्टि जीवों का मनुष्यों में उत्पन्न होकर उपशम श्रेणी का आरोहण करके और फिर नीचे उतर कर सासादन गुणस्थान म जाकर मरने पर सासादन गुणस्थान सहित निर्गमन होता है।

इसी प्रकार सासादन गुणस्थान सहित मनुष्यों में प्रवेश कर सासादन गुणस्थान के साथ ही निर्गमन भी करना चाहिए अन्यथा पल्योपम के असख्यातवें भाग प्रमाण काल के बिना सासादन गुणस्थान की उत्पत्ति बन नहीं सकती, यह बात प्राभृत सूत्र (कषाय प्राभृत) के अभिप्राय के अनुसार कही गई है, परन्तु जीव स्थान के अभिप्राय से सख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्यों में सासादन गुणस्थान सहित निर्गमन सम्भव नही होता, क्योंकि, उपशम श्रेणी से उतरे हुए मनुष्य का सासादन गुणस्थान मे गमन नही माना गया है। किन्तु यहाँ पर अर्थात् सूत्र में चूंकि संख्यात व असंख्यात वर्ष की आयु का उल्लेख छोड़कर कथन किया गया है इससे वह कथन घटित हो जाता है।

भावार्थ—जो जीव देव या नरक गति से मनुष्य भव में सासादन गुणस्थान सहित आया है वह सासादन गुणस्थान सहित ही मनुष्य गति से किस प्रकार निर्गमन कर सकते है। धवलाकार ने वह इस प्रकार बताया है कि देवगति से सासादन गुणस्थान सहित मनुष्य गति मे आकर व पल्योपम के असंख्यातवें भाग का अन्तर काल समाप्त कर उपशम सम्यक्त्वी हो सासादन गुणस्थान में आकर मरण करने वाले जीव के उक्त बात घटित हो जाती है। पर यह बनना केवल असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्यों में, क्योंकि, संख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्यों में उक्त उद्वेलन घात के लिए आवश्यक पल्योपम का असंख्यातवां भाग काल प्राप्त ही नहीं हो सकेगा, यह व्यवस्था भूतबली आचार्य के मतानुसार है। किन्तु कषाय प्राभृत के चूर्णि सूत्रों के कर्ता यतिवृषभाचार्य के मतानुसार सासादन सम्यक्त्व सहित मनुष्य गति में आया हुआ जीव मिथ्यादृष्टि होकर पुनः द्वितीयोपशम सम्यक्त्वी हो उपशम श्रेणी चढ़ पुनः सासादन होकर मर सकता है। किन्तु उपशम श्रेणी से उतर कर सासादन गुणस्थान में जाना भूतवली आचार्य नहीं मानते और इसलिए उनके मत से सम्यक्त्व सहित आकर सासादन सहित व सासादन सहित आकर सासादन सहित मनुष्य गति से निर्गमन करना संख्यात वर्षायुष्कों में सम्भव नहीं है।

मनुष्य और तिर्यंच की आयु बन्ध का आबाधा काल।

तिर्यंचायु और मनुष्यायु का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तीन पल्योपम है। सूत्र नं० २६॥

शंका—आबाधा के साथ निषेकों की उत्कृष्ट स्थिति किस लिये निरूपण की गई ?

समाधान– नहीं, क्योंकि, यहाँ निषेक काल और आबाधा काल परस्पर एक दूसरे के आधीन नहीं है, यह बतलाने के लिये, उस प्रकार से निर्देश किया गया है। अर्थात् आबाधा के साथ निषेकों की उत्कृष्ट स्थित नहीं बतलाई गई है।

इस उपर्युक्त कथन का यह भाव है- उत्कृष्ट आबाधा के साथ जघन्य निषेक स्थिति को आदि करके उत्कृष्ट निषेक स्थिति तक जितनी निषेक स्थितियां हैं वे सब बन्धती हैं। इसी प्रकार एक समय कम, दो समय कम (इत्यादि रूप से उत्तरोत्तर एक एक समय कम करते हुए) असंक्षेपाध्या काल तक उत्कृष्ट आबाधा आदि की प्ररूपणा करनी चाहिये।

शंका—आयु कर्म की आबाधा पूर्व कोटिके त्रीभाग से अधिक क्यों नहीं होती है ?

समाधान—न तो अनेक सागरोपम की आयु स्थिति वाले देव और नारकियों में पूर्व कोटिके त्रीभाग से अधिक आबाधा होती है। क्योंकि उनकी भुज्यमान आयु के छह मास अवशेष रहने पर तथा कम से कम असंक्षेपाध्या काल के अवशेष रहने पर आगामी भव सम्बन्धी आयु के बान्धने वाले उन देव और नारकियो के पूर्व कोटके त्रिभाग से अधिक आबाधा का होना असंभव है। न तिर्यंच और मनुष्यों में भी इससे अधिक आबाधा संम्भव है क्योंकि, उनमे पूर्व कोटसे भव स्थिति का अभाव है।

शंका—भोग भूमियों में असंख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यंच और मनुष्य होते हैं फिर उनके पूर्व कोटिके त्रिभाग से अधिक आबाधा का होना संम्भव क्यों नही है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उनके देव और नारकियों के समान भुज्यमान आयु के छह मास से अधिक होने पर, पर भव संम्बन्धी आयु के बन्ध का अभाव है। अतएव पूर्व कोटिके त्रिभागसे अधिक आबाधा का होना संम्भव नहीं है।

तथा संख्यात वर्ष की आयु वाले भी तिर्यंच और मनुष्य कदलीघात के समय समय प्रति एक एक निषेक के खिरने से जब तक भुज्य और अभुक्त आयु स्थित में भुक्त आयु स्थित के अर्ध प्रमाण से अथवा उससे हीन प्रमाण से भुज्यमान आयु को नहीं कर देते हैं तब तक वह पर भव संम्बन्धी आयु को नहीं बान्धते हैं क्योंकि, यह नियम पारिणामिक है इस लिये आयु कर्म की उत्कृष्ट आबाधा पूर्व कोटिके त्रिभाग से अधिक नहीं होती है ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिये॥ धवल ग्रन्थ पृष्ठ १६९ १७१ पुस्तक नंबर ६

कदलीघात-अकाल मृत्यु

अकाल मृत्यु (कदली घात) किसकी होती है ?

शंका—एक समय अधिक पूर्व कोटि आदि रूप आगे के आयु विकल्पों का कदली घात नहीं होता, किन्तु पूर्व कोटि से नीचे के विकल्पों का ही होता है, यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

समाधान—एक समय अधिक पूर्व कोटि आदि रूप आगे की सब आयु असंख्यात वर्ष प्रमाण मानी जाती है ऐसा अति देश है। इससे जाना जाता है। और कारण के विना आदेश किया नहीं जाता, क्योंकि, कारण के विना आदेश करना अनवस्था दोप आता है। धवल ग्रन्थ पुस्तक नम्बर १० पृष्ठ २२८

कदली घात कब होती है ?

अंतो मुहुत्तेण पुणरवि पर भवियं पुव्वकोडाऊअं बंधदि जलचरेसु ।।४१।।

अर्थ—अन्तर्मुहूत काल द्वारा फिर भी जलचरों में पर भव सम्बन्धी पूर्व कोटि प्रमाण आयु को बांधता है ।।४१।।

पर्याप्तियों का पूर्ण कर चुकने के समय से लेकर जब तक अन्तर्मुहूर्त नहीं बीतता है तब तक कदली घात नही करता है , इस बात का ज्ञान कराने के लिये "अन्तर्मुहूर्त" पद का निर्देश किया है ।

शंका—इसके नीचे भूज्यमान आयु का कदली घात क्यों नही करता ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ऐसा स्वभाव है ।

शंका—कदली घात के विना अन्तर्मुहूर्त काल द्वारा परभविक आयु को नहीं बांधी जाती ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जीवित रहकर जो आयु व्यतीत हुई है उसकी आधी से अधिक आबाधा के रहते हुए पर भविक आयु का बन्ध नहीं होता ।

शंका—जीवित रहकर जो आयु व्यतीत हुई है उसकी आधी या इससे भी कम आबाधा के रहने पर आयु बन्धती है, अधिक में नहीं बन्धती यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

समाधान—'पूर्व कोटि के तृतीय भाग ही आयु की उत्कृष्ट आबाधा होती है' इसका काल विधान सूत्र से जाना जाता है । पृष्ठ २४०-२४१ पुस्तक नं० १०

आयु घात कम से कम कितने काल में होती है ?

शंका—कदली घात से भूज्यमान आयु को नष्ट करने वाले पंचेन्द्रिय तिर्यंच पर्याप्तकों में क्षुद्र भव ग्रहण मात्र काल क्यों नहीं पाया जाता है ?

समाधान—नहीं, पाया जाता है, क्योंकि, पर्याप्तकों में अत्यन्त शीघ्र आयु का घात करने वाले जीव के भी भूज्यमान आयु का अन्तर्मुहूर्त काल से कम में नष्ट होना सम्भव नहीं है ।

शंका—देव और नारकी जीवों में क्षुद्र भव ग्रहण मात्र अथवा अन्तर्मुहूर्त आयु स्थिति क्यों नहीं पायी जाती है ?

समाधान—नहीं पायी जाती, क्योंकि, देव और नारकीयों सम्बन्धी आयु का बन्ध दश हजार वर्ष से कम नही होता और उनकी भूज्यमान आयु का कदली घात भी नही होता । धवल ग्रन्थ पुस्तक नं० ७ पृष्ठ १२४

शरीर व्यय का तीन भेद

अतीत शरीर के तीन भेद हैं । (१) च्युत, (२) च्यावित, (३) त्यक्त

कदली घात मरण के विना कर्म के उदय से झड़ने वाले आयु कर्म के क्षय से पके हुए फल के समान अपने आप पतित शरीर को च्युत शरीर कहते हैं ।

कदली घात के द्वारा आयु के छिन्न हो जाने से छूटे हुये शरीर को च्यावित शरीर कहते हैं । कहा भी है कि—

विस-वेयण-रत्तक्खय-भय-सत्थग्गहण संकिलिस्सेहिं ।
आहारोस्सासाणं णिरोहदो छिज्जदे आउ ।।गो. क. ५७।।

अर्थ—विप के खा लेने से, वेदना से, रक्त का क्षय हो जाने से, तीव्र भय से; शस्त्र घात से, संक्लेश की अधिकता से, आहार और स्वासोच्छ्वास के रुक जाने से आयु क्षीण हो जाती है इससे जो मरण होता है उसे कदली घात मरण कहते हैं।

त्यक्त शरीर तीन प्रकार का है। (१) प्रायोग गमन विधान से छोड़ना, (२) इंगिनी विधान से शरीर छोड़ना, (३) भक्त प्रत्याख्यान विधान से शरीर छोड़ना। इस तरह यह तीन निमित्तों से त्यक्त शरीर के तीन भेद हो जाते है।

अपने और पर की उपकार की अपेक्षा रहित समाधि मरण को प्रायोग गमन विधान कहते हैं।

जिस सन्यास में अपने द्वारा किये गये उपकार की अपेक्षा रहती है, किन्तु दूसरे के द्वारा किये गये वैयावृत्य आदि उपकार की अपेक्षा सर्वथा नहीं रहती उसे इंगनी समाधि कहते है।

जिस संन्यास में अपने और दूसरे के द्वारा किये गये उपकार की अपेक्षा रहती है उसे भक्त प्रत्याख्यान संन्यास कहते है।

शंका—संयम के विनाश के भय से स्वासोच्छ्वास निरोध करके मरे हुए साधु के शरीर का त्यक्त के तीन भेदों में से किस भेद में अन्तर्भाव होता है?

समाधान—ऐसे शरीर का त्यक्त के किसी भी भेद में अन्तर्भाव नहीं होता, क्योंकि, इस प्रकार के मृत शरीर को मंगलपना प्राप्त नहीं हो सकता है।

शंका—जो मंगल शास्त्र का धारक है अर्थात् ज्ञाता है, जिसने महाव्रतों को धारण किया है, चाहे उस साधू ने समाधि से शरीर छोड़ा हो अथवा नही छोड़ा हो, परन्तु उनके शरीर को अमंगल पना कैसे प्राप्त हो सकता है? यदि कहा जावे कि साधूओ मे अयाग्य कार्य करने वाले साधू का शरीर होने से वह अमंगल है, सो ऐसा कहना ठीक नही है, क्योंकि, जो शरीर पहले रत्नत्रय का आधार होने से मंगलपने को प्राप्त हो चुका हैं, उसमे पीछे से भी भूतपूर्व न्याय की अपेक्षा मंगलत्व के स्वीकार कर लेने मे कोई विरोध नही आता हैं। इसलिये, मंगलपने की अपेक्षा संयम के विनाश के भय से स्वासोच्छ्वास के निरोध से छोड़े हुए साधू के शरीर को त्यक्त तीन भेदों में से किसी एक भेद मे ग्रहण करना ही चाहिये? इस शरीर का च्यावित में तो ग्रहण हो नही सकता है, क्योकि, यदि इसका च्यावित में ग्रहण किया जावे तो आहार के निरोध से छूटे हुए त्यक्त शरीर का भी च्यावित में ही अन्तर्भाव करना पड़ेगा? तो ऐसे शरीर को किस भेद में ग्रहण करना चाहिए?

समाधान—मरण की आशा से या जीवन की आशा से अथवा जीवन और मरण इन दोनों की आशा के विना ही कदली घात से छूटे हुए शरीर को च्यावित मरण कहते है। जीवन की आशा से, अथवा मरण की आशा से, अथवा जीवन मरण इन दोनों की आशा विना ही कदली घात व समाधि मरण से रहित होकर छूटे हुए शरीर को च्युत कहते है। आत्म स्वरूप की प्राप्ति के निमित्त, जिसने बहिरंग तथा अंतरंग परिग्रह का त्याग कर दिया हैं, ऐसे साधु के जीवन और मरण की आशा के विना ही कदली घात से अथवा इतर कारण से छूटे हुए शरीर को त्यक्त शरीर कहते हैं। धवल ग्रन्थ पुस्तक १ पृष्ठ २५-२६

नोट—भाव पाहुड गाथा ३२ में लिखा है कि—

अण्णे कुमरणमरणं अणेयजम्मंतराइं मरिओसि।
भावहि सुमरणमरणं जरमरण विणासणं जीव ॥३२॥

अर्थ—है जीव या संसार विषे अनेक जन्मातर विषे अन्य कुमरण मरण जैसे होय तैसे तु मुवा अब तू जा मरण में जन्म मरण का नाश होय ऐसा सुमरण भाव।

इसकी टीका करते १७ प्रकार का मरण लिखा है जिसमें दर्शन वाल का संक्षेप में दो प्रकार का मरण कहा है। इच्छा प्रवृत्त, तथा अनिच्छाप्रवृत्त। अग्निकरी, धूमकरि, शस्त्रकरि, विषकरि, जलकरि, पर्वत के तट के पड़ने करि, अतिशीत उष्ण की बाधाकरि, बंधन करि, क्षुधा तृषा के अवरोध करि, जीभ उपाड़ने करि, विरुद्ध आहार सेवनकरि, बाल अज्ञानी चाहि मरे सो इच्छाप्रवृत मरण है। अर जीवन का इच्छुक होय और मरे सो अनिच्छाप्रवृत मरण है।

यथार्थ में मरण दो प्रकार से होते हैं। (१) उदय मरण, (२) उदीरणा मरण। तीसरे प्रकार से मरण होता ही नही है। हरेक जीवों के अपने-अपने कर्म के साथ अपना ही भाव का उम्बन्ध है। कोई जीव का परजीवों के कर्मो के साथ सम्बन्ध नहीं है, तब पर जीव पर जीवों का मरण जीवन कैसे कर सकता है?

समय सार बन्ध अधिकार में भी लिखा है कि—

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२४७॥

अर्थ—जो पुरुष ऐसा मानते हैं कि मैं पर जावों को मारता हूँ और पर जीवों कर मैं मारा जाता हूं पर मुझे मारतेहै वह पुरुष मोही हैं अज्ञानी हैं और इससे विपरीत ज्ञानी है ऐसा नहीं मानता है।

यह अध्यवसान अज्ञान क्यों है?

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कयं तेसिं ॥२४८॥
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं न हरंति तुहं कह ते मरणं कयं तेहिं ॥२४९॥

अर्थ—जीवों के मरण है वह आयु कर्म के क्षय से होता है ऐसा जिनेश्वर देव ने कहा है सो है भाई तू मानना है कि, मैं पर जीवों को मारता हूं वह अज्ञान है, क्योंकि, उन पर जीवों का आयु कर्म तू नहीं हरता तो तूने उनका मरण कैसे किया?

जीवों का मरण आयु कर्म के क्षय से होना है ऐसा जिनेश्वर देव ने कहा है, परन्तु, है भाई तू ऐसा मानते हैं कि, मैं पर जीवों कर मारा जाता हूँ यह मानना तेरा अज्ञान है, क्योंकि, पर जीव तेरा आयु कर्म नहीं हरते इसलिये उन्होंने तेरा मरण कैसे किया?

अपने परिणाम द्वारा ही अपना आयु कर्म नाश हो सकता है पर जीव भाव करे और अपना आयु कर्म का नाश हो जावे ऐसा सम्वन्ध नहीं है। हमारा भाव के द्वारा ही सत्तर कोड़ा कोड़ी सागरोपम कर्म का नाश कर अन्त कोड़ा कोड़ी रूप हम ही ला सकते हैं, परन्तु, पर जीव भाव करे और अपना कर्म का नाश हो जावे ऐसा सम्बन्ध नहीं है। हरेक जीवों का अपने अपने कर्मो की साथ निमित्त नैमितिक सम्बन्ध है। पर जीवों के कर्मों के साथ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं हैं।

स्वइच्छा से जो मरण होता है उसी का नाम उदीरणामरण है और अन इच्छा पृवृत्त जो मरण होता है वह औदयिक मरण है। ऐसी श्रद्धा रखना चाहिये। अमुक जीव द्वारा अमुक जीव का मरण हुआ

ऐसा कहना लोक व्यवहार है यथार्थ में ऐसा ही मरण होने वाला था। यह औदयिक मरण से ही मरा हुआ है परन्तु अकाल मृत्यु से मरण हुआ नहीं है।

मिथ्यादृष्टि का मरण का नाम कुमरण है सम्यग्दृष्टि का मरण नियम से समाधि मरण ही है। आत्म भान मे शरीर छोडना यही समाधि मरण है। श्रेणिक राजा का मरण अकाल मरण हुआ है तो भी वह समाधि पूर्वक ही मरण है। मरते वक्त आत्म अनुभव जरूर था। जहां आत्म अनुभव सहित मरण होता है वही समाधि मरण है।

जो जीव केवल क्रम बद्ध पर्याय मानते हैं इसी का मुख पर ताला कदली घात के सिद्धान्त से लग जाता है। अबुद्धि पूर्वक भाव क्रमबद्ध है और बुद्धि पूर्वक राग अक्रम है। अबुद्धि पूर्वक भाव से सविपाक निर्जरा होती है और बुद्धि पूर्वक भाव से अविपाक निर्जरा होती हैं। यह दोनों भाव एकी साथ में आत्मा में रह सकता है। जहां अबुद्धि पूर्वक भाव है वहां बुद्धि पूर्वक भाव हो या न भी होय, परन्तु जहां बुद्धि पूर्वक भाव है वहां अबुद्धि पूर्वक भाव नियम से है। अबुद्धि पूर्वक भाव का नाम औदयिक भाव है और बुद्धि पूर्वक भाव का नाम औदीरणा भाव है।

क्रिया कर्म का स्वरूप

तमादाहीणं पदाहिणं तिक्खुत्तं तियणिदं चदुसिरं।
वारसावत्तं तं सव्वं किरिया कम्मं णाम ॥ सूत्र नं० २८ ॥

अर्थ—आत्माधीन होना, प्रदिक्षणा करना, तीन वार करना, तीन वार अवनित, चार वार सिर नवाना, और वारह आवर्त यह सव क्रिया कर्म है। २८ ॥

आत्माधीन होना आदि के भेद से वह क्रिया कर्म छह प्रकार का है। उनमें से क्रिया कर्म करते समय आत्माधीन होना अर्थात् परवश न होना आत्माधीन होना कहलाता है।

शंका—पराधीन भाव से क्रिया कर्म क्यों नहीं किया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उस प्रकार क्रिया कर्म करने वाले के कर्मो का क्षय नहीं होता और जिनेन्द्र देव आदि की आसादना होने से कर्मो का वन्ध होता है।

नोट—आत्माधीन का अर्थ पाप भाव छोड़कर मन्द कषाय रूप से भक्ति आदि भावों से रहना आत्माधीन कहा जाता हैं। जिस जीवों का परिणाम पंचेन्द्रिय विषयों में चल जाता है और क्रिया कर्म करता है उन जीवों को पाप कर्मो की निर्जरा नहीं होती है। परन्तु नवीन पाप कर्मो का वन्ध पड़ता है। क्रिया कर्म से कर्म आता है परन्तु वन्ध या निर्जरा भावों से ही होती है। परिणाम सून्य क्रिया कोई कार्य कारी नहीं है।



देवगति

(१) देवों में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कब होती है ?

पर्याप्तकों में प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करने वाले मिथ्यादृष्टि देव अन्तर्मुहूर्त काल से लेकर ऊपर उत्पन्न करते हैं उससे नीचे के काल में नहीं। सूत्र नं० ३४ ॥

क्योंकि पर्याप्त काल के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल तक तीन प्रकार के करण परिणामों की योग्यता का अभाव पाया जाता है। धवल ग्रन्थ पुस्तक नं० ६ पृष्ठ ४३२।

(२) मिथ्यादृष्टि देव किस कारण से प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति करता है ?

चदुहि कारणेहि पठम सम्मत्त मुप्पाएंति केइं जाइस्सरा, केइं साऊण केइं जिणमहिमं दुट्ठूण केइं देविद्धिदट्ठुणं ॥ सूत्र नं० ३७ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि देव चार कारणों से प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति करते हैं। कितने ही जातिस्मरण से, कितने ही धर्मोपदेश सुनकर, कितने ही जिन महिमा देख कर और कितने ही देवों की ऋद्धि देखकर ॥३७॥

शंका—यहाँ जिनबिम्ब को प्रथम सम्यक्त्व के कारण रूप से क्यों नहीं कहा ?

समाधान—यह दोष नहीं है, क्योंकि, जिनबिम्ब दर्शन का जिनमहिमा दर्शन में ही अन्तर्भाव हो जाता है। कारण कि जिनबिम्ब के विना जिन महिमा की उत्पत्ति बनती नहीं है।

शंका—स्वर्गावतरण, जन्माभिषेक और परिनिष्क्रमण रूप जिन महिमा में जिनबिम्ब के विना की गई देखी जाती है इसलिए जिन महिमा दर्शन में जिनबिम्ब दर्शन का अविनाभावीपना नहीं है ?

समाधान—ऐसी आशंका नहीं करना चाहिए, क्योंकि, स्वर्गावतरण, जन्माभिषेक और परिनिष्क्रमण रूप जिन महिमाओं में भी पाई जिनबिम्ब का दर्शन पाया जाता है। अथवा इन महिमाओं में उत्पन्न होने वाला प्रथम सम्यक्त्व जिनबिम्ब निमित्तक नहीं है, किन्तु जिन गुण श्रवण निमित्तक है।

शंका—देवर्धि दर्शन का जाति स्मरण में समावेश क्यों नहीं होता ?

समाधान—नहीं होता, क्योंकि, अपनी अणिमादिक ऋद्धियों को देखकर जब यह विचार उत्पन्न होता है कि ये ऋद्धियां जिन भगवान् द्वारा उपदिष्ट धर्म के अनुष्ठान से उत्पन्न हुई हैं; तब प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति जाति स्मरण निमित्तक होती है। किन्तु जब सौधर्म इन्द्रादिक देवों की महा ऋद्धियों को देख कर यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि ऋद्धियां सम्यग्दर्शन से युक्त संयम के फल से प्राप्त हुई है, किन्तु मैं सम्यक्त्व से रहित द्रव्य संयम के फल से वाहनादिक नीच देवों में उत्पन्न हुआ हूँ तब प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति देवर्धि दर्शन निमित्तक होता है। इससे जाति स्मरण और देवर्धि दर्शन में प्रथम सम्यक्त्वोत्पत्ति के दोनों कारण एक नहीं हो सकते हैं। तथा जाति स्मरण उत्पन्न होने के प्रथम समय से लगाकर अन्तर्मुहूर्त काल के भीतर ही होता है। किन्तु देवर्धि दर्शन उत्पन्न होने के समय से अन्तर्मुहूर्त काल के पश्चात् ही होता है। इसलिए भी उन दोनों कारणों में एकत्व नहीं है। धवल ग्रन्थ पुस्तक नं० ६ पृष्ठ ४३३-४३४।

(३) नौग्रैवेयिक वासी देव में किस कारण से सम्यक्त्व उत्पन्न होता है ?

दोहि कारणेहि-पठम सम्मत्तमुप्पादेंति केइं जाइस्सरा केइं सोऊणं ॥ सूत्र नं० ४२ ॥

अर्थ—नौग्रैवेयिक विमान वासी मिथ्यादृष्टि देव दो कारणों से प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं। कितने ही जाति स्मरण से और कितने ही धर्मोपदेश सुनकर ॥ ४२ ॥

नौग्रैवेयिकों में महर्द्धि दर्शन नहीं है, क्योंकि, यहाँ ऊपर के देवों के आगमन का अभाव है। यहाँ जिन महिमा दर्शन भी नहीं है, क्योंकि, ग्रैवेयिक विमानवासी देव नन्दीस्वरादिक में महोत्सव देखने नहीं आते।

शंका—ग्रैवेयिक देव अपने विमान में रहते हुए ही अवधि (दर्शन) ज्ञान से जिन महिमाओं को देखते तो हैं, अतएव जिन महिमा का दर्शन भी उनके सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण होता है ऐसा क्यों नहीं कहा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ग्रैवेयिक विमानवासी देव वीतराग होते हैं, अतएव जिन महिमा के दर्शन से उन्हें विस्मय उत्पन्न नहीं होता।

शंका—ग्रैवेयिक विमानवासी देवों के धर्म श्रवण किस प्रकार सम्भव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उनमें परस्पर संलाप होने पर अहमिन्द्रत्व से विरोध नहीं आता अतएव वह संलाप ही धर्मोपदेश रूप से सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण हो जाता है।

विशेषार्थ—तिलोय पगणति में सामान्य से समस्त कल्पवासी देवों के सम्यक्त्वोत्पत्ति के चारों ही कारणों का प्रतिपादन किया गया है और नौग्रैवेयकों में देवर्धि दर्शन छोड़कर शेष कारणों का। धवल ग्रन्थ पुस्तक नं० ६ पृष्ठ ४३६ ॥

(४) भयनत्रीक देव तथा कल्पवासिनी देवियां तीसरा-चौथा गुणस्थान में पर्याप्तक ही होती हैं।

सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में पूर्वोक्त देव देवियां, नियम से पर्यापतक होती हैं ॥ सूत्र नं० ९७ ॥

शंका—सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव की उक्त देव और देवियों में उत्पत्ति न हो यह ठीक है, क्योंकि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के साथ, जीव का मरण ही नहीं होता है, परन्तु यह वात नहीं वनती है कि, मरने वाला असंयत सम्यग्दृष्टि जीव उक्त देव और देवियों में उत्पन्न नहीं होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, सम्यग्दृष्टि की जघन्य देवों में उत्पत्ति नहीं होती है।

शंका—जघन्य अवस्था को प्राप्त नारकियों में तिर्यंचों में उत्पन्न होने वाले सम्यग्दृष्टि जीव उनसे उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त भवन वासी देव और देवियों में तथा कल्पवासिनी देवियों में क्यों नहीं उत्पन्न होते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जो आयु कर्म का वन्ध करते समय, मिथ्यादृष्टि थे और जिन्होंने तदनन्तर सम्यग्दर्शन को ग्रहण किया है ऐसे जीवों की नरकादि गति में उत्पत्ति के रोकने की सामर्थ्य सम्यग्दर्शन में नहीं है।

शंका—सम्यग्दृष्टि जीवों की जिस प्रकार नरक गति आदि में उत्पत्ति होती हैं उसी प्रकार देवों में क्यों नहीं होती है ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, यह बात इष्ट है।

शंका—यदि ऐसा है तो भवनवासी आदि में भी असंयत सम्यग्दृष्टि जीवों की उत्पत्ति प्राप्त हो जायगी ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिन्होंने पहले आयु कर्म का बन्ध कर लिया है ऐसे जीवों के सम्यग्दर्शन का उस गति सम्बन्धी आयु सामान्य की साथ विरोध न होते हुए भी उस गति सम्बन्धी विशेष में उत्पत्ति के साथ विरोध पाया जाता है। ऐसी अवस्था में भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, प्रकीर्णक, आभियोग्य, और किल्विसिक देवों में नीचे के छह (पृथिवी) नरकों में सब प्रकार की स्त्रियों में नपुंसक वेद में, विकलत्रयों में लब्धय पर्याप्तक जीवों में और कर्म भूमिज तिर्यंचों में असंयत सम्यग्दृष्टि का उत्पत्ति के साथ विरोध सिद्ध हो जाता है। इसलिये इतने स्थानों में सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नहीं होता है। धवल ग्रन्थ पुस्तक नम्बर १ पृष्ठ ३३६,

(५) सम्यग्दृष्टि भवनत्रीय देव, देवियाँ तथा सौधर्म ईशान कल्पवासी देवियों में कौनसा भाव है ?

भवनत्रीक देव देवियाँ तथा सौधर्म ईशान कल्पवासी देवियाँ असंयत सम्यग्दृष्टि के कौन सा भाव है ? औपशमिक भी है और क्षयोपशमिक भी हैं ॥ सूत्र नं० २५ ॥ स० सि-१-८

क्योंकि उनमें उपशम सम्यक्त्व और क्षयोपशमिक सम्यक्त्व इन दोनों का ही पाया जाना ही संभव है।

शंका—उक्त भवनत्रीक आदि देव, और देवियों के क्षायिक भाव क्यों नहीं होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, भवनवासी, वानव्यंतर, जोतिष्क देव, द्वितीयादि छह पृथ्वीयों के नारकी सर्व विकलत्रय सर्व लब्धय पर्याप्तक और स्त्री वेदीयों में सम्यग्दृष्टि जीवों को उत्पति नहीं होती है। तथा मनुष्यगति के अतिरिक्त अन्य गतियों में दर्शन मोहनीय कर्म की क्षपणा का अभाव है इसलिये उक्त भवनात्रक आदि देव और देवियों में क्षायिक भाव नहीं होते है। धवलग्रन्थ पृष्ठ ३१६ पुस्तक नं० ५

(६) असंयत सम्यग्दृष्टि देवों में अपर्याप्त काल में औपशमिक सम्यक्त्व कैसे पाया जाता है।

धवलग्रन्थ पृष्ठ ५५६, पुस्तक नम्बर २ में लिखा है कि—

शंका—असंयत सम्यग्दृष्टि देवों के अपर्याप्त काल में औपशमिक सम्यक्त्व कैसे पाया जाता है ?

समाधान—वेदक सम्यक्त्व को उपशमा करके और उपशम श्रेणी पर चढ़कर फिर वहां से उतर कर प्रमत संयत, अप्रमत संयत, असंयत और संयता संयत, उपशम सम्यग्दृष्टि गुण स्थानों में मध्यम तेजो लेश्या को परिणत होकर और मरण करके सौधर्म ईसान कल्पवासी देवों में उत्पन्न होने वाले जीवों के अपर्याप्त काल में औपशमिक सम्यक्त्व पाया जाता है। तथा उपर्युक्त गुणस्थान वर्त्ती जीव उत्कृष्ट तेजो लेश्या को अथवा जघन्य पद्म लेश्या को परिणत होकर यदि मरण करे तो औपशमिक सम्यक्त्व के साथ, सनत्कुमार और महेन्द्र कल्प में उत्पन्न होते हैं। तथा वेही उपशम सम्यग्दृष्टि जीव मध्यम पद्म लेश्या को परिणत होकर यदि मरण करे तो ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर लान्तव, शुक्र और महाशुक्र कल्पो से उत्पन्न होते है। तथा वेही उपशम सम्यग्दृष्टि जीव उत्कृष्ट पद्म लेश्या को

अथवा जघन्य शुक्ल लेश्या को परिणत होकर मरण करे तो उपशम सम्यक्त्व के, साथ, सतार सहस्त्रार, कल्पवासी देवों मे उत्पन्न होते है। तथा उपशम श्रेणी पर चढ़कर के पुनः उत्तर करके मध्यम शुक्ल लेश्या से परिणत होते हुए यदि मरण करते है तो उपशम सम्यक्त्व के साथ, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत और नौ ग्रैवेयक कल्पपासी देवों में उत्पन्न होते हैं। तथा पूर्वोक्त उपशम सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्कृष्ट शुक्ल लेश्या को परिणत होकर यदि मरण करते है तो, उपशम सम्यक्त्व के साथ नौ अनुदाश, और पाँच अनुत्तर विमान वासी देवों में उत्पन्न होते हैं। इसी कारण सौधर्म स्वर्ग से लेकर ऊपर के सभी असंयत सम्यग्दृष्टि देवों के अपर्याप्त काल में औपशामक सम्यक्त्व पाया जाता है।

नोट—यहां पर लेश्या का जो भेद दिखाया है वह उपचार मात्र हैं, लेश्या अनेक प्रकार की होती नहीं है परन्तु लेश्या में कषाय का आरोप कर कथन किया हैं। कषाय में तीव्र, तीव्र तर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, और मन्दतम भेद होने के कारण, लेश्या भी छह प्रकार की मानी गयी है। यथार्थ में लेश्या में शुद्धता आती ही नहीं है। यदि लेश्या में अंश में शुद्धता आती तो लेश्या को क्षयोपशमिक भाव में गणना होनी परन्तु ऐसा न होकर लेश्या को मात्र औदयिक भाव ही माना है जिससें सिद्ध होता है कि लेश्या मे अंश में शुद्धता आती ही नहीं हैं।

(७) नौ अनुदिश और पांच अनुत्तर विमान वासी देवों में पर्याप्त काल में औपशमिक सम्यक्त्व क्यों नहीं होता है ?

शंका—नौ अनुदिश और पांच अनुत्तर विमानों के पर्याप्त काल में औपशमिक सम्यक्त्व किस कारण से नहीं होता है ?

समाधान—नौ अनुदिश और पांच अनुत्तर विमानों में विद्यमान देव तो औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त होते ही नहीं हैं क्योंकि वहां पर मिथ्यादृष्टि जीवों का अभाव है।

शंका—भले ही वहां मिथ्यादृष्टि जीवों का अभाव रहा आवे, किन्तु यदि वहां रहने वाले देव औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करे तो क्या विरोध है ?

समाधान—ऐसा कहना भी युक्ति युक्त नहीं है, क्योंकि, औपशमिक सम्यक्त्व के अनन्तर ही औपशमिक सम्यक्त्व का पुनः ग्रहण करना स्वीकार करने पर अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति के अनन्तर पश्चात् अवस्था में ही मिथ्यात्व का उदय नियम से होता है। किन्तु जिसके द्वितीय तृतीयादिवार उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है उसके औपशमिक सम्यक्त्व के अनन्तर-पश्चात् अवस्था में मिथ्यात्व का उदय भाज्य है अर्थात् कदाचित् मिथ्यादृष्टि होकर के वेदक सम्यक्त्व या उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होता हैं, कदाचित् सम्यग्मिथ्यादृष्टि होकर वेदक सम्यक्त्व को प्राप्त होता है, इत्यादि इस कषाय प्राभृत के गाथा सूत्र के साथ पूर्वोक्त कथन का विरोध आता है। यदि कहा जाय कि, अनुदिश और अनुत्तर विमानों में रहने वाला वेदक सम्यग्दृष्टि देव औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त होते हैं सो भी बात नहीं है, क्योंकि, मनुष्य गति के सिवाय अन्य तीन गतियों में रहने वाले वेदक सम्यग्दृष्टि जीवों के दर्शन मोहनीय के उपशमन करने के कारण भूत परिणामों का अभाव है। यदि कहा जाय कि, वेदक सम्यग्दृष्टि के प्रति मनुष्यों से अनुदिशादि विमानवासी देवों के कोई विशेषता नहीं है, अतएव जो दर्शन मोहनीय के उपशमन योग्य परिणाम मनुष्यों के पाये जाते हैं वह अनुदिश और अनुत्तर विमानवासी देवों में नियम से होना चाहिये। सो भी कहना युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि, संयम को धारण करने की शक्ति

तथा उपशम श्रेणी के समारोहण आदि की योग्यता मनुष्य के ही होने के कारण अनुदिश और अनुत्तर विमानवासी देवों में और मनुष्यों में भेद देखा जाता है। तथा उपशम श्रेणी में मरण करके औपशमिक सम्यक्त्व के साथ देवों में उत्पन्न होने वाले जीव औपशमिक सम्यक्त्व के साथ छह पर्याप्तकों समाप्त नहीं कर पाते हैं, क्योंकि, अपर्याप्त अवस्था में होने वाले औपशमिक सम्यक्त्व के काल से छहों पर्याप्तियों के समाप्त होने का काल अधिक पाया जाता है, इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि, अनुदिश और अनुत्तर विमानवासी देवों के पर्याप्त काल में औपशमिक सम्यक्त्व नहीं होता है। धवल ग्रन्थ पुस्तक नं० २ पृष्ठ ५६६-५६७ एवं यही बात धवल ग्रन्थ पुस्तक नं० १ पृष्ठ ४०७-४०८ में लिखी है कि—

अणुदिस, अणुत्तर, विजय, वइजयंत, जयंतावराजिद सवट्ठ सिद्धि विमाण वासिय देवा असंजद, सम्माइट्ठि ट्ठाणे अत्थि खइय सम्माइट्ठी वेदग सम्माइट्ठी उवस सम्माइट्ठि॥ सूत्र नं० १७१॥

शंका—वहाँ पर उपशम सम्यग्दर्शन का सद्भाव कैसे पाया जाता है?

प्रतिशंका—वहां पर उसका सद्भाव कैसे नहीं पाया जा सकता है?

शंका—वहाँ पर जो उत्पन्न होते हैं उनके क्षायिक और क्षयोपशमिक सम्यग्दर्शन पाया जाता है, इसलिए उनके उपशम सम्यग्दर्शन की उत्पति नहीं हो सकती है। और मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यग्दर्शन को ग्रहण करके वहां पर उत्पन्न नहीं होते हैं, क्योंकि, उपशम सम्यग्दृष्टियों का उपशम सम्यक्त्व के साथ मरण नहीं होता है।

समाधान—नहीं, क्योंकि, उपशम श्रेणी पर चढ़ने वाले और चढ़कर उतरने वाले जीवों की अनुदिश और अनुत्तरों में उत्पत्ति होती है इसलिये यहाँ पर उपशम सम्यक्त्व के सद्भाव रहने में कोई विरोध नहीं आता है।

शंका—उपशम श्रेणी पर आरूढ़ हुए उपशम सम्यग्दृष्टि जीव नहीं मरते हैं, क्योंकि, वे उपशम सम्यग्दर्शन से युक्त हैं। जिस प्रकार अन्य औपशमिक सम्यग्दृष्टियों का मरण नहीं होता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, पश्चात् कृत मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की अपेक्षा तथा अनुपशमित और उपशमित चारित्र मोहनीय की अपेक्षा साधारण उपशम सम्यग्दृष्टियों और उपशम श्रेणी पर चढ़े हुए सम्यग्दृष्टियों में वैधर्म्य है।

(८) शुल्क लेश्या वाले मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि जीवों को औदारिक मिश्र योग में कौनसी लेश्या होती है?

तिर्यंच और मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले परमार्थ के अजानकार और तीव्र लोभ कषाय वाले ऐसे मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि देवों के मरते समय में संक्लेश उत्पन्न हो जाने से तेज, पद्म, शुल्क लेश्या नष्ट होकर कृष्ण, नील और कापोत लेश्याओं में से यथा सम्भव कोई एक लेश्या हो जाती है। किन्तु जो मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले हैं मन्द लोभ कषाय वाले हैं, परमार्थ के जानकार है, और जिन्होंने जन्म मरण के नष्ट करने वाले अरहंत भगवन्त में अपनी बुद्धि को लगाया है ऐसे सम्यग्दृष्टि देवों के चिरंतन (पुरानी) तेज, पद्म, शुल्क लेश्याएं मरण करने के अनन्तर अन्तर्मुहूर्त तक नष्ट नहीं होती है इसलिये शुल्क लेश्या वाले मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि जीवों के औदारिक मिश्र काय योग नहीं होता है। धवल ग्रन्थ पुस्तक नं० २ पृष्ठ ७६४-७६५

(९) वैक्रियिक मिश्र काययोगी सम्यग्मिथ्यादृष्टि की संख्या ?

शंका—सूत्र के विना वैक्रियिक मिश्र काय योगी सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव राशि तिर्यंच सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव राशि से लेकर तीनों राशियों से असंख्यात गुणी हीन है यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—यह कथन आचार्यों के वचन से जाना जाता है।

शका—आचार्यों के वचनों में अनेकान्त है। अर्थात वे अनेक प्रकार के पाये जाते हैं ?

समाधान - यदि वे अनेक प्रकार के पाये जाते हैं तो पाये जाओ इसमें हमारा आग्रह नहीं है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४०७ पुस्तक नं० ३

नोट—सम्यग्मिथ्यात्व अवस्था में मरण होता ही नहीं तो वहां मिश्र काय योग कैसे संभव है ? तो भी उसकी प्ररूपणा की है जिससे यह प्रश्न उठाया गया है। इसी का नाम स्याद्वाद है। गला घोट कर सूत्र की सिद्धि करना।

(१०) देव गति के साथ उद्योत प्रकृति का बन्ध क्यों नहीं होता है ?

शंका—देवगति के साथ उद्योत प्रकृति का बन्ध क्यों नहीं होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, देवगति में उद्योत प्रकृति का उदय का अभाव है। और तिर्यंच गति को छोड़कर अन्य गतियों के साथ उसके बन्ध ने का विरोध है।

शंका—देवों में उद्योत प्रकृति का उदय नहीं होने पर देवों के शरीर में दीप्ति (कान्ति) कहाँ से होती है ?

समाधान—देवों के शरीर में दीप्ति वर्ण नाम कर्म के उदय से होती है।

उद्योत प्रकृति के उदय से उत्पन्न होने वाली देह की दीप्ति अत्यन्त अल्प, प्रायः स्तोक (थोड़े) अवयवों में प्रति नियत और तिर्यंच नाम कर्म के उदय से होती है। इसलिए उद्योत प्रकृति का उदय तिर्यंचों में ही होता है देवों में नहीं, क्योंकि, वैसा मानने में विरोध आता है। धवल ग्रन्थ पुस्तक नं० ६ पृष्ठ १२६

(११) देव कितना क्षेत्र रोककर विक्रिया करते हैं ?

शंका—असंख्यात योजन क्षेत्र को रोककर विक्रिया करने वाले भी देव पाये जाते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, असंख्यात योजन प्रमाण विक्रिया करने वाले देव सामान्य देवों के असंख्यातवें भाग मात्र है। कितने आचार्य ऐसा कहते हैं कि सभी देव अपने अवधिज्ञान के क्षत्र प्रमाण विक्रिया करते हैं। परन्तु उनका यह कहना घटित नही होत हैं, क्योंकि, वैक्रियिक समुद्र घात को प्राप्त हुई राशि "तिर्यग्लोक के संख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्र में रहती है" ऐसा व्याख्यान देखा जाता है। धवल ग्रन्थ पुस्तक नं० ४ पृष्ठ ३८

(१२) देवगति से देवों का अन्तर कितने है ?

भवनवासी, वानव्यन्तर, ज्योतिषि व सौधर्म ईशान कल्पवासी देवों का देवगति से अन्तर कितना है। सूत्र नं० १४॥

कम से कम अन्तर्मुहूर्त काल तक देवों का देव गति से अन्तर हैं॥सूत्र नं० १२॥

सनतकुमार और माहेन्द्र कल्पवासी देवों का देवगति से कितने काल तक अन्तर होता है ? सूत्र नं० १५ ।।

कम से कम मुहूर्त पृथक्त्व काल तक उन देवों का देव गति से अन्तर होता है ।।सूत्र नं० १६।।

क्योंकि, तिर्यंच या मनुष्य आयु को बान्धने वाले सनत्कुमार और माहेन्द्र देवों के तिर्यंच व मनुष्य भव सम्बन्धी जघन्य स्थिति का प्रमाण मुहूर्त पृथक्त्व पाया जाता है। इसी मुहूर्त पृथक्त्व प्रमाण जघन्य तिर्यंच मनुष्य आयु को बान्ध कर तिर्यंचों में व मनुष्यों में उत्पन्न होकर परिणामों के निमित से पुनः सनत्कुमार महेन्द्र देवों की आयु बान्ध कर सनत्कुमार महेन्द्र देवों में उत्पन्न हुए जीवों का मुहूर्त पृथक्त्व जघन्य अन्तर होता है। पृष्ठ १६२।

ब्रह्म ब्रह्मोत्तर व लान्तव कापिष्ट कल्पवासी देवों का देवगति से अन्तर कितने काल तक होता है। सूत्र नं० १८ ।।

कम से कम दिवस पृथक्त्व ब्रह्म ब्रह्मोत्तर और लान्तव कापीष्ट कल्पवासी देवों का अपनी देवगति से अन्तर होता है। सूत्र न० १९ ।।

क्योंकि उक्त देवों द्वारा जो आगामी भव की आयु बान्धी जाती है उसका स्थितिबन्ध दिवस पृथक्त्व से कम होता ही नही है।

शंका—दिवस पृथक्त्व की आयु में तो तिर्यंच व मनुष्य गर्भ में से भी नहीं निकल पाते और इसमें अणुव्रत और महाव्रत भी नही हो सकते। ऐसी अवस्था मे व दिवस पृथक्त्व मात्र की आयु के पश्चात् पुनः देवों में कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि परिणामों के निमित्त से दिवस पृथक्त्व मात्र जीवित रहने वाले तिर्यंच व मनुष्य पर्याप्तक जीवो के देवो में उत्पन्न होने मे कोई विरोध नही आता।

शुक्र-महाशुक्र और सताह-सहस्रार कल्पवासी देवों का देवगतियों से अन्तर कितने काल तक है। सूत्र नं० २१ ।।

कम से कम पक्ष पृथक्त्व काल तक शुक्र-महाशुक्र और सतार-सहस्रार कल्पवासी देवों का देव-गति से अन्तर होता है। सूत्र न० २२ ।।

क्योंकि, उक्त देवों द्वारा बान्धी जाने वाली आयु का जघन्य-बन्ध पक्ष पृथक्त्व से कम नहीं होता।

आनत-प्राणत और आरण-अच्युत कल्पवासी देवों का देवगति से अन्तर कितने काल तक होता है। सूत्र नं० २३ ।।

कम से कम मास पृथक्त्व तक उक्त देवों का देवगति से अन्तर होता है। सूत्र नं० २४ ।।

क्योंकि आनत-प्राणत-आरण व अच्युत कल्पवासी देवों द्वारा बान्धी जाने वाली मनुष्यायु का स्थिति बन्ध कम से कम मास पृथक्त्व से नीचे होती ही नहीं है।

शंका—जब आनत आदि चार कल्पवासी देव मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं तब मनुष्य होकर भी वह गर्भ से लेकर आठ वर्ष व्यतीत हो जाने पर अणुव्रत व महाव्रत को ग्रहण कहने हैं। अणुव्रत व महाव्रतों को ग्रहण न करने वाले मनुष्यों की आनत आदि देवों में उत्पत्ति ही नहीं होती है, क्योंकि, वैसा उपदेश नहीं पाया जाता है। अतएव आनत आदि चार देवों का मास पृथक्त्व अन्तर कहना युक्त नहीं है, उनका अन्तर वर्ष पृथक्त्व होना चाहिएं ?

समाधान—वह इस प्रकार है—अणुव्रत व महाव्रत से संयुक्त ही तिर्यंच व मनुष्य आनत-प्राणत देवों में उत्पन्न हो ऐसा नियम नहीं है, क्योकि ऐसा मानने पर तो तिर्यंच असंयत सम्यग्दृष्टि जीवों का जो छह राजुस्पर्शन बतलाने वाला सूत्र है उसमें विरोध उत्पन्न हो जायगा। (देखो षटखण्डागम जीव-ट्ठाण स्पर्शनानुगम सूत्र २८ व टीका पुस्तक नम्बर ४ पृष्ठ २०७ आदि) और आनत-प्राणत कल्पवासी असंयत सम्यग्दृष्टि देव जब मनुष्यायु की जघन्य स्थिति बाँधते हैं तब वे वर्ष पृथक्त्व से कम की आयु स्थिति नहीं वान्धते है, क्योंकि, महाबन्ध में जघन्य स्थिति बन्ध के काल विभाग में सम्यग्दृष्टि जीवों की आयु स्थिति का प्रमाण वर्ष प्रथक्त्व मात्र प्ररूपित किया गया है। अतः आणत-प्राणत कल्पवासी मिथ्या-दृष्टि देव के मास पृथक्त्व मात्र मनुष्यायु बान्ध कर फिर मनुष्यों में उत्पन्न हो मास पृथक्त्व जीवित रहकर पुनः अन्तर्मुहूर्त मात्र आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच समूर्च्छन पर्याप्त जीवों में उत्पन्न होकर पर्याप्तकं हो संयमा-संयम (अणुव्रत) करके आनतादि कल्पों की आयु वान्ध कर वहां उत्पन्न हुए जीव के सूत्रोक्तं मास पृथक्त्व प्रमाण जघन्य अन्तर काल होता है। पृ० १६४-१६५ पुस्तक नम्बर ७॥

नौ ग्रैवेयक विमानवासी देवों का अन्तर कितने काल तक होता है ? सूत्र नं० २७॥

कम से कम वर्ष पृथक्त्व काल तक नौग्रैवेयक विमानवासी देवों का अन्तर होता है। सूत्र नं०२८

अनुदिश आदि अपराजित पर्यन्त विमानवासी देवों का अन्तर कितने काल तक होता है ? सूत्र नम्बर ३०॥

कम से कम वर्ष पृथक्त्व काल तक अनुदिश आदि अपराजित पर्यन्त विमानवासी देवों का अन्तर होता है। सूत्र नम्बर ३१॥

क्योंकि, सम्यग्दृष्टि जीवों के आयु के जघन्य स्थिति बन्ध भी वर्ष प्रथक्त्व से नीचे नहीं होता है। पृष्ठ १९६ पुस्तक नम्बर ७

(१३) देव और नरक आयु का अबाधा के साथ उत्कृष्ट स्थिति निपेक क्यो नहीं होता है ?

शंका—नरक आयु और देवायु की उत्कृष्ट स्थिति प्ररूपणा में अबाधा के साथ उत्कृष्ट निषेक स्थिति किस लिये नहीं है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यहाँ पर अर्थात् आयु कर्म कीं स्थिति में निषेक स्थिति की अपेक्षा न करके आबाधा की प्रवृति होती है। इस बात का प्ररूपण करना ही उत्कृष्ट स्थिति प्ररूपणा में आवाधा के साथ उत्कृष्ट निषेक स्थिति न कहने का फल है। जिस प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मो की आबाधा निषेक स्थिति के परतत्र है, उस प्रकार की आयु कर्म की आबाधा और निषेक-स्थिति परम्पर एक दूसरे के आधीन नहीं है। यह बात वतलाने के लिये यहाँ पर आयु कर्म की निषेक स्थिति की प्ररूपणा की गई है। इसका यह अर्थ होता है कि पूर्व कोटि वर्ष के त्रिभाग अर्थात तीसरे भाग को आदि करके असंक्षेपाध्धा अर्थात जिससे छोटा (संक्षिप्त) कोई काल न हो, ऐसे आवली के असंख्यात वे भाग प्रमाण काल तक जितने आबाधा काल का विकल्प है उनमें देव और नारकियों के आयु की उत्कृष्ट निषेक स्थिति सम्भव है।

विशेषार्थ—देवायु का बन्ध मनुष्य और तिर्यंच गति में ही होता है। नरक या देवगति में नहीं। और आगामी आयु का बन्ध शीघ्र से शीघ्र भुज्यमान आयु के $\frac{2}{3}$ भाग व्यतीत होने पर तथा अधिक से अधिक मृत्यु के पूर्व होता है। कर्म भूमिज मनुष्य या तिर्यंच की उत्कृष्ट आयु एक कोटि पूर्व वर्ष की है। अतएव देवायु का बन्ध भुज्यमान आयु के $\frac{1}{3}$ भाग शेष रहने पर हो सकता है। और यही काल देवायु का

स्थिति बन्ध उत्कृष्ट आबाधा काल है। मरते समय ही आयु का बन्ध होने से असंक्षेपअध्धारूप जघन्य आबाधा काल प्राप्त होता है। इन दोनों मर्यादा के बीच देवायु की आबाधा के मध्यम विकल्प सम्भव है। भोग भूमि प्राणियों के आगामी आयु का बन्ध आयु के केवल छहमास तथा अन्य मतानुसार नौ मास शेष रहने पर होता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १६६-१६७ पुस्तक नम्बर ६

(१४) सर्वार्थ सिद्धि देव सब अवधिज्ञान सहित ही मनुष्य पर्याय में जन्म लेते हैं।

सर्वार्थ सिद्धि विमान से च्युत होकर मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों के आभिनि बोधिक ज्ञान श्रुत ज्ञान और अवधिज्ञान नियम से होता है। मनः पर्यय ज्ञान उत्पन्न करते है। केवल ज्ञान वे नियम से उत्पन्न करते हैं। उनके सम्यग्मिथ्यात्व नहीं होता किन्तु सम्यक्त्व नियम से होता है। कोई संयमासंयम उत्पन्न करते हैं, किन्तु संयम नियम से उत्पन्न करते है। कोई बल देवत्व उत्पन्न करते है किन्तु वासु देवत्व उत्पन्न नहीं करते हैं। कोई चक्रवर्तित्व उत्पन्न करते हैं कोई तीर्थंकरत्व उत्पन्न करते हैं। वे सव नियम से अन्तकृत होकर सिद्ध होते हैं बुद्ध होते हैं मुक्त होते है परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं और सर्व दुःखो के अन्त होने का अनुभव करते है ॥सूत्र नं० २४३॥

शंका—सर्वार्थ सिद्धि विमान से च्युत होकर मनुष्य होने वाले जीवों के वासुदेवत्व क्यों नहीं होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वासुदेवत्व की उत्पत्ति में उससे पूर्व मिथ्यात्व के अविनाभावी निदान का होना अवश्यंभावी है।

शंका—उनके अवधिज्ञान नियम से होता है सो कैसे ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उनको अननुगामी हीयमान व प्रतिपाती अवधिज्ञानों का अभाव है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ नं० ५००-५०१ पुस्तक नम्बर ६

गुणस्थान अधिकार

मिथ्यात्व गुणस्थान—

(१) पर समय मिथ्यात्व का ही नाम है।

पर समय मिथ्यात्व को कहते हैं। उसका जिस प्राभृत का अनुयोग में वर्णन किया जाता है, प्ररूपण किया जाता है, या विशेष ज्ञान कराया जाता है, उस प्राभृत या अनुयोग को पर समय वक्तव्य कहते हैं। और उसके भाव को अर्थात् उसमें होने वाली विशेषता को पर समय व्यक्तता कहते है। जहां पर स्व समय और पर समय इन दोनों का निरूपण करके पर समय को दोष युक्त दिखलाया जाता है और स्व समय की स्थापना की जाती है उसे तदुभय व्यक्तव्य कहते है और उसके भाव अर्थात उसमें रहने वाली विशेषता को तदुभय व्यक्तता कहते हैं। धवल ग्रन्थ पुस्तक नम्बर १ पृष्ठ ८२

(२) सम्यक्त्व की प्राप्ति कब होती है ? उदीरणा से

जिन प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों को बान्धता हुआ। उन प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों के सत्वस्वरूप होते हुए और उदीरणा किये जाते हुए यह जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है ॥पृष्ठ २०३ पुस्तक नम्बर ६

प्रथमोपशम सम्यक्त्व के प्राप्त करने योग्य जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है यह बात उपचार से प्ररूपणा की गई है। परन्तु यथार्थ से यहाँ पर अर्थात उक्त प्रकार की कर्म स्थिति होने पर नहीं प्राप्त करता हैं, क्योंकि, त्रीकरण अर्थात अधः करण, अपूर्व करण और अनिवृति करण के अन्तिम समय में सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २०४ पुस्तक नम्बर ६

शंका--उदय और उदीरणा में क्या भेद है ?

समाधान—जो कर्म स्कन्ध अपकर्षण, उत्कर्षण आदि प्रयोग के विना स्थिति क्षय को प्राप्त होकर अपना अपना फल देते हैं उन कर्म स्कन्धों की "उदय" यह संज्ञा है। जो महान स्थिति बन्ध और अनुभागों में अवस्थित कर्म स्कन्ध अपकर्षण करके फल देने वाले किये जाते हैं उन कर्म स्कन्धों की "उदीरणा" यह संज्ञा है, क्योंकि, अपक्व कर्म स्कन्ध के पाचन करने को उदीरणा कहा गया है । धवल ग्रन्थ पृष्ठ २१४ पुस्तक नम्बर ६

नोट—उदय में अबुद्धि पूर्वक रागादिक होते हैं और उदीरणा में बुद्धिपूर्वक रागादिक होते हैं । कर्म के उदय के अनुकूल जो आत्म परिणाम होते हैं उस परिणाम को उदय परिणाम कहते हैं । कर्म का उदय कारण है और तदनुसार आत्म परिणाम कार्य है। बुद्धि पूर्वक राग के द्वारा जो कर्म उदयावली में लाया जाता है। उस भाव का नाम भाव उदीरणा और जो कर्म उदीरणा में आते हैं उसी का नाम द्रव्य उदीरणा है। उदीरणा भाव कारण है और तदनुसार कर्मों का उदयावली में आना कार्य है। उदय में कर्म प्रधान है और उदीरणा में आत्म भाव प्रधान है। अबुद्धि पूर्वक भाव में आत्मा पराधीन है और बुद्धिपूर्वक भाव में आत्मा स्वाधीन है। अबुद्धि पूर्वक राग से सविपाक निर्जरा होती है और बुद्धि पूर्वक भाव से अविपाक निर्जरा होती है।

(३) जीव उपाशामक कब कहा जाता है ?

अन्तर करण समाप्त होने के समय से लेकर यह जीव "उपशामक" कहलाता है।

शंका—यदि ऐसा है तो अर्थात अन्तर करण समाप्त होने के पश्चात वह जीव "उपशामक" कहलाता है तो इससे पूर्व अर्थात अधः करणादि परिणामों के प्रारम्भ होने से लेकर अन्तरकरण होने तक उस जीव के उपशामक पने का अभाव प्राप्त होता है ?

समाधान—अन्तरकरण समाप्त होने के पूर्व भी वह जीव उपशामक ही था किन्तु मध्य दीपक करके शिष्यों के प्रति बोधनार्थ "यह दर्शन मोहनीय कर्म का उपशामक है" इस प्रकार यतिवृषभाचार्य ने (अपनी कषाय पाहुड चूर्ण के उपशामना अधिकार में) कहा हैं। इसलिए यह वचन अतीत भाग के उपशामकता का प्रतिबंध नहीं करता है। धवल ग्रन्थ पुस्तक नम्बर ६ पृष्ठ २३३

(४) दर्शन मोह कौन जीव उपशम करता है ?

दंसण मोहस्सु वसामओ दु चदुसु वि गदीसु बोद्धव्वो ।
पंचेदिओ य सण्णी णियमा सो होदि पज्जत्तो ॥२॥
सव्वणिरय-भवणेसु-य समुद्द दीव-गुह जोइस विमाणे ।
अहिजोग्ग-अणहिजोग्गे-उवसामो होदि णायव्वो ॥३॥
उवसामगो- य सव्वो, णिव्वाघादो तहा णिरासाणो ।
उवसंते भजियव्वो णिरासणो चेव खीणम्हि ॥४॥

सायारे पट्ठवश्रो-णिट्ठवश्रो भज्झिमो य भयणिज्जो।
जोगे अण्णदरम्मि दु जहण्णए तेउलेस्साए ॥५॥

अर्थ—दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम करने वाला जीव चारों ही गतियों में जानना चाहिये। वह जीव नियम से पंचेन्द्रिय संज्ञी और पर्याप्तक होता है ॥२॥

इन्द्रक श्रेणी बद्ध आदि सर्व नरकों में, सर्व प्रकार के भवनवासी देवों में, सर्व समुद्रां में, और द्वीपों में, गुहं अर्थात समस्त व्यन्तर देवों में, समस्त ज्योतिष्क देवों में, सौ धर्म कल्प से लेकर नौ ग्रैवेयक विमान तक विमानवासी देवों में आभियोग्य अर्थात वाहनादि कुत्सित कर्म में नियुक्त वाहन देवों मे, उनसे भिन्न किल्विषिक आदि अनुत्तम तथा पारिषद आदि उत्तम देवों में दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम होता है ॥३॥

दर्शन मोहनीय का उपशामक सर्वं ही जीव निर्व्याघात अर्थात उपशर्गादिक के आने से भी विच्छेद और मरण से रहित हो जाते है। तथा निरासान अर्थात सासादन गुण स्थान को नहीं प्राप्त होता हैं, उपशान्त अर्थात उपशम सम्यक्त्व होने के पश्चात भजितव्य है अर्थात सासादन परिणाम को कदाचित प्राप्त होता भी है और कदाचित नहीं भी होता है। उपशम सम्यक्त्व का काल क्षीण अर्थात समाप्त हो जाने पर मिथ्यात्व आदि किसी एक दर्शन मोहनीय प्रकृति का उदय आने मिथ्यात्व आदि भावों को प्राप्त होता है। अथवा दर्शन मोहनीय कर्म के क्षीण हो जाने पर निरासान अर्थात सासादन परिणाम से सर्वथा रहित होता है ॥४॥

साकार अर्थात ज्ञानोपयोगी अवस्था में ही जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व का प्रस्थापक अर्थात प्रारम्भ करने वाला होता है। किन्तु निष्टापक अर्थात उसे सम्पन्न करने वाला मध्य अवस्थावर्ती जीव भजनीय है, अर्थात वह साकार उपयोगी भी हो सकता है और निराकारोपयोगी भी हो सकता है। मनोयोग आदि तीनों योगों में से भी एक योग में वर्तमान जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है। तथा तेजो लेश्या के जघन्य अंश में वर्तमान जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है ॥५॥ धवल ग्रन्थ पुस्तक नम्बर ६ पृष्ठ २३९ जय० ध० अ० पृ० ९५७-९५८ लब्धि ९९-१०१

नोट—यहां पर तेजो लेश्या के जघन्य अंश में वर्तमान जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है वह उपचार का कथन हैं। सब लेश्या में जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। नरक गति में अशुभ ही लेश्याए हैं वहाँ भी सम्यक्त्व की प्राप्ति करता है। जिससे ऐसा वचन को सिद्धान्त कथन न मानकर उपचार कथन मानना चाहिए। परन्तु अज्ञानी जीवों ऐसे कथन को आगम कथन मानने की प्रेरणा करता है यह अन्याय है। सब लेश्या में सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है यह बात धवल ग्रन्थ पृष्ठ २०७ पुस्तक नम्बर ६ में भी लिखी है तब यहाँ कौनसी बात सत्य मानोगे? विचार करने की जरूरत है। उपचार कथन को सिद्धान्त कथन मानना मिथ्याज्ञान है।

(५) सम्यक्त्व की प्राप्ति कैसे होती है। और कौन करे ?

दंसण मोहि उवसामगस्स परिणामो केरिसो भवे।
जोगे कषाय उवजोगे लेस्सा वेदोय का भवे ॥९१॥

अर्थ—दर्शन मोह के उपशामक का परिणाम कैसा होता हैं? किस योग कषाय और उपयोग में वर्तमान किस लेश्या से युक्त और कौन से वेद वाला जीव दर्शन मोह का उपशामक होता है ॥९१॥

चुर्णि सूत्र—दर्शन मोह के उपशामक का परिणाम अत्यन्त विशुद्ध होता है। क्योंकि, वह इसके अन्तर्मुहूर्त पूर्व से ही अनन्तगुणी विशुद्धि से विशुद्ध होता हुआ आरहा है। सूत्र नम्बर ७-८

अन्यतर मनोयोगी, अन्यतर वचन योगी और औदारिक काय योगी या वैक्रियिक काय योगी जीव दर्शन मोह का उपशमन प्रारम्भ करता है। चारों कषायों में से किसी एक कषाय से उपर्युक्त जीव दर्शन मोह के उपशमन का प्रारम्भ करता है। सूत्र नं० ९-१२

शंका—वह वर्धमान कषाय युक्त होती हैं या हीयमान ?

समाधान—नियम से हीयमान कषाय युक्त होता हैं। सूत्र नं० १३

दर्शन मोह का उपशामक जीव नियम से साकारोपयोगी होता है दर्शन मोह का उपशामक के तेज पद्म और शुक्ल लेश्याओं में से नियम से कोई एक वर्धमान लेश्या होती है। तीन वेदों में से कोई एक वेद वाला होता हैं। १४-१६ पृष्ठ ६१४-६१६ कषाय पाहुड सुत्त

काणि वा पुव्व बद्धाणि के वा अंसे णिबधदि।
कदि आवलियं पविसत्ति कदिण्हं वा पवेसगो ॥९२॥

अर्थ—दर्शन मोह के उपशम करने वाले जीव के पूर्व वद्ध कर्म कौन कौन से हैं। और अब कौन कौन से नवीन कर्मांशों को बान्धता है। उपशामक के कौन कौन प्रकृतियाँ प्रवेशक है, अर्थात उदीरणा रूप से उदीयावलो मे प्रवेश कराता है ॥९२॥

चूर्णि सूत्र—यहाँ पर प्रकृति सत्कर्म, स्थिति सत्कर्म, अनुभाग सत्कर्म और प्रदेश सत्कर्म अनुमार्गण करना चाहिए। *अर्थात उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होने वाले जीव के सत्तायोग्य-प्रकृतियों के* संभवा संभव का विचार करना चाहिये ॥२१॥ इस विषय में प्रकृति वन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेश वन्ध की मार्गणा करना चाहिए ॥२२-२३॥

दर्शन मोह का उपशमन करने वाले जीव के सभी मूल प्रकृतियाँ उदयावली में प्रवेश करती है। उत्तर प्रकृतियों में से जो होती है अर्थात जिनका सत्त्व पाया जाता है वे प्रवेश करती है। अन्य नहीं। विशेष इतना जानना कि यदि पर भव सम्बन्धी आयु का अस्तित्व हो तो वह उदयावली में प्रवेश नहीं करती है ॥२४-२७॥ दर्शन मोह का उपशामक जीव सभी प्रकृतियों को उदीरणा करता है। उत्तर प्रकृतियों की उदीरणा करता है। उत्तर प्रकृतियों में से पाँचों ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरणीय मिथ्यात्व, पंचेन्द्रिय जाति, तैजस कार्मण शरीर, वर्ण रस गन्ध, स्पर्श, अगुरूलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, त्रस बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, निर्माण और अन्तराय की पांचों प्रकृतियों का उदीरणा द्वारा नियम से उदयावली में प्रवेश करता है। साता वेदनीय और असाता वेदनीय में से किसी एक का प्रवेश करता है। चारों कषायों में से किसी एक कषाय का तीनों वेदों में से किसी एक वेद का और हास्यादि दो युगलों में से किसी एक युगल का प्रवेश करता हैं। भय और जुगुप्सा का स्यात् प्रवेश करता है। चारों आयु में से किसी एक का प्रवेश करता हैं। चारों गति नामों में से किसी एक का तथा औदारिकागोपांग और वैक्रियिकागोपांग में से किसी एक का प्रवेश करता है। उद्योत का स्यात् प्रवेश करता है। दोनों विहायोगति, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुस्वर, आदेय, अनादेय यशः कीर्ति और अपयशः कीर्ति इन युगलों में से किसी एक का प्रवेश करता है। ऊंचगोत्र और नीच गोत्र में से किसी एक का प्रवेश करता है। २८-३९॥

केऽंसे झयदे पुव्वं बंधेण उदएण वा।
अंतर वा कहिं किच्चा के के उवसामगो ॥९३॥

अर्थ—दर्शन मोह के उपशम काल से पूर्व बन्ध अथवा उदय की अपेक्षा कौन कौन से कर्मांश क्षीण होते हैं। अन्तर को कहाँ पर करता है। और कहाँ पर तथा किन कर्मों का यह उपशामक होता है। ॥९३॥

चूर्णि सूत्र—दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम करने वाले जीव के असाता वेदनीय, स्त्रीवेद, अरति शोक, चारों आयु. नरक गति, पंचेन्द्रिय जाति के विना चार जाति, प्रथम संस्थान के विना पांच संस्थान, प्रथम संहनन के विना पांच सहनन, नरकगति प्रायोग्यानुपूर्वी, आताप, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दूर्भग, दुस्वर, अनादेय और अयशःकीर्ति ये प्रकृतियाँ बन्ध के पहले ही व्युच्छिन्न हो जाती हैं। ४०-४१। पांच दर्शनावरण एकेन्द्रिय आदि चार जाति नाम कर्म, चारों आनुपूर्वी आताप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्यात्त और साधारण इतनी प्रकृतियाँ उदय से व्युच्छिन्न होती हैं। ॥४२॥ (पांचो दर्शनावरण में पाँचों ही निद्रा लेना चाहिए) अधः प्रवृत करण के प्रथम समय में न अन्तर करण होता है न यहाँ पर वह मोह कर्म का उपाशमक ही होता है किन्तु आगे जाकर अनिवृति करण के काल में ये दोनों ही कार्य होंगे ॥४३-४४॥

किं ट्ठिदियाणि कम्माणि अणुभागेसु केसु वा।
अविट्ठ दूण सेसाणि कं ठाणं पडिवज्जदि ॥९४॥

अर्थ—दर्शन मोह का उपशम करने वाला जीव, किस किस स्थिति, अनुभाग, विशिष्ट कौन-कौन से कर्मों का अपवर्तन करके किस स्थान को प्राप्त करता है, और अविशिष्ट कर्म किस स्थिति और अनुभाग को प्राप्त होता है ॥९४॥

चूर्णि सूत्र—स्थिति घात-संख्यात बहु कर्मों का घात करके संख्यातवें भाग को प्राप्त होता है। अनुभाग घात अनन्तर बहु भाग का घात करके अनन्तवें भाग को प्राप्त होता हैं। इसलिए इस अधः प्रवृत करण के चरम समय में वर्तमान जीव के न तो स्थिति घात होता है और न अनुभाग घात होता है। किन्तु तदनन्तर समय में अर्थात् अपूर्व करण के काल में ये दोनों ही घात प्रारम्भ होंगे ॥४५-४८॥ दर्शन मोह का उपशमन करने वाले जीव के तीन प्रकार के करण अर्थात् परिणाम विशेष होते हैं। वे इस प्रकार है—(१) अधः प्रवृत करण (२) अपूर्व करण (३) अनिवृति करण। उक्त जीव के चौथी उपशामनाद्धा भी होती है। ४९-५३॥

तीन करणों का लक्षण कहते हैं—

अधः प्रवृत करण—

अधः प्रवृत करण के प्रथम समय में जघन्य विशुद्धि सबसे कम है। प्रथम समय से द्वितीय समय में जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। समय समय में जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी अन्तर्मुहूर्त तक चलती है। तत्पश्चात् प्रथम समय में उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। जिस समय में जघन्य विशुद्धि समाप्त हो जाती है उससे उपरीम समय में अर्थात प्रथम निर्वर्गणा काण्डक के अन्तिम समय के आगे के समय में जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। प्रथम समय की उत्कृष्ट विशुद्धि से द्वितीय समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। इस प्रकार यह क्रम निर्वर्गणा काण्डक मात्र अन्तर्मुहूर्त

काल प्रमाण अधः प्रवृत करण के अन्तिम समय तक चलता हैं। तत्पश्चात अन्तर्मुहूर्त काल अपसरण करके जिस समय में उत्कृष्ट विशुद्धि समाप्त होती है उससे अर्थात अन्तिम निर्वर्गणा काण्डक के प्रथम समय में उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। इस प्रकार उत्कृष्ट विशुद्धि का क्रम अधः प्रवृत करण के अन्तिम समय तक ले जाना चाहिए ॥५०-६४॥

अपूर्व करण—

अपूर्व करण के प्रथम समय में जघन्य विशुद्धि वक्ष्यमाण पदों की अपेक्षा सबसे कम होती हैं। इसी प्रथम समय में जघन्य विशुद्धि से उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। प्रथम समय की उत्कृष्ट विशुद्धि से द्वितीय समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। द्वितीय समय की जघन्य विशुद्धि से द्वितीय समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी होती हैं। (इस प्रकार यह क्रम अपूर्व करण के अन्तिम समय तक चलता है) अपूर्व करण के काल में समय समय अर्थात प्रति समय असंख्यात लोक प्रमाण परिणामस्थान होता है। इस प्रकार यह क्रम निर्वर्गणा काण्डक तक चलता है ॥६५-७१॥

शंका—निर्वर्गणा काण्डक किसे कहते हैं ?

समाधान—जितने काल आगे जाकर निरुद्ध या विवक्षित समय के परिणामों की अनुकृष्टि विच्छिन्न हो जाती है उसे निर्वर्गणा काण्डक कहते है।

अनिवृति करण—

अनिवृति करण के काल में समय समय में एक एक ही परिणाम स्थान होता है। अर्थात अनिवृति करण काल के जितने समय है उतने ही उसके परिणामों की संख्या होती है। तथा वे उतरोत्तर अनन्तगुणित होती है। अनिवृति करण के प्रथम समय के परिणाम से द्वितीय समय का परिणाम अनन्त गुणी विशुद्धि से युक्त होता है यह क्रम अन्तिम समय तक जानना चाहिये ॥७२-७३॥

अब उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होने वाले अनादि मिथ्यादृष्टि जीव की प्ररूपणा करते हैं। अनादि मिथ्यादृष्टि के अधः प्रवृत करण में स्थिति काण्डक घात, अनुभाग काण्डक घात, गुण श्रेणी और गुण संक्रमण नहीं होता हैं। वह केवल प्रति समय अनन्त गुणी विशुद्धि से विशुद्ध होता हुआ, चला जाता है। यह जीव जिन अप्रशस्त कर्मांशों को बान्धता है उन्हें द्विस्थानीय अर्थात नीम्ब और कांजी रूप और सयय समय अनन्तगुण हीन अनुभाग शक्ति से युक्त ही बान्धता है। जिन प्रशस्त कर्मांशों को बान्धता हैं उन्हें गुड़, शक्कर आदि चतुः स्थानीय और समय समय अनन्तगुणी अनुभाग शक्ति से युक्त बांधता है। अधः प्रवृत करण काल में स्थिति बन्ध का काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है। एक एक स्थिति बन्ध काल के पूर्ण होने पर पल्योपम के संख्यातवें भाग में हीन अन्य स्थिति बन्ध को बान्धता है। इस प्रकार संख्यात सहस्र स्थिति बन्धापसरणों के होने पर अधः प्रवृत करण के काल समाप्त हो जाता हैं ॥७४-७८॥

अपूर्वकरण के प्रथम समय में जघन्य स्थिति खण्ड प्रल्योपमका संख्यातवां भाग है और उत्कृष्ट स्थिति खण्ड सागरोपम पृथक्त्व है। अधः प्रवृत करण के अन्तिम समय में होने वाले स्थिति बन्ध से पल्योपम के संख्यातवें भाग से हीन अपूर्व स्थिति बन्ध अपूर्व करण के प्रथम समय में होता है। अपूर्व करण के प्रथम समय में अनुभाग काण्डक घात, अप्रशस्त प्रकृतियों का अनन्त बहु भाग होता है। विशुद्धि के बढ़ने से प्रशस्त कर्मों की अनुभाग की वृद्धि होती है। पर अनुभाग घात नहीं होता है। ७९ ७१ ॥

अनुभाग के एक प्रदेश गुण हानि स्थानान्तर में; जो अनुभाग सम्बन्धी, स्पर्धक है वे वक्ष्यमाण

पदों की अपेक्षा सवसे कम है। उनसे अति स्थापना के स्पर्धक अनन्त गुणित होते है। अति स्थापना के स्पर्धकों से, निक्षेप सम्वन्धी, स्पर्धक अनन्त गुणित होते हैं। निक्षेप सम्वन्धी, स्पर्धकों से, अनुभाग काण्डक रूप से ग्रहण किये गये स्पर्धक, अनन्त गुणित होते हैं। अपूर्व करण के ही प्रथम समय में, आयु को छोड़कर शेप कर्मो का गुण श्रेणी निक्षेप अनिवृति करण के काल से और अपूर्व करण के काल से विशेप अधिक है। अपूर्व करण में, स्थिति काण्डक का उत्कीरण काल और स्थिति बन्ध का काल ये दोनों तुल्य हैं। एक स्थिति काण्डक के काल में, सहस्रों अनुभाग काण्डकों का घात करता है। स्थिति काण्डक घात के समाम्त होने पर अनुभाग काण्डक घात और स्थिति वन्ध का काल समाप्त हो जाता है। इस प्रकार अनेक सहस्र स्थिति काण्डक घात के व्यतीत हो जाने पर अपूर्व करण का काल समाप्त हो जाता है। अपूर्व करण के प्रथम समय में होने वाले स्थिति सत्व से अपूर्व करण के अन्तिम समय में, स्थिति सत्व संख्यात-गुणित हीन होता है। ८२-९१।

अनुवृति करण के प्रथम समय में अन्य स्थिति खण्ड अन्य स्थिति बन्ध, और अन्य अनुभाग काण्डक घात प्रारम्भ होता है। किन्तु गुण श्रेणी निक्षेप अपूर्व करण के समान प्रति समय असंख्यात गुणित प्रदेशों के विन्यास से विशष्ट और गलिताव शेप रूप ही रहता है। इस प्रकार सहस्रों स्थिति काण्डक घातें के द्वारा अनिवृति करण काल के संख्यात वहु भागों के व्यतीत होने पर उक्त जीव मिथ्यात्व कर्म का अन्तर करता है। ९२-९३॥

उस समय जितना स्थिति बन्ध का काल है उतने काल के द्वारा अन्तर को करता हुआ गुण श्रेणी निक्षेप के अग्राग्र से अर्थात् गुण श्रेणी शीर्ष से लेकर (नीचें) संख्यातवें भाग प्रमाण प्रदेशाग्र को खन्डित करता है। इस प्रकार किया जाने वाला कार्य किया गया अर्थात् अन्तर करण का कार्य सम्पन्न हुआ। अन्तर करण समाप्त होने के समय से लेकर यह जीव "उपशामक" कहलाता है। ९४-९५॥

प्रथम स्थिति से भी, और द्वितीय स्थिति से भी तव तक आगाल-प्रत्यागाल होते रहते हैं। जव तक आवली और प्रत्यावली शेष रहती है। ९७॥

शंका—आगाल किसे कहते हैं ?

समाधान—अपकर्षण के निमित्त से द्वितीय स्थिति के कर्म प्रदेशों के प्रथम स्थिति में आने को आगाल कहते हैं।

शंका—प्रत्यागाल किसे कहते हैं ?

समाधान—उत्कर्षण के निमित्त से प्रथम स्थिति में कर्म प्रदेशों के द्वितीय स्थिति में जाने को प्रत्यागाल कहते हैं।

शंका—प्रत्यावली किसे कहते हैं ?

समाधान—उदयावली से उपर के आवली प्रमाण काल को प्रत्यावली कहते हैं या द्वितीयावली कहते हैं।

आवली और प्रत्यावली के शेष रहने पर उससे आगे मिथ्यात्वकी गुण श्रेणी नहीं होती हैं। किन्तु शेप कर्मो की गुण श्रेणी होती है। उस समय प्रत्यावली से ही मिथ्यात्व कर्म की उदीरणा होती है। आवली अर्थात् उदयावली मात्र प्रथम स्थिति के शेष रह जाने पर मिथ्यात्व कर्म के स्थिति अनुभाग का उदीरणा रूप से घात नहीं होता है। ९८-१०१॥

उपर्युक्त विधान से आवली मात्र अवशिष्ट मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति को क्रम से वेदन करता हुआ उक्त जीव चरम समयवर्ती मिथ्यादृष्टि होता है। और तदनन्तर समय में अर्थात् मिथ्यात्वकी सर्व प्रथम स्थिति को गला देने पर वह दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम करके प्रथमोपशम सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है। तभी ही वह अर्थात् दर्शन मोहनीय कर्म का उपशमन करने के प्रथम समय में ही मिथ्यात्व कर्म के मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्व, और सम्यक्त्व प्रकृति नाम के तीन कर्मांश अर्थात् खण्ड उत्पन्न करता है। प्रथम समयवर्ती उपशम सम्यग्दष्टि जीव मिथ्यात्व से प्रदेशाग्र अर्थात् उदीरणा को प्राप्त कर्म-प्रदेशों को लेकर उनका बहु भाग सम्यग्मिथ्यात्व में देता है और उनसे असंख्यात गुणित हीन प्रदेशाग्र सम्यक्त्व प्रकृति में देता है। इससे द्वितीय समय में सम्यक्त्व प्रकृति में असंख्यात गुणित प्रदेशाग्र देता है। इससे सम्यग्मिथ्यात्व में असंख्यात गुणित प्रदेशाग्र देता है। इससे तीसरे समय में, सम्यक्त्व प्रकृति में, असंख्यात गुणित प्रदेशाग्र देता है। और इससे भी असंख्यात गुणित प्रदेशाग्र सम्यग्मिथ्यात्व में देता है। इस प्रकार अन्त मुहूर्त काल तक गुण संक्रमण होता है। अर्थात् गुण श्रेणी के द्वारा सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व को गुण संक्रमण के अन्तिम समय तक पूरित करता है। असंख्यात गुणित क्रम से कर्म प्रदेशों के संक्रमण को गुण संक्रमण कहते हैं। इस गुण संक्रमण के पश्चात सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग रूप प्रति भाग के द्वारा संक्रमण करता है। इसी का नाम, विध्यान संक्रमण है। जब तक गुण संक्रमण होता है तब तक मिथ्यात्व (और आयु) कर्म को छोड़कर शेष कर्मों का स्थिति घात अनुभाग घात और गुण श्रेणी रूप कार्य होते रहते हैं। १०२-१११ ॥ पृष्ठ ॥ ६१४-६२६ कषाय पाहुड सूत्त पुस्तक १ ॥

दंसण मोहस्सु व सामगो दुच दुसु वि गदीसु बोद्धव्वो ।
पंचदिओ य सण्णी णियमा सा होई पज्जतो ॥ ९५ ॥

अर्थ—दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम करने वाला जीव चारों ही गति में जानना चाहिये, वही जीव नियम से पंचेन्द्रिय संज्ञी, और पर्याप्तक होता है। ९५।

सव्वणिरय भवणेसु-दीप समुद्दे गह जोदिसि विमाणे ।
अभिजोग्ग, अणभिजोग्गे उवसामो होई बोद्धव्वो ॥ ९६ ॥

अर्थ सर्व नरकों में, सर्व प्रकार के भवन वासी देवों में, सर्वद्वीप समुद्रों में, सर्व व्यन्तर देवों में, समस्त ज्योतिष्क देवों में, सौधर्म कल्प से लेकर नवग्रैवेयक पर्यन्त सर्व विमान वासी देवों में, आभियोग्य, अर्थात् वाहनादि, कुत्सित कर्म में नियुक्त वाहन देवों में, उनसे भिन्न किल्विषिक आदि अनुत्तम तथा पारिषद आदि उत्तम देवों में दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम होता है। ९६ ॥

उवसामगो च सव्वो णिव्वाघादो तहा णिरासाणो ।
उवसंते भजियव्वो णीरासाणो य खीणम्मि ॥ ९७ ॥

अर्थ—दर्शन मोह के उपशामक सर्व जीव निर्व्याघात, तथा निरासान होता है। दर्शन मोह के उपशान्त होने पर सासादन भाव भजितव्य है। किन्तु क्षीण होने से निरासान ही रहता है। ९७ ॥

सागारे पट्ठवगो णिट्ठवगो मज्झिमो य भजियव्वो ।
जोगे अण्णदरम्हि य जहण्णगो तेउलेस्साए ॥ ९७ ॥

अर्थ—शाकारोपयोग में, वर्तमान जीव ही, दर्शन मोहनीय कर्म के उपशमन का प्रस्थापक होता

है। किन्तु निष्ठापक और मध्य अवस्थावर्ती भजितव्य है। तीनों योगों में से किसी एक योग में, वर्तमान और तेजोलेश्या के जघन्य अंश को प्राप्त जीव दर्शन मोह का उपशमन करता है। ९८ ॥

नोट—यहाँ जो मूल श्लोक में तेजोलेश्या के जघन्य अंश लिखा है वह उपचार मात्र है अर्थात् वस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं है। सर्व लेश्या में प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। यदि ऐसा न माना जाये तो गाथा नं० ९६ का साथ में विरोध आता है। क्योंकि सर्व नरकों में तेजोलेश्या है ही नहीं, और वहाँ सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है यह दोनों कथन परस्पर विरोधी हैं। धवल ग्रन्थ नं० ६ पृष्ठ २०७ में लिखा है कि—"कृष्णादि छहों लेश्याओं में से किसी एक लेश्या वाला हो, किन्तु यदि अशुभ लेश्या हो तो हीयमान होना चाहिए और यदि शुभ लेश्या हो तो वर्धमान होना चाहिए" इससे भी सिद्ध होता है कि तेजोलेश्या के जघन्य अंश में ही प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। वह यथार्थ वचन नहीं है।

मिच्छत्त वेदणीयं कम्मं उवसामगस्स वोद्धव्वं।
उवसंते आसाणे तेण परं होई भजियव्वो ॥ ९९ ॥

अर्थ—उपशामक के मिथ्यात्व कर्म का उदय जानना चाहिये, किन्तु उपशान्त अवस्था के विनाश होने पर तदनन्तर उसका उदय भजितव्य है। ९९ ॥

सव्वेहिं ट्ठिदि विसेसेहिं उवसंता होंति तिण्णिकम्मंसा।
एक्कम्हि य अणुभागे णियमा सव्वे ट्ठिदिविसेसा ॥ १०० ॥

अर्थ—दर्शन मोह के मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, और सम्यक्त्व प्रकृति ये तीनों कर्मांश दर्शन मोह की उपशान्त अवस्था में सर्व स्थिति विशेषों के साथ उपशान्त रहता है। तथा एक ही अनुभाग में उन तीनों कर्मांशों के सभी स्थिति नियम से अवस्थित रहते हैं।

मिच्छत्त पच्चयो खलु वंधो उवशामगस्स वोद्धव्वो।
उवसंते आसाणे तेण परं होई भजियव्वो ॥ १०१ ॥

अर्थ—उपशामक के मिथ्यात्व प्रत्यय अर्थात् मिथ्यात्व के निमित्त से मिथ्यात्व का और ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का बन्ध जानना चाहिये। किन्तु दर्शन, मोहनीय की उपशान्त अवस्था में, मिथ्यात्व प्रत्ययक बन्ध नहीं होता है। उपशान्त अवस्था के समाप्त होने पर उसके पश्चात मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध भजनीय है। १०१ ॥

सम्मामिच्छाइट्ठी दंसण मोहस्स ऽबंधगो होई।
वेदय सम्माइट्ठी खीणो वि अवंधगो होइ ॥ १०२ ॥

अर्थ—सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव दर्शन मोह का अबन्धक होता है। इसी प्रकार वेदक सम्यग्दृष्टि जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टि, तथा अपि शब्द से सुचित उपशम सम्यग्दृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि जीव भी दर्शन मोह का अबन्धक होता है। १०२ ॥

अंतोमुहुत्तमद्धं सव्व विसमेण होइ उवसंतो।
तत्तो परमुदयो खलु तिण्णे क्कदरस्स कम्मस्सा ॥ १०३ ॥

अर्थ—उपशम सम्यग्दृष्टि जीव के दर्शन मोहनीय कर्म अन्तमुहूर्त काल तक सर्वोपशम से

उपशान्त रहना है। उसके पश्चात नियम से उसके मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति इन तीन कर्मों में से, एक कर्म का उदय हो जाता है। १०३ ॥

सम्मत्तपढमलंभो सव्वोवसमेण तह वियट्ठेण ।
भजियव्वो य अभिक्खं सव्वोवसमेण देसेण ॥ १०४ ॥

अर्थ—अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के, सम्यक्त्व का प्रथम बार लाभ सर्वोपशम से होता है। सादिमिथ्यादृष्टियों में जो विप्र कृष्ट जीव है वह भी सर्वोपशम से ही प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। किन्तु जो अप्रियकृष्ट जीव सादी मिथ्यादृष्टि है और जो अभीक्ष्ण अर्थात बार बार सम्यक्त्व का ग्रहण करना है वह सर्वोपशम, और देश उपशम से भजनीय है अर्थात् दोनों प्रकार से प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होता है। १०४ ॥

सम्मत्तपढमलंभस्सऽणंतरं पच्छदो य मिच्छत्तं ।
लंभस्स अपढमस्स दु भजियव्वो पच्छदो होदि। १०५ ॥

अर्थ—सम्यक्त्व की प्रथम वार प्राप्ति के अनन्तर और पश्चात मिथ्यात्व का उदय होता है। किन्तु अप्रथमवार सम्यक्त्व की प्राप्ति के पश्चात वह भजितव्य है ॥ १०५ ॥ यति वृषाभाचार्य कृत कपाय पाहुड़ सूत्त पृष्ठ ६३०-३६ पु०-१

जिनागम में 'गुण श्रेणी' शब्द बहुत आते हैं। यह 'गुण श्रेणी' भाव निर्जरा का नाम है या द्रव्य निर्जरा का नाम है यह जानने की वड़ी जरूरत है, क्योंकि, द्रव्य निर्जरा को भाव निर्जरा मानना मिथ्यात्व है। ऐसा मिथ्यात्व भाव से वचने के लिये उनका जानना वड़ा ही जरूरी है।

(६) गुणश्रेणी निर्जरा

धवल ग्रन्थ पृष्ठ २८२ पुस्तक नम्बर १० में लिखा है कि—प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति श्रावक, देश विरत, विरत (महाव्रती), अनन्त कर्मांश अर्थात अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन करने वाला, दर्शन मोह का उपशम करने वाला, उपशान्त मोह, चारित्र मोह का क्षय करने वाला, क्षीण मोह और जिन इनके नियम से उत्तरोत्तर सख्यात गुणी श्रेणी रूप से कर्म निर्जरा होती है, किन्तु निर्जरा का काल विपरीत संख्यातगुणित श्रेणी रूप से है ॥१६-१७॥ गाथा—

सम्मत्तुप्पत्ती विय सावय विरदे अणंत कम्मंसे ।
दंसण मोहक्खवए कसाय उवसामए य उवसंते ॥१६॥
खवये य खीणमोहे जिणे य णियमा भवे असंखेज्जा ।
तव्विवरीदो कालो संखेज्जगुणाए सेडीए ॥१७॥

गोमट्टसार जीव काण्ड गाथा ६६-६७ तत्वार्थ सूत्र ६-४५ सूत्र

गुण श्रेणि निर्जरा भाव निर्जरा है या द्रव्य निर्जरा ?

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ७८-७६ पुस्तक नम्बर १२ में लिखा है कि—सम्यक्त्वोत्पति अर्थात सातिशय मिथ्यादृष्टि, श्रावक अर्थात देशव्रती, विरत अर्थात महाव्रती अनन्तानुबन्धी कषाय का विसंयोजन करने वाला, दर्शन मोह का क्षपक, चारित्र मोह का उपशामक, उपशान्त कषाय, क्षपक, क्षीण कषाय और स्व-

स्थान जिन, व योग निरोध में प्रवृत जिन इन स्थानों में उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। परन्तु निर्जरा काल उससे विपरीत अर्थात आगे से पीछे की ओर बढ़ता हुआ है जो संख्यात गुणित श्रेणी रूप है।

शंका—भाव विधान का कथन करते समय ग्यारह गुण श्रेणियों में होने वाली प्रदेश निर्जरा का कथन और उसके काल के कथन किस लिए करते हैं?

समाधान—विशुद्धियों के द्वारा अनुभाग क्षय होता है और उससे प्रदेश निर्जरा होती है इस बात का ज्ञान कराने से जीव और कर्म के सम्बन्ध का कारण अनुभाग ही है इस बात को बतलाने के लिये उक्त कथन किया जारहा है। अथवा द्रव्य विधान में जघन्य स्वामित्व की प्ररूपणा करते हुए गुण श्रेणी निर्जरा की सूचना की गई है। उस गुण श्रेणी निर्जरा का कारण भाव है अतएव यहाँ भाव विधान में उसके विकल्पों का कथन करने के लिए यह कथन किया जाता है।

नोट—उपर्युक्त कथन से सिद्ध होता है कि यह ग्यारह स्थान रूप गुण श्रेणी निर्जरा द्रव्य निर्जरा है परन्तु भाव निर्जरा नहीं है। द्रव्य निर्जरा तो पुन्य भाव से भी होती है। पुन्य भाव करने से पाप प्रकृतियों के परमाणु की निर्जरा हो जाती है एवं पाप भाव करने से पुन्य प्रकृतियों का कर्म परमाणु की निर्जरा हो जाती है इससे आत्म शान्ति नहीं मिलती है आत्म शांन्ति का कारण भाव निर्जरा ही है।

सम्यक्त्वोत्पति अर्थात सातिशय मिथ्या दृष्टि को भाव निर्जरा कैसे हो सकती है? जब तक अनन्तानु बन्धी भाव कषाय का संवर न होवे तब तक भाव निर्जरा सम्भव ही नहीं है अर्थात भाव निर्जरा शरु ही नहीं होती हैं। ऐसा मिथ्यादृष्टि से श्रावक को असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। और श्रावक से महाव्रती छठवाँ, सातवाँ गुणस्थानवर्ती जीवों को असंख्यात गुणी निर्जरा होती हैं। छठवाँ, सातवाँ गुण-स्थानवर्ती मुनिराज से अनन्तानुवन्धी विसंयोजन करने वाले जीव को असंख्यात गुणी निर्जरा होती है और उससे क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवों को असंख्यात गुणी निर्जरा होती है यह सूत्र गाथा कहता है। अब तत्व-दृष्टि से विचार करने से मालूम होता है कि अनन्तानुवन्धी का विसंयोजन तथा क्षायिक सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान में हो जाता है। ऐसा चतुर्थ गुणस्थान वाले जीवों को पंचम तथा छठवाँ, सातवाँ गुण स्थान जैसी आत्म शान्ति अर्थात भाव निर्जरा कैसे हो सकती है? चतुर्थ गुण स्थान में मात्र अनन्तानु वन्धी का संवर हुआ है, जब पंचम गुण स्थान में अनन्तानु वन्धी भाव कषाय तथा अप्रत्याख्यान रूपी भाव कषाय का संवर हुआ है। मुनिराज को अनन्तानु बन्धी अप्रत्याख्यान तथा प्रत्याख्यान भाव कषाय का संवर हुआ है। अर्थात् चतुर्थ गुण स्थान में तीन कषाय का बन्ध पड़ता है, पंचम गुण स्थान में दो कषाय का बन्ध पड़ता है जब मुनिराज को केवल एक संज्वलन भाव कषाय का बन्ध पड़ता है तब विचार करिये कि आत्म शान्ति एवं भाव निर्जरा किसको विशेष होती है? सूत्र के अनुसार यदि कोई जीव श्रद्धा करे कि मुनिराज से चतुर्थ गुण स्थान वाला क्षायिक सम्यग्दृष्टियों को विशेष भाव निर्जरा होती है तो वह मान्यता मिथ्यात्व की ही है। जिस शास्त्र द्वारा अज्ञान का नाश करना था वही शास्त्र द्वारा अज्ञान पुष्ट हो जाते हैं, क्योंकि, वहाँ किस अपेक्षा से कथन किया गया है उसी का ज्ञान नहीं है। वह अपने आत्मा की ही गलती है और अपनी गलती से ही अपना अज्ञान भाव और पुष्ट हुआ है शास्त्र से अज्ञान-पुष्ट हुआ यह कहना व्यवहार का वचन है।

(७) मिथ्यात्व में भाव निर्जरा होती नहीं है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ८१ पुस्तक नम्बर १२ में लिखा हैं।

संयता संयत के उत्कृष्ट गुण श्रेणी गुणाकार की अपेक्षा स्वस्थान संयत का जघन्य गुणाकार असंख्यात गुणा है।

शंका—यतः संयमा संयम रूप परिणाम की अपेक्षा सयंम रूप परिणाम अनन्तगुणा है, अतः संयमा संयम परिणाम की अपेक्षा संयम परिणाम के द्वारा होने वाली प्रदेश निर्जरा भी अनन्तगुणी होनी चाहिये, क्योंकि, इससे दूसरी जगह सर्वत्र कारण के अनुरूप ही कार्य की उपलब्धि होती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, प्रदेश निर्जरा का गुणाकार योग गुणाकार का अनुसरण करने वाला है, अतएव उसके अनन्तगुणे होने में विरोध आता है। दूसरे प्रदेश निर्जरा में अनन्तगुणत्व स्वीकार करना उचित नहीं है, क्योंकि, ऐसा स्वीकार करने पर गुण श्रेणी निर्जरा के दूसरे समय में मुक्ति का प्रसङ्ग आवेगा। तीसरे कार्य कारण का अनुसरण करता ही है ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि, अन्तरंग कारण की अपेक्षा प्रवृत्त होने वाले कार्य के बहिरंग कारण के अनुसरण का नियम नहीं बन सकता।

शंका—सम्यक्त्व सहित संयम और संयमा संयम से होने वाली गुण श्रेणी निर्जरा सम्यक्त्व के विना संयम और संयमा संयम से होती है यह कैसे कहा जा सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यहाँ सम्यक्त्व परिणाम को प्रधानता नहीं दी गई है अथवा संयम वही है जो सम्यक्त्व का अविनाभावी है अन्य नहीं है। क्योंकि, अन्य में गुण श्रेणी रूप कार्य नहीं उपलब्ध होता। इससे संयम के ग्रहण करने से ही सम्यक्त्व सहित संयम की सिद्धि हो जाती है।

नोट—सम्यग्दर्शन बिना भाव निर्जरा कभी भी होती नहीं है। तो भी शास्त्र की अटपटी शाख देकर (श्री भारत दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद द्वारा आयोजित) संयोजक श्रीमान रतनचन्द्र जैन, "मिथ्या दृष्टि को भाव निर्जरा होती है या नहीं ऐसी शंका का क्या समाधान करते हैं देखिये—प्रायोग्य लब्धि अभव्य के भी होती है किन्तु अभव्य के प्रायोग लब्धि में ३४ बन्धापसरण कहे गये हैं वह अभव्य के नहीं होते हैं। इन ३४ बन्धापसरण द्वारा नाना प्रकृतियाँ बन्ध से व्युच्छन्न हो जाती है, अर्थात उनका संवर हो जाता है। या स्थिति बन्ध प्रत्येक बन्धापसरण घटता जाता है। कर्मों की स्थिति व फल देने की शक्ति तो वह कमजोर कर चुका है। करण लब्धि में स्थितिकान्डक घात व गुण श्रेणी निर्जरा के द्वारा सम्यक्त्व के अभिमुख मिथ्यादृष्टि जीव भाव व द्रव्य दोनों प्रकार की निर्जरा करता है। महा बन्ध पुस्तक ३ पत्र ११५-११६ कषाय पाहुड सूत्ते पत्र ६१८ के आधार से यह लिखा गया है कि ३४ बन्धापसरण अभव्य के नहीं होते है। किन्तु लब्धिसार के अनुसार ३४ बन्धापसरण अभव्य के भी होता है। जैन सन्देश पत्र ता० १४-९-५५

देखिये समाधान ? इस समाधान से जीव सम्यक्त्व के सन्मुख आवे या मिथ्यात्व पुष्ट होवे ? पाठक विचार करें ? ये सज्जन मिथ्यात्व अवस्था में संवर भी मानते हैं ? व्युछिन्न का अर्थ वहीं गुणस्थान में बन्ध नहीं रुक जाता है परन्तु आगे के गुण स्थान में जितनी प्रकृतियों व्युछिन्न हुई है इतनी प्रकृतियों का बन्ध रुक जाता है। श्री रतनचन्द जी ने वही गुण स्थान में बन्ध रुक जाता है ऐसा मानकर मिथ्या-दृष्टि को संयम होता है यह लिख दिया।

परमार्थ से विचारा जाय तो, अनन्तानुबन्धी रूप भाव कषाय का अभाव होना वही भाव संवर हैं। भाव संवर हुआ बाद ही भाव निर्जरा होती है। उनके पहले भाव निर्जरा होती ही नहीं है। निर्जरा वर्तमान कषाय में ही होती है। सम्यग्दृष्टि को वर्तमान में अप्रत्याख्यान कषाय रूप भाव असंख्यात लोक

प्रमाण होता है जिन भावों में से जितने भावों की यम रूप अर्थात् जीवन भर का त्याग किया जाता है वह त्याग किया हुआ भाव का नाम भाव निर्जरा है और जो भाव वर्तमान में है उनमें से देव, गुरु और धर्म प्रत्ये का राग है उसी का नाम भाव पुन्य है। और पांच इन्द्रियों के विषय प्रत्ये का राग है वह भाव पाप है। ऐसा जब तक व्यवहार से ज्ञान न करे तब तक वह जीव सम्यक्त्व की सनमुख भी नहीं है। सम्यग्दर्शन होना और बात है।

(८) अपूर्वकरण तथा अधः प्रवृत करण में भाव निर्जरा होती नहीं है।

चूर्णि सूत्र—संयमा संयमलब्धि प्रस्थापक के अपूर्वकरण के प्रथम समय में जघन्य स्थिति काण्डक पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र हैं और उत्कृष्ट स्थिति काण्डक सागरोंपम पृथक्त्व प्रमाण है। अनुभाग काण्डघात अशुभ कर्मो के अनुभाग का अनन्त बहु भाग घात किया जाता है। शुभ कर्मो का अनुभाग घात नहीं होता। यहाँ पर गुण श्रेणी रूप निर्जरा भी नहीं होती है। सूत्र नं० १५-१७ कषाय पाहुड सूत्त पृष्ठ ६६१

नोट—यहां पर संयमा संयमलब्धि का अर्थ इतना ही लेना चाहिये कि जो जीव मिथ्यात्व में से सिधा पंचम गुणस्थान में जाने वाला है उनका कथन है परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव का कथन नहीं है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ २८० पुस्तक नंबर १० में लिखा है कि—

प्रथम सम्यक्त्व और संयम को एक साथ ग्रहण करने वाला मिथ्यादृष्टि अधः प्रवृत करण अपूर्व करण, और अनिवृतिकरण, को करके ही ग्रहण करता है। उनमें से अधः प्रवृत करण में, गुण श्रेणी कर्म निर्जरा और गुण संक्रमण नहीं है। किन्तु अनन्त गुणी विशुद्धि से विशुद्ध होता हुआ ही जाता है। (अर्थात् मन्द, मन्दतर कषाय परिणत करता जाता है।) इस कारण अधः प्रवृत करण में कर्म संचय ही है निर्जरा नहीं है।

नोट—इससे भी सिद्ध होता है कि प्रायोग्य लब्धि रूप परिणाम में तथा अधः करण आदि परिणामों में भाव निर्जरा होती ही नहीं है तो भीं जो जीव भाव निर्जरा मानता है उसी को 'निर्जरा तत्व' का यथार्थ ज्ञान नहीं होने से वह जीव स्थूल मिथ्यादृष्टि ही है।

(९) मिथ्यादृष्टि को अविपाक निर्जरा होती है।

धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४६८ पुस्तक नंबर १२ में लिखा है कि—

यदि उदयगत गौपूच्छा का द्रव्य सर्वत्र अपकर्षण, उत्कर्षण के वश पंचेन्द्रिय सम्बन्धी एक समय प्रबद्ध के असंख्यातवें भाग मात्र होता है। तो वह अपने जघन्य द्रव्य से असंख्यात गुणा होता है। यह क्रम केवल सम्यग्दृष्टि जीवों के ही नहीं होता क्योंकि, अतिशय विशुद्धि युक्त मिथ्यादृष्टियों में भी ऐसा होने में विरोध नहीं है।

शंका—अपकर्षण द्वारा इस प्रकार की निर्जरा होती है यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

समाधान—चूंकि इसके विना चतुः स्थान पतित सूत्र का निर्देश घटित नहीं होता अतः उससे युक्त निर्जरा परिज्ञात होती है।

नोट—मिथ्यादृष्टियों को भी विशुद्ध परिणाम द्वारा द्रव्य निर्जरा होती है। प्रायोग्य लब्धि रूप परिणाम होता है तब सत्तर कोड़ा कोड़ी सागरोपम का बन्ध टूट कर अन्तः कोड़ा कोड़ी की भीतर लाते

तब भी इस प्रकार की अविपाक निर्जरा होती है। अकाम निर्जरा भी इस प्रकार से मिथ्यादृष्टियों को भी होती हैं।

श्रीमान रतनचन्द्र जी को प्रश्न पूछा गया था कि – मिथ्यादृष्टि जीवों को अविपाक निर्जरा होती है या नहीं ? तब समाधान में लिखा है कि मिथ्यादृष्टि को अविपाक निर्जरा नहीं होती है देखिये जैन सन्देश पत्र ता० २४-१-५७, बाद में पूछा गया कि आप, मिथ्यादृष्टि को भाव निर्जरा होती है ऐसा १५-९-५५ के पत्र में स्वीकार करते हो और यहाँ मिथ्यादृष्टि को अविपाक निर्जरा नहीं होती है यह विरोधाभास प्रतीत नहीं होता है ? तब उनने जैन सन्देश पत्र १५-८-५७ में क्या जवाब दिया है वह पाठक के ज्ञान कराने के लिये दिये जाते हैं कि जिनागम में कौनसी कौनसी बात नहीं है ? राजवार्तिक सूत्र ३ अध्याय ९

"पूर्वोपचित कर्म क्षय स्वाविपाक निर्जरा प्रतिज्ञानात् तस्मात्त पोजाती यत्वात् ध्यानानां निर्जरा-कारण प्रसिद्धिः ॥ मिथ्यादृष्टि के धर्म ध्यान या शुक्ल ध्यान संभव नहीं है, अतः मिथ्यादृष्टि के तप द्वारा होने वाली अविपाक निर्जरा नहीं होती।

असाद बंध जोग्गपरिणामो संक्लिे सोणाम ।
विसोही साद बंध जोग्गपरिणामो ॥ १८० ॥ पु० नं० ६

विशुद्धियों के द्वारा अनुभाग क्षय होता है, और उससे प्रदेश निर्जरा अर्थात्, द्रव्य निर्जरा होती है। गुण श्रेणी निर्जरा का कारण भाव है। ये दोनों बातें धवल ग्रन्थ पुस्तक नं० १२ पृष्ठ ७९ में कही गई हैं। सातिशय मिथ्यादृष्टि के विशुद्धि के द्वारा अर्थात् भावों के द्वारा गुण श्रेणी निर्जरा होती है अर्थात् द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की निर्जरा होती है यह बात धवल ग्रन्थ पुस्तक नं० १२ पृष्ठ नं० ७८ से स्पष्ट हो जाती है।

जैन सन्देश २४-१-५७ में तप के द्वारा होने वाली अविपाक निर्जरा का कथन हैं और १५-९-५५ में सातिशम मिथ्यादृष्टि के विशुद्धि के द्वारा होने वाली गुण श्रेणी निर्जरा का कथन है।

देखिये सातिशय मिथ्यादृष्टि को तो, भाव तथा द्रव्य निर्जरा होवे और अन्य मिथ्यादृष्टि को अविपाक रूप द्रव्य निर्जरा भी न होवे पर कहना कहाँ तक सत्य है वह पाठक विचार करें। मिथ्यादृष्टि को अनिवृतिकरण के शेष समय तक भाव निर्जरा नहीं होती है, परन्तु, अविपाक रूप द्रव्य निर्जरा तो मन्द कषाय से एक मुट्ठी चना दान में देने से हो जाती है तप की तो बात दूरकी है। जब तक भाव निर्जरा का ज्ञान नहीं है तब तक वह स्थुल मिथ्यादृष्टि है ऐसा जानना चाहिये।

(१०) मिथ्यात्व कर्म के तीन टुकड़े कब होते हैं ?

मिथ्यात्व कर्म के अनुभाग से सम्यग्मिथ्यात्व कर्म का अनुभाग अनन्त गुणा हीन होता है और सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के अनुभाग से सम्यक्त्व प्रकृति का अनुभाग अनन्त गुणा हीन होता है। ऐसा प्राभृत सूत्र अर्थात् कषाय प्राभृत के चुर्णि सूत्रों में निर्देश किया गया है। तथा उपशम सम्यक्त्व सम्बन्धी काल के भीतर अनन्तानुबन्धी कषाय की विसंयोजन रूप क्रिया के बिना मिथ्यात्व कर्म का स्थिति काण्डक घात और अनुभाग काण्डक घात नहीं होता है, क्योंकि, उस प्रकार का उपदेश नहीं पाया जाता है। इसलिए "अन्तरकरण करके" ऐसा कहने पर काण्डक घात के बिना मिथ्यात्व कर्म के अनुभाग को घातकर और उस सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के अनुभाग रूप आकार से परिणामाकर प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होने के प्रथम समय में ही मिथ्यात्व रूप एक कर्म के तीन कर्मांश अर्थात् भेद या खण्ड उत्पन्न हो जाता है। धवल ग्रन्थ पुस्तक नं० ६ पृष्ठ नं० २३५।

(११) प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख मिथ्यादृष्टि से संयमासंयम में अभिमुख मिथ्यादृष्टि का स्थिति सत्व हीन कैसे होता है ?

प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख चरम समयवर्ती मिथ्यादृष्टि के स्थिति बंध से (और स्थिति सत्व से) संयमासंयम के अभिमुख चरम समयवर्ती मिथ्यादृष्टि का (स्थिति बन्ध और) स्थिति सत्व संख्यात गुणित हीन होता है, क्योंकि, प्रथमोशम सम्यक्त्व को उत्पन्न करने वाले तीनों करण परिणामों की अपेक्षा अनन्तगुणित ऐसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व से संयुक्त संयमासंयम के योग्य तीनों करण परिणामों से यह स्थिति घात प्राप्त हुआ है। वेदक सम्यक्त्व को और संयमासंयम को युगपत प्राप्त होने वाले जीव के दो ही करण होता है, क्योंकि, वहाँ पर अनिवृति करण नहीं होता है।

शंका—अपूर्व करण के अन्तिम समय में वर्तमान इस उपर्युक्त मिथ्यादृष्टि जीव का स्थिति सत्व प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख अनिवृतिकरण के अन्तिम समय में स्थित मिथ्यादृष्टि के स्थिति सत्व से संख्यात गुणित हीन कैसे है ?

समाधान—नही, क्योंकि, स्थिति सत्व का अपवर्तन करके संयमासंयम को प्राप्त होने वाले संयमासंयम के अभिमुख चरम समयवर्ती मिथ्यादृष्टि के संख्यात गुणितहीन स्थिति सत्व के होने में कोई विरोध नहीं है। अथवा वहाँ के अर्थात् प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख मिथ्यादृष्टि के अनिवृतिकरण से होने वाला स्थिति घात बहुत अधिक होता है। तथा यह अपूर्व करण प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख मिथ्यादृष्टि के अपूर्व करण के साथ समान नहीं है, क्योकि, सम्यक्त्व संयम और संयमासंयम रूप फल वाले विभिन्न परिणामों से अनन्त गुणित हीन होते है। ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि, इस बात के प्रतिपादन करने वाले सूत्र का अभाव है।

शंका—इस उपर्युक्त पक्ष की सिद्धि कैसे होती है ?

समाधान—इस प्रथमोशम सम्यक्त्व के अभिमुख चरम समयवर्ती मिथ्यादृष्टि के स्थिति बन्ध और स्थिति सत्व की अपेक्षा चारित्र को प्राप्त होने वाला जीव अन्त: कोड़ा कोड़ी प्रमाण स्थिति को स्थापित करता है। इस सूत्र से उपर्युक्त "संख्यातगुणित हीन स्थिति को स्थापित करता है" इस पक्ष की सिद्धि होती है। धवल ग्रन्थ पुस्तक नम्बर ६ पृष्ठ २६८-२६९।

(१२) प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख तिर्यंच या मनुष्य कौनसी प्रकृतियों का बन्ध करता है ?

सूत्र नं० २—प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच अथवा मनुष्य पांचों ज्ञानावरणीय, नवों दर्शनावरणीय, साता वेदनीय, मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी आदि सोलह कषाय, पुरुषवेद, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा इन प्रवृतियों को बांधता है। आयु कर्म को नहीं बांधता है। देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रियिक शरीर, तैजश शरीर, कार्मण शरीर, समचतुरस्र संस्थान, वैक्रियिक शरीर अंगोपांग, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरु लघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, शुभग, आदेय, यश: कीर्ति; निर्माण, उच्च गोत्र, और पांचों अन्तराय इन प्रकृतियों को बांधता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १३३-१३४ पुस्तक नम्बर ६।

(१३) प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख देव तथा नीचे सातवीं नरक को छोड़कर शेष नारकी जीव कौनसी प्रकृतियों को बांधता है।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख देव अथवा नीचे सातवीं पृथ्वी के नारकी को छोड़कर शेष

नारकी जीव पांचों ज्ञानावरणीय, नवों दर्शनावरणीय, साता वेदनीय, मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी आदि सोलह कषाय, पुरुषवेद, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, इन प्रकृतियों को बांधता है। किन्तु आयु कर्म को नहीं बांधता है। मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, समचतुरस्र संस्थान, औदारिक शरीर अंगोपांग, वज्र ऋषभ नारांच संहनन, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, मनुष्य गति प्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, शुभग, सुस्वर, आदेय, यशः कीर्ति, निर्माण, उच्चगोत्र और पांचों अन्तराय इन प्रकृतियों को बांधता है। सूत्र नम्बर २ धवल ग्रन्थ पृष्ठ १४०-१४१ पुस्तक नम्बर ६।

(१४) प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख सातवीं पृथ्वी का नारकी कौनसी प्रकृतियों को बांधता है ?

प्रथमोशम सम्यक्त्व के अभिमुख ऐसा नीचे सातवीं पृथ्वी का नारकी मिथ्यादृष्टि जीव, पांचों ज्ञानावरणीय, नवों दर्शनावरणीय, साता वेदनीय, मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी आदि सोलह कषाय, पुरुषवेद, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, इन प्रकृतियों को बांधता है। किन्तु आयु कर्म को नहीं बांधता है। तिर्यंच गति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, समचतुरस्र संस्थान, औदारिक शरीर अंगोपांग, वज्रऋषभ नाराच संहनन, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, तिर्यंच गति प्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, इन प्रकृतियों को बांधता है। उद्योत प्रकृति को कदाचित बांधता है कदाचित नहीं बांधता है। प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, शुभग, सुस्वर, आदेय, यशः कीर्ति, निर्माण, नीच गोत्र और पांच अन्तराय इन प्रकृतियों को बांधता है। सूत्र नम्बर २ धवल ग्रन्थ पृष्ठ १४२-४३ पुस्तक नम्बर ६।

(१५) प्रथमोपशम सम्यक्त्व के बाद जो मिथ्यात्व होता है वह अनादि मिथ्यात्व जैसा है या नहीं ?

शंका—अन्तर करने के पूर्व जो पहले का मिथ्यात्व था वही पुनः सम्यक्त्व के उत्तर काल में नहीं होता है, क्योंकि, सम्यक्त्व प्राप्ति के पूर्व काल में वर्तमान मिथ्यात्व की उत्तर काल में अर्थात् सम्यक्त्व छोड़ने के पश्चात् प्रवृति होने का विरोध है। तथा वही मिथ्यात्व उत्तर काल में भी उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि, उत्पन्न हुई वस्तु के पुनः उत्पन्न होने का विरोध है। इसलिए सम्यक्त्व छूटने के पश्चात् होने वाला अन्तिम मिथ्यात्व पहले का मिथ्यात्व नहीं हो सकता है इससे अन्तर का अभाव ही सिद्ध होता है ?

समाधान— यहाँ उक्त शंका का परिहार करते हैं—उक्त कथन सत्य ही है, यदि शुद्ध पर्यायार्थिक नय का अवलम्बन किया जाय। किन्तु नैगम नय का अवलम्बन लेकर अन्तर प्ररूपणा की जा रही है, क्योंकि, वह नैगम नय सामान्य तथा विशेष इन दोनों का विषय करता हैं, इसलिए यह कोई दोष नहीं है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है। अन्तर काल के पहले का मिथ्यात्व और पीछे का मिथ्यात्व, यह दोनों, पर्याय है जो कि अभिन्न है, क्योंकि, मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न होने के कारण आप्त आगम और पदार्थों के अश्रद्धान की अपेक्षा तथा एक ही जीव द्रव्य के आधार होने से उनमें कोई भेद नहीं है, और न पूर्व काल तथा उत्तर काल के भेद की अपेक्षा भी उन दोनों पर्यायों में भेद है, क्योंकि, इस काल भेद की यहाँ विवक्षा नहीं है। इसलिए अन्तर के पहले और पीछे के काल में अविच्छिन्न स्वरूप से स्थित और सामान्य (द्रव्यार्थिक नय) के अवलम्बन मे एकत्व को प्राप्त मिथ्यात्व का सम्यक्त्व पर्याय अन्तर होता है यह सिद्ध हुआ। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३ पुस्तक नम्बर ५

(१६) बन्ध का कारण—

शंका—बन्ध के कारण कौन से हैं, क्योंकि, बन्ध के कारण जाने विना मोक्ष के कारणों का ज्ञान नहीं हो सकता है कहा भी है कि—

जे बंधयरा भावा मोक्खयरा चावि जे दु अज्झप्पे।
जे भावि बंधमोक्खे अकारया ते वि विण्णेया ॥१॥

अर्थ—जो बन्ध के उत्पन्न करने वाले भाव है तथा जो बन्ध और मोक्ष दोनों को नहीं उत्पन्न करने का भाव है और जो मोक्ष को उत्पन्न करने वाला आध्यात्मिक भाव हैं वे सब भाव जानने योग्य हैं। अतएव बन्ध के कारण बतलाना चाहिये।

समाधान—मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग ये चार बन्ध के कारण हैं और सम्यग्दर्शन, संयम, अकषाय और अयोग ये चार मोक्ष के कारण है। कहा भी है कि—

मिच्छत्ता विरदी वि य कसाय जोगा य आसवा होंति।
दंसण विरमण, णिग्गह णिरोहया सवंरा होंति ॥२॥ स० सार ११६

अर्थ—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये कर्मो के आश्रव अर्थात आगमन द्वार है। तथा सम्यग्दर्शन, विषय विरक्ति, कषाय निग्रह और मन वचन काय का निरोध ये संवर अर्थात कर्मो के निरोधक है।

शंका—यदि ये मिथ्यात्व आदि चार बन्ध के कारण है तो—

ओदइया बंधयरा, उवसम, खय, मिस्सया य मोक्खयरा।
भावो दु पारिणामिओ करणो भय वज्जियो होदि ॥३॥

अर्थ—औदयिक भाव बन्ध करने वाला है, औपशमिक, क्षायिक तथा क्षयोपशमिक भाव मोक्ष के कारण है तथा पारिणामिक भाव बन्ध और मोक्ष दोनों के कारण से रहित है ॥३॥

इस गाथा के साथ विरोध उत्पन्न होता है ?

समाधान—विरोध नहीं उत्पन्न होता है, क्योंकि, "औदयिक भाव बन्ध के कारण हैं" ऐसा कहने पर औदयिक भावों का ग्रहण नहीं समझना चाहिए।

क्योंकि, वैसा मानने पर गति, जाति, आदि नाम कर्म सम्बन्धी औदयिक भावों को भी बन्ध के कारण होने का प्रसङ्ग आ जायगा।

शंका—देव गति के उदय के साथ भी तो कितनी ही प्रकृतियों का बन्ध होना देखा जाता है फिर उनका कारण देवगति का उदय नहीं होता ?

समाधान—उनका कारण देवगति का उदय नहीं होता, क्योंकि, देवगति के उदय के अभाव में नियम से उनके बन्ध का अभाव नहीं पाया जाता। जिससे अन्वय और व्यतिरेक के साथ नियम से जिसके अन्वय और व्यतिरेक पाये जावे वह उसका कार्य और दूसरा कारण होता है। इस न्याय से मिथ्यात्व आदिक ही बन्ध के कारण हैं।

इन कारणों में मिथ्यात्व, नपुंसक वेद, नरकायु, नरकगति, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतु-

रिन्द्रिय, आताप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, हुँडक संस्थान, असं प्राप्त सृपाटि का शरीर संहनन, नरकगति प्रायोग्यानु पूर्वी, इन सौलह प्रकृतियों के बन्ध का मिथ्यात्वोदय कारण है, क्योंकि, मिथ्यात्वोदय के अन्वय और व्यतिरेक के साथ इन सोलह प्रकृतियों के बन्ध का अन्वय और व्यतिरेक पाया जाता है।

(१) निद्रा-निद्रा (२) प्रचला-प्रचला (३) स्त्यानगृद्धि (४) अनन्तानुबन्धी क्रोध (५) मान (६) माया (७) लोभ (८) स्त्री वेद (९) तिर्यंचायु (१०) तिर्यंचगति (११) न्यग्रोध (१२) स्वाति (१३) कुब्जक (१४) वामन शरीर संस्थान (१५) वज्रनाराच (१६) नाराच (१७) अर्ध नाराच (१८) कीलित संहनन (१९) तिर्यंचगति प्रायोग्यानु पूर्वी (२०) उद्योत (२१) अप्रशस्त विहायोगति (२२) दुर्भग (२३) दुस्वर (२४) अनादेय (२५) नीच गोत्र इन पच्चीस प्रकृतियों के बन्ध का अनन्तानु बन्धी चतुष्क का उदय कारण है, क्योंकि, उसी के उदय के अन्वय और व्यतिरेक के साथ इन प्रकृतियों का भी अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है।

(१) अप्रत्याख्यानावरण क्रोध (२) मान (३) माया (४) लोभ (५) मनुष्यायु (६) मनुष्यगति (७) औदारिक शरीर (८) औदारिक शरीर अंगोपांग (९) वज्रऋषभ संहनन (१०) मनुष्यगति प्रायोग्यानु पूर्वी इन दस पक्रृतियों के बन्ध का अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क का उदय कारण है, क्योंकि, उसके उदय के विना इन प्रकृतियों का बन्ध नहीं पाया जाता हैं।

(१) प्रत्याख्यानावरण क्रोध (२) मान (३) माया (४) लोभ इन चार प्रकृतियों के बन्ध का कारण इन ही का उदय है, क्योंकि, अपने उदय के विना इनका बन्ध नहीं पाया जाता।

(१) असाता वेदनीय (२) अरति (३) शोक (४) अस्थिर (५) अशुभ (६) अयशः कीर्ति इन छह प्रकृतियों के वन्ध का कारण प्रमाद है, क्योंकि, प्रमाद के विना इन प्रकृतियों को वन्ध नहीं पाया जाता है।

शंका—प्रमाद किसे कहते हैं।

समाधान—चार संज्वलन कषाय और नौ नोकषाय इन तेरह के तीव्र उदय का नाम प्रमाद है।

शका—पूर्वोक्त चार बन्ध के कारणों में प्रमाद का कहां अन्तर्भाव होता है ?

समाधान—कषायों में प्रमाद का अन्तर्भाव होता है, क्योंकि, कषायों से पृथक प्रमाद पाया नहीं जाता है।

देवायु के वन्ध का भी कषाय कारण है, क्योंकि, प्रमाद के हेतु भूत कषाय के उदय के अभाव से अप्रमत होकर मन्द कपाय के उदय रूप सें परिणत हुए जीव के देवायु के बन्ध का विनाश पाया जाता है। निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों के भी बन्ध का कारण कषायोदय ही हैं, क्योंकि, अपूर्व करण काल के प्रथम सप्तम भाग में संज्वलन कषायों के उस काल के योग्य तीव्रोदय होने पर इन प्रकृतियों का बन्ध पाया जाता है।

(१) देवगति (२) पंचेन्द्रिय जाति (३) वैंकियिक (४) आहारक (५) तेजस (६) कार्मण शरीर (७) समचतुरस्र संस्थान (८) वैक्रियिक शरीर अंगोपांग (९) आहारक शरीर अंगोपांग (१०) वर्ण (११) गन्ध (१२) रस (१३) स्पर्श (१४) देवगति प्रायोग्यानु पूर्वी (१५) अगुरु लघु (१६) उपघात (१७) परघात उच्छ्वास (१९) प्रशस्त विहायोगति (२०) त्रस (२१) बादर (२२) पर्याप्त (२३) प्रत्येक शरीर (२४) स्थिर (२५) शुभ (२६) सुभग (२७) सुस्वर (२८) आदेय (२९) निर्माण (३०) तीर्थंकर इन तीस प्रकृतियों के भी बन्ध का कारण कषायोदय है, क्योंकि, अपूर्व करण काल के सात भागों में से प्रथम छह भागों के अन्तिम समय में मन्दतर कषायोदय के साथ इनका बन्ध पाया जाता है।

(१) हास्य (२) रति (३) भय (४) जुगुप्सा इन चार के वन्ध का अधः प्रवृत और अपूर्व करण सम्वन्धी कपायोदय कारण है, क्योंकि, उन्हीं दोनों परिणामों के काल सम्वन्धी कपायोदय में ही इन प्रकृतियों का वन्ध पाया जाता है।

चार संज्वलन कपाय और पुरुष वेद इन पांच प्रकृतियों के वन्ध का कारण वादर कपाय है, क्योंकि, सूक्ष्म कषाय गुण स्थान में इनका बन्ध नही पाया जाता। पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, यशः कीर्ति, उच्चगोत्र और पांच अन्तराय इन सोलह प्रकृतियों का सामान्य कषायोदय कारण है, क्योंकि, कपायों के अभाव में इन प्रकृतियों का वन्ध नहीं पाया जाता है।

साता वेदनीय के वन्ध का योग ही कारण है, क्योंकि, मिथ्यात्व असंयम और कषाय इनका अभाव होने पर भी एकमात्र योग के साथ ही इस प्रकृति का वन्ध पाया जाता हे और योग के अभाव में इस प्रकृति का वन्ध नहीं पाया जाता है।

इनके अतिरिक्त वन्ध योग प्रकृतियाँ कोई नहीं है जिससे कि उनका कोई अन्य कारण हो।

शंका—असंयम भी वन्ध का कारण कहा गया है सो यह किन प्रकृतियों के वन्ध का कारण होता है ?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, संयम के घातक कपाय रूप चारित्र मोहनीय कर्म के उदय का नाम ही असंयम है।

शंका—यदि असंयम कषायों में अन्तर्भूत होता है तो फिर उसका पृथक उपदेश किस लिए किया जाता है ?

समाधान—यह कोई दोप नहीं हैं, क्योंकि, व्यवहार नय की अपेक्षा से उसका पृथक उपदेश किया गया है। वन्ध कारणों की यह प्ररुपणा पर्यायार्थिक नय का आश्रय करके की गयी है। पर द्रव्यार्थिक नय का अवलम्वन करने पर तो बन्ध का कारण केवल एक ही है, क्योंकि, कारण चतुष्क के समूह से ही वन्ध रूप कार्य उत्पन्न होता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ९-१३ पुस्तक नम्वर ७।

नोट—पांच भावों में केवल औदयिक भाव को ही वन्ध का कारण माना है और उपशम क्षायिक तथा क्षयोपशम भाव को मोक्ष का कारण माना है। यह भी उपचार का कथन है। औदयिक भाव ही बन्ध का कारण नहीं है। एवं क्षयोपशमिक भाव मोक्ष का कारण नहीं है। औदयिक भाव में गति, अज्ञान, असिद्धत्व आदि वन्ध का कारण नहीं है। एवं संयमासंयम, असंयम, संयम यह क्षयोपशमिक भाव भी मोक्ष का कारण नहीं है। श्रद्धा गुण, चारित्र गुण तथा योग गुण का विकार ही वन्ध का कारण है। यह गुण का विकार औदयिक भाव से परिणमन करे या मिस्र भाव से परिणमन करे इससे नियम से वन्ध होगा ही ऐसी श्रद्धा करना चाहिए। परन्तु मिस्र भाव को मोक्ष का कारण माने तो यह मान्यता अज्ञान है। मिश्र भाव में अंश में शुद्धता है वह तो मोक्ष का कारण है परन्तु जितना अंश अशुद्धता है वह मोक्ष का कारण कैसे हो सकती है ? यह तो वन्व का ही कारण है। ऐसी श्रद्धा कार्य कारणी है।

(१७) मिथ्या ज्ञान से वन्ध होता है ! ज्ञानावरणीय कर्म बन्ध का कारण।

अब्भक्खाण-कलह-पेसुण्ण-रइ-अरइ-उवहि-णियदि-माण-माय।
मोस-मिच्छणाण मिच्छदंसण-पओअपच्चए ॥ सूत्र नं० १० ॥

अर्थ—अभ्याख्यान, कलह-पैशून्य-रति-अरति, उपधि-निकृति, मान, माया, मोष, मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और प्रयोग इन प्रत्ययों से ज्ञानावरणीय वेदना होती है। १० ॥

क्रोध मान, माया, लोभ आदि के कारण से दूसरों में अविद्यमान दोषों को प्रगट करना अभ्याख्यान कहा जाता है। क्रोधादिक के वश होकर तलवार लाठी और असभ्य वचनादिक के द्वारा दूसरों को संताप उत्पन्न करना कलह कहलाता है। क्रोधादिक के कारण दूसरों के दोषों को प्रगट करना पैशून्य है। नाती, पुत्र एवं स्त्री आदिकों में, रमण करने का नाम रति है। इसकी प्रतिपक्ष भूत अरति कही जाती है। "उपेत्य क्रोधादयों धीयन्त अस्मिन् इति उपधिः" अर्थात् आकर के क्रोधादिक जहाँ पर पुष्ट होते है उसका नाम उपधि है। इस निरुक्ति के अनुसार क्रोधादि परिणामों की उत्पत्ति में निमित्त भूत बाह्य पदार्थों को उपधि कहा गया है। वह भी ज्ञानावरणीय के वन्ध का कारण है। क्योंकि, उसके बिना कषाय रूप परिणाम का अभाव होने से बन्ध नहीं हो सकता। निकृति का अर्थ धोखा देना है, अभिप्राय यह हैं कि नकली मणि सुवर्ण चाँदी देकर द्रव्यान्तर को प्राप्त करना निकृति कही जाती है। हीनता व अधिकता को प्राप्त पस्थ (एक प्रकार का भाव) आदि मान कहलाता है। वे भी कुट अर्थात् असत्य व्यवहार के कारण होने से ज्ञानावरणीय के प्रत्यय हैं। माप ने योग्य जो और गेहूँ आदि मेय कहे जाते हैं। वे भी ज्ञानावरणीय के प्रत्यय है क्योंकि, वे मापने वाले के असत्य व्यवहार के कारण हैं।

शंका—मेय के स्थान में "माय" शब्द का प्रयोग कैसे किया गया है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है क्योंकि, इस सूत्र में एकार के स्थान में आकार किया गया है।

मोप का अर्थ चोरी है। यह मोष अदत्तादान में प्रविष्ट नहीं होता, क्योंकि हृत, पतित, प्रमुक्त और निहित पदार्थ के ग्रहण विषयक अदत्तादान में इसके प्रवेश का विरोध है। बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, मीमांसक, चार्वाक, और वैशेषिक आदि दर्शनों की रुचि से सम्वन्ध ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है। मिथ्यात्व के समान जो है वह भी मिथ्यात्व है उन्हीं को मिथ्यादर्शन कहा जाता है। मन वचन एवं काय रूप योगों को प्रयोग शब्द से ग्रहण किया गया है। मिथ्याज्ञान मिथ्यादर्शन से मिथ्यात्व प्रत्यय की प्ररूपणा की गय है। प्रयोग से योग प्रत्यय की प्ररूपणा की गई है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २८५-२८६ पुस्तक नं० १२

नोट—यह उपचार का कथन है—मिथ्यात्व और कषाय से ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध होता है। मन, वचन काय रूप योग से ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध कहना उपचार मात्र है यदि योग से ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध होने लगे तो वीतरागी पुरुषों को भी ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध होना चाहिये परन्तु ग्यारवें गुणस्थान से ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध नहीं है परन्तु वहाँ योग है।—समय समय में जो अबुद्धि पूर्वक वन्ध पड़ता है उस बन्ध में सूत्र में लिखे भावों से उस बन्ध में उत्कर्षण हो जाता है अर्थात् स्थिति और अनुभाग बढ़ जाता है और वही भाव का नाम उदीरणा भाव है। समय समय में वन्ध का बटवारा निम्न प्रकार ही होता है तो भी ज्ञानावरण में विशेष बन्ध कहना सूत्र के साथ में विरोध होता है। परन्तु उदीरणा भाव से उस बटवारा में स्थिति अनुभाग बढ़ जाता है।

कर्म बन्ध का बटवारा—आयु भाग सबसे स्तोक है। नाम गोत्र में समान होकर वह आयु की अपेक्षा अधिक है। उससे अधिक भाग आवरण अर्थात्, ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय का है, इससे अधिक भाग मोहनीय में है। सबसे अधिक भाग वेदनी में है। गाथा नं० १७-१६ धवल ग्रन्थ नं० १० पृष्ठ ३८७ तथा गोमट्टसार कर्मकाण्ड गाथा १९२-१९३। इसी का नाम औदायिक भाव है। औदायिक भाव से नियम पूर्वक ही बटवारा होगा परन्तु उदीरणा भाव में अमुक कर्मों की ही स्थिति अनुभाग बढ़ जाती है सब का

नहीं। यही औदयिक भाव तथा उदीरणा भाव में अन्तर है। बुद्धि पूर्वक (कार्य का) रागादिक का नाम उदीरणा भाव है।

(२०) मिथ्यादृष्टि के बन्ध प्रत्यय कितने हैं ?

मिथ्यादृष्टि के जघन्य दश, और उत्कृष्ट १८ बन्ध प्रत्य होते हैं। उनकी विगत पाँच मिथ्यात्वों में से एक, मिथ्यादृष्टि एक इन्द्रिय से एक काय की जघन्य से विराधना करता है इस प्रकार दो असंयम प्रत्यय। अनन्तानुबन्धी चतुष्टय का विसंयोजन करके मिथ्यात्व को प्राप्त हुये जीव के आवली मात्र काल तक अनन्तानुबन्धी चतुष्टय का उदय नहीं रहने से बारह कषायों में से तीन कषाय प्रत्यय, तीन वेदों में एक, हास्य-रति और अरति, शोक, इन दो युगलों में से एक युगल, तथा दश योगों में से एक योग इस प्रकार यह सब ही जघन्य से दश प्रत्यय होता है। पांच मिथ्यात्व में से एक, एक इन्द्रिय से छह कार्यों की विराधना करता है अतः सात असंयम प्रत्यय, सोलह कषायों में चार कषाय प्रत्यय, तीन वेदों में एक, हास्य, रति और अरति, शोक ये दो युगलों में से एक युगल, भय व जुगुप्सा यह दो प्रत्यय, तेरह योग प्रत्यय में से एक इस प्रकार वे सभी अठारह प्रत्यय होते हैं। इस प्रकार इन जघन्य दश और उत्कृष्ट अठारह प्रत्ययों से मिथ्यादृष्टि जीव विवक्षित सोलह प्रकृतियों को बान्धता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २५ पुस्तक नं० ७

(२१) अनन्तानु बन्धी किसका बन्धक है ?

अनन्तानु बन्धी क्रोध का बन्ध करने वाला मिथ्यात्व का स्यात् बन्धक है स्यात् अबन्धक है। किन्तु शेष १५ कषाय का, भय, जुगुप्सा का, नियम से बन्धक है। स्त्री वेद का स्यात् बन्धक है, पुरुष वेद का स्यात् बन्धक है, नपुंसक वेद का स्यात् बन्धक है। तीनों वेदों में से एक का बन्धक है अबन्धक नहीं है। हास्य-रति का स्यात् बन्धक है। अरति शोक का स्यात् बन्धक है। इसी प्रकार अनन्तानु बन्धी मान, माया, लोभ में जानना चाहिये। सूत्र नं० १२६ महाबन्ध पृष्ठ ६६-६७ पुस्तक नं० १

(२२) स्त्री वेद को बांधने वाला मिथ्यात्व को बांधना है या नहीं ?

स्त्री वेद को बान्धने वाला मिथ्यात्व का स्यात् बन्धक है। १६ कषाय, भय, जुगुप्सा का नियम से बन्धक है। हास्य रति का स्यात् बन्धक है। अरति, शोक का स्यात् बन्धक है। दोनों युगलों में से एक का बन्धक है अबन्धक नहीं है।

(२३) मिथ्यादृष्टि का स्वरूप।

एक्केक्कं तिण्ण जणा दो दो यण इच्छेदे विवग्गम्मि।
एक्को तिण्ण ण इच्छइ सत्त त्रिपावेंति मिच्छत्तं ॥ ७६ ॥ सा० ध० १-१४

अर्थ—तीन जन त्रिवर्ग अर्थात् धर्म अर्थ और काम में एक एक की इच्छा करते हैं। अर्थात् कोई धर्म को, कोई अर्थ को, कोई काम को ही स्वीकार (चाहता) है। दूसरे तीन जन उनमें दो दो की इच्छा करते हैं अर्थात् धर्म और अर्थ को कोई धर्म और काम को और कोई अर्थ और काम को स्वीकार करता है। कोई एक तीनों की इच्छा नहीं करता है। इस प्रकार यह सातों जन मिथ्यात्व को प्राप्त होते हैं। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २०८ पुस्तक नं० ६

नोट—कोई एक तीनों की इच्छा नहीं करता यह कहना उचित भासता नहीं है परन्तु "कोई एक तीनों की इच्छा करता है" यह होना चाहिये। जो जीव को चाह ही नहीं है वह मिथ्यात्व को प्राप्त

होवे तो सब वीतरागी मिथ्यात्व को प्राप्त हो जावेगा। परन्तु ऐसा वस्तु स्वभाव नहीं है। पर पदार्थ की चाह वाला ही मिथ्यादृष्टि है। यहां धर्म का अर्थ पुन्य भाव मानना चाहिये, परन्तु धर्म का अर्थ शुद्धोपयोग नहीं है। धर्म का अर्थ पुन्य, पुन्य से धन मिलता है और धन से काम भोग की सामग्री मिलती है इनमें जिसकी चाह है वही मिथ्यादृष्टि है यह तीन चाह का अभाव ही मोक्ष है या मोक्ष का कारण है।

सासादन गुणस्थान

(१) सम्यक्त्व की विराधना को सासादन कहते हैं। जो इस आसादन से युक्त है उसे सासादन कहते हैं। अनन्तानुबन्धी किसी एक कषाय के उदय से जिसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो गया है, किन्तु जो मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न हुए मिथ्यात्व रूप परिणामों को नहीं प्राप्त हुआ है, फिर भी मिथ्यात्व गुणस्थान अभिमुख है उसे सासादन कहते हैं।

शंका—सासादन गुणस्थान वाला जीव मिथ्यात्व कर्म का उदय नहीं होने से मिथ्यादृष्टि नहीं है, समीचीन रूची अभाव होने से सम्यग्दृष्टि भी नहीं है, तथा इन दोनों को विषय करने वाली सम्यग्मिथ्यात्व रूप रुचि का अभाव होने से सम्यग्मिथ्यादृष्टि भी नहीं है। उनके अतिरिक्त और कोई चौथी दृष्टि है नहीं, क्योंकि, समीचीन असमीचीन और उभय रूप दृष्टि के आलम्बन भूत वस्तु के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु पायी नहीं जाती है। इसलिए सासादन गुणस्थान असत्य रूप है। अर्थात सासादन नाम का कोई स्वतन्त्र गुणस्थान नहीं मानना चाहिए ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सासादन गुणस्थान में विपरीत अभिप्राय रहता है, इसलिए उसके असदृष्टि ही समझना चाहिये।

शंका—ऐसा है तो, इसे मिथ्यादृष्टि ही कहना चाहिए, सासादन संज्ञा देना उचित नहीं है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण चारित्र का प्रतिवन्ध करने वाली अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से उत्पन्न हुआ विपरीत अभिनिवेश दूसरे गुणस्थान में पाया जाता है, इसलिए द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यादृष्टि है। किन्तु मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न हुए विपरीत अभिनिवेश वहाँ नहीं है, इसलिए, उसे मिथ्यादृष्टि नहीं कहते हैं, केवल सासादन सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

शंका—ऊपर के कथनानुसार जब वह मिथ्यादृष्टि ही है तो फिर उसे मिथ्यादृष्टि संज्ञा क्यों नहीं दी गई हैं ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सासादन गुणस्थान को स्वतंत्र कहने से अनन्तानुवन्धी प्रकृतियों की द्विस्वभावता का कथन सिद्ध हो जाता है।

दर्शन मोहनीय के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम से जीवों के सासादन रूप परिणाम तो उत्पन्न होता नहीं है, जिससे कि सासादन गुणस्थान को मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि अथवा सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहा जाता। तथा जिस अनन्तानुबन्धी के उदय से गुणस्थान में जो विपरीत अभिनिवेश होता है वह अनन्तानुबन्धी दर्शन मोहनीय का भेद न होकर चारित्र का आवरण करने वाला होने से चारित्र मोहनीय का भेद है। इसलिए दूसरे गुणस्थान को मिथ्यादृष्टि न कहकर सासादन सम्यग्दृष्टि कहा है।

शंका—अनन्तानु बन्धी सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनों का प्रतिवन्धक होने से उसे उभय रूप (सम्यक्त्व चारित्र मोहनीय) संज्ञा देना न्याय संगत है ?

समाधान—यह आरोप ठीक नहीं है, क्योंकि, वह तो हमें इष्ट ही है, अर्थात अनन्तानुवन्धी को सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनों का प्रतिवन्धक माना ही है। फिर भी परमागम में मुख्य नय की अपेक्षा इस तरह का उपदेश नहीं दिया है।

सासादन गुणस्थान, विवक्षित कर्म के अर्थात दर्शन मोहनीय के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के बिना उत्पन्न होता है, इसलिए वह पारिणामिक भाव है। और आसादना सहित सम्यग्दृष्टि होने कारण उसे सासादन सम्यग्दृष्टि कहा है।

शंका—सासादन गुणस्थान, विपरीत अभिप्राय से दूषित है इसलिये उसके सम्यग्दृष्टि पना कैसे बन सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, पहले वह सम्यग्दृष्टि था इसलिये भूतपूर्व न्याय की अपेक्षा उसके सम्यग्दृष्टि संज्ञा बन जाती है। कहा भी है कि—

सम्मत-रयण-पव्वय सिहरादो मिच्छभूमि समभिमुहो ।
जासिय सम्मत्तो सो सासण णामो मुणेयब्वो ॥१०८॥ गों. जी. २०

अर्थ—सम्यग्दर्शन रूपी रत्न गिरि के शिखर से गिरकर जो जीव मिथ्यात्व रूपी भूमि के अभिमुख है, अतएव जिसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो गया है परन्तु मिथ्यादर्शन की प्राप्ति नहीं हुई है, उसे सासन या सासादन गुणस्थान वर्ती समझना चाहिए। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १६५ पुस्तक नम्बर १

नोट—यहाँ पर अनन्तानुवन्धी को सम्यक्त्व तथा स्वरूपाचरण चारित्र इन दोनों का प्रतिबन्धक दिखाया यह उपचार है, क्योंकि, श्रद्धा गुण की पर्याय का नाम सम्यक्त्व है और चारित्र गुण की पर्याय का नाम स्वरूपाचरण चारित्र है। एक गुण में दूसरे गुण का अन्योन्य अभाव है। दूसरे सासादन गुणस्थान में चारित्र गुण औदयिक भाव से परिणमन करता है जब श्रद्धा गुण पारिणामिक भाव से परिणमन करता है। एक गुण एक ही समय में दो भाव से कभी भी परिणमन कर नहीं सकता है। मिथ्यात्व कर्म का उदय नहीं आने से श्रद्धा गुण कुटस्थ तो रह नहीं सकता, उनका परिणमन तो होना चाहिये। मिथ्यात्व कर्म का उदय नहीं आने से श्रद्धा गुण ने स्वतन्त्र पने मिथ्यात्व रूप परिणमन किया है जिससे उस परिणमन रूप भाव को पारिणामिक भाव कहा जाता है। "स्व आश्रित स्वभाव और पराश्रित विकार" यह जो आगम कथन है यह कथन एकान्तिक नहीं है परन्तु अनेकान्तिक है। पर द्रव्य का निमित विना विकारी परिणमन नहीं होता है, यह सिधान्त पारिणामिक भाव मानता नहीं है। स्वतंत्रपने भी विकार होता है। यह तो जैन धर्म की कथन करने की महिमा है। इसी का नाम स्याद्वाद कथन है।

(२) सासादन सम्यक्त्व कौनसा भाव है ?

यह सासादन परिणाम क्षायिक नहीं है, क्योंकि, दर्शन मोहनीय के क्षय से उसकी उत्पत्ति नहीं होती। सासादन परिणाम क्षयोपशमिक भी नहीं है, क्योंकि, दर्शन मोहनीय के देशघाती स्पर्धकों के उदय से उसकी उत्पत्ति नहीं होती है। सासादन परिणाम औपशमिक भी नहीं है, क्योंकि, दर्शन मोहनीय के उपशम से उसकी उत्पत्ति नहीं है। सासादन परिणाम औदायिक भी नहीं है, क्योंकि, दर्शन मोंहनीय के उदय से उसकी उत्पत्ति नहीं है। अतएव पारिशेष न्याय से पारिणामिक भाव से ही सासादन परिणाम होता है।

शंका—अनन्तानुबन्धी कषायों के उदय से सासादन गुणस्थान पाया जाता है अतएव उसे औदयिक भाव क्यों नहीं कहते ?

समाधान—नहीं कहते हैं, क्योंकि, दर्शन मोहनीय के उदय, उपशम, क्षय व क्षयोपशम के विना उत्पन्न होने से सासादन गुणस्थान का कारण चारित्र मोहनीय कर्म ही हो सकता है और चारित्र मोहनीय के दर्शन मोहनीय मानने में विरोध आता है।

शंका—अनन्तानु बन्धी चतुष्क तो दर्शन और चारित्र दोनों में मोह उत्पन्न करने वाला है ?

समाधान—भले ही अनन्तानु बन्धी चतुष्क, उभय मोहनीय हो परन्तु यहां वैसी विवक्षा नहीं है। अनन्तानु वन्धी चतुष्क चारित्र मोहनीय ही है इसी विवक्षा से सासादन गुणस्थान को पारिणामिक कहा है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १०९-११० पुस्तक नं० ७

एवं धवल ग्रन्थ पृष्ठ १९६-९९ पुस्तक नम्बर ५ में लिखा है कि—

सासादन सम्यग्दृष्टि यह कौनसा भाव है ? पारिणामिक भाव है। सूत्र नम्बर ३ ॥

शंका—"भाव पारिणामिक है" यह बात घटित नहीं होती है, क्योंकि, दूसरों से नहीं उत्पन्न होने वाले परिणाम के अस्तित्व का विरोध है। यदि अन्य से उत्पत्ति मानी जावे तो पारिणामिक नहीं रह सकता है, क्योंकि निष्कारण वस्तु के सकारणत्व का विरोध है ?

समाधान—जो कर्मों के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के विना अन्य कारणों से उत्पन्न हुआ परिणाम है, वह पारिणामिक कहा जाता है। न कि निष्कारण भाव को पारिणामिक भाव कहते हैं। क्योंकि, कारण के विना उत्पन्न होने वाले परिणाम का अभाव है।

शंका—सत्त्व प्रमेयत्व आदिक भाव कारण के विना भी उत्पन्न होने वाले पाये जाते है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, विशेष सत्त्व आदि के स्वरूप से नहीं परिणत होने वाले सत्त्वादि सामान्य नहीं पाये जाते हैं।

शंका—सासादन सम्यग्दृष्टिपना भी सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनों के विरोधी अनन्तानुवन्धी चतुष्क के उदय के बिना नहीं होता है इसलिए इसे औदयिक क्यों नहीं मानते हैं ?

समाधान—यह कहना सत्य है, किन्तु उस प्रकार की यहाँ विवक्षा नहीं है, क्योंकि, आदि के चार गुणस्थानों सम्बन्धी भावों की प्ररूपणा में दर्शन मोहनीय कर्म के सिवाय शेष कर्मों के उदय की विवक्षा का अभाव है। इसलिए विवक्षित दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से, उपशम से, क्षय से; क्षयोपशम से, नहीं होता है अतः यह सासादन सम्यक्त्व निःष्कारण है और इसलिए इसके पारिणामिकपना भी है।

शंका—इस न्याय के अनुसार तो सभी भावों के पारिणामिकपने का प्रसंग प्राप्त होता है ?

समाधान—यदि उक्त न्यायक के अनुसार सभी भावों के पारिणामिकपने का प्रसंग आता है तो आने दो कोई दोष नहीं है, क्योंकि, इसमें कोई विरोध नहीं आता है।

शंका—यदि ऐसा है तो फिर अन्य भावों में पारिणामिकपने का व्यवहार क्यों नहीं किया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, सासादन सम्यक्त्व को छोड़कर विवक्षित कर्म से नहीं उत्पन्न होने वाला अन्य कोई भाव नहीं पाया जाता है।

नोट—सासादन गुणस्थान छोड़कर अन्य कोई गुणस्थान में पारिणामिक भाव नहीं होता है यह कहना उपचार है, और भी तीन गुणस्थान में पारिणामिक भाव हो जाता है। परन्तु उस गुणस्थान में प्रथम से अन्त तक पारिणामिक भाव नहीं रहने से आगम में उसी का कथन नहीं किया गया है।

(१) जिस आत्मा ने अनन्तानुवन्धी के परमाणु को विसंयोजन कर दिया है वाद में जव वह आत्मा सम्यग्दर्शन से गिरकर मिथ्यात्व गुणस्थान में जाता है और अप्रैत्याख्यान के परमाणु जव तक अनन्तानुवन्धी रूप परिणमन नहीं करता है तब तक चारित्र गुण मिथ्यात्व गुणस्थान में पारिणामिक से परिणमन करता है।

(२) ग्यारहवां गुणस्थान से जब आत्मा गिरती है तब वहां भी पारिणामिक भाव से गिरती है। ग्यारहवां गुणस्थान का व्यय पारिणामिक भाव से ही होता है क्योंकि, चारित्र मोहनीय कर्म का उदय तो दशवां गुणस्थान में ही होता है।

(३) चौदहवाँ गुणस्थान में जिस समय में संसार का व्यय होता है उसी समय में उर्ध्वगमन पारिणामिक भाव से ही होता हैं। क्योंकि गमन करना विकार है। चौदहवें गुणस्थान के अन्त में विकार के कारण कर्म नहीं है तब वहाँ गमन पारिणामिक भाव से किया गया है। गमन करना आत्मा का विकार है और स्थिर होना स्वभाव भाव है। यह दोनों अवस्था क्रिया गुण की होती हैं। क्रिया गुण को समयसार ग्रन्थ में आचार्य अमृतचन्द्र सूरी ने 'निष्क्रयत्व शक्ति'' के नाम से वर्णन किया है।

(३) सासादन गुणस्थान में मिथ्यात्व भाय होते सन्त कर्म बन्ध नहीं हैं।

सासादन सम्यक्त्व में मिथ्यात्व तीर्थंकर अहारकद्विक का बन्धन ही हैं। शेष॰ प्रकृतियों का ओघवत भंग है। सूत्र नं० १६१। महाबन्ध पृष्ठ ११५ पुस्तक नं० १

(४) सासादन सम्यग्दृष्टि को अज्ञान होने का क्या कारण है ?

शंका—मिथ्यादृष्टि जीवों के भले ही दोनों अज्ञान होवे, क्योंकि, वहाँ पर मिथ्यात्व कर्म का उदय पाया जाता है, परन्तु सासादन में मिथ्यात्व का उदय नहीं पाया जाता है, इसलिये वहाँ पर वे दोनों ज्ञान अज्ञान रूप नही होना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, विपरीत अभिनिवेश को मिथ्यात्व कहते हैं। और वह मिथ्यात्व और अनन्तानुवन्धी इन दोनों के निमित्त से उत्पन्न होता है। सासादन गुण स्थान वाले के अनन्तानुवन्धी का उदय तो पाया ही जाता है इसलिये वहां पर दोनों ही अज्ञान संभव है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३६१ पुस्तक नम्बर १

नोट—यहां पर अनन्तानुवन्धी के कारण से, अज्ञान है यह कहना उपचार है परन्तु वहां मिथ्यात्व भी पारिणामिक भाव से है इसलिये मिथ्यात्व के कारण से ज्ञान को अज्ञान कहा जाता है।

(५) सासादन गुणस्थान एकेन्द्रिय जीव में होता है या नहीं।

शंका—एकेन्द्रिय जीवों में सासादन गुणस्थान भी सुनने में आता है, इसलिये उनके केवल एक मिथ्यात्व गुणस्थान के कथन करने से वह कैसे बन सकेगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इस खंडागम, सूत्र से एकेन्द्रियादिकों के सासादन गुणस्थान का निषेध किया गया है।

शंका—जबकि दोनों वचन परस्पर विरोधी हैं तो उन्हें सूत्रपना कैसे प्राप्त हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, दोनों वचन सूत्र नहीं हो सकते हैं, किन्तु उन दोनों वचनों में से किसी एक वचन को ही सूत्रपना प्राप्त हो सकता है।

शंका—दोनों वचनों में से यह वचन सूत्र रूप है और यह नहीं, यह कैसे जाना जाय ?

समाधान—उपदेश के बिना दोनों में से कौन वचन सूत्र रूप है यह नहीं जाना जा सकता है इसलिये दोनों वचनों का संग्रह करना चाहिए।

शंका—दोनों वचनों का संग्रह करने वाला शंसय मिथ्यादृष्टि हो जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, संग्रह करने वाले के यह सूत्र कथित ही है, इस प्रकार का श्रद्धान पाया जाता है अतएव उसके संदेह नहीं हो सकता है। कहा भी है कि—

सुत्तादो तं सम्मं दरिसिज्जंतं जदा ण सद्दहादे।
सो चेय हवदि मिच्छाइट्ठी हु तदो पहुडि जीवो ॥ १४३ ॥ गो० जी० २९

अर्थ—सूत्र से भले प्रकार आचार्यादि के द्वारा समझाये जाने पर भी यदि वह जीव विपरीत अर्थ को छोड़ कर समीचीन अर्थ का श्रद्धान नहीं करता है तो उसी समय वह सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २६१ पुस्तक नं० १

सासादन सम्यग्दृष्टि तिर्यंच मर कर एकेन्द्रिय में जा सकता है। इस विषय में अनेक मत—

एइंदिएसु गच्छंता वादर पुढवीकाइय बादर आउक्काइय बादर वणप्फइकाइय।
पतेय सरीर पज्जत्तए सु गच्छंति णो अपज्जत्त सु ॥ सूत्र नं० १२१ ॥

अर्थ—एकेन्द्रियों में जाने वाले संख्यात वर्षायुष्क सासादन सम्यग्दृष्टि तिर्यंच बादर पृथ्वी कायिक, बादर जल कायिक, बादर वनस्पति कायिक, प्रत्येक शरीर पर्याप्तकों में ही जाते हैं अपर्याप्तकों में नहीं। सूत्र नं० १२१ ॥

अनेक मत—सासादन सम्यक्त्वी जीव मर कर किन पर्यायों में उत्पन्न हो सकता है इस विषय पर जैन ग्रन्थकारों में बड़ा भारी मत भेद पाया जाता है। ये भिन्न भिन्न मत इस प्रकार हैं।

(१) तत्वार्थ सूत्र के टीका कार पूज्य पाद स्वामी ने अपनी सवार्थसिद्धि टीका में कृष्ण, नील, और कापोत लेश्या वाले सासादन सम्यग्दृष्टि जीवों को स्पर्शन प्रमाण बतलाते हुए एक ऐसे मत का उल्लेख किया है कि, जिसके अनुसार सासादन जीव एकेन्द्रियों में उत्पन्न नहीं होते (देखो स० सि० १-८ स्पर्शन प्रमाण) किन्तु उन्होंने तिर्यंच, मनुष्य व देवगति वाले सासादन सम्यग्दृष्टियों के स्पर्शन का जो प्रमाण बतलाया है उससे स्पष्ट हो जाते हैं कि उन्हें सासादन सम्यग्दृष्टियों का एकेन्द्रियों में उत्पन्न होना स्वीकार किया है। (देखो श्रुतसागरी टीका से लिए गए टिप्पणी)

(२) तत्वार्थ राजवार्तिक और गोमट्टसार जीव काण्ड में पंचेन्द्रियों को छोड़कर शेष समस्त एकेन्द्रियों व विकलेन्द्रियों में केवल एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान का ही विधान पाया जाता है। (त० रा० ९-७ व गो० जी० गा० ६७७) किन्तु गोमट्टसार कर्म काण्ड में एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रिय जीवों की अपर्याप्त अवस्था में सासादन सम्यक्त्व का विधान किया गया है, पर लब्ध्य पर्याप्तक साधारण सूक्ष्म तथा तेज और वायुक कायिक जीवों में उसका निषेध है। (गा०११३-११५)

(३) अमितगति आचार्य ने अपने पंच संग्रह ग्रन्थ में (पृष्ठ ७५) सातों अपर्याप्त और संज्ञी पर्याप्त इन आठों जीव समासों में सासादन सम्यक्त्व का विधान किया है जिसके अनुसार विकलेन्द्रिय तथा सूक्ष्म जीवों में भी सासादन सम्यग्दृष्टि का उत्पन्न होना संभव है।

(४) भगवती, पज्ञापन्ना, व जीवाभिगम आदि श्वेताम्बर आगम गन्थों के अनुसार एकेन्द्रिय जीवों में सासादन गुणस्थान नहीं होता पर द्वीन्द्रिय आदि विकलेन्द्रियों में होता है। इसके विपरीत श्वेताम्बर कर्म ग्रन्थों में एकेन्द्रिय व द्विन्द्रिय आदि बादर अपर्याप्तकों में सासादन गुण स्थान का विधान पाया जाता है। पर तेज और वायु कायिक जीवों में सासादन गुणस्थान का वहां पर भी निषेध है। (देखो कर्म ग्रन्थ ४ गाथा ३-४५-४९ व पंच संग्रह द्वार १ गाथा २८-२९)

प्रस्तुत षटखंडागम सूत्रों में व्यवस्था इस प्रकार है....सत्प्ररूपणा के सूत्र नं ३६ में एकेन्द्रिय आदि असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यंत जीवों के केवल एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान नहीं बतलाया गया है । उसी प्ररूपणा के कायमार्गणा सम्बन्धी सूत्र ४३ में भी पृथ्वी कायादि पांचों एकेन्द्रिय जीवों के केवल मिथ्यादृष्टि गुण स्थान कहा गया है। द्रव्य प्ररूपणानुगम के सूत्र नं० ८८ आदि में बादर पृथ्वी कायिक जीवों के गुणस्थान भेद बिना ही प्ररूपणा की गई है जिससे उनमें एक ही गुणस्थान माना जाना सिद्ध होता है। क्षेत्रादि प्ररूपणा के सूत्रों में भी एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय जीवों के गुणस्थान भेद का कथन नहीं पाया जाता । किन्तु प्रस्तुत गति आगति चूलिका के ११९,१२३, १५१, १५५ व १७३, १७७ सूत्रों में क्रमशः तिर्यंच, मनुष्य व देवगति के सासादन सम्यक्त्वीयों के वायु और तेज कायिक जीवों को छोड़ कर शेष तीनों एकेन्द्रियों एवं असंज्ञी पंचेन्द्रियों में उत्पन्न होने का निषेध किया गया है।

धवलाकार ने अपने आलाप अधिकार में सासादन सम्यग्दृष्टियों के पर्याप्त व अपर्याप्त अवस्था में केवल एक पंचेन्द्रियत्व व त्रस कायित्व का ही प्रतिपादन किया है। तथा पृथ्वी कायिक आदि स्थावर जीवों के अपर्याप्त अवस्था में भी केवल एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान बतलाया है। देखो भाग २ पृष्ठ ४२७, ४७८, ६०७। सत्प्ररूपणा के सूत्र नम्बर ३६ की टीका में धवलाकार ने सासादनों के एकेन्द्रियों में उत्पन्न होने व न होने सम्बन्धी दोनों मतों के संग्रह और श्रद्धा न करने पर जोर दिया है। पर स्पर्शन प्ररुपणा के सूत्र नं० ४ की टीका में उन्होंने यह मत प्रगट किया है कि सासादनों का एकेन्द्रियों में उत्पन्न होना सत्प्ररुपणा और द्रव्य प्रमाण इन दोनों के सूत्रों के विरुद्ध है और इसलिए उसे ग्रहण नहीं करना चाहिए। सासादन सम्यक्त्वीयों के एकेन्द्रियों में उत्पन्न होने और फिर भी एकेन्द्रियों में सासादन गुणस्थान को सर्वथा अभाव पाये जाने का समन्वय उन्होंने इस प्रकार किया है कि सासादन सम्यग्दृष्टि एकेन्द्रियों में मारणान्तिक समुद्घात करते हैं किन्तु आयु छिन्न होने के प्रथम समय में ही उनका सासादन गुणस्थान छूट जाता है और वे मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं इससे एकेन्द्रियों की अपर्याप्त अवस्था में भी सासादन गुणस्थान नहीं पाया जाता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४६०-४६१ पुस्तक नम्बर ६।

(६) सासादन सम्यग्दृष्टि मनुष्य मरण कर तिर्यंचों में किस पर्याय में जाता है ?

तिरिक्खेसु गच्छंता एइंदिय पंचिंदिएसु गच्छंति णो विगलिंदिएसु गच्छंति ॥ सूत्र नं० १५२ ॥

अर्थ—सासादन सम्यग्दृष्टि मनुष्य तिर्यंचों में एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों में जाते हैं विकलेन्द्रियों में जाते नहीं हैं। १५२॥

शंका—यदि एकेन्द्रियों में सासादन सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं तो एकेन्द्रियों में दो गुणस्थान होना चाहिए ? यदि कहा जाय कि एकेन्द्रियों में दो गुणस्थान होने दो सो भी नहीं बन सकता है, क्योंकि, द्रव्यानुयोग द्वार में एकेन्द्रिय सासादन गुणस्थानवर्ती जीवों के द्रव्य का प्रमाण नहीं बतलाया गया ?

समाधान—एकेन्द्रियों में उत्पन्न होने वाले सासादन सम्यग्दृष्टि जीव अपनी आयु के अन्तिम समय में सासादन परिणाम सहित होकर उससे ऊपर के समय में मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाते हैं इसलिए एकेन्द्रियों में दो गुणस्थान नहीं होते केवल एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही होता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४७०-४७१ पुस्तक नं० ६।

नोट—सूत्र से यहाँ पर विपरीत टीका की जाती है, क्योंकि, टीकाकर इस सूत्र से सहमत नहीं है। इस सूत्र की रक्षा करते दूसरी जगह पर विरोध आ जाता है।

(७) सासादन गुणस्थान में बन्ध प्रत्यय कितने हैं ?

एकेन्द्रिय से एक काय की विराधना करता है इस प्रकार दो असंयम प्रत्यय, सोलह कषायों में चार कषाय प्रत्यय, तीन वेदों में एक वेद-प्रत्यय, हास्य-रति और अरति शोक ये दो युगलों में से एक युगल, तेरह योगों में से एक योग इस प्रकार सासादन सम्यग्दृष्टि के जघन्य से दस और उत्कृष्ट से सत्तरह प्रत्यय होते हैं, क्योंकि, उसके मिथ्यात्व का उदय नहीं है। इस प्रकार क्रम से इन जघन्य और उत्कृष्ट दस व सत्तरह प्रत्ययों से सासादन सम्यग्दृष्टि विवक्षित सोलह प्रकृतियों को बांधता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २६ पुस्तक नम्बर ८।

(८) सासादन सम्यक्त्व में बन्ध का अन्तर काल।

५ ज्ञानावरण, ६ दर्शनावरण, १६ कषाय, भय, जुगुप्सा, तीन गति, (नरक गति रहित) पंचेन्द्रिय जाति, ४ शरीर, समचतुरस्र संस्थान, दो अंगोपांग, चार वर्ण तीन आनुपूर्वी, अगुरुलघु ४, प्रशस्त विहायोगति, त्रस चार, शुभग, सुस्वर, आदेय, निर्माण, नीच्चगोत्र तथा पांच अन्तरायों का जघन्य बन्ध काल एक समय और उत्कृष्ट ६ आवली प्रमाण हैं। तीन आयु का ओध के समान काल है। विशेष यहाँ नरक आयु का बन्ध नहीं होता हैं। शेष प्रत्ययों का जघन्य एक समय उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है। महाबन्ध पृष्ठ ६६ पुस्तक नम्बर १।

मिश्र गुणस्थान

मिश्र गुणस्थान में कौनसा भाव है ?

शंका—पांच प्रकार के भागों में से तीसरे गुणस्थान में कौनसा भाव है ?

समाधान—तीसरे गुणस्थान में क्षयोपशमिक भाव है।

शंका—मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होने वाले जीव के क्षयोपशमिक भाव कैसे हैं ?

समाधान—वह इस प्रकार है कि वर्तमान समय में मिथ्यात्व कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय होने से, सत्ता में रहने वाले उसी मिथ्यात्व के सर्वघाती स्पर्धकों के उदयाभाव लक्षण उपशम होने से और सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय होने से सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान पैदा होता है इसलिए वह क्षयोपशमिक है।

शंका—तीसरे गुणस्थान में सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय होने से वहां औदयिक भाव क्यों नहीं कहा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जिस प्रकार सम्यक्त्व निरन्वय नाश होता है उसी प्रकार सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से सम्यक्त्व का निरन्वय नाश नहीं पाया जाता है इसलिए तीसरे गुणस्थान में औदयिक भाव न कहकर क्षयोपशमिक कहा है।

शंका—सम्यग्मिथ्यात्व का उदय सम्यग्दर्शन का निरन्वय नाश तो करता नहीं है फिर भी उसे सर्वघाती क्यों कहा ?

समाधान—ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, वह सम्यग्दर्शन की पूर्णता का प्रतिबन्ध करता है, इस अपेक्षा से सम्यग्मिथ्यात्व को सर्वघाती कहा है।

शका—जिस तरह मिथ्यात्व के क्षयोपशम से सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान की उत्पत्ति बतलाई है उसी प्रकार वह अनन्तानुवन्धी कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों के क्षयोपशम से होता है ऐसा क्यों नहीं कहा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अनन्तानुवन्धी कषाय चारित्र का प्रति बन्धक करती है, इसलिये यहां उसके क्षयोपशम से तृतीय गुणस्थान नहीं कहा हैं। जो आचार्य अनन्तानुवन्धी कर्म के क्षयोपशम से तीसरे गुणस्थान की उत्पत्ति मानते हैं, उनके मत से सासादन गुणस्थान को औदयिक मानना पड़ेगा। पर ऐसा नहीं है, क्योंकि, दूसरे गुणस्थान को औदयिक नहीं माना गया है।

अथवा सम्यक प्रकृति के देश घाती स्पर्धकों का उदय क्षय होने से सत्ता में स्थिति उन्हीं देश घाती स्पर्धकों का उदया भाव लक्षण उपशम होने से और सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के सर्व घाती स्पर्धकों के उदय होने से सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान उत्पन्न होता है इसलिए यह क्षयोपशमिक है। यहां इस तरह जो सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान को क्षयोपशमिक कहा है वह केवल सिद्धान्त के पाठ का प्रारम्भ करने वालों के परिज्ञान कराने के लिए कहा है। वास्तव में तो सम्यग्मिथ्यात्व कर्म निरन्वय रूप से आप्त, आगम और पदार्थ विषयक श्रद्धा के नाश करने के प्रति असमर्थ हैं। किन्तु उसके उदय से सत् समीचीन और असत् असमीचीन पदार्थ को युगपत् विषय करने वाली श्रद्धा उत्पन्न होती है। इसलिए सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान क्षयोपशमिक कहा जाता है। यदि इस गुणस्थान में सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति से उदय से सत् और असत् पदार्थ को विषय करने वाली मिश्र रुचि रूप क्षयोपशमता न मानी जावे तो उपशम सम्यग्दृष्टि के सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होने पर उस सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान में क्षयोपशमपना नहीं बन सकता है। क्योंकि, उपशम सम्यक्त्व से तृतीय गुणस्थान में आए हुए जीव के ऐसी अवस्था में सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व और अनन्तानुवन्धी इन तीनों का उदयाभावी क्षय नहीं पाया जाता है।

शंका—उपशम सम्यक्त्व से आए हुए जीव के तृतीय गुणस्थान में सम्यक् प्रकृति, मिथ्यात्व, और अनन्तानुबन्धी इन तीनों का उदयाभाव रूप उपशम तो पाया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इस तरह तो तीसरे गुणस्थान में औपशमिक भाव मानना पड़ेगा।

शंका—तो तीसरे गुणस्थान में औपशमिक भाव भी मान लिया जावे ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, तीसरे गुणस्थान में औपशमिक भाव का प्रतिपादन करने वाला कोई आर्ष वाक्य नहीं है। अर्थात् में तीसरे गुणस्थान में औपशमिक भाव नहीं बताया है।

दूसरे यदि तीसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व आदि कर्मों के क्षयोपशम से क्षयोपशम भाव की उत्पति मान ली जावे तो मिथ्यात्व गुणस्थान को भी क्षयोपशमिक मानना पड़ेगा। क्योंकि, सादी मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा मिथ्यात्व गुणस्थान में भी सम्यक् प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के उदय अवस्था को प्राप्त हुए स्पर्धकों का क्षय होने से सत्ता में स्थिति उन्हीं का उदयाभाव लक्षण उपशम होने से तथा मिथ्यात्व

कर्म के सर्व घाती स्पर्धकों के उदय होने से मिथ्यात्व गुणस्थान की उत्पत्ति पायी जाती हैं। इतने कथन से यह समझना चाहिए कि, तीसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व सम्यक् प्रकृति और अनन्तानुबन्धी के क्षयोपशम से क्षयोपशमिक भाव न होकर केवल मिश्र प्रकृति के उदय से मिश्र भाव होता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १६७-१७० पुस्तक नं० १

सम्यग्मिथ्यादृष्टि कौनसा भाव है।

खओवसमियाए लद्धीए ॥ सूत्र नं० ७९ ॥

अर्थ—क्षयोपशमिक लब्धि से जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि होता है। ७९॥

शंका—चूंकि सम्यग्मिथ्यात्व नामक दर्शन मोहनीय प्रकृति के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय से सम्यग्मिथ्यादृष्टि होता है इसलिए उसके क्षयोपशमिक भाव उपयुक्त नहीं है?

समाधान—सम्यक्त्व की अपेक्षा भले ही सम्यग्मिथ्यात्व के स्पर्धकों में सर्वघातीपना हो किन्तु अशुद्ध नय की विवक्षा से सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के स्पर्धकों में सर्व घातीपना नहीं होता, क्योंकि, उनका उदय रहने पर भी मिथ्यात्व मिश्रित सम्यक्त्व का कण पाया जाता है। सर्व घाती स्पर्धक तो उन्हें कहते हैं जिनका उदय होने से समस्त (प्रतिपक्षी गुण का) घात हो जाय, किन्तु सम्यग्मिथ्यात्व की उत्पत्ति में हम सम्यक्त्व का निर्मूल विनाश नहीं देखते, क्योंकि, यहां सद्भूत और असद्भूत पदार्थों में समान श्रद्धान होता देखा जाता है, इसलिए, सम्यग्मिथ्यात्व को क्षयोपशमिक भाव मानना उपयुक्त है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ११०-१११ पुस्तक नम्बर ७

(२) क्षयोपशमिक भाव के लक्षण में दोष—

मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के सर्वघाती स्पर्धकों के तथा सम्यक्त्व प्रकृति के देशघाती स्पर्धकों के उदया भाव रूप लक्षण वाले उपशम से उपशम सम्यक्त्व होता है इसलिए असंयत सम्यग्दृष्टि यह भाव औपशमिक है। इन्ही तीनों प्रकृतियों के क्षय से उत्पन्न होने वाले भाव को क्षायिक भाव कहते हैं। सम्यक् प्रकृति के देशघाती स्पर्धकों के उदय के साथ रहने वाला सम्यक्त्व परिणाम क्षयोपशमिक कहलाता है। मिथ्यात्व के सर्वघाती स्पर्धकों के उदया भाव रूप क्षय से उन्हीं के सद्वस्था रूप उपशम से और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय क्षय से तथा उन्हीं के सद्वस्था रूप उपशम से अथवा अनुदयोपशम से और सम्यक् प्रकृति के देशघाती स्पर्धकों के उदय से क्षयोपशमिक भाव कितने ही आचार्य कहते हैं किन्तु यह कथन घटित नहीं होता है, क्योंकि, वैसा मानने पर अति व्याप्ति दोष का प्रसंग आता हैं।

शंका—तो फिर क्षयोपशमिक भाव कैसे घटित होता है?

समाधान—यथास्थित अर्थ के श्रद्धान को घात करने वाली शक्ति जब सम्यक् प्रकृति के स्पर्धकों में क्षीण हो जाती हैं तव उनकी क्षायिक संज्ञा है। क्षीण हुए स्पर्धकों के उपशम को अर्थात् प्रसन्नता को क्षयोपशम कहते हैं। उसमें उत्पन्न होने से वेदक सम्यक्त्व क्षयोपशमिक है यह कथन घटित हो जाता है। इस प्रकार सम्यत्व के तीन भाव होते हैं। अन्य भाव नहीं होते हैं। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २००-२०१ पुस्तक नंबर ५।

अव्रत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान

सम्यग्दर्शन का लक्षण

प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य की प्रगटता ही जिसका लक्षण है उसको सम्यग्दर्शन कहते हैं। त० रा० वा० १-२-३।

शंका—इस प्रकार सम्यक्त्व का लक्षण मान लेने पर असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान का अभाव हो जायगा ?

समाधान—यह कहना शुद्ध निश्चय नय के आश्रय करने पर ही सत्य कहा जा सकता है।

अथवा तत्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते है। इसका यह अर्थ है कि आप्त, आगम और पदार्थ को तत्वार्थ कहते हैं और उनके विषय में श्रद्धान अर्थात् अनुरक्ति करने को सम्यग्दर्शन कहते हैं। यहाँ पर सम्यग्दर्शन लक्ष्य है तथा आप्त, आगम और पदार्थ का श्रद्धान लक्षण है।

शंका—पहले कहे हुए सम्यक्त्व के लक्षण के साथ इस लक्षण का विरोध क्यों न माना जाय? अर्थात् पहले लक्षण में प्रशमादि गुणों की अभिव्यक्ति को सम्यक्त्व कह आये हैं और इस लक्षण में आप्त आदि के विषय में श्रद्धा को सम्यक्त्व कहा है। इसलिए ये दोनों लक्षण भिन्न-भिन्न अर्थ को प्रगट करते हैं। इन दोनों में अविरोध कैसे हो सकता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, शुद्ध और अशुद्ध नय की अपेक्षा से ये दोनों लक्षण कहे गये हैं। अर्थात् पूर्वोक्त लक्षण शुद्ध नय की अपेक्षा से है और तत्वार्थ श्रद्धान रूप लक्षण अशुद्ध नय की अपेक्षा से है। इसलिए ये दोनों लक्षणों के कथन में दृष्टि भेद होने के कारण कोई विरोध नहीं आता है।

अथवा तत्त्व रुचि को सम्यक्त्व कहते हैं। यह लक्षण अशुद्धतर नय की अपेक्षा जानना चाहिए। कहा भी है कि—

छ पंच-णव-विहाणं-अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं ।
आणाए हिगमेण व सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥९६॥ गो० जी० ५६१

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा उपदेश दिये गये छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय और नव पदार्थों का आज्ञा अथवा आप्त वचन के आश्रय से अथवा अधिगम अर्थात् प्रमाण, नय, निक्षेप और निरुक्ति रूप अनुयोग द्वारों से श्रद्धान करने को सम्यक्त्व कहते हैं। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १५१ पुस्तक नम्बर १।

नोट—यह लक्षण व्यवहार से है यथार्थ में आत्म अनुभूति, आत्मप्रतीती का नाम सम्यग्दर्शन है। प्रशमादि गुणी तो मिथ्यादृष्टि में भी पाये जाते हैं उसको सम्यग्दर्शना लक्षण माना नहीं जा सकता है। द्रव्यलिंगी मुनि में यह प्रशमादि सब गुण पाये जाते हैं तो भी मिथ्यादृष्टि ही रहा जिससे सिद्ध हुआ कि लक्षण ऐसा चाहिए कि जिसमें अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असंभव नाम का दोष न हो।

(२) सम्यग्दृष्टि का स्वरूप—

सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि ।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥११०॥ गो० जी० २७-२९

णो इंदिएसु विरदो णो जीवे थावरे तसे चावि ।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥१११॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन का तो श्रद्धान करता है किन्तु किसी तत्वों को नहीं जानता हुआ गुरु के उपदेश से विपरीत अर्थ का भी श्रद्धान कर लेता है ॥११०॥

जो इन्द्रियों के विषयों से तथा त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा से विरक्त नहीं है किन्तु जिनेन्द्र देव द्वारा कथित प्रवचन का श्रद्धान करता है वह अवरति सम्यग्दृष्टि है ॥१११॥

नोट—यह सब उपचार का कथन है जिसको व्यवहार कथन किया जाता है। जिस जीव को तत्व का ज्ञान नहीं है वह तो व्यवहार से भी सम्यग्दृष्टि नहीं है। यथार्थ में आत्म प्रतीति आत्म अनुभूति वही सम्यग्दर्शन है अन्य सब कथन व्यवहार मात्र है।

(३) क्षायिक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कहाँ होती है ?

दंसण मोहणीयं कम्मं खवेदु माढवतो कम्हि आढवे दि अड्ढाइज्जेसु दीप समुद्दे सु पण्णारस कम्म भूमिसु जम्हि जिणा केवली तित्थयरा तम्हि आठवेदि ॥सूत्र नं० ११॥ लब्धि ११० ।

अर्थ—दंसण मोहनीय कर्म का क्षपण करने के लिए आरम्भ करता हुआ यह जीव कहाँ पर आरम्भ करता है ? अढाई द्वीप समुद्रों में स्थित पन्द्रह कर्मभूमियों में जहां जिस काल में जिन केवली और तीर्थंकर होते हैं वहाँ उस काल में आरम्भ करता है ॥ सूत्र नं० ११॥

दर्शन मोहनीय कर्म के क्षपण करने के प्रदेश को पूछने वाले शिष्य को क्षपण-प्रदेश बतलाने के लिए यह सूत्र आया है। "अढाई द्वीप समुद्रों में" ऐसा कहने पर जम्बू द्वीप धातकी खण्ड और पुष्करार्ध ये अढाई द्वीप ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि, इन अढाई द्वीपों में ही दर्शन मोहनीय कर्म के क्षपण को प्रारम्भ करता है। शेष द्वीपों में नहीं है। इसका कारण यह है कि शेष द्वीपों में स्थित जीवों के दर्शन मोहनीय कर्म के क्षपण करने की शक्ति का अभाव है। लवण और कालोदक संज्ञा वाले दो समुद्रों में जीव दर्शन मोहनीय कर्म का क्षपण करते हैं शेष समुद्रों में नहीं, क्योंकि, उनमें दर्शन मोह के क्षपण करने के सहकारी कारणों के अभाव है।

शंका—"अढाई" इस विशेषण शब्द के द्वारा समुद्र को विशिष्ट क्यों नहीं किया ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि "यथा सम्भव विशेषण विशेष्य भाव होता है" इस न्याय के अनुसार तीसरे अर्ध समुद्र की सम्भावना का अभाव होने से "अढाई" इस संख्या के द्वारा समुद्र विशिष्ट नहीं किया गया है। और न अढाई द्वीपों के मध्य में अढाई समुद्र है, क्योंकि, ऐसा मानने पर विरोध आता है। तथा अढाई द्वीपों से बाहिर समुद्रों में दर्शन मोहनीय कर्म का क्षपण सम्भव भी नहीं है, क्योंकि, आगे कहे जाने वाले "जहां जिन तीर्थंकर सम्भव है" इस विशेषण के द्वारा उसका प्रतिषेध कर दिया गया है। मानुषोत्तर पर्वत के पर भाग में जिन और तीर्थंकर नहीं होते है, क्योंकि, वहां पर उनका अस्तित्व मानने में विरोध आता है। अढाई द्वीप और समुद्रों में स्थित, सर्व जीवों में दर्शन मोह के क्षपण का प्रसंग प्राप्त होने पर उसका प्रतिषेध करने के लिये "पन्द्रह कर्म

भूमियों में" यह पद कहा है। जिससे उक्त अढाई द्वीपों में स्थित भोग भूमियों का प्रतिषेध कर दिया गया।

शंका—"पन्द्रह कर्म भूमियों में" ऐसा सामान्य पद कहने पर कर्म भूमियों में स्थित देव मनुष्य और तिर्यंच इन सभी का ग्रहण क्यों नहीं प्राप्त होता है ?

समाधान—नहीं प्राप्त होता है, क्योंकि, कर्म भूमियों से उत्पन्न हुए मनुष्यों की उपचार से "कर्म भूमि" यह संज्ञा की गई है।

शंका—यदि कर्म भूमियों में उत्पन्न हुए जीवों की "कर्म भूमि" यह संज्ञा है, तो भी तिर्यंचों का ग्रहण प्राप्त होता है; क्योंकि, उनकी, भी कर्म भूमियों में उत्पत्ति संभव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिनकी वहां पर ही उत्पत्ति होती है और अन्यत्र, उत्पत्ति सम्भव नहीं है उन ही मनुष्यों के पन्द्रह कर्म भूमियों का व्यपदेश किया गया है न, कि, स्वयं प्रभ, पर्वत के पर भाग में उत्पन्न होने से व्यभिचार को प्राप्त तिर्यंचों के ? कहा भी है कि—

दंसण मोहक्खवणा पट्ठवओ कम्म भूमि जादो दु।
णियमा मणुसगदीए णिट्ठवओ चावि सव्वत्थ ॥१७॥ जय०ध०अ०प-९६२

अर्थ—कर्म भूमि में उत्पन्न हुआ और मनुष्यगति में वर्तमान जीव ही नियम से दर्शन मोह की क्षपणा का प्रस्थापक अर्थात् प्रारम्भ करने वाला होता है। किन्तु उसका निष्टापक अर्थात् पूर्ण करने वाला सर्वत्र अथवा चारो गतियों में होता है ॥१७॥

शंका—मनुष्यों में उत्पन्न हुए जीव, समुद्रों में, दर्शन मोहनीय की क्षपणा का कैसे प्रस्थापन करते है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, विद्या आदि के वश में समुद्रों में आये हुए जीवों के दर्शन मोह का क्षपण होना सम्भव है।

दुषमा (दुषमा दुषमा) सुषमा सुषमा, सुषमा और सुषमा और दुषमा काल में उत्पन्न हुए मनुष्यों के दर्शन मोह का क्षपण निषेध करने के लिये "जहां जिन होते है" यह वचन कहा है। जिस काल में जिन संभव है उसी ही काल में दर्शन मोह की क्षपणा का प्रस्थापक होता है अन्यकाल में नहीं।

देश जिनों का अर्थात् श्रुत केवली, अवधिज्ञानी, और मनःपर्यय ज्ञानीयों का प्रतिषेध करने के लिए सूत्र में "केवली" इस पद का ग्रहण किया है। अर्थात् जिस काल में केवलज्ञानी होते है उसी काल दर्शन मोह की क्षपणा होती है, अन्य कालों में नहीं। तीर्थंकर नाम कर्म के उदय से रहित सामान्य केवलीयों के प्रतिषेध के लिए सूत्र में "तीर्थंकर" इस पद का ग्रहण किया है अर्थात् तीर्थंकर के पादमूल में ही मनुष्य दर्शन मोहनीय कर्म का क्षपण प्रारम्भ करते है अन्यत्र नहीं। अथवा "जिन" ऐसा कहने पर चतुर्दश पूर्व धारियों का ग्रहण करना चाहिए, 'केवली' ऐसा कहने से तीर्थंकर नाम कर्म के उदय से रहित केवल ज्ञानियों का ग्रहण करना चाहिये और 'तीर्थंकर' ऐसा कहने पर तीर्थं कर नाम कर्म के उदय से उत्पन्न हुए आठ महा प्रतिहार्य और चोंतीस अतिशयों से सहित तीर्थंकर केवलीयों का ग्रहण करना चाहिये। यह तीनों के पाद मूल में कर्म भूमिज मनुष्य दर्शन मोह का क्षपण प्रारम्भ करते है ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

यहां पर "जिन' शब्द की आवृति करके अर्थात् दुबारा ग्रहण करके जिन दर्शन मोहनीय कर्म का क्षपण प्रारंभ करते हैं ऐसा कहना चाहिये, अन्यथा, तीसरी पृथ्वी से निकले दुए कृष्ण आदिकों के तीर्थं करत्व नहीं बन सकता है ऐसा किन्हीं आचार्यो का व्याख्यान है। —इस व्याख्यान के अभिप्राय से दुषमा अतिदुषमा, सुषमा सुषमा, औरसुषमा कालोंमें उत्पन्न हुए जीवोंके दर्शन, मोहनीयकी क्षपणा नहीं होती है, अवि शिष्ट दोनों कालोंमें उत्पन्न हुए जीवोंके दर्शन मोहनीय कर्मकी क्षपणा होती है। इसका कारण यह है कि एकेन्द्रिय पर्याय से आकर (इस अवसर्पिणी के) तीसरे काल में उत्पन्न हुए वर्धन कुमार आदिकों के दर्शन मोहनीय की क्षपणा देखी जाती है। यहां पर यह व्याख्यान ही प्रधानतया ग्रहण करना चाहिये। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २४३-२४७ पुस्तक नं० ६ ।

नोट—यहां पर मूल सूत्रमें ऐसा कहा है कि "जिस काल में जिन केवली, और तीर्थंकर होते है यहां पर उस काल में दर्शन मोहकी क्षपणा प्रारंभ करते हैं यह उपचार का सूत्र है। ऐसा मानने से आत्मा पराधीन बन जाता है। जब तक जिन केवली, और तीर्थंकर न मिले तब तक क्षायिक दर्शन होता नहीं तो मोक्ष भी होता नहीं ऐसी पराधीनता हो नहीं सकती है। वस्तु का ऐसा स्वरूप नहीं है। जिस आत्माओं को आत्म अनुभूति होगई वही सभी आत्माओं जिन केवली है। यही बात श्री कुन्द कुन्द, आचार्य ने समय सार ग्रन्थ की गाथा ६ में भी कहा है। यदि वस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं होता तो तीसरी पृथ्वी से निकाला हुआ जीव वही पर्याय में तीर्थ कर होके मोक्ष जाने वाला है वही जीव वहां से क्षयोपशम सम्यक्त्व सहित ही निकलते हैं। तीर्थंकर पद के धारी और गुरुओं के पास में जाते ही नहीं हैं। वही आत्मा निश्चय से जिन केवली है वही स्वयं अपने पुरुषार्थं द्वारा क्षायिक सम्यग्दर्शन को प्राप्ति कर वही पर्याय से मोक्ष चला जाता है यही सब जीवों के लिये नियम है। सिद्धान्त सब जीवों के लिये एक ही होता है।

केवली और श्रुत केवली के पादमूल में ही दर्शन मोहकी क्षपणा होती है वह भूतिवली आचार्य का मत है जो मत वस्तु विचार करते यथार्थ प्रतीत नहीं होता है। जब कषाय पाहुड सुत्त के रचियता आचार्य 'यतिवृषभाचार्य,, कया कहते हैं। यह भी देखिये-तब मालुम होगा कि दो आचार्य के दोमत हैं किसका कथन यथार्थ है ?

दंसण मोहक्खवणा पट्ठवगो कम्म भूमिजादो दु।
णियमा मणुसगदीए णिट्ठवगो चावि सव्वत्थ ॥ ११० ॥

अर्थ—नियम से कर्म भूमि में उत्पन्न हुआ और मनुष्य गति में वर्तमान जीव ही दर्शन मोहकी क्षपणा का प्रस्थापक (प्रारंभ करने वाला) होता है किन्तु उनका निष्टापक (पूर्ण करने वाला) चारों ही गतियों में होता है ॥ ११० ॥

नोट—यहाँ पर केवली, श्रुत केवली के पादमूल में ही दर्शन मोहकी क्षपणा होती है ऐसा कोई नियम दिखाया नहीं है और यही कथन सत्य है अन्यथा तीसरी नरक से निकले जीव तीर्थंकर बन ही नहीं सकता हैं। यह न्यायसे सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टि आत्मा अपनी स्वतंत्र शक्ति से मनुष्य पर्याय में दर्शन मोह की क्षपणा कर सकता है। किन्तु परात्माओं के पाद मूल में जाने की आवश्यकता नहीं है ऐसा वस्तु का स्वरूप है।

मिच्छत्त वेदणीए कम्मे ओवट्टिदम्मि सम्मत्ते।
खवणाए पट्ठवगो जहण्णगो तेउलेस्साए ॥१११॥

अर्थ—मिथ्यात्व वेदनीय कर्म के सम्यक्त्व प्रकृति में अपवर्तित अर्थात संक्रमित कर देने पर जीव दर्शन मोह की क्षपणा का (प्रारम्भक) प्रस्थापक कहलाता है। दर्शन मोहनीय की क्षपणा के प्रस्थापक जघन्य तेजो लेश्या में वर्तमान होना चाहिए ॥१११॥

अंतोमुहुत्तं मद्धं दंसण मोहस्स णियमसा खवगो।
खीणे देव-मणुसे सिया वि णामाउगो बंधो ॥११२॥

अर्थ—अन्तमुहूर्त काल तक दर्शन मोह का नियम से क्षपणा करते हैं। दर्शन मोह के क्षीण हो जाने के बाद देव और मनुष्यगति सम्बन्धी नाम कर्म की प्रकृतियों का और आयु कर्म का स्यात् बन्ध करता है और स्यात् बन्ध नहीं भी करता है ॥११२॥

खवणाए पट्ठवगो जम्हि भवे णियमसा तदोअण्णो।
णाधिच्छदि तिण्णि भवे दंसणमोहम्मि खीणम्मि ॥११३॥

अर्थ—दंसण मोह का क्षपण प्रारम्भ करने वाला जीव जिस भव में क्षपण का प्रस्थापक होता है उससे अन्य तीन भवों में नियम से उल्लंघन नहीं करता है। दर्शन मोह के क्षीण हो जाने पर तीन भव में नियम से मुक्त हो जाता है ॥११३॥

संखेजा च मणुस्सेसु खीण मोहा सहस्ससो णियमा।
सेसासु खीणमोहा गदीसु णियमा असंखेज्जा ॥११४॥

अर्थ—मनुष्यों में क्षीण मोही अर्थात क्षायिक सम्यग्दृष्टि नियम से संख्यात सहस्र होते हैं। शेष गतियों में क्षायिक सम्यग्दृष्टि जोव नियम से असंख्यात होते हैं ॥११४॥ कषाय पाहुड़ सुत्त पृष्ठ ६३९-६४१ पुस्तक नम्बर १

(४) सात प्रकृतियों का क्या युगपत् नाश होता है ?

शंका—सात प्रकृतियों का क्या युगपत् नाश होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, तीन करण करके अनिवृत्ति करण के चरम समय में पहले अनन्तानुबन्धी चार का एक साथ में क्षय करता है तत्पश्चात फिर से तीन करण करके उनमें से अधः प्रवृत करण और अपूर्व करण इन दोनों को उल्लंघन करके अनिवृति करण के संख्यात भाग व्यतीत हो जाने पर मिथ्यात्व का क्षय करता है। इसके अनन्तर अन्तमुहूर्त व्यतीत कर सम्यग्मिथ्यात्व का क्षय करता है। तत्पश्चात अन्तमुहूर्त व्यतीत कर सम्यक् प्रकृति का क्षय करता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २१६ पुस्तक नम्बर १

(५) अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन कब होती है ?

शंका—संयम रूप परिणाम की अपेक्षा अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन करने वाला असंयत सम्यग्दृष्टि का परिणाम अनन्तगुणा हीन होता है ऐसी अवस्था में उससे असंख्यातगुणी प्रदेश निर्जरा कैसे हो सकती है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, संयम रूप परिणामों की अपेक्षा अनन्तानुबन्धी कषायों की विसंयोजना में कारण भूत सम्यक्त्व रूप परिणाम अनन्त गुणे उपलब्ध होते हैं।

शंका—यदि सम्यक्त्व रूप परिणामों के द्वारा अनन्तानुबन्धी कषायों की विसंयोजना की जाति है तो सभी सम्यग्दृष्टियों जीवों में उसकी विसंयोजना का प्रसंग आता है ?

समाधान—ऐसा पूछने पर उत्तर में कहते है कि—सब सम्यग्दृष्टियों में उसकी विसंयोजना का प्रसंग नहीं आ सकता, क्योंकि, विशिष्ट सम्यक्त्व रूप परिणामों के द्वारा ही अनन्तानुबन्धी कषायों की विसंयोजना स्वीकार की गई है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ८२ पुस्तक नम्बर १२

(६) तीर्थंकर गोत्र का बन्ध कहां प्रारम्भ होता है।

कितने कारणों से जीव तीर्थंकर नाम गोत्र को बान्धता है। सूत्र नम्बर ३९॥

शंका—नाम कर्म के अवयव भूत तीर्थंकर कर्म की गोत्र संज्ञा कैसे सम्भव है ?

समाधान—यह शंका ठीक नही है, क्योंकि, उच्च गोत्र के बन्ध का अविनाभावी होने से तीर्थंकर कर्म के भी गोत्रत्व सिद्ध है।

शंका—शेष कर्मों के प्रत्ययों को न कहकर केवल तीर्थंकर नाम कर्म की ही प्रत्यय प्ररूपणा क्यों की जाती है ?

समाधान—सोलह कर्म मिथ्यात्व निमितक है, क्योंकि, मिथ्यात्व के उदय विना इनके बन्ध का अभाव है। पचीस कर्म अनन्तानुबन्धी निमित्तक है, क्योकि, अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय के विना उनका बन्ध नहीं पाया जाता। दश कर्म असंयम निमित्तक है, क्योंकि, अप्रत्याख्यानावरण के उदय विना उनका बन्ध नहीं होता। प्रत्याख्यानावरण चतुष्क अपने ही सामान्य उदय का निमित्तक है। क्योंकि, उसके विना प्रत्याख्यानावरण चतुष्क का बन्ध पाया नही जाता। छह कर्म प्रमाद निमित्तक हैं, क्योंकि, प्रमाद के विना उनका बन्ध नहीं पाया जाता। देवायु मध्यम विशुद्धि निमित्तक है, क्योंकि, अप्रमत काल का संख्यात भाग वीत जाने पर अतिशय विशुद्धि के स्थान को न पाकर मध्यम विशुद्धि स्थान में ही देवायु का बन्धविच्छेद देखा जाता है। आहारद्विक विशिष्ट राग के संयुक्त संयम के निमित्त से बान्धता है, क्योकि, ऐसे संयम के विना उसका बन्ध नहीं पाया जाता है। पर भव निम्बन्धक सत्ताइस कर्म एवं हास्य, रति, भय जुगुप्सा, पुरुष वेद और चार संज्वलन कषाय ये सब कर्म कषाय विशेष के निमित्त से बन्धने वाला है, क्योंकि, इसके विना उनके भिन्न स्थानों में बन्ध व्युच्छेद की उत्पति नहीं बनती। सोलह कर्म कषाय समान्य के निमित्त से बन्धने वाले है, क्योंकि, अणुमात्र कषाय के भी होने पर उनका बन्ध पाया जाता है। साता वेदनीय योग निमित्तक है, क्योंकि, सूक्ष्म योग में भी उसका बन्ध पाया जाता है। इस प्रकार चूंकि सब कर्मो के प्रत्यय युक्ति बल से जाने जाते है। अतः उनका यहां कथन नहीं किया गया। किन्तु इस तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध प्रत्यय नहीं जाना जाता, कारण कि यह मिथ्यात्व निमित्तक तो हो नहीं सकता, क्योंकि, मिथ्यात्व के होने पर उसका बन्ध नहीं पाया जाता। असंयम निमित्तक भी नहीं है, क्योंकि, संयतों में भी उसका बन्ध देखा जाता है। कषाय सामान्य निमित्तक भी नहीं है, क्योंकि, कषाय के होने पर भी उसका बन्ध विच्छेद देखा जाता है। अथवा कषाय के होने पर भी उसके बन्ध का प्रारम्भ नही होता। कषाय मन्दता निमित्तक भी उनका बन्ध नहीं है, क्योंकि, तीव्र कषाय वाले नारकियों के भी उसका बन्ध देखा जाता हैं। तीव्र कषाय भी उसका बन्ध का कारण नही है, क्योंकि, मन्द कषाय वाले सर्वार्थ विमान वासी देवो में और अपूर्व करण गुणस्थानवर्ती जीवों में भी उसका बन्ध देखा जाता है। सम्यक्त्व भी उसके बन्ध का कारण नहीं हैं, क्योंकि, सम्यग्दृष्टि के भी तीर्थंकर कर्म का बन्ध नहीं पाया जाता। केवल दर्शन विशुद्धिता भी उसका बन्ध का कारण नहीं है, क्योंकि, दर्शन मोह क्षय कर चुकने वाले भी किन्हीं जीवों के उसका बन्ध नहीं पाया जाता है। अतएव इसके बन्ध का कारण कहना ही चाहिए। अथवा असंयत, प्रयत, और संयोगी संज्ञाओं के समान यह सूत्र सब कर्मों की प्रत्यय प्ररूपणा मे अन्तदीपक है इसलिए यह सूत्र आया

है। कितने ही कारणों से क्या एक से, क्या दो से, क्या तीन से इस प्रकार यहाँ प्रश्न करना चाहिए। इस प्रकार संयम में स्थित जीवों के निश्चयोत्पादनार्थ उत्तर सूत्र कहते हैं।

वहाँ इन सोलह कारणों से जीव तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म को बान्धता है। सूत्र नम्बर ४०।

मनुष्य गति में ही तीर्थंकर कर्म के बन्ध का प्रारम्भ होता है। अन्यत्र नहीं, इस बात के सामनार्थ सूत्र में "वहाँ" ऐसा कहा गया है।

शंका—मनुष्य गति के सिवाय अन्य गतियों में उससे बन्ध का प्रारम्भ क्यों नहीं होता ?

समाधान—अन्य गतियों में उसके बन्ध का प्रारम्भ नहीं होता, क्योंकि, तीर्थंकर नाम कर्म के बन्ध के प्रारम्भ का सहकारी कारण केवल ज्ञान से उपलक्षित जीव द्रव्य है अतएव मनुष्य गति के बिना उसके बन्ध प्रारम्भ की उत्पत्ति का विरोध है। धवल ग्रन्थ पुस्तक नं० ८ पृष्ठ ७६-७८।

नोट—तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध का सहकारी कारण "केवल ज्ञान से उपलक्षित जीव द्रव्य है" वह केवल धवलाकार की मान्यता है मूल सूत्र में यह उल्लेख नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि यह कोई नियम नहीं है कि तीर्थंकर या सामान्य केवलियों के पादमूल में ही यह प्रकृति का बन्ध का आरम्भ हो।

(७) उपशम सम्यक्त्व में तीर्थंकर नाम कर्म की प्रकृति का बन्ध होता है या नहीं ?

महाबन्धे परिमाणाणुगम प्ररूपणा में सूत्र नं० २७० में लिखा है कि—

अवधि दर्शन और उपशम सम्यक्त्व में इसी प्रकार जानना चाहिए। विशेष उपशम सम्यक्त्व में तीर्थंकर के बन्धक संख्यात है अबन्धक असंख्यात है। विशेषार्थ—कुछ आचार्यों का मत है कि प्रथमोपशम सम्यक्त्व का काल अल्प होने से उसमें तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नहीं होता किन्तु द्वितीयोपशम में तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध के विषय में मतभेद नहीं है। गो० क० गाथा ७३ में कहा है कि—

पढमउवसमिये सम्मे सेसतिये अविरदादिचत्तारि।

तित्थयर बंध परिमया ण रा केवलि दुगंते॥ महाबन्ध पृष्ठ १८३ पुस्तक नंबर १।

(८) कृष्णादि लेश्या में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है या नहीं—

महाबन्ध ग्रन्थ में पृष्ठ नम्बर १८४ पुस्तक नं० १ में सूत्र नं० २७३ में लिखा है कि—कृष्ण, नील कापोत लेश्या में इसी प्रकार है विशेष कृष्ण नील लेश्या में तीर्थंकर के बन्धक संख्यात हैं तथा अबन्धक अनन्त है।

(९) दर्शन विशुद्धता किसे कहते हैं ?

"दर्शन" का अर्थ सम्यग्दर्शन है उसकी विशुद्धता का नाम दर्शन विशुद्धता है। उस दर्शन विशुद्धता से जीव तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म को बांधते हैं। तीन मूढ़ताओं से रहित और आठ मदों से व्यतिरिक्त जो सम्यग्दर्शन भाव होता ह उसे दर्शन विशुद्धता कहते हैं।

शंका—केवल उस एक दर्शन विशुद्धता से ही तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध कैसे संभव है, क्योंकि, ऐसा मानने से सब सम्यग्दृष्टियों के तीर्थंकर नाम कर्म के बन्ध का प्रसंग आवेगा ?

समाधान—इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि शुद्ध नय के अभिप्राय से तीन मूढ़ताओं और आठ मलों से रहित होने पर भी दर्शन विशुद्धता नहीं होती, किन्तु, पूर्वोक्त गुणों से अपने निज स्वरूप को प्राप्त

कर स्थित सम्यग्दर्शन की साधुओं को प्रासुक परित्याग, साधुओं की समाधि संधारणा, साधुओं की वैय्यावृति का संयोग, अरहन्त भक्ति, बहुश्रुत भक्ति, प्रवचन भक्ति, प्रवचन वत्सलता, प्रवचन प्रभावना, और अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग युक्तता में प्रवर्तने का नाम विशुद्धता है। उस एक ही विशुद्धता से जीव तीर्थंकर कर्म को बांधता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ७९-८० पुस्तक नम्बर ८।

नोट—"सम्यग्दर्शन की विशुद्धता का नाम दर्शन विशुद्धता हैं। उस दर्शन विशुद्धता से जीव तीर्थंकर नाम गोत्र को बांधते हैं।" इससे सिद्ध हुआ कि सम्यग्दर्शन से बन्ध पड़ता है। यह कहना उपचार मात्र ही है किन्तु ऐसा मानना मिथ्यात्व है। सम्यग्दर्शन संवर भाव है और संवर भाव से बन्ध कैसे होगा? क्षायिक सम्यग्दर्शन में विशुद्धता क्या आने वाली है। वह तो जैसा है तैसा है। जैसा चतुर्थ गुणस्थान में क्षायिक सम्यग्दर्शन है वैसा ही केवली तथा सिद्ध परमात्मा में है उसमें अन्तर नहीं है। दर्शन विशुद्धता उसे कहते हैं कि सम्यग्दर्शन हुआ बाद तत्व विचार में जो उपयोग लगता है उसी का नाम दर्शन विशुद्धता है वह पुन्य भाव है जिससे कोई जीव को तीर्थंकर नाम कर्म प्रकृति का बन्ध पड़ जाता है तो भी सम्यग्दृष्टि ऐसे बन्ध को भी हेय समझता है। बन्ध विकार भाव बिना होवे नहीं और जो जीव विकार को उपादेय मानते हैं वही मिथ्यात्व है। मान्यता का नाम मिथ्यात्व है तत्व विचार रूपी पुन्य भाव मिथ्यात्व नही है।

(१०) असंयम भाव ब्यालीस प्रकार के है।

पंचरस पंचवण्णा दोगंधा अट्ठफास सत्तसरा।
मणसा चोद्दसजीवा बादालीसं तु अविरमणं ॥२३॥

अर्थ—पांच रस, पांच वर्ण, दो गन्ध, आठ स्पर्श, सात स्वर, मन और चौदह प्रकार के जीव इनकी अपेक्षा अविरमण अर्थात् इन्द्रिय व प्राणी रूप असंयम बियालीस प्रकार का है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३५२ पुस्तक नम्बर १३।

(११) अवृति सम्यग्दृष्टि मनुष्य को अपर्याप्त काल में वेद तथा लेश्या कितनी है?

असंयत सम्यग्दृष्टि मनुष्यों के अपर्याप्त काल में एक पुरुष वेद होता है। केवल एक पुरुष वेद होने का यह कारण है कि देव, नारकी और मनुष्य असंयत सम्यग्दृष्टि जीव मर कर यदि मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं तो नियम से पुरुष वेदी मनुष्यों में ही उत्पन्न होते हैं। अन्य वेद वाले मनुष्यों में नहीं इससे एक पुरुष वेद ही कहा है। वह जीव को भाव से छहों लेश्याएं होती हैं। अविरति अपर्याप्त मनुष्यों के भाव से छहों लेश्या होने का कारण यह है कि प्रथम पृथ्वी से लेकर छठी पृथ्वी पर्यन्त पृथ्वीयों में रहने वाला असंयत सम्यग्दृष्टि नारकी मरण करके मनुष्यों में अपनी-अपनी पृथ्वी के योग्य लेश्याओं के साथ ही उत्पन्न होते हैं इसलिए तो उनके कृष्ण, नील और कापोत लेश्याएं पाई जाती हैं। उसी प्रकार असंयत सम्यग्दृष्टि देव भी मरण करके मनुष्यों में उत्पन्न होते हुए अपनी-अपनी पीत, पद्म, शुक्ल लेश्याओं के साथ ही मनुष्यों में उत्पन्न होते है इसलिए मनुष्य असंयत सम्यग्दृष्टियों के अपर्याप्त काल में छहों लेश्याएं पाई जाती हैं। धवल ग्रन्थ पुस्तक नं० २ पृष्ठ ५१०-५११।

शंका—तिर्यंच और मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले सम्यग्दृष्टि देव अन्तर्मुहूर्त तक अपनी पहली लेश्याओं को नहीं छोड़ते हैं इसका क्या कारण है?

समाधान—इसका यह कारण है कि बुद्धि में स्थिति है परमेष्टी जिनके अर्थात् परमेष्टी के

स्वरूप चिन्तवन में जिनकी बुद्धि लगी हुई है ऐसे सम्यग्दृष्टि देवों के मरण काल में मिथ्यादृष्टि देवों के समान संक्लेश नही पाया जाता है, इसलिये अपर्याप्त कालमें पहले की शुभलेश्याए ज्यों कि त्यों बनी रहती है किन्तु नारकी सम्यग्दृष्टि तो अपनी पुरानी चिरतन लेश्याओं के साथ ही मनुष्यों से उत्पन्न होते हैं। पृष्ठ ६५६-६५७

शंका—नारकी सम्यग्दृष्टि जीव मरते समय अपनी पुरानी कृष्णादि अशुभ लेश्याओं को क्यों नहीं छोड़ते है ?

समाधान—इसका कारण यह है कि नारकी जीवों के जाति विशेष से ही अर्थात् स्वभावत संक्लेश की अधिकता होती है इस कारण मरण काल में भी व उन्हें नहीं छोड़ सकते हैं। पृष्ठ नं० ६५८ पुस्तक नं० २

नोट – लेश्यासे संक्लेश परिणाम होवे यह कथन उपचार का है। यदि ऐसा ही वस्तु स्वभाव है तो प्रथम दूसरी स्वर्ग में सव जीवों को पीत लेश्या है तो भी यह जीव निगोद में भी जा सकता है जब नारकी जीवों में उत्कृष्ट कृष्णादि लेश्याए होते संन्ते नियम से वह संज्ञी पंचन्द्रिय ही बनते हैं तो कैसे वनते हैं ? इससे सिद्ध हुआ कि यह सब उपचार के कथन हैं। –

(१२) संख्यात वर्षायुष्क सम्यग्दृष्टि मरण कर किस गति में जाते है ?

एक्कं हि चेव देवगदिं गच्छंति। सूत्र नं० १६४ ॥

अर्थ—संख्यात वर्षायुष्क सम्यग्दृष्टि मनुष्य एक मात्र देव गति को जाते हैं।

शंका—यहां पर "संख्यात वर्षायुष्क सम्यग्दृष्टि मनुष्य चारों ही गतियों को जाता है,, ऐसा कहना चाहिए, क्योंकि, सम्यग्दृष्टि मनुष्यों का चारों गतियों में गमन पाया जाता है। वह इस प्रकार है। सम्यग्दृष्टि मनुष्य देव गति को तो जाते ही हैं, क्योंकि, यह बात प्रस्तुत सूत्र में ही कही गई है। और सम्यग्दृष्टि मनुष्य नरक गति को भी जाते हैं, क्योंकि, "नारकी सम्यक्त्व से नरक में प्रवेश करके नियम से सम्यक्त्व सहित वहाँ से निकलते हैं" ऐसा सूत्र का वचन है। तिर्यंच सम्यग्दृष्टि जीव तो नरक गति में जाते ही नहीं हैं, क्योंकि, उनमें दर्शन मोहनीय के क्षपण का अभाव होने से क्षायिक सम्यक्त्व का अभाव है। और न तिर्यंच गति सम्बन्धी वेदक सम्यग्दृष्टि नरक गति को जाते हैं, क्योंकि, उनके मरण काल में नरकायु कर्म की सत्ता का अभाव है। देव और नारकी सम्यग्दृष्टि नरक गति को जाते ही नहीं है, क्योंकि, ऐसा जिन भगवान् का उपदेश नहीं है। इसलिए पारिशेष न्याय से सम्यग्दृष्टि मनुष्य ही नरक गति को जाते हैं, यह वात सिद्ध हुई। सम्यग्दृष्टि मनुष्य तिर्यंच गति को भी जाते हैं, क्योंकि, तिर्यंच गति को सम्यक्त्व सहित जाने वाले जीव नियम से सम्यक्त्व सहित ही वहाँ से निकलते हैं ऐसा जिन भगवान् का उपदेश है। यहाँ तिर्यंचों में देव, नारकी और तिर्यंच सम्यग्दृष्टि जीव तो उत्पन्न होते ही नहीं, क्योंकि, इन जीवों को यहाँ उत्पन्न होने का प्रतिपादन करने वाला जिन भगवान् का उपदेश पाया नहीं जाता। इसलिए तिर्यंचों में सम्यग्दृष्टि मनुष्य ही उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार मनुष्यों में मनुष्य सम्यग्दृष्टि जीवों की उत्पत्ति साध लेना चाहिए।

समाधान— यहाँ उक्त शंका का परिहार करते हैं वह इस प्रकार है—जिन मिथ्यादृष्टियों ने देवायु छोड़ अन्य आयु बांध कर पश्चात् सम्यक्त्व ग्रहण किया है उनका यहाँ ग्रहण नहीं किया गया है। इसलिए ऐसा कहा गया है कि "सम्यग्दृष्टि मनुष्य एकमात्र देव गति को ही जाते हैं।"

शंका—देव गति को छोड़ अन्य गतियों की आयु बांध कर जिन मनुष्यों ने पश्चात् सम्यक्त्व ग्रहण किया है उनका यहाँ ग्रहण क्यों नहीं किया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, पुनः मिथ्यात्व में जाकर अपनी बांधी हुई आयु के वश से उत्पन्न होने वाले उन जीवों के सम्यक्त्व का अभाव पाया जाता है।

शंका—सम्यक्त्व को ग्रहण करके और दर्शन मोहनीय का क्षपण करके नरकादिक में उत्पन्न होने वाले भी सम्यग्दृष्टि मनुष्य होते हैं उनका यहाँ क्यों नहीं ग्रहण किया ?

समाधान—सम्यक्त्व का माहात्म्य दिखलाने और पूर्व में बांधे हुए आयु कर्म का माहात्म्य उत्पन्न करने के लिए उक्त जीवों का यहाँ ग्रहण नहीं किया गया। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४७५ पुस्तक नं० ६।

(१३) कार्मण काय योग में असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में उपशम सम्यग्दृष्टि से क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव संख्यात गुणे विशेष हैं।

कार्मण काय शरीर योगियों में असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में उपशम सम्यग्दृष्टियों से क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव संख्यात गुणित है। सूत्र नं० १४२॥

शंका—पल्योपम के असंख्यात भाग प्रमाण क्षायिक सम्यग्दृष्टियों से असंख्यात जीव विग्रह क्यों नहीं करते है ?

समाधान—न तो असंख्यात क्षायिक सम्यग्दृष्टि देव एक साथ मरते हैं, अन्यथा मनुष्यों में असंख्यात क्षायिक सम्यग्दृष्टियों के होने का प्रसङ्ग आजायगा। न मनुष्यों में ही असंख्यात क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव मरते हैं, क्योंकि, उनमें असंख्यात क्षायिक सम्यग्दृष्टियों का अभाव है। न असंख्यात क्षायिक सम्यग्दृष्टि तिर्यंच ही मारणान्तिक समुद्घात करते हैं, क्योंकि, उनमें आय के अनुसार व्यय होता है। इसलिए विग्रह गति में क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव संख्यात ही होते हैं। तथा संख्यात होते हुए भी वे उपशम सम्यग्दृष्टियों से संख्यात गुणित है, क्योंकि, उपशम सम्यग्दृष्टियों के (आय के) कारण से क्षायिक सम्यग्दृष्टियों के (आय का) कारण संख्यात गुणा हैं। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २९९-३०० पुस्तक नम्बर ५

(१४) असंयत सम्यग्दृष्टि का असंयम भाव कौनसा भाव है ?

ओदइएण भावेण पुणो असंजदो ॥६॥ स, सि, १-८

अर्थ—असंयत सम्यग्दृष्टि का असंयत्व भाव औदयिक भाव है॥सूत्र नम्बर ६॥

सम्यग्दृष्टियों के तीनों भाव कहकर असंयत के उसके असंयतत्व अपेक्षा कौनसा भाव होता है इस बात के बतलाने के लिए यह सूत्र आया है। चूँकि संयम के घात करने वाले कर्मों के उदय से यह असंयत रूप होता है इसलिए "असंयत" यह औदयिक भाव है।

शंका—अधस्तन गुणस्थानों के असंयतपने को औदयिक क्यों नहीं कहा ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, इसी ही सूत्रों से उन अधस्तन गुणस्थानों के औदयिक असंयत भाव की उपलब्धि होती हैं। चूँकि यह सूत्र अन्त दीपक है इसलिए असंयत भाव को अन्त में रख देने से वह पूर्वोक्त सभी सूत्रों का अंग बन जाता है अथवा अतीत सर्व सूत्रों में अस्तित्व की प्रकाशित करता है। इसलिए सभी अतीत गुणस्थानों का असंयम भाव औदयिक होता है यह बात सिद्ध हुई।

शंका—यह "असंयत" पद आदि में न कहकर यहाँ पर कहने का क्या अभिप्राय है ?

समाधान—यहाँ तक के गुणस्थानों के असंयम भाव की अन्तिम सीमा बताने के लिए और ऊपर के गुणस्थानों के असंयम भाव के प्रतिवंध करने के लिए यह असंयत पद यहाँ पर कहा है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १०१ पुस्तक नम्बर ६

नोट—चोथे गुणस्थान में असंयत भाव को औदयिक कहना यह उपचार है। यथार्थ में वहां क्षयोपशमिक भाव है अर्थात् मिस्र भाव है। अनन्तानुबन्धी कषाय के अभाव में स्वभाव भाव है और अप्रत्याख्यानादि कषायों की अपेक्षा विकार है ऐसा मिश्र भाव का नाम क्षयोपशमिक है। मिथ्यात गुणस्थान में चारित्र गुण में अंश में भी शुद्धता नहीं है जिससे वहां औदयिक भाव है परन्तु तीसरे गुणस्थान में अंश में शुद्धता एवं अंश में अशुद्धता है, यदि न होते तो अनन्तानुबन्धी के सदभाव में तीसरे गुणस्थान में भी २५ प्रकृतियों का बन्ध होना चाहिए परन्तु वहां २५ प्रकृतियों का बन्ध के अभाव रूप जितनी शुद्धता है वही मिला हुआ भाव का नाम मिश्र भाव है जिसको क्षयोपशमिक भी कहा जाता है। सूत्र की रक्षा के लिए टीकाकार ने इस विषय में शंका न उठाई वही शंका तीसरे गुणस्थान में उठा कर सिद्ध किया है कि जितनी अंश में शुद्धता है वही स्वभाव भाव है जितनी अंश में अशुद्धता है यह विकार है ऐसा मिला हुआ भाव का नाम मिश्र अर्थात् क्षयोपशमिक भाव है।

(१५) असंयम भाव किसे कहते हैं।

असंयम प्रत्यय, इन्द्रियासंयम, और प्राणयसंयम, के भेद से दो प्रकार है। उनमें इन्द्रियासंयम, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, शब्द, और ज्ञानेन्द्रिय जनित असंयम के भेद में छह प्रकार है। प्राण असंयम भी पृथ्वी जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस जीवों को विराधना से उत्पन्न असंयम के भेद से छह प्रकार हैं। सब असंयम मिलकर बारह होते हैं। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २१ पुस्तक नं० ८

(१६) द्वितीय नरक से सातवीं नरक तक असंयत सम्यग्दृष्टि के कौन से भाव हैं ?

विदियाए जाव सत्तमीए पुढवीए णेरइएसु असंजद सम्मादिट्ठि।
त्ति को भावो उवसमिओ वा खओवसमिओ वा भावो॥ सूत्र नं० १७॥

अर्थ—द्वितीय पृथ्वी से सातवीं पृथ्वी तक नरकों में असंयत सम्यग्दृष्टि यह कौनसा भाव है ? औपशमिक भाव भी है और क्षयोपशमिक भाव भी है। १७

चूंकि दर्शन मोहनीय के उदयाभाव लक्षण वाले उपशम के द्वारा उपशम सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होती है इसलिए वह औपशमिक है ?

शंका—यदि उदयाभाव को भी उपशम कहते हैं तो देवपना भी औपशमिक होगा क्योंकि, वह तीनों गतियों के उदयाभाव से उत्पन्न होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वहां पर तीनों गतियों का स्तिवुक संक्रमण के द्वारा उदय पाया जाता है अथवा देव गति नाम कर्म का उदय पाया जाता है इसलिए देव पर्याय को औपशमिक नहीं कहा जा सकता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २१० पुस्तक नं० ५

नोट—यहां पर जो भाव कहा है वह श्रद्धा गुण की अपेक्षा से कहा है।

(१७) असंयत किस कारण से होता है ?

असंजदो णाम कधं भवदि। सूत्र नं० ५४

अर्थ—जीव असंयत कैसे होता है। ५४॥

संजम घादीणं कम्माण मुदएण॥ ५५

अर्थ—संयम के घाती कर्मों के उदय से जीव असंयत होता है। ५५॥

शंका—एक अप्रत्याख्यानावरण का उदय ही असंयम का हेतु माना गया है; क्योंकि, वही संयमा संयम के प्रतिषेध प्रारम्भ कर समस्त संयम का घाती होता है। तब फिर "संयम घाती कर्मों के उदय से असंयत होता है ऐसा कहना कैसे घटित होता है।

समाधान—नहीं, क्योंकि, दूसरे भी चारित्रावरण कर्मों के उदय के बिना केवल अप्रत्याख्याना वरण के देश संयम को घात करने का सामर्थ्य नहीं है।

शंका—संयम तो जीव का स्वभाव है इसीलिए वह अन्यके द्वारा विनिष्ट नहीं किया जा सकता क्योंकि, उसका विनाश होने पर तो जीव द्रव्य के भी विनाश का प्रसंग आयगा?

समाधान—नहीं आ जायगा, क्योंकि, जिस प्रकार उपयोग जीव का लक्षण माना गया है उसी प्रकार संयम जीव का लक्षण नहीं होता।

शंका—लक्षण किसे कहते हैं?

समाधान—जिसके अभाव में द्रव्य का भी अभाव हो जाता है। वही उस द्रव्य का लक्षण है। जैसे पुद्गल का लक्षण रूप, रस, गन्ध, स्पर्श व जीव का लक्षण उपयोग। अतएव संयम के अभाव में जीव द्रव्य का अभाव नहीं होता। धवल गन्थ पुस्तक नं० ७ पृष्ठ ९६

(१८) सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि के बन्ध प्रत्यय कितने हैं।

एकेन्द्रिय से एक कायिक विराधना करता है इस प्रकार दो असंयम प्रत्यय, अनन्तानुवन्धी चतुष्टय को छोड़कर शेप वारह कपायों में तीन कषाय प्रत्यय, तीन वेदों में एक, हास्य रति, और अरति-शोक ये दो युगलों में से एक युगल, दस योगों में से एक योग, इस प्रकार ये सभी नौ प्रत्यय होते हैं। एक इन्द्रिय से छह कायों की विराधना करता है इस प्रकार सात असंयम प्रत्यय, अनन्तानुवन्धी से रहित कपायों में से तीन कषाय, तीन वेदों में से एक वेद, हास्य-रति और अरति शोक में से एक युगल, भय और जुगुप्सा ये दो, और दस योगों में से एक योग इस प्रकार ये सोलह प्रत्यय होते हैं। इन जघन्य उत्कृष्ट नौ और सोलह प्रत्ययों से सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि जीव विवक्षित सोलह प्रकृतियों को वान्धता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २६ पुस्तक नं० ८

(१९) असंयत सम्यग्दृष्टि तिर्यंच देवों में कहां तक जाता है?

सूत्र—देवों में जाने वाले असंयत सम्यग्दृष्टि संख्यातवर्षायुष्क तिर्यंच सौधर्मइशान स्वर्ग से लगाकर आरण अच्युत तक के कल्पवासी देवों में जाते है। सूत्र नं० १३३

शंका—संख्यातवर्षायुष्क असंयत सम्यग्दृष्टि तिर्यंच मरण कर आरण अच्युत कल्प से ऊपर क्यों नहीं जाते है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, तिर्यंच सम्यग्दृष्टि जीवों में संयम का अभाव पाया जाता है। और संयम के बिना आरण अच्युत कल्प से ऊपर गमन होता नहीं है। इस कथन से आरण अच्युत कल्प से

ऊपर उत्पन्न होने वाले मिथ्यादृष्टि जीवों के साथ व्यभिचार दोष भी नहीं आता क्योंकि, उन मिथ्यादृष्टियों के भी भाव संयम रहित द्रव्य संयम होना संभव है। धवल गन्थ पृष्ठ ४६५ पुस्तक नं० ६

नोट—अणुव्रत धारण करने वाला जीव ही आरण-अच्युत तक के कल्पवासी देव बनते हैं यह बात इस सूत्र से विरुद्ध पड़ती है। एलक क्षुलक भी अच्युत स्वर्ग तक जा सकते हैं उसी प्रकार असंयत सम्यग्दृष्टि तिर्यंच भी वहां तक जाते हैं। तब एलक क्षुलक की कौनसी विशेषता है कि उनकी पूजा की जावे ? शान्ति से विचार करने की बात है।

संयमा-संयम गुणस्थान

(१) तिर्यंच और मनुष्य अणुव्रत कब धारण करता है ?

तिर्यंचों के समान मनुष्यों के जन्म लेने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त काल से ही अणुव्रतों के ग्रहण करने का अभाव है। अर्थात् तिर्यंच जन्म लेने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त बाद अणुव्रत ग्रहण करते हैं और मनुष्य जन्म लेने के पश्चात् आठ वर्ष बाद अणुव्रत ग्रहण कर सकते हैं। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३७८ पुस्तक नंबर ४।

(२) क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव अणुव्रत धारण करते हैं ?

संयतासंयत गुणस्थान में क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव सबसे कम है ॥ सूत्र नं० १८ ॥

क्योकि अणुव्रत सहित क्षायिक सम्यग्दृष्टियों का होना अत्यन्त दुर्लभ है। तथा तिर्यंचों में क्षायिक सम्यक्त्व के साथ संयमासंयम नहीं पाया जाता है, क्योंकि, तिर्यंचों में दर्शन मोहनीय कर्म की क्षपणा का अभाव है।

शंका—यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—दर्शन मोहनीय का क्षपण करने वाले जीव नियम से मनुष्य गति में होते हैं। जिन्होंने पहले तिर्यंचायु का बन्ध कर लिया है ऐसे जो भी मनुष्य क्षायिक सम्यक्त्व के साथ तिर्यंचों में उत्पन्न होते है उनके संयमासंयम नहीं होते हैं, क्योंकि, भोगभूमि को छोड़कर उनकी अन्यत्र उत्पत्ति असंभव है। इसलिए क्षायिक सम्यग्दृष्टि संयतासंयत जीव संख्यात ही होते हैं, क्योंकि, संयमासंयम के साथ क्षायिक सम्यक्त्व पर्याप्त मनुष्यों को छोड़कर दूसरी गति में नहीं पाया जाता है। और इसलिए संयतासंयत क्षायिक सम्यग्दृष्टि आगे कही जाने वाली असंख्यात राशियों से कम होते हैं। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २५६-२५७ पुस्तक नम्बर ५ एवं।

तीनों प्रकार के मनुष्यों में संयतासंयत गुणस्थान में क्षायिक सम्यग्दृष्टि सबसे कम है। सूत्र नंबर ६६ ॥

क्योंकि, दर्शन मोहनीय का क्षय करने वाले और संयमासंयम में वर्तमान बहुत जीवों का अभाव है। दर्शन मोहनीय का क्षय करने वाले मनुष्य प्रायः असंयमी होकर रहते हैं। वे संयम को प्राप्त होते हुए प्रायः महाव्रत को ही धारण करते हैं। अणुव्रत को नहीं यह अर्थ कहा गया है। पृष्ठ २७७ पुस्तक नं० ५।

नोट—यहाँ पर "क्षायिक सम्यग्दृष्टि संयतासंयत गुणस्थान में सबसे कम है" ऐसा सूत्र में कहा है इसका यह अर्थ है कि जिस जीवों को उपशम या क्षयोपशमिक सम्यक्त्य था और अणुव्रत ग्रहण किया है

ऐसे जीव वही गुणस्थान में दर्शन मोह की क्षपणा कर क्षायिक सम्यग्दृष्टि बन सकते हैं ऐसे जीवों की अपेक्षा वही गुणस्थान में सबसे कम कहा है, परन्तु चतुर्थ गुणस्थान में क्षायिक सम्यग्दर्शन होगया है, ऐसे जीवों को अणुव्रत ग्रहण करने के भाव होते ही नहीं हैं, वह सीधा महाव्रत ही ग्रहण करते हैं। उन आत्माओं में सिंह वृती जागृत हुई है जिससे महाव्रत ही ग्रहण करते हैं परन्तु अणुव्रत ग्रहण नहीं करते हैं, यथार्थ में अणुव्रत ग्रहण करना ही हीन पुरुषार्थी जीवों का कार्य है। तीर्थङ्कर आदि महापुरुष कभी भी अणुव्रत ग्रहण करते ही नहीं, तो भी पुराणों में आठ वर्ष के बाद सभी तीर्थङ्कर अणुव्रत ग्रहण करते हैं ऐसा जो लेख है वह मात्र उपचार से कहा गया है ऐसा श्रद्धान करना चाहिए।

(३) संयतासंयत क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव संख्यात होते हैं।

शंका—संयतासंयत क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव संख्यात कैसे हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, संयतासंयत क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव मनुष्य गति छोड़कर शेष गतियों में नहीं पाये जाते हैं और पर्याप्त मनुष्य संख्यात ही होते है। इसलिए संयतासंयत क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव संख्यात ही होते हैं।

शंका—जिन जीवों ने पहले तिर्यंचायु का बन्ध कर लिया है, ऐसे जीव सम्यक्त्व को ग्रहण करके और दर्शन मोहनीय का क्षय करके तिर्यंचों में उत्पन्न होते हुए पाये जाते हैं, इसलिए संयतासंयत क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव असंख्यात होना चाहिए ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिन्होंने पहले तिर्यचायु का बन्ध कर लिया है ऐसे तिर्यंचों में उत्पन्न हुए क्षायिक सम्यग्दृष्टियों के संयमासंयम गुणस्थान नहीं पाया जाता है, क्योंकि, भोगभूमि के बिना अन्यत्र उनकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है। तथा तिर्यंचों में दर्शन मोहनीय की क्षपणा नियम से नहीं पाई जाती है, क्योंकि, दर्शन मोहनीय की क्षपणा नियम से मनुष्य गति में ही होती है ऐसा आगम वचन है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४७५ पुस्तक नम्बर ३।

(४) संयतासंयत गुणस्थान में चारित्र की अपेक्षा कौनसा भाव है ?

संजदासंजद-प्रमत्त-अप्रमत्त संजदा त्ति को भावो ॥ खओवसमिओ भावो ॥ सूत्र नं० ७॥ स० सि० १-८ गो० जी० १३।

चूंकि क्षयोपशमिक नामक चारित्र मोहनीय कर्म का उदय होने पर संयतासंयत, प्रमत संयत और अप्रमत संयतपना उत्पन्न होता है। इसलिए ये तीनों ही भाव क्षयोपशमिक हैं। प्रत्याख्यानावरण चतुष्क और नौ नोकषायों के उदय के सर्व प्रकार से चारित्र विनाश करने की शक्ति का अभाव है इसलिए उनके उदय की क्षय संज्ञा है। उन्हीं प्रकृतियों की उत्पन्न हुए चारित्र को अथवा श्रेणी को आवरण नहीं करने के कारण उपशम संज्ञा है। क्षय और उपशम इन दोनों के द्वारा उत्पन्न हुए ये उक्त तीनों भाव भी क्षयोपशमिक हो जाते हैं।

शंका—यदि ऐसा माना जाय तो प्रत्याख्यानावरण कषाय का सर्वघाती पना नष्ट हो जाता है ?

समाधान—वैसा मानने पर भी प्रत्याख्यानावरण कषाय का सर्वघाती पना नष्ट नहीं होता है, क्योंकि, प्रत्याख्यानावरण कषाय अपने प्रतिपक्षी सर्व प्रत्याख्यान (संयम) गुण को घातता है इसलिए वह सर्वघाती कहा जाता है। किन्तु सर्व अप्रत्याख्यान को नहीं घातता है। क्योंकि, उसका इस विषय में व्यापार नहीं है। इसलिए इस प्रकार से परिणत प्रत्याख्यानावरण कषाय के सर्वघाती संज्ञा सिद्ध है।

जिस प्रकृति के उदय होने पर जो गुण उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है। उसकी अपेक्षा वह प्रकृति सर्वघाती संज्ञा को नहीं प्राप्त होती है। यदि ऐसा न माना जाय तो अति प्रसङ्ग दोष आ जायगा । धवल ग्रन्थ पृष्ठ १०१ पुस्तक नम्बर ५

नोट—यहां पर चारित्रगुण की शुद्धा-शुद्ध अवस्था होने के कारण क्षयोपशमिक भाव माना गया है जो परम सत्य है। जब "कषाय पाहुड सूत्त" में यति वृषभाचार्य पंचम गुणस्थान में चारित्रगुण का क्षायिक भाव मानते हैं जो यथार्थ नही है मात्र उपचार से ही कह दिया है। जो आगम में लिखा है वह सत्य माना जाय तो आत्मा की कैसी दशा हो जावे ये पाठक स्वयं विचार करें ? अज्ञानी लोगों का यह कहना निरन्तर रहता है कि "आगम में लिखा है आप मानते हो नहीं ? यदि नहीं मानते हो तो आप मिथ्यादृष्टि हो"। शान्ति से विचार करो कि ऐसी बातें कैसे मानी जावे ? यदि नहीं मानते हो तो समाज में वीतन्डावाद खड़ा हो जाता है ऐसी अवस्था में चुप्प ही ग्रहण करना ही उचित है। चूर्णि सूत्र में क्या लिखा है वह देखिये—

संयतासंयत जीव अप्रत्याख्यानावरण कषाय का वेदन नहीं करता है शेष चार प्रत्याख्यानावरणीय कषाय भी संयमासंयम का कुछ भी आवरण नहीं करती हैं। शेष चार संज्वलन कषाय और नव नोकषाय ये उदय को प्राप्त होकर संयमा संयम को देश घाती करती है। यदि प्रत्याख्यानावरणीय कषाय को वेदन करता हुआ संयतासंयत शेष चारित्र मोहनीय प्रकृतियों का वेदन न करे तो सन्यमा संयम लब्धि क्षायिक हो जाय। अतएव चार संज्वलन और नव नोकषाय इनमें से एक भी कषाय के उदय होने से संयमा संयम लब्धि क्षयोपशमिक सिद्ध होती है। सूत्र नम्बर ८६-९०

विशेषार्थ—संयमा संयम लब्धि क्षायिक भाव है, क्षयोपशमिक भाव है, अथवा औदयिक भाव है ? इस प्रकार की शंका का उपर्युक्त सूत्रों से उहा पोह पूर्वक समाधान किया गया है। उसका खुलासा यह है कि संयता संयत के अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होता नहीं है, अतः संयमा संयम लब्धि को औदयिक भाव नहीं माना जा सकता है। यदि कहा जाय कि संयता संयत के प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहता है अतः उसे औदयिक मान लेना चाहिए ? तो चूर्णिकार इस आशंका का समाधान करते हैं कि प्रत्याख्यानावरण कषाय तो संयमा संयम का आवरण या घात आदि कुछ भी करने में असमर्थ है, क्योंकि, उसका कार्य संयम का घात करना है संयमा संयम का नहीं। इसलिये उसके उदय होने पर भी संयमा संयम लब्धि को औदयिक नहीं माना जा सकता है। यहाँ अनन्तानुबन्धी के उदय की तो सम्भावना नहीं है, क्योंकि, उसका उदय दूसरे गुणस्थान में ही विच्छिन्न हो चुका है। अतएव पारि शेष न्याय से संयता संयत के चारों संज्वलनों और नौ नोकषायों का उदय रहता हैं। ये सभी कषाय देशघाती बना देता है। यह देशघाती संज्वलनादि कषायों के उदय से उत्पन्न होने वाले संयमा संयम लब्धि रूप कार्य में संज्वलनादि कषाय रूप कारण का उपचार करके उसे देशघाती कहा गया है। इस प्रकार चार कषाय और नौ नोकषायों के स्पर्धकों के उदया भावी क्षय से, उन्हीं के देशघाती स्पर्धकों के उदय से संयमा संयम लब्धि को क्षयोपशमिक भाव माना गया है। यदि संयता संयत प्रत्याख्याना वरण कषाय का वेदन करते हुए संज्वलनादि शेष कषायों का वेदन न करे तो संयमासंयम लब्धि को क्षायिक भाव मानना पड़ेगा ? ऐसा कहने का अभिप्राय यह है कि संयता संयत के संयम को घात करने वाले अप्रत्याख्यानावरण कषाय का तो उदय है नहीं, और प्रत्याख्यानावरण का उदय है सो वही संयम का भले ही घात करे पर संयमा संयम का वह उपघात या अनुग्रह कुछ भी न करने में समर्थ नहीं है। अतः प्रत्याख्याना वरण कषाय का वेदन करते हुए यदि संज्वलनादि कषायों का उदय न माना जाय तो संयमा संयम

लब्धि क्षायिक सिद्ध होती है किन्तु आगम में उसे क्षायिक माना नहीं गया हैं अतः असंदिग्ध रूप से वह क्षयोपशमिक ही सिद्ध होती है। पृष्ठ ६६७-६६८ कषाय पाहुड सुत्त १

नोट—यदि संयता संयत गुणस्थान में वीतराग माने जावे तो क्षायिक भाव कह सकते हो, परन्तु वहाँ वीतराग अवस्था नहीं है। क्षायिक भाव उसे कहते हैं कि गुण की सम्पूर्ण शुद्ध अवस्था हो और उनके घात करने वाले निमित्त का अत्यन्त नाश हो उसे क्षायिक भाव कहते हैं, परन्तु पंचम गुणस्थान में चारित्र गुण की शुद्धा शुद्ध अवस्था है और उस गुण के घात करने वाले मोहनीय कर्म का सद्भाव भी है, उसको क्षायिक भाव कैसे कह सकते हो ? यथार्थ में पंचम गुणस्थान में चारित्र गुण की मिश्र अवस्था है जिससे वहाँ क्षयोपशमिक ही भाव है क्षायिक भाव मानना मिथ्याज्ञान है। उपचार को उपचार मानना सम्यक्ज्ञान है परन्तु उपचार को सत्य मानना मिथ्या ज्ञान है।

(५) संयता संयत गुणस्थान में बन्ध प्रत्यय कितने हैं।

एक इन्द्रिय से एक काय की विराधना करता है इस प्रकार दो असंयम प्रत्यय अनन्तानुबन्धी चतुष्टय तथा अप्रत्याख्यानावरण चतुष्टय से रहित आठों कर्मो में से दो कषाय प्रत्यय तीन वेदों मे एक, प्रत्यय, हास्य, रति और अरति, शोक इन दो युगलों में से एक युगल प्रत्यय, नौ योग में से एक योग प्रत्यय, इस प्रकार ये आठ जघन्य प्रत्यय हे। एक इन्द्रिय से पाँच कायों की विराधना करता है इस प्रकार छह असंयम प्रत्यय, दो कषाय प्रत्यय, एक वेद प्रत्यय, हास्य, रति और अरति शोक ये दो युगलो मे से एक युगल प्रत्यय, भय और जुगुप्सा तथा नौ योगों में से एक योग प्रत्यय इस प्रकार ये चौदस उत्कृष्ट प्रत्यय हैं। यह जघन्य और उत्कृष्ट आठ और चौदह प्रत्ययो से संयता संयत जीव विवक्षित सालह प्रकृतियो की बान्धता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २६-२७ पुस्तक नम्बर ८।

प्रमत अप्रमत गुणस्थान

(१) संयम कितने प्रकार का है।

शंका—सूक्ष्म सांपराय संयम क्या एक रुप है अथवा पांच यम रुप ? इनमें से यदि एक यमरुप है तो पंचयम रुप छेदोपस्थापना संयम से मुक्ति अथवा उपशम श्रेणि का आरोहण नहीं बन सकता है, क्योंकि, सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान की प्राप्ति के विना मुक्ति की प्राप्ति और उपशम श्रेणी का आरोहण नहीं वन सकेगा ? यदि सूक्ष्म सांपराय पांच यम रुप है तो एक यम रुप सामायिक संयम को धारण करने वाले जीवों को पूर्वोक्त दोनों दोष प्राप्त होते हैं ? यदि छेदोपस्थापना को उभय यमरूप मानते है तो एक यम और पांच यम के भेद से सूक्ष्म साम्पराय के भेद हो जाते हैं ?

समाधान—आदि के दो विकल्प तो ठीक नहीं है, क्योंकि, ऐसा हमने माना नहीं है। इसी प्रकार तीसरे विकल्प में दिया गया दोष भी संभव नहीं है। क्योंकि पंच यम और एक यम के भेद से संयम मे कोई भेद ही संभव नहीं है। यदि एक यम और पंच यम संयम के न्युनाधिक भाव कारण होते तो संयम में भेद भी हो जाता। परन्तु ऐसा तो है नहीं, क्योंकि संयम के प्रति दोनों में कोई विशेषता नहीं है। अतः सूक्ष्म साम्पराय संयम के इन दोनों की अपेक्षा दो भेद नही हो सकते है।

शंका—जबकि उन दोनों की अपेक्षा संयम के दो भेद नहीं हो सकते हैं तो पाँच प्रकार के संयम का उपदेश कैसे वन सकता है ?

समाधान—यदि पाँच प्रकार के संयम घटित नहीं होता है तो मत होओ ?

शंका—तो संयम कितने प्रकार के हैं ?

समाधान—संयम चार प्रकार का है, क्योंकि, पांचवा संयम पाया नहीं जाता हैं।

धवलग्रन्थ पृष्ठ ३७६-३७७ पुस्तक नम्बर १

(२) सामायिक संयम का स्वरूप

मैं सर्व प्रकार के सावद्ययोग से विरत हूँ, इस प्रकार द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सकल सावद्य योग के त्याग को सामायिक संयम कहते हैं।

शंका—इस प्रकार एक व्रत का नियम वाला जीव मिथ्यादृष्टि क्यों नहीं हो जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिसमें सम्पूर्ण चारित्र के भेदों का संग्रह होता है ऐसे सामान्यग्राही द्रव्यार्थिक नयको समीचीन दृष्टि मानने में कोई विरोध नहीं आता है।

शंका—यह सामान्य संयम सम्पूर्ण भेदों का संग्रह करने वाला है यह कैसे जाना जाता है।

समाधान—"सर्व सावद्ययोग" पद के ग्रहण करने से ही यहां पर अपने सम्पूर्ण भेदों का संग्रह कर लिया गया है, यह बात जानी जाती हैं। यदि यहां पर संयम के किसी एक भेद की ही मुख्यता होती तो 'सर्व' शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता था, क्योंकि, ऐसे स्थल पर 'सर्व' शब्द के प्रयोग करने में विरोध आता हैं। धवलग्रन्थ पृष्ठ ३६९ पुस्तक नम्बर १। कहा भी है कि—

संगहिय सयल संजममेय जमभणुत्तरं दुरवगम्मं।
जीवो समुव्वंहतो सामाइय संजदो होई ॥१८७॥ गो० जी० ४७०

अर्थ—जिसमें समस्त संयमों का संग्रह कर लिया है ऐसे लोकोत्तर और दुरधीगम्य अभेद रुप एक यम को धारण करने वाला जीव सामायिक संयत होता है। पृष्ठ ३७२ पुस्तक १

नोट—यहां पर सामायिक संयम का लक्षण 'सर्व सावद्ययोग का त्याग' किया है अर्थात् पाप भावों की निवृती और पुन्य भावों में प्रवृति करना उसी को यहां सामायिक संयम माना हैं। यह यथार्थ में चारित्र अर्थात् संयम नहीं है परन्तु यह पुन्य भाव है। पुन्य भाव को चारित्र कहना व्यवहार है, पुन्य भाव को पुन्य भाव कहना निश्चय है और पुन्य भाव को चारित्र मानना यह मान्यता का नाम मिथ्यात्व है। पुन्य भाव मिथ्यात्व और सम्यग्दर्शन नहीं है, वह तो पुन्य ही है—ऐसी श्रद्धा करे नहीं तो मिथ्यात्व भाव छूट नहीं सकता है।

(३) छेदोपस्थापना संयम का स्वरूप

सर्व सावद्ययोग रूप एक वृत का छेद अर्थात् दो, तीन, आदि के भेद से उप स्थापन करने को अर्थात् व्रतों के आरोपण करने को छेदोपस्थापना शुद्धि संयम कहते हैं। सम्पूर्ण व्रतों के सामान्य की अपेक्षा एक मानकर एक यम को ग्रहण करने वाला होने से सामायिक शुद्धि संयम द्रव्यार्थिक नय रुप है। और उसी एक व्रत को पांच अथवा अनेक प्रकार के भेद करके धारण करने वाला होने से छेदोपस्थापना शुद्धि संयम पर्यायार्थिक नय रूप है। यहां पर तीक्ष्ण बुद्धि मनुष्यों के अनुग्रह के लिए द्रव्यार्थिक नय का उपदेश दिया गया है और मन्द बुद्धि प्राणीयों का अनुग्रह करने के लिये पर्यायार्थिक नयका उपदेश दिया गया है इसलिए इन दोनों संयमों में अनुष्ठान कृत कोई विशेषता नहीं है।

शंका—तब तो उपदेश की अपेक्षा संयम को भले ही दो प्रकार का कह दिया जावे पर वास्तव में तो वह एक ही है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह कथन हमें इष्ट ही है और इसी अभिप्राय से सूत्र में स्वतन्त्र रूप से सामायिक पद की साथ "शुद्धि संयत" पद का ग्रहण नहीं किया है। कहा भी है कि—

छेतूण य परियायं पोराणं जो ठवेइ अप्पाणं।
पंचजमे धम्मे सो छेदोवट्ठावओ जीवो ॥ १८८ ॥ गो० जी० ४७१

अर्थ—जो पुरानी सावद्य व्यापार रूप पर्याय को छोड़कर पांच यम रूप धर्म में अपने को स्थापित करता है वह जीव छेदोप स्थापक संयमी कहलाता है। धवल ग्रन्थ पृष्ट ३७० पुस्तक नं० १

(४) परिहार शुद्धि संयम का स्वरूप

परिहार शुद्धि संयत प्रमत और अप्रमत इन दो गुणस्थानों में ही होते हैं। सूत्र नम्बर १२६॥ स० सि० १-८

शंका—ऊपर के आठवें आदि गुणस्थानों में यह संयम क्यों नहीं होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिनकी आत्माए ध्यान रूपी अमृत के सागर में निमग्न है, जो वचन यम (मौन) का पालन करते हैं, और जिन्होंने आने जाने रूप संपूर्ण शरीर सम्बन्धी व्यापार संकुचित कर लिया है, ऐसे जीवों के शुभाशुभ क्रिया का परिहार बन ही नहीं सकता है। क्योंकि गमनागमन आदि क्रियाओं में प्रवृति करने वाला ही परिहार कर सकता है, प्रवृति नहीं करने वाला नहीं। इसलिए ऊपर के आठवें आदि ध्यान अवस्था को प्राप्त गुणस्थानों में परिहार शुद्ध संयम नहीं बन सकता है।

शंका—परिहार शुद्धि संयम क्या एक यम रूप है, या पाँच यम रूप है ? इनमें से यदि एक यम रूप है तो उसका सामायिक मे अन्तर्भाव होना चाहिए, और यदि पांच यम रूप है तो छेदोप स्यापना में अन्तर्भाव होना चाहिये। संयम को धारण करने वाले पुरुष के द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा इन दोनो सयमों में भिन्न तीसरे सयम की सम्भावना तो है नही। इसलिए परिहार शुद्धि संयम नहीं बन सकता हैं ?

समाधान—नहीं, क्योकि, परिहार ऋद्धि रूप अतिशय की उत्पत्ति की अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थापना से परिहार शुद्धि संयम कथंचित भेद है।

शका—सामायिक और छेदोपस्थापना रूप अवस्था का त्याग न करते हुए ही परिहार ऋद्धि रूप पर्याय से यह जीव परिणत होता है, इसलिए सामायिक और छेदोपस्थापना से भिन्न यह संयम नहीं हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, पहले अविद्यमान परन्तु पीछे से उत्पन्न हुई परिहार ऋद्धि की अपेक्षा उन दोनों संयमों से इसका भेद है। अतः यह बात निश्चित हो जाती है कि सामायिक और छेदोपस्थापना संयम से परिहार शुद्धि संयम भिन्न है।

शंका—परिहार ऋद्धि की आगे के आठवें आदि गुणस्थानों में सत्ता पाई जाती है, अतएव वहाँ पर इस संयम का सदभाव मान लेना चाहिए ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यद्यपि आठवें आदि गुणस्थानों में परिहार ऋद्धि पाई जाती है परन्तु वहाँ पर परिहार करने रूप उसका कार्य नहीं पाया जाता है इसलिए आठवें आदि गुणस्थानों में परिहार शुद्धि संयम का अभाव कहा गया है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३७४-३७६ पुस्तक नम्बर १

(५) मिथ्यात्व गुणस्थान से सीधा सप्तम गुणस्थान तक भाव हो सकता है।

एक अनादि मिथ्यादृष्टि जीव ने तीनों ही करण करके उपशम सम्यक्त्व और संयम को एक साथ प्राप्त होते हैं। (देखिये आलाप नम्बर ६६, १२१, १२४, १४५ पृष्ठ २७, ३७, ३८, ४३ धवल ग्रन्थ पुस्तक नम्बर ५

(६) आहारक शरीर होने का कारण।

शंका—चार संज्वलन कषाय, नौ कषाय और नौ योग इस प्रकार यदि बाईस ही आहारक द्वीक के प्रत्यय है तो सर्व अप्रमत और अपूर्वकरण संयतों में आहारक द्वीक का बन्ध होना चाहिए। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि वैसा पाया नहीं जाता है। अतएव अन्य भी प्रत्यय होना चाहिए ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, अन्य प्रत्ययों का मानना अभीष्ट ही है।

शंका—वे अन्य प्रत्यय कौनसे हैं जिनके द्वारा अहारक द्वीक का बन्ध होता है ?

समाधान—तीर्थंकर आचार्य बहुश्रुत, अर्थात् उपाध्याय, और प्रवचन इनमें अनुराग करना आहारक द्वीक का कारण है। इसके अतिरिक्त प्रमाद का अभाव भी आहारक द्वीक का कारण है, क्योंकि प्रमाद सहित जीवों में आहारक द्वीक का बन्ध पाया नहीं जाता।

शंका—अपूर्व करण के उपरिम सप्तम भाग में इनका बन्ध क्यों नहीं होता है ?

समाधान—नहीं होता, क्योंकि, वहाँ तीर्थंकर, आचार्य, बहुश्रुत, और प्रवचन विषयक राग से उत्पन्न हुए संस्कारों का अभाव है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ७२-७३ पुस्तक नम्बर ८

(७) आहारक एवं आहारक मिश्र काय योग प्रमत अवस्था में ही होता है।

शंका—प्रमाद रहित संयतों के आहारक काय योग क्यों नहीं होता है ?

समाधान—प्रमाद रहित जीवों के आहारक काय योग उत्पन्न कराने में निमित्त कारण का अभाव है।

शंका—आहारक काय योग उत्पन्न कराने में निमित्त कारण क्या है ?

समाधान—आज्ञाकनिष्टता, अर्थात् आप्त वचन में सन्देह जनित शिथिलता के होने से उत्पन्न प्रमाद और असंयम की बहुलता से उत्पन्न प्रमाद आहारक कायिक उत्पत्ति का निमित्त कारण है। जो कार्य प्रमाद के निमित्त से उत्पन्न होता है, वह प्रमाद रहित जीव में नहीं हो सकता है। अथवा यह स्वभाव ही है कि आहारक काय योग प्रमत गुणस्थान वालों के ही होता है, प्रमाद रहित जीवों के नहीं। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३०६ पुस्तक नम्बर १

नोट—यहाँ जो निमित्त कहा है वह उपचार मात्र हैं यथार्थ में आहारक शरीर नामा नाम कर्म के प्रकृति के उदय में ही आहारक काय योग होता है वह उदय आना आत्मा के भावों के आधीन नहीं है। काल के ही आधीन है। गमन आदि क्रिया प्रमत अवस्था में ही होती है इसीलिए छठवें गुणस्थान में ही उनका उदय होता है सातवां गुणस्थान में नहीं। यद्यपि उसी समय अबुद्धिपूर्वक छठवां-सातवां गुणस्थान

होता है, परन्तु बुद्धिपूर्वक अवस्था में छठवां ही गुणस्थान है जिससे बुद्धिपूर्वक की अपेक्षा से ही आहारक शरीर का काल अन्तर्मुहूर्त बतलाया है। जब अबुद्धिपूर्वक अवस्था में दो समय छठवां गुणस्थान में ही आत्मा है और एक समय सातवां गुणस्थान में जाता है यह क्रम चालू है उसमें अन्तर नहीं पड़ता है इससे भी सिद्ध होता है कि अबुद्धिपूर्वक का नाम क्रमबद्ध पर्याय है और बुद्धिपूर्वक का नाम अक्रम पर्याय हैं। अबुद्धिपूर्वक से सविपाक निर्जरा होती है और बुद्धिपूर्वक से अविपाक निर्जरा होती है।

(८) आहार काय योग पर्याप्तकों के और आहार मिश्र काय योग अपर्याप्तकों के होता हैं—

आहारक काय योग पर्याप्तकों के और आहार मिश्र काय योग अपर्याप्तकों के होता है। सूत्र नम्बर ७८॥

शंका—आहारक शरीर को उत्पन्न करने वाला साधु पर्याप्तक ही होता है, अन्यथा उसके संयमपना नहीं बन सकता है। ऐसी हालत में आहारक मिश्र काय योग अपर्याप्तकों के होता है यह कथन नही बन सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ऐसा कहने वाला आगम के अभिप्राय को ही नहीं समझा है। आगम का अभिप्राय तो इस प्रकार है कि आहारक शरीर को उत्पन्न करने वाला साधु औदारिक शरीरगत छह पर्याप्तियों की अपेक्षा पर्याप्तक भले ही रहा आवे किन्तु आहारक शरीर सम्बन्धी पर्याप्ति के पूर्ण होने की अपेक्षा यह अपर्याप्तक है।

शंका—पर्याप्त और अपर्याप्तपना एक साथ एक जीव में सम्भव नहीं है, क्योंकि, एक साथ एक जीव में इन दोनों के रहने में विरोध आता है।

समाधान—नहीं, क्योंकि, एक साथ एक जीव में पर्याप्त और अपर्याप्त सम्बन्धी योग सम्भव नहीं है यह बात हमें इष्ट है।

शंका—तो फिर हमारा पूर्व कथन को क्यों न मान लिया जाय ? अतः आपके कथन में विरोध आता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, भूतपूर्व न्याय की अपेक्षा निरोध असिद्ध है। अर्थात् औदारिक शरीर सम्बन्धी पर्याप्तपने की अपेक्षा आहारक मिश्र अवस्था में भी पर्याप्तपने का व्यवहार किया जा सकता है।

शंका—जिसके औदारिक शरीर सम्बन्धी छह पर्याप्तियां नष्ट हो चुकी हैं और आहारक शरीर सम्बन्धी पर्याप्तियां अभी तक पूर्ण नहीं हुई हैं ऐसे अपर्याप्तक साधु के संयम कैसे हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिसका लक्षण आस्रव का निरोध करना है ऐसे संयम का मन्द योग (आहारक मिश्र योग) के साथ होने में कोई विरोध नहीं आता है। यदि इस मन्द योग के साथ संयम के होने में विरोध आता ही है ऐसा माना जावे तो समुद्घात को प्राप्त हुए केवली के भी संयम नहीं हो सकेगा ? क्योंकि, वहाँ पर भी अपर्याप्तक सम्बन्धी योग का सद्भाव पाया जाता है इसमें कोई विशेषता नही है।

शंका—संयतासंयत से लेकर सभी गुणस्थानों में जीव नियम से पर्याप्तक होते हैं इस आर्ष वचन के साथ उपर्युक्त कथन का विरोध क्यों नहीं आजायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा प्रवृत हुए इस सूत्र के अभिप्राय से आहारक

शरीर की अपर्याप्त अवस्था में भी औदारिक शरीर सम्बन्धी छह पर्याप्तियों के होने में कोई विरोध नहीं आता है।

शंका—कार्मण काय योग पर्याप्त होने पर होता है या अपर्याप्त होने पर होता है अथवा दोनों अवस्था में होता है यह कुछ भी नहीं कहा इसलिए इसका निश्चय कैसे किया जाय ?

समाधान—विग्रह गति को प्राप्त चारों गति के जीवों के और समुद्घातगत केवलियों के कार्मण काय योग होता है। इस सूत्र के अनुसार अपर्याप्तकों के ही कार्मण काय योग होता है इस कथन का निश्चय हो जाता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३१८-३१९ पुस्तक नम्बर १।

(९) आहारक काय योगी जीवों के स्त्री तथा नपुंसक वेद नहीं होता है।

शंका—आहारक काय योगी जीवों के स्त्री वेद और नपुंसक वेद नहीं होने का क्या कारण है ?

समाधान—क्योंकि, आहारक ऋद्धि अप्रशस्त वेदों के साथ उत्पन्न नहीं होती है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ६६७ पुस्तक नम्बर २।

शंका—मनुष्य स्त्रियों के आहारक काय योग और अहारक मिश्र काय योग नहीं होने का क्या कारण है ?

समाधान—यद्यपि जिनके भाव की अपेक्षा स्त्री वेद और द्रव्य की अपेक्षा पुरुष वेद होता है वे (भावस्त्री) जीव भी संयम को प्राप्त होते हैं। किन्तु द्रव्य की अपेक्षा स्त्री वेद वाले जीव संयम को नहीं प्राप्त होते हैं, क्योंकि, वे सचेल अर्थात वस्त्र सहित होते हैं। फिर भाव की अपेक्षा स्त्री वेदी और द्रव्य की अपेक्षा पुरुष वेदी संयम धारी जीवों के आहारक ऋद्धि उत्पन्न नहीं होती हैं, किन्तु द्रव्य और भाव पुरुष वेदी की अपेक्षा से पुरुष वेदी वाले जीवों के ही आहारक ऋद्धि उत्पन्न होती हैं। इसलिए स्त्री वेद वाले मनुष्यों के आहारकद्विक के बिना योग होते हैं। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ५१३ पुस्तक नम्बर २

(१०) मनः पर्यय ज्ञान के साथ उपशम सम्यक्त्व रहते हैं ?

शंका—मनः पर्यय ज्ञानी के औपशमिक सम्यक्त्व कैसे होता है ?

समाधान—जो वेदक सम्यक्त्व के पीछे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होता है उस सम्यग्दृष्टि के प्रथम समय में भी मनः पर्यय ज्ञान पाया जाता है। किन्तु मिथ्यात्व से पीछे आये हुए उपशम सम्यग्दृष्टि जीव के मनःपर्यंयज्ञान नहीं पाया जाता है। क्योंकि, मिथ्यात्व से पीछे आये हुए उपशम सम्यग्दृष्टि के उत्कृष्ट उपशम सम्यक्त्व के काल में भी ग्रहण किये गए संयम के प्रथम समय से लगा कर सर्व जघन्य मनः पर्यय ज्ञान को उत्पन्न करने वाला संयम काल बहुत बड़ा है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ७२७ पुस्तक नम्बर २।

(११) औपशम सम्यक्त्व में मनः पर्यय ज्ञान तथा परिहार विशुद्धि संयम रहता है या नहीं ?

उपशम सम्यग्दृष्टि के मनः पर्यय ज्ञान होता है इसका कारण यह है कि मनःपर्ययज्ञान के साथ उपशम श्रेणी से उतर कर प्रमत संयत गुणस्थान को प्राप्त हुए जीव के औपशमिक सम्यक्त्व के साथ मनःपर्ययज्ञान पाया जाता है। किन्तु मिथ्यात्व से पीछे आये हुए उपशम सम्यग्दृष्टि प्रमत संयत जीव के मनः पर्यय ज्ञान नहीं पाया जाता है, क्योंकि, प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि प्रमत संयत जीव के मनः पर्यय ज्ञान की उत्पति सम्भव नहीं है। उसी प्रकार उपशम सम्यक्त्व के साथ में परिहार विशुद्धि संयम नहीं होता है।

इसका कारण यह है कि मिथ्यात्व से पीछे आये हुए प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि जीव तो परिहार विशुद्धि संयम को प्राप्त होते ही नहीं है, क्योंकि, सर्वोत्कृष्ट भी प्रथमोपशम सम्यक्त्व के काल के भीतर परिहार विशुद्धि संयम की उत्पति के निमित्त भूत विशिष्ट संयम तीर्थंकर चरण मूलवसति, प्रत्याख्यान पूर्व, महार्णव पठन आदि गुणों के होंने की सम्भावना का अभाव है । और न उपशम श्रेणी पर चढ़ने वाले द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि जीवों के भी परिहार विशुद्धि संयम की सम्भावना है, क्योंकि, उपशम श्रेणी पर चढ़ने के पूर्व ही जब अन्तमुंहूर्त काल शेष रहता है तभी परिहार विशुद्धि संयमी अपने गमनागमनादि विहार को उपसंहरित अर्थात् संकुचित या बन्द कर लेता है। और उपशम श्रेणी से उतरते हुए भी द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि संयत जीवों के परिहार विशुद्धि संयम की संभावना नहीं है, क्योंकि, श्रेणी चढ़ने के पूर्व में ही परिहार विशुद्धि संयम के नष्ट हो जाने पर उपशम सम्यक्त्व के साथ परिहार विशुद्धि संयम का विहार सम्भव नहीं है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ८२२-२३ पुस्तक नम्बर २।

(१२) उपशम सम्यक्त्व की साथ आहारक ऋद्धि क्यों नहीं होती है ?

शंका—उपशम सम्यक्त्व के साथ आहारक ऋद्धि क्यों नहीं उत्पन्न होती है ?

समाधान—क्योंकि, अत्यन्त अल्प उपशम सम्यक्त्व के काल में आहारक ऋद्धि का उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। न उपशम सम्यक्त्व के साथ उपशम श्रेणी में आहारक ऋद्धि पाई जाती है, क्योंकि, वहाँ पर प्रमाद का अभाव है। न उपशम श्रेणी उतरते हुए जीवों के भी उपशम सम्यक्त्व के साथ आहारक ऋद्धि पाई जाती है, क्योंकि, जितने काल के द्वारा आहारक ऋद्धि उत्पन्न होती है उपशम सम्यक्त्व उतने काल तक अवस्थान नहीं रहता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २६८ पुस्तक नम्बर ५।

(१३) आहारक काय योगी और संयत का कौनसा भाव है ?

आहारक काय योगी और आहारक मिश्र काय योगियों में प्रमत संयत यह कौनसा भाव है ? क्षयोपशमिक भाव है। सूत्र नम्बर ३६॥

क्योंकि, यथाख्यात चारित्र के आवरण करने वाले चारों संज्वलन और सात नोकषायों के उदय होने पर भी प्रमाद सहित संयम पाया जाता है।

शंका—यहाँ पर क्षयोपशमिक भाव कैसे कहा ?

समाधान—आहारक काय योग और आहारक मिश्र काय योगियों में क्षयोपशमिक भाव होने का कारण यह है कि उदय को प्राप्त चार संज्वलन और सात नोकषाय इन ग्यारह चारित्र मोहनीय प्रकृतियों के देश घाती स्पर्धकों की उपशम संज्ञा है, क्योंकि, सम्पूर्ण रूप से चारित्र घातने की शक्ति का वहाँ पर उपशम पाया जाता है। तथा उन्हीं ग्यारह चारित्र मोहनीय प्रकृतियों के सर्वघाती स्पर्धकों की क्षय संज्ञा है, क्योंकि, वहाँ पर उनका उदय में आना नष्ट होगया है। इस प्रकार क्षय और उपशम इन दोनों से उत्पन्न होने वाला संयम क्षयोपशमिक कहलाता है। अथवा चारित्र मोह सम्बन्धी उक्त ग्यारह कर्म प्रकृतियों के उदय की ही क्षयोपशम संज्ञा है, क्योंकि, चारित्र के घातने की शक्ति के अभाव की ही क्षयोपशमिक संज्ञा है। इस प्रकार से क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला प्रमाद युक्त संयम क्षयोपशमिक है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २२१ पुस्तक नम्बर ५।

(१४) प्रमत संयत संयतों में कौनसा सम्यग्दष्टि जीव कम है ?

प्रमत संयत और अप्रमत संयत गुणस्थान में उपशम सम्यग्दृष्टि जीव सबसे कम हैं। सूत्र

नं० २१ ।। क्योंकि, एक तो उपशम सम्यग्दृष्टियों के संचय का काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है और दूसरे उपशम सम्यक्त्व के साथ बहुलता से संयम को प्राप्त होने वाले जीवों का अभाव है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २५८ पुस्तक नम्बर ५ ।

(१५) कोष्ट बुद्धि किसे कहते हैं ?

शालि, व्रिही, जौ, गैहूँ आदि के आधारभूत कोथली पल्ली आदि का नाम कोष्ट है। समस्त द्रव्य व पर्यायों को धारण करने रूप गुण से कोष्ट के समान होने से उस बुद्धि को कोष्ट कहा जाता है। कोष्ट रूप जो बुद्धि वह कोष्ट बुद्धि है। इसका अर्थ धारण काल जघन्य से संख्यात वर्ष और उत्कृष्ट से असंख्यात वर्ष है। क्योंकि, असंख्यात और संख्यात काल तक धारणा रहती है। ऐसा सूत्र पाया जाता है।

शंका—यह कहाँ से होता है ?

समाधान—धारणावरणीय कर्म के तीव्र क्षयोपशम से होता है।

उक्त बुद्धि धारकों की भी कोष्ट बुद्धि संज्ञा है। क्योंकि, गुण और गुणी के कोई भेद नहीं है। जिन शब्द की ऊपर सर्वत्र प्रवाह रूप से अनिवृति लेना चाहिए, क्योंकि, उसके विना सूत्रों का अर्थ नहीं बनता।

शंका—यदि जिन शब्द की अनुवृति लेते हैं तो फिर देशावधि, परमावधि, सर्वावधि और अनन्तावधि कारकों के नमस्कार सूत्रों में जिन शब्द का उच्चारण किस लिए किया है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिन शब्द की अनुवृति को दिखलाने के लिए वहाँ जिन शब्द कहा है। इसलिए "कोष्ट बुद्धि धारक जिनों को नमस्कार हो" ऐसा सिद्ध हुआ। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ५३-५४ पुस्तक नम्बर ६।

(१६) बीज बुद्धि किसे कहते हैं ?

बीज के समान बीज कहा जाता है। जिस प्रकार बीज, मूल, अंकुर, पत्र, पोर, स्कन्ध, प्रसव, तुष, कुसम, क्षीर और तंदुल आदिकों का आधार है उसी प्रकार वारह अंगों के अर्थ का आधारभूत जो पद है वह बीज तुल्य होने से बीज है। बीज पद विषयक मति ज्ञान भी कार्य में कारण के उपचार से बीज है। संख्यात शब्दों के अनन्त अर्थों से सम्बन्ध अनन्त लिंगों के साथ बीज पद को जानने वाली बीज बुद्धि है यह तात्पर्य है।

शंका—बीज बुद्धि अनन्त अर्थों से सम्बन्धित अनन्त लिंग रूप बीज पद को नहीं जानती, क्योंकि, वह क्षयोपशमिक है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिस प्रकार क्षयोपशम जन्य परोक्षश्रुत ज्ञान के द्वारा केवल ज्ञान से विषय किये गये अनन्त पदार्थो का परोक्ष रूप से ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार मति ज्ञान के द्वारा भी सामान्य रूप से अनन्त अर्थो का ग्रहण किया जाता है, क्योंकि, इसमें कोई विरोध नहीं है।

शंका—यदि श्रुत ज्ञान का विषय अनन्त संख्या है तो "चौदह पूर्व का विषय उत्कृष्ट संख्यात है" ऐसा जो परिकर्म में कहा है वह कैसे घटित होंगे ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि उत्कृष्ट संख्यात को ही जानता है ऐसा यहां नियम नहीं है।

शंका—श्रुतज्ञान समस्त पदार्थों को नहीं जानता है क्योंकि—

पराण वणिज्जा भावा अणंत भागो दु अणभिलप्पाणं ।
पणवणिज्जाणं पुण अणंत भागो सुदणि बद्धो ॥ १७ ॥ गो० जी० ३३४

अर्थ—वचन के अगोचर ऐसे जीवादि पादर्थों के अनन्तवें भाग प्रज्ञापनीय अर्थात् तीर्थंकर की सातिशय दिव्यध्वनि में प्रतिपाद्य होते हैं। तथा प्रज्ञापनीय पदार्थों के अनन्तवें भाग द्वादशांग श्रुत के विषय होते हैं। १७ ॥ इस प्रकार वचन है ?

समाधान—इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि, समस्त पदार्थों का अनन्तवां भाग द्रव्य श्रुत ज्ञान का विषय भले ही हो, किन्तु भाव श्रुत ज्ञान का विपय समस्त पदार्थ है, क्योंकि ऐसा मानने के बिना तीर्थंकरों के वचनातिशय के अभाव का प्रसंग होगा। इसलिए वीज पदों को ग्रहण करने वाली वीज बुद्धि है वह सिद्ध हुआ।

वीज पद से अधिष्टित प्रदेश से अधस्तन श्रुतके ज्ञान की उत्पत्ति का कारण होकर पीछे उपरिम श्रुत के ज्ञान की उत्पत्ति में निमित होने वाली वीज बुद्धि है, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं, किन्तु, यह घटित नही होता, क्योंकि, ऐसा मानने पर कोष्ट बुद्धि आदि चार ज्ञानों की युगयत् एक जीव मे सर्वथा उत्पति न हो सकने का प्रसंग आवेगा ?

शंका—वह कैसे ?

समाधान—वीज बुद्धि सहित जीव में अनुसारी अथवा प्रतिसारी बुद्धि सम्भव नहीं है, क्योंकि, उभय (अधस्तन व उपरिम) दिशा विषयक श्रुत ज्ञान के उत्पन्न करने में समर्थ ऐसी वीज बुद्धि को प्राप्त जीव में वीज बुद्धि के विरुद्ध अनुसारी और प्रतिसारी बुद्धियों के अवस्थान का विरोध है। उभयसारी बुद्धि भी सम्भव नहीं है, क्योंकि, वह "अधस्तन श्रुत ज्ञान को उत्पत्ति का कारण होकर उपरिम श्रुत ज्ञान की उत्पत्ति का कारण होती है" ऐसे नियम से सम्बन्ध वीज बुद्धि युक्त जीव में अनियम से उभय दिशा विषयक श्रुत ज्ञान को स्वभाव से उत्पन्न करने वाली उभय सारी बुद्धि के अवस्थान का विरोध है। और एक जीव में सर्वदा चार बुद्धियों की एक साथ उत्पत्ति हो ही नहीं ऐसा है नहीं, क्योंकि,

बुद्धि तवो वि य लद्धी वि उव्वणलद्धी तहेव ओसहिया ।
रस-बल-अक्खीणा वि य लद्धीओ सत्त पणत्ता ॥ १८ ॥

अर्थ—बुद्धि, तप, विक्रया, औषधि, रस, बल, और अक्षीण इस प्रकार ऋद्धियाँ सात कही गई हैं। १८ ॥

इस सूत्र गाथा के व्याख्यान में गणधर देवों के चार निर्मल बुद्धियाँ देखी जाती हैं। तथा गणधर देवों के चार बुद्धियां होती हैं, क्योंकि, उनके बिना बारह अंगों की उत्पत्ति न हो सकने का प्रसंग आवेगा।

शंका—बारह अंगों की उत्पत्ति न हो सकने का प्रसंग कैसे होगा ?

समाधान—गणधर देवों में कोष्ट बुद्धि का अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि, ऐसा होने पर अवस्थान के बिना उत्पन्न हुए श्रुत ज्ञान के विनाश का प्रसंग आवेगा। वीज बुद्धि का अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि, उसके बिना गणधर देवों को तीर्थंकर के मुख से निकले हुए अक्षर और अनक्षर स्वरूप वहुत लिंगालिंगिक वीज पदों का ज्ञान न होने से द्वादशाँग के अभाव का प्रसंग आवेगा। वीज पदों के स्वरूप का

जानना वीज वुद्धि है। इससे द्वादशांग की उत्पत्ति होती है। उस वीज वुद्धि के विना द्वादशांग की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि, ऐसा होने में अति प्रसंग आता है। उनमें पदानुसारी नामक ज्ञान का अभाव नहीं है, क्योंकि, वीज वुद्धि से जाना गया है स्वरूप जिनका, तथा कोष्ट वुद्धि से प्राप्त किया है, अवस्थान जिन्होंने, ऐसे वीज पदों से ईहा और अवाय के विना वीज पद की उभय दिशा विपयक श्रुत ज्ञान तथा अक्षर, पद, वाक्य और उनके अर्थ विपयक श्रुत ज्ञान की उत्पत्ति वन नहीं सकती। उनमें संभिन्न श्रोतृत्व का अभाव नहीं है, क्योंकि, उसके विना अक्षरानक्षरात्मक सातसौ कुभापा और अठारह भापा स्वरूप नाना भेदों से भिन्न वीज पद रूप व प्रत्येक क्षण में भिन्न-भिन्न स्वरूप को प्राप्त होने वाली ऐसी दिव्यध्वनि का ग्रहण न होने से द्वादशांग की उत्पत्ति के अभाव का प्रसंग होगा। इस कारण वीज पदों के स्वरूप को जानना वीज वुद्धि है ऐसा सिद्ध हुआ।

शंका—वह वीज वुद्धि कहां से होती है ?

समाधान—यह विशिष्ट अवग्राहावरणीय के क्षयोपशम से होती है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ५५-५६ पुस्तक नं० ६

(१७) पदानुसारी ऋद्धि किसे कहते हैं ?

पद का जो अनुसरण या अनुकरण करती है वह पदानुसारी वुद्धि है। वीज वुद्धि से वीज पद को जानकर यहां, यह इन अक्षरों का लिंग होता है और इनका नहीं इस प्रकार विचार कर समस्त श्रुत के अक्षर पद को जानने वाली पदानुसारी वुद्धि है। उन पदों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान श्रुत ज्ञान है। वह अक्षर पद विपयक नहीं है, क्योंकि, उन अक्षर पदों का वीज पद में अन्तरर्भाव है। वह पदानुसारी वुद्धि अनुसारी, प्रतिसारी और तदुभयसारी के भेद से तीन प्रकार है। जो वीज पद से अधस्तन पदों को वीज पद स्थिति लिंग से जानती है, वह प्रतिसारी वुद्धि है। जो उपरिम पद को ही जानती है, वह अनुसारी वुद्धि है। दोनों पार्श्वस्थ पदों को नियम से अथवा विना नियम के भी जानती है वह उभयसारी वुद्धि है।

शंका—वह कहाँ से होती है ?

समाधान—यह ईहावरणीय और अवायावरणीय के तीव्र क्षयोपशम से होती है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ५६-६१ पुस्तक नंवर ६।

(१८) संभिन्न श्रोता का स्वरूप।

सं अर्थात् भले प्रकार श्रोत्रिन्द्रियावरण के क्षयोपशम से जो भिन्न, अनुविद्ध, अर्थात् सम्वद्ध है, वे संभिन्न हैं। संभिन्न ऐसे जो श्रोता है वे संभिन्न श्रोता है। कथंचित् युगपत् प्रवृत हुए अक्षर अनक्षर स्वरूप अनेक शब्दों के श्रोता संभिन्न श्रोता है।

नवनाग सहस्राणि नागे नागे शंत रथाः ।
रथे रथे शतं तुर्गाः तुर्गे तुर्गे शतं नगाः ॥ १९ ॥

अर्थ—एक अक्षोहणी में नौ हजार हाथी, एक हाथी के आश्रित सौ रथ एक-एक रथ के आश्रित सौ घोड़े, एक-एक घोड़े के आश्रित सौ मनुष्य होते हैं। १६ ॥

यह एक अक्षौहणी का प्रमाण है। ऐसी यदि चार अक्षौहणी अक्षर-अनक्षर स्वरूप अपनी-अपनी भापा में, युगपत् वोले तो भी, संभिन्न श्रोता युगपत् सव भापाओं को ग्रहण करके उत्तर देता है। इनमें

संख्यात गुणी भाषाओं से भरी हुई तीर्थंकरों के मुख से निकली ध्वनि के समूह को युगपत् ग्रहण करने के समर्थ ऐसे संभिन्न श्रोता में यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

शंका—यह कहाँ से आती है?

समाधान—बहु, बहुविध, क्षिप्र, ज्ञानावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से होती है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ६१-६२ पुस्तक नं० ९।

(१९) विक्रिया ऋद्धि का स्वरूप—

अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और काम रूपित्व इस प्रकार विक्रिया ऋद्धियां आठ प्रकार हैं। उनमें महापरिमाण युक्त शरीर को संकुचित करके परमाणु प्रमाण शरीर से स्थित होना अणिमा नामक ऋद्धि है। परमाणु प्रमाण शरीर को मेरु सदृश करने को महिमा ऋद्धि कहते हैं। मेरू प्रमाण शरीर से मकड़ी के तंतुओं पर से चलने में निमित्त भूत शक्ति का नाम लघिमा है। भूमि में स्थित रहकर हाथ से चन्द्र व सूर्य के बिम्ब को छूने की शक्ति प्राप्ति ऋद्धि कही जाती है। कुलाचल और मेरु पर्वत के पृथ्वी कायिक जीवों को बाधा न पहुँचा कर उनमें तपश्चरण के बल से उत्पन्न हुई गमन शक्ति को प्राकाम्य ऋद्धि कहते हैं। सब जीवों तथा ग्राम नगर एवं खेड़े आदिकों के भोगने की जो शक्ति उत्पन्न होती है वह ईशित्व ऋद्धि कही जाती है। मनुष्य, हाथी, सिंह एवं घोड़े आदिक रूप अपनी इच्छा से विक्रिया करने की शक्ति का नाम वशित्व ऋद्धि है। वशित्व का ईशित्व में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है, क्योंकि, अवशी कृतों का भी उनका आकार नष्ट किये बिना ईशित्व करण पाया जाता है। इच्छित रूप के ग्रहण करने की शक्ति नाम काम रूपित्व है।

शंका—ईशित्व और वशित्व के विक्रियापन कैसे सम्भव है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, नाना प्रकार गुण व ऋद्धि युक्त होने का नाम विक्रिया है। अतएव उन दोनों के विक्रिया पने में कोई विरोध नहीं प्राप्त होता। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ७५-७७ पुस्तक नम्बर ९

नोट—यहाँ पर अणिमा तथा महिमा ऋद्धि का जो स्वरूप एक परमाणु प्रमाण शरीर को कहा वह उपचार मालूम पड़ता है, क्योंकि, जघन्य शरीर अंगुल के असंख्यातवें भाग माना गया है यह आर्ष वचन के साथ उक्त कथन का विरोध आता है। यह विषय मोक्ष मार्ग में प्रयोजन भूत नहीं है, तो भी बुद्धि का प्रयोग कर निर्णय करना विशेष हितकारी है।

(२०) चारण ऋद्धि किसे कहते हैं?

जल, जंघा, तन्तु फल, पुष्प, बीज, आकाश और श्रेणी के भेद से चारण ऋद्धि धारक आठ प्रकार है। कहा भी है कि—

जल, जंघा, तंतु, फल, पुष्फ, बीय आगास सेढिगइ कुशला।
अट्ठावह चारणगणा पइरिक्क सुहं पविहरंति ॥२१॥ ति० प० ४-१-३५

अर्थ—जल, जंघा, तन्तु, फल, पुष्प, बीज, और श्रेणी का आलम्बन लेकर गमन में कुशल ऐसे आठ प्रकार के चारण गण अत्यन्त सुख पूर्वक विहार करते हैं॥२१॥

उनमें जो ऋषि जल कायिक जीवों को पीड़ा न पहुँचाकर जल को न छूते हुए इच्छानुसार भूमि के समान जल में गमन करने में समर्थ वे जल चारण कहलाते हैं।

शंका—पद्मिनी पत्र के समान जल को न छूकर जल के मध्य में गमन करने वाले जल चारण क्यों नहीं कहलाते ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, ऐसा अभिष्ट है ।

शंका—जल चारण और प्राकाम्य इन दोनों ऋद्धियों में क्या विशेषता है ?

समाधान— सघन पृथिवी मेरु और समुद्र के भीतर सब शरीर से प्रवेश करने की शक्ति को प्राकाम्य कहते हैं। और वहां जीवों के परिहार की कुशलता का नाम चारण ऋद्धि है।

तन्तु चारण, फल चारण, पुष्प चारण और बीज चारण का स्वरूप भी जल चारण के समान कहना चाहिए। भूमि में पृथ्वी कायिक जीवों को बाधा न करके अनेक सौ योजन गमन करने वाले जंघा चारण कहलाते हैं। धूम, अग्नि, पर्वत और वृक्ष के तन्तु समूह पर से ऊपर चढ़ने की शक्ति से संयुक्त श्रेणी चारण है। चार अंगुलों से अधिक प्रमाण में भूमि से ऊपर आकाश में गमन करने वाले ऋषि आकाश चरण कहलाते हैं।

शंका—आकाश चारण और आकाश गामी में क्या भेद है ?

समाधान—जीव पीड़ा के विना पैर उठाकर आकाश में गमन करने वाले आकाश चारण है। पल्यंकाशन, कायोत्सर्गासन, शयानाशन और पैर उठाकर इत्यादि सब प्रकारों से आकाश मे गमन करने में समर्थ ऋषि आकाशगामी कहे जाते हैं।

शंका—एक ही चारित्र इन विचित्र शक्तियों का उत्पादक कैसे हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, परिणाम के भेद से नाना प्रकार चारित्र होने के कारण चारणों की अधिकता में कोई दोष नहीं है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ७८-८० पुस्तक नम्बर ९

(२१) प्रज्ञा श्रवणों का स्वरूप—

औत्पत्ति की, वैनयिकी, कर्मजा और पारिणामिकी इस प्रकार प्रज्ञा चार प्रकार है । उनमें जन्मान्तर में चार प्रकार की निर्मल बुद्धि के बल से विनय पूर्वक बारह अंगों का अवधारण करके देवों में उत्पन्न होकर पश्चात अविनष्ट संस्कार के साथ मनुष्य में उत्पन्न होने पर इस भव मे पढ़ने, सुनने व पूछने आदि के व्यापार रहित जीव की प्रज्ञा औत्पत्ति कहलाती है।

इस औत्पत्ति प्रज्ञा श्रवण छह मास के उपवास से कृश होता हुआ भी उस बुद्धि के महात्म्य को प्रगट करने के लिये पूछने रूप क्रिया में प्रवृत हुए चौदह पूर्व को भी उत्तर देता है। विनय से बारह अगों को पढ़ने वाले के उप्पन्न हुई बुद्धि का नाम वैनयिक है। अथवा परोपदेश से उत्पन्न हुई बुद्धि भी वैनयिक कहलाती है। गुरु के उपदेश के विना तपस्चरण के वल से उत्पन्न बुद्धि कर्मजा है। अथवा औषध सेवा के वल से उत्पन्न बुद्धि भी कर्मजा है। अपनी अपनी जाति विशेष से उत्पन्न बुद्धि पारिणामिका कही जाती है।

शंका—तीर्थंकर के मुख से निकले हुए बीज पदों के अर्थ का निश्चय करने वाले वृषम सेनादि गणधरों की प्रज्ञा का कहां अन्तर्भाव होता है ?

समाधान—उसका पारिणामिक प्रज्ञा में अन्तर्भाव होता है, क्योंकि, वह विनय, उत्पत्ति और कर्म के विना उत्पन्न होती है।

शंका—पारिणामिक और औत्पत्तिक प्रज्ञा में क्या भेद है ?

ममाधान—जाति विशेष में उत्पन्न कर्म क्षयोपशम से आविर्भूत हुई प्रज्ञा पारिणामिक है और जन्मान्तर में विनय जनित संस्कार से उत्पन्न हुई प्रक्षा औत्पत्ति की है यह दोनों में भेद है।

शंका—प्रज्ञा और ज्ञान के बीच क्या भेद है ?

ममाधान—गुरु के उपदेश से निरपेक्ष ज्ञान की हेतुभूत जीव की शक्ति का नाम प्रज्ञा है और उसका कार्य ज्ञान है। इस कारण दोनों में भेद है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १८४ पुस्तक नं० ६

(२२) प्रमत संयतादि गुणस्थानवर्ती जीवों ने समुद्रघात कितना क्षेत्र स्पर्शन किया है ?

समुदघात गत प्रमत संयतादि गुणस्थानवर्ती जीवों ने सामान्य लोक आदि चार लोकों का असंख्यातवां भाग स्पर्श किया है। और मानुष क्षेत्र का संख्यातवां भाग स्पर्श किया है।

शंका—विक्रयादि ऋद्धि प्राप्त और मानुष क्षेत्र के भीतर अप्रतिरत गमनशील ऋषियों ने अतीत काल में सम्पूर्ण मानुष क्षेत्र स्पर्श किया है इसलिए "मनुष्य क्षेत्र का संख्यातवां भाग स्पर्श किया है।" यह वचन घटित नहीं होता ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, एक लाख योजन ऊपर उड़ने की अपेक्षा एक लाख योजन प्रमाण गमन करने की उनमें संभावना नहीं है।

शंका—सुमेरु के मस्तक पर चढ़ने में समर्थ ऋषियों के क्या एक लाख योजन ऊपर गमन करने की सम्भावना नहीं है ?

समाधान—भले ही सुमेरु पर्वत के ऊर्ध्व प्रदेश में ऋषियों के गमन की शक्ति रही आवे, किन्तु मनुष्य क्षेत्र के ऊपर एक लाख योजन उड़कर सर्वत्र गमन करने की शक्ति नहीं है, अन्यथा मनुष्य क्षेत्र के संख्यातवें भाग में" ऐसा आचार्यो का वचन नहीं बन सकता है।

अथवा अतीत काल में विक्रियादि ऋद्धि सम्पन्न मुनिवरों ने सर्व ही मनुष्य क्षेत्र स्पर्शन किया है अन्यथा उसका "मनुष्य क्षेत्र" यह नाम नहीं बन सकता है।

स्वस्थान, स्वस्थान की अपेक्षा उक्त प्रमत्तादि संयतों ने मनुष्य क्षेत्र का संख्यातवां भाग ही स्पर्श किया है।

शंका—यदि ऐसा है तो पंचेन्द्रिय तिर्यंचों का भी पूर्व भव के वैरी देवों के प्रयोग से एक लाख योजन ऊपर तक जाना प्राप्त होता है ?

समाधन—यदि तिर्यंचों का ऊपर एक लाख योजन तक जाना प्राप्त होता है तो होवे उसमें भी कोई दोष नहीं है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १७१ पुस्तक नं० ४

(२३) प्रमत संयतों में चारित्र की अपेक्षा कौनसा भाव है ?

शंका—पांच भावों में से किस भाव का आश्रय लेकर प्रमत गुणस्थान उत्पन्न होता है ?

समाधान—संयम की अपेक्षा वह गुणस्थान क्षयोपशमिक है।

शंका—प्रमत संयत गुणस्थान क्षयोपशमिक किस प्रकार है ?

समाधान—क्योंकि, वर्तमान में प्रत्याख्यानावरण के सर्व घातीस्पर्धकों के उदय क्षय होने से

आगामी काल में उदय में आने वाले सत्ता में स्थिति उन्हीं के उदय में न आने रूप उपशम से तथा संज्वलन कषाय के उदय से प्रत्याख्यान संयम उत्पन्न होता है। इसलिए क्षयोपशमिक है।

शंका—संज्वलन कषाय के उदय से संयम होता है इसलिए उसे औदयिक नाम से क्यों नहीं कहा जाता है ?

समाधान—नहीं; क्योंकि, संज्वलन कषाय के उदय से संयम की उत्पत्ति नहीं होती है।

शंका—तो संज्वलन का व्यापार कहाँ पर होता है ?

समाधान—प्रत्याख्यानावरण कषाय के सर्व घाती स्पर्धकों के उदयाभावी क्षय से (और सद्वस्था रूप उपशम से) उत्पन्न हुए संयम में मल के उत्पन्न करने में संज्वलन का व्यापार होता है। धवल गन्थ पृष्ठ १७६ पुस्तक नं० १।

(२४) संयत सामायिक तथा छेदोपस्थापना संयम में कौनसा भाव है ?

संजमाणुवादेण सजदो-सामाइयच्छेदवट्ठावण सुद्धि संजदो णामं कधं भवदि ? सूत्र नं ४८ ॥

अर्थ—संयम मार्गणानुसार, जीव संयत तथा सामायिक छेदोपस्थापना शुद्धि संयत कैसे होता है। ४८॥

उवसमियाए-खइयाए खओवसमियाए लद्धीए ॥ ४९ ॥

अर्थ—औपशमिक, क्षायिक और क्षयोपशमिक (भाव से) लब्धि से जीव संयत व सामायिक छेदोपस्थापना शुद्धि संयत होता है। ४७॥

औपशमिक संयम—चारित्रावरण कर्म के सर्वोपशम से जिस जीव की कषाय उपशान्त हो गई है उसके औपशमिक संयम होता है।

शंका—संयत के क्षायिक लब्धि कैसे होती है ?

ससाधान—चूँकि चारित्रावरण कर्म के क्षय से भी संयम की उत्पत्ति होती है इससे क्षायिक लब्धि द्वारा जीव संयत होता है।

शंका—संयत के क्षयोपशमिक लब्धि किस प्रकार होती है ?

समाधान—चारों संज्वलन और नौ नोकषायों के देश घाती स्पर्धकों के उदय से संयम की उत्पत्ति होती है इस प्रकार संयत के क्षयोपशमिक लब्धि पाई जाती है।

शंका—नोकषायों के देश घाती स्पर्धकों के उदय को क्षयोपशम नाम क्यों दिया गया है ?

समाधाम—सर्व घाती स्पर्धक अनन्त गुण हीन होकर और देश घाती स्पर्धकों में परिणत होकर उदय में आते हैं, उन सर्व घाती स्पर्धकों का अनन्तगुण हीनत्व ही क्षय कहलाता है, और उनका देश घाती स्पर्धकों के रूप से अवस्थान होना उपशम है। उन्हीं क्षय और उपशम से संयुक्त उदय क्षयोपशम कहलाता है। उसी क्षयोपशम से उत्पन्न संयम भी इसी कारण क्षयोपशमिक होता है। इसी प्रकार सामायिक छेदोपस्थापना शुद्धि संयतों के विषय में भी कहना चाहिए।

शंका—सामायिक और छेदोपस्थापना शुद्धि संयतों के क्षयोपशम लब्धि भले ही हो, किन्तु, उनके

औपशमिक और क्षायिक लब्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि अनिवृत्तिकरण गुणस्थान से ऊपर इन संयतों का अभाव पाया जाता है। और अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन दो क्षायिक और उपशमिक गुणस्थानों में चारित्र मोहनीय का क्षपणा व उपशमन होती नहीं है, जिससे युक्त संयतों के क्षायिक व औपशमिक लब्धि सम्भव हो सके ?

समाधन—ऐसा नहीं है, क्योंकि, क्षयक और उपशामक सम्बन्धी अनिवृतिकरण गुणस्थान में भी लोभ संज्वलन को छोड़कर अशेष चारित्र मोहनीय का क्षपण व उपशमन के पाये जाने से वहाँ क्षायिक व औपशमिक लब्धि की सम्भावना पाई जाती है। अथवा क्षपक और उपशामक सम्बन्धी अपूर्वकरण के प्रथम समय से लगा कर ऊपर सर्वत्र क्षायिक और औपशमिक समय लब्धियां हैं ही, क्योंकि, उक्त गुणस्थान के प्रारम्भ होने के प्रथम समय से लगाकर थोड़े-थोड़े क्षपण और उपशामन रूप कार्य का निष्पत्ति देखी जाती है। यदि प्रत्येक समय कार्य की निष्पति न हो तो अन्तिम समय में भी कार्य पूरा होता नहीं पाया जा सकता है।

शंका—एक ही चारित्र के (परिणाम के) औपशमिक आदि तीन भावों कैसे होते हैं ?

समाधान—जिस प्रकार एक ही चित्र पतंग अर्थात् बहु वर्ण पक्षी के बहुतसे वर्ण देखे जाते हैं उसी प्रकार एक ही चारित्र नाना नामों से युक्त हो सकता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ९२-९३ पुस्तक नं० ७।

नोट—संयत तथा सामायिक छेदोपस्थापना सुद्धि संयत का औपशमिक, क्षायिक तथा क्षयोपशम तीन भाव कहा है वह उपचार मात्र है। यथार्थ में नहीं है। टीकाकार औपशम संयम का लक्षण "चारित्रावरण कर्म के सर्वोपशम से जिस जीव की कषायें उपशान्त होगई हैं उसके औपशमिक संयम होता है" ऐसा बताया है। यहाँ संज्वलन कषाय रूपी मल तो है तब औपशमिक भाव कैसे हो सकता है ? क्षायिक लक्षण "चारित्रावरण कर्म के क्षय से जो संयम की उत्पत्ति होती है उसे क्षायिक लब्धि कहते हैं।" यहाँ पर चारित्रावरण कर्म का उदय भी है और बन्ध भी है तो क्षायिक भाव कैसे हो सकता है ? यथार्थ में औपशमिक भाव ग्यारवें गुणस्थान में एवं क्षायिक भाव बारहवें गुणस्थान में ही होता है। यहाँ केवल क्षयोपशमिक भाव है, क्योंकि, चारित्रगुण में अंश में शुद्धता भी है और अंश में अशुद्धता भी है जिससे मिश्र भाव है। अमुक जीवों ने क्षयोपशम भाव में उपशम श्रेणी आरोहण की है, इसी का यह अर्थ नहीं है कि उन जीवों का उपशम भाव है ? अमुक जीवों ने क्षयोपशम भाव में क्षायिक श्रेणी आरोहण की है इसी का यह अर्थ नहीं है कि वहाँ क्षायिक भाव है ? गुण की अंश भी अशुद्ध अवस्था रहे वहां क्षयोपशमिक भाव है। एक समय मे एक गुण का एक ही भाव होता है तीन भाव तीन काल में नहीं हो सकते तो भी सूत्र की रक्षा के लिए आचार्य ने जो दृष्टांत "बहुवर्ण पक्षी के बहुत से वर्ण देखा जाता है उसी प्रकार एक चारित्र नाना नामों से युक्त हो सकता है" मात्र सूत्र की रक्षा के लिए ही दिया गया है परन्तु वस्तु का ऐसा स्वभाव नहीं है। क्या एक ही समय में एक ही आत्मा में तीन प्रकार का सम्यग्दर्शन रह सकता है ? कदापि नही। उसी प्रकार चारित्र नाम का गुण एक ही काल में तीन भावों रूप कभी भी परिणमन नही कर सकता है ऐसी श्रद्धा रखना चाहिए। क्या कहें ? वीतरागी ऋषियों की भावना वस्तु स्वरूप का गला घोट कर सूत्र की रक्षा करने की है। यही विचित्रता है।

(२५) परिहार विशुद्धि संयत तथा संयमासंयम कौनसा भाव है ?

परिहारसुद्धि संजदो संजदा संजदो णाम कधं भवदि ॥ सूत्र नं० ५० ॥

अर्थ—परिहार शुद्धि संयत और संयतासंयत कैसे होता है ॥५०॥

खओवसमियाए लद्धीए ॥ सूत्र नं० ५१ ॥

अर्थ—क्षयोपशमिक लब्धि से जीव परिहार शुद्धि संयत व संयतासंयत होता है ॥ सूत्र मं० ५१ ॥

चार संज्वलन और नौ नोकषायों के सर्वघाती स्पर्धकों के अनन्त गुणि हानि द्वारा क्षय को प्राप्त होकर देशघाती रूप से उपशान्त हुए स्पर्धकों के उदय से परिहार शुद्धि संयम की उत्पत्ति होती है, इसलिए क्षयोपशमिक लब्धि से परिहार विशुद्धि संयम होता है।

चार संज्वलन और नौ नोकषायों के क्षयोपशम संज्ञा वाले देशघाती स्पर्धकों के उदय से संयमासंयम की उत्पत्ति होती है इसलिए क्षयोपशमिक लब्धि से संयमासंयम होता हैं।

शंका—चार संज्वलन और नौ नोकषाय इन तेरह प्रकृतियों के देशघाती स्पर्धकों का उदय तो संयम की प्राप्ति में निमित होता है वह संयमासंयम का निमित्त कैसे स्वीकार किया गया है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, प्रत्याख्यानावरण के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय से जिन चार संज्वलनादिक के देशघाती स्पर्धकों का उदय प्रतिहत होगया है उस उदय के संयमासंयम को छोड़ संयम उत्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं होता। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ९४ पुस्तक नं० ७।

(२९) मिथ्यात्व के अभिमुख संयत के स्थिति बन्ध कितने हैं ?

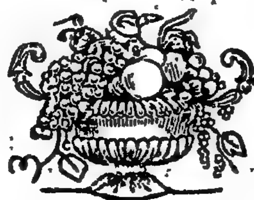
शंका—मिथ्यात्व के अभिमुख हुए अन्तिम समयवर्ती प्रमत संयत के उत्कृष्ट स्थिति बन्ध से भी संयतासंयत जीव का जघन स्थिति बन्ध असंख्यात गुणा क्यों होते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, देशघाती संज्वलन कषाय के उदय की अपेक्षा सर्वघाती प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय अनन्त गुणा है। और कारण के स्तोक होने से कार्य का आधिक्य सम्भव नहीं है, क्योंकि, ऐसा होने में विरोध है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २३५ पुस्तक नम्बर ११।

(३०) प्रमत अप्रमत संयत तथा अपूर्व करण वाले जीव कितनी प्रत्ययों से बन्ध बांधता है ?

चार संज्वलनों में से एक कषाय प्रत्यय, तीन वेदों में से एक वेद प्रत्यय, हास्य-रति और अरति शोक इन दो युगलों में से एक युगल प्रत्यय, नौ योगों में से एक योग प्रत्यय, इस प्रकार जघन्य से पाँच प्रत्यय हैं। एक कषाय प्रत्यय, एक वेद प्रत्यय, हास्य रति, अरति शोक ये दो युगलों में से एक युगल प्रत्यय, भय, जुगुप्सा तथा नौ योगों में से एक योग प्रत्यय, इस प्रकार से सात उत्कृष्ट प्रत्यय है। इस प्रकार इन जघन्य और उत्कृष्ट पाँच व सात प्रत्ययों से प्रमत संयत, अप्रमत संयत और अपूर्व करण गुणस्थानवर्ती जीव विवक्षित प्रकृतियों को बाँधता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २७ पुस्तक नं० ८।

नोट—इतनी प्रकृतियों का बन्ध पड़े और उपशम तथा क्षायिक भाव कहना क्या संगतियुक्त है ? या केवल उपचार है ? पाठक स्वयं विचार करें।



अपूर्व करण गुणस्थान

(१) अपूर्व करण गुणस्थान में मरण कब होता है ?

अपूर्व करण गुणस्थान में प्रथम समय से लेकर जब तक निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों का बन्ध व्युच्छिन्न नहीं होता है, तब तक अपूर्व गुणस्थान वर्ती जीवों का मरण नहीं होता है । धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३५२ पुस्तक नम्बर ४

(२) अपूर्व करण आदि चारों गुणस्थान वर्ती उपशामक यह कौनसा भाव है ?

चदुण्ह मुवसभा त्ति को भवो ओवसमिओ भावो ।।सूत्र नम्बर ८ गो. जी. १४

अर्थ—अपूर्व करण आदि चारों गुणस्थान वर्ती उपशामक यह कौनसा भाव है ? औपशमिक भाव है ? सूत्र नम्बर ८ ।।

चारित्र मोहनीय कर्म की इक्कीस प्रकृतियों का उपशमन करते हैं इसलिए चारों गुणस्थान वर्ती जीवों के औपशमिक भाव माना गया है ।

शंका—समस्त कषाय और नोकषायों का उपशमन करने से उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ जीव के औपशमिक भाव भले ही रहा आवे किन्तु अपूर्व करण आदि शेष गुणस्थान वर्ती जीवों के औपशमिक भाव नहीं माना जा सकता है, क्योंकि, उन गुणस्थानों में समस्त मोहनीय कर्म के उपशम का अभाव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कुछ कषायों के उपशमन किए जाने से उत्पन्न हुआ है उपशम परिणाम जिनके, ऐसे अनिवृति करण बादर साम्पराय और सूक्ष्म साम्पराय संयत के उपशम भाव का अस्तित्व मानने में कोई विरोध नहीं है ।

शंका—नहीं, उपशमन किया है, किसी भी कषाय का जिसने ऐसे अपूर्व करण संयत के औपशमिक भाव कैसे माना जा सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अपूर्व करणों के द्वारा प्रति समय असंख्यात गुण श्रेणी रूप से कर्म स्कन्धों की निर्जरा करने वाले तथा स्थिति और अनुभाग कान्डकों का घात करके क्रम से कषायों की स्थिति और अनुभाग को असंख्यात और अनन्तगुणित हीन करने वाले तथा उपशम क्रिया का प्रारम्भ करने वाले ऐसे अपूव करण संयत के उपशम भाव मानने में कोई विरोध नहीं है ।

शंका—"कर्मो के उपशमन से उत्पन्न होने वाला भाव औपशमिक कहलाता है" । किन्तु अपूर्व करण संयत के कर्मो के उपशमन का अभाव है, इसलिए उसके औपशमिक भाव नहीं मानना चाहिए ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उपशमन शक्ति से समन्वित अपूर्व करण संयत के औपशमिक भाव के अस्तित्व को मानने में कोई विरोध नहीं है ।

इस प्रकार उपशम होने पर उत्पन्न होने वाला और उपशमन होने योग्य कर्मो के उपशमनार्थ उत्पन्न हुआ भी भाव औपशमिक कहलाता है । अर्थात भविष्य में होने वाले उपशम भाव में भूत काल का उपचार करने से अपूर्व करण के औपशमिक भाव बन जाता है । जिस प्रकार कि सर्व प्रकार के असंयम में प्रवृत हुए चक्रवर्ती तीर्थंकर के "तीर्थंकर" यह व्यपदेश बन जाता है । धवल ग्रन्थ पृष्ठ २०४-२०५ पुस्तक नम्बर ५

नोट– मूल सूत्र में अपूर्व करण, अनिवृतिकरण, सूक्ष्य सांम्यराय तथा उपशान्त मोह ये चार गुणस्थान वर्ती जीवों का "औपशमिक भाव" कहा है वह उपचार का कथन है जो टीकाकार आचार्य ने भी स्वीकार किया है। सूत्र के अनुकूल जो जीव श्रद्धान करे उसी का ज्ञान सम्यक् ज्ञान हो सकता है या मिथ्या ज्ञान रह जाना है वह पाठक विचार करे। उपचार को उपचार मानना सम्यक् ज्ञान है परन्तु उपचार को सत्य मानना यह मान्यता मिथ्यात्व की है। यथार्थ में जबतक गुण अंश में भी अशुद्ध परिणमन करता है तब तक वह गुण का परिणमन का नाम क्षयोपशमिक भाव अर्थात मिश्र भाव है। अपूर्व करण गुणस्थान, अनुवृतिकरण गुणस्थान तथा सूक्ष्म सांम्पराय गुणस्थान में चारित्रगुण अंश में विकारी परिणमन करता है जिससे वही तीन गुणस्थान में क्षयोपशमिक भाव है। परन्तु उस भाव को औपशमिक भाव कहना वह व्यवहार अर्थात उपचार है। उस भाव को क्षयोपशमिक कहना यह निश्चय है। परन्तु उस भाव को औपशमिक मानना यह मान्यता मिथ्यात्व की है। उपशान्त मोह गुणस्थान में केवल औपशमिक भाव है, क्योंकि, वहाँ चारित्र मोहनीय कर्मो को उपशम अवस्था है। यह परम सत्य है।

(३) अपूर्वकरणादि गुणस्थान वर्ती जीवों के ध्यानावस्थायें वचन योग काय योग है या नहीं ?

शंका—ध्यान में जीव अपूर्वकरण गुणस्थान वर्ती जीवों के वचन बल का सद्भाव भले ही रहा आवे, क्योंकि, भाषा पर्याप्ति नामक पोद्गलिक स्कन्धों से उत्पन्न हुई शक्ति का उनमे सद्भाव पाया जाता है, किन्तु उनके वचन योग या काय योग का सद्भाव नही मानना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ध्यान अवस्था में भी अन्तर्जल्प के लिए प्रयत्नरूप वचन योग और काययोग गत सूक्ष्म प्रयत्न रूप काय योग का सत्व अपूर्व करण गुणस्थान वर्ती जीवों के पाया ही जाता है, इसलिए वहाँ वचन योग और काय योग भी सम्भव है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४३४ पुस्तक नम्बर २

अनिवृतिकरण गुणस्थान

अनिवृति आदि गुणस्थान में कौनसा भाव है ?

चदुण्हं खवा सजोगिकेवली अजोगिकेवली त्ति को भावो ? खइओ भावो । सूत्र नं० ९ ॥ गो० जो० १४ ।

अर्थ—चारों क्षपक, संयोगि केवली और अयोगि केवली यह कौनसा भाव है ? क्षायिक भाव है ।९।

शंका—घाति कर्मो के क्षय करने वाले सयोगि केवली और अयोगि केवली के क्षायिक भाव भले ही रहा आवे। क्षीण कषाय वीतराग छद्मस्थ के भी क्षायिक भाव रहा आवे, क्योंकि, उसके भी मोहनीय कर्म का क्षय होगया है। परन्तु सूक्ष्म साँम्पराय आदि शेष क्षपकों के क्षायिक भाव मानना युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि, उनमें किसी भी कर्म का क्षय पाया नहीं जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, मोहनीय कर्म के एक देश क्षपण करने वाले बादर सांम्पराय और सूक्ष्म सांम्पराय क्षपकों के भी कर्म क्षय जनित भाव पाया जाता है।

शंका—किसी भी कर्म के नष्ट नहीं करने वाले अपूर्वकरण संयत के क्षायिक भाव कैसे माना जा सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उसके भी कर्म क्षय के निमित्त भूत परिणाम पाया जाता है।

यहाँ पर भी कर्मों के क्षय होने पर उत्पन्न होने वाले भाव क्षायिक हैं तथा कर्मों के लक्ष के लिए उत्पन्न हुआ भाव क्षायिक है ऐसी दो प्रकार की शब्द व्युत्पत्ति ग्रहण करना चाहिए। अथवा उपचार से अपूर्वकरण संयत के क्षायिक भाव मानना चाहिए।

शंका—इस प्रकार सर्वत्र उपचार के आश्रय करने पर अतिप्रसंग दोष क्यों नहीं प्राप्त होगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, प्रत्यासत्ति अर्थात् समीपवर्ती अर्थ के प्रसंग से अति प्रसंग दोष का प्रतिषेध हो जाता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २०३-२०४ पुस्तक नम्बर ५।

नोट—मूल सूत्र कुछ कहता है जब उसकी रक्षा के लिए टीकाकार ने उपचार शब्द से रक्षा की है। यथार्थ में अपूर्वकरण अनिवृतकरण सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान में क्षयोपशमिक भाव है, क्योंकि, वहाँ चारित्रगुण में अंश में अशुद्धता है, जिससे मिश्र भाव है, तो भी वह क्षपक श्रेणि पर चढ़ रहे हैं। क्षीण मोह वीतराग सयोगि केवली और अयोगि केवली का चारित्रगुण की अपेक्षा क्षायिक भाव है ऐसी श्रद्धा करना चाहिए। उपचार को उपचार मानना सम्यक् ज्ञान है परन्तु मूल सूत्र के अनुकूल श्रद्धा कर लेवे तो वह श्रद्धा समीचीन नही होने के कारण मिथ्या का दोष आ जाता है ?

(२) भाव वेद कौनसा भाव में होता है ?

क्या औदयिक भाव से, कि औपशमिक भाव से, कि क्षायिक भाव से, कि पारिणामिक भाव से जीव स्त्री वेदी आदि होता है। ऐसा मन में विचार कर प्रश्न पूछा गया हैं। इस प्रकार का शंसय का विनाश करने के लिए आचार्य आगे का सूत्र कहते हैं—

चरित्त मोहणीयस्स कम्म स्स उदएण इत्थि, पुरिस, णंवुसय वेदा ॥३७॥

अर्थ—चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से जीव स्त्री वेदी, पुरुष वेदी और नपुंसक वेदी होता है ॥६७॥

शंका—"यदि चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से स्त्री वेदी आदिक होते है" ऐसा सामान्य से कह देने पर समस्त चारित्र मोहनीय के उदय से तीनों वेदों की उत्पत्ति का प्रसङ्ग आता हैं। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, परस्पर विरोधी तीनों वेदों की एक ही कारण से उत्पत्ति मानने में विरोध आता है। इसलिए यह सूत्र घटित नही होता ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, "सामान्यत्" एक रूप से निर्दिष्ट किये गये भावों की आन्तरिक व्यवस्था विशेष रूप से होती है इस न्याय के अनुसार यद्यपि सामान्य से वैसा कह दिया है तथापि पृथक पृथक वेदों की पृथक पृथक व्यवस्था पाई जाती है, क्योंकि, सामान्य चारित्र मोहनीय से तीनों विरुद्ध वेदों की उत्पत्ति मानने में तो विरोध आता है। अतः स्त्री वेद के उदय से स्त्री वेद उत्पन्न होता है, पुरुष वेद के उदय से पुरुष वेद और नपुंसक वेद के उदय से नपुंसक वेद उत्पन्न होता है ऐसा सिद्ध हुआ।

शंका—शेप क्षयोपशमिक आदि भाव तो यहाँ सम्भव है फिर उन भावों से वेदो का निर्दिश क्यों नहीं किया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वेद मूलक परिणाम में क्षयोपशमिक आदि परिणामों का अभाव है तथा वेद विशिष्ट जीव द्रव्य में स्थित शेष भावों के तीनों वेदो में साधारण होने से उन्हें विवक्षित वेद का हेतु मानने में विरोध आता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ७८-८० पुस्तक नम्बर ७

नोट—जिनागम में प्राय करके वेद का एक ही भाव औदयिक माना है, परन्तु वेद में क्षयोपशमिक भाव माना ही नहीं है। वेद चारित्र गुण की पर्याय है। कषाय या नोकषाय रूप परिणमन चारित्र गुण का ही है। कषाय की अपेक्षा चारित्र गुण क्षयोपशमिक भाव से परिणमन करे और उसी ही गुणस्थान में चारित्रगुण वेद की अपेक्षा औदयिक भाव से परिणमन करे यह कहना उचित नहीं है। एक गुण एक ही काल में दो भाव से कैसे परिणमन कर सकते हैं ? यथार्थ वेद की अपेक्षा से दूसरा गुणस्थान तक औदयिक भाव मानना चाहिए और वेद भाव के अभाव से अर्थात् अनिवृति करण गुणस्थान में वेद भाव का अभाव होता हैं वहाँ उपशम या क्षायिक भाव मानना उपचार है, क्योंकि, वेद तो चारित्र गुण की एक प्रकार की अवस्था का नाम है। जहाँ चारित्र गुण स्वयं क्षयोपशमिक भाव से परिणमन करता है वहाँ वेद रूपी एक इच्छा के नाश से उपशम या क्षायिक भाव कहना केवल उपचार है। उसी गुणस्थान में चारित्र गुण वेद की अपेक्षा उपशम या क्षायिक भाव से परिणमन करे और कषाय की अपेक्षा क्षयोपशमिक भाव से परिणमन करे ऐसा वस्तु का स्वभाव नहीं है। कोई भी गुण एक समय में दो भावों से परिणमन कर ही नहीं सकता है। केवल कथन मात्र कहने की पद्धति है वस्तु स्वरूप नहीं है। ऐसा श्रद्धान करना चाहिये। तीसरे गुणस्थान से ही चारित्र गुण क्षयोपशमिक भाव से परिणमन करता है। तब वेद की अपेक्षा से भी चारित्र गुण को तीसरे गुणस्थान से क्षयोपशमिक भाव मानना चाहिए। यही वस्तु स्वरूप है। अनिवृति गुणस्थान में भी वेद की अपेक्षा चारित्र गुण को उपशम या क्षायिक भाव कहेना केवल उपचार है। वहाँ भी चारित्र गुण क्षयोपशमिक भाव से ही परिणमन करता है।

शंका—अपगत वेदी कौनसा भाव से होता है ?

समाधान—उवसमियाए खईयाए लद्धीए ।।सूत्र नं० ३९।।

अर्थ—औपशमिक भाव व क्षायिक भाव से जीव अपगत वेदी होता है। ३९।। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ८० पुस्तक नम्बर ७

नोट—यह उपचारिक कथन है। ऐसा जानना चाहिए।

(३) अनिवृति गुणस्थान में बन्ध के कितने प्रत्यय हैं ?

एक संज्वलन कषाय प्रत्यय, एक योग प्रत्यय इस प्रकार जघन्य से दो प्रत्यय, तथा उत्कृष्ट से वेद के साथ तीन। इस प्रकार इन जघन्य और उत्कृष्ट दो व तीन प्रत्ययों से अनुवृति करण गुणस्थानवर्ती जीव विवक्षित सोलह प्रवृतियों को बान्धता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २७ पुस्तक न० ८।

(४) क्षपक श्रेणी कौन जीव चढ़ता है। दो मत

क्षपण प्रारम्भ करने की भी अन्तमुर्हूर्त पूर्व से अनन्तगुणी विशुद्धि के द्वारा विशुद्ध होते हुये हैं। चारों मनोयोग मे से किसी एक मनोयोग वाला, चारों वचन योगो मे से किसी एक वचन योग वाला और औदारिक काय योगी होता है। चारों कषायों में से किसी एक कषाय के उदय से संयुक्त है। नियम से हीयमान कषाय वाला है। कौनसा उपयोग वाला है ? इस विषय में दो उपदेश हैं। (१) नियम से श्रुत ज्ञान रूप उपयोग से उपयुक्त होकर क्षयक श्रेणी चढ़ता है। (२) श्रुतज्ञान से, या मतिज्ञान से, चक्षु दर्शन से या अचक्षुदर्शन से उपयुक्त होकर श्रेणी चढ़ता है। चारित्र मोह की क्षपणा करने वाले के नियम से शुक्ल लेश्या होती हैं वह भी वर्धमान लेश्या होती है। क्षयक श्रेणी चढ़ने वाले जीव के तीनों वेदों में से एक वेद होता है। कषाय पाहुड सूत्त चूर्णि सूत्र नं० ४-२१ पृष्ठ ७३९।

(५) उपशम श्रेणी कौन चढ़ता है ?

चूर्णि सूत्र—चारित्र मोहनीय की उपशमन में पहले उपक्रम परिभाषा जानने योग्य है। वह इस प्रकार है। वेदक सम्यग्दृष्टि जीव, अनान्तानुबन्धी कषाय चतुष्क के विसंयोजन किये बिना शेष कषायों को उपशम करने के लिये प्रवृत नहीं हो सकता है। अतएव अनन्तानुन्धी कषाय का विसंयोजन करने वाले जीव के जो करण होता है वे सर्व करण प्ररूपणा करना चाहिये। वे इस प्रकार है—अधःप्रवृतकरण, अपूर्व करण और अनिवृतिकरण। अधः प्रवृत करण में, स्थिति घातः (अनुभाग घात) गुण श्रेणी और गुण संक्रमण नहीं है। किन्तु अपूर्व करण में स्थिति घात, अनुभाग घात, गुण श्रेणी और गुण संक्रमण होते हैं। ये ही कार्य अनुवृतिकरण में भी होते हैं। किन्तु यहां पर अन्तरकरण नहीं होता है। जो अनन्तानुवन्धी कषाय का विसंयोजन करता है उसकी यह संक्षेप से प्ररूपणा है। सूत्र नं० ३-१२ कषाय पाहुड सूत्त पृष्ठ ६७७-६७८।

(६) क्षपक श्रेणी में किस प्रकार कर्म का नाश होता है ? दो मत

अण मिच्छ मिस्स सम्मं अट्ठणवुसित्थि वेद छक्कं च।
पुवेदं च खवेदि हु कोहादिए च संजलणे ॥ १ ॥

अर्थ—अनन्तानुबन्धी चतुष्क, मिथ्यात्व, सम्याग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति इन सात प्रकृतियों को क्षपक श्रेणी चढ़ने से पूर्व ही क्षपण करता है। पुनः क्षपक श्रेणी चढ़ते हुए अनिवृतिकरण गुणस्थान में, अन्तरकरण से पूर्व ही आठ मध्यम कषायों का क्षय करता है। पुनः नपुंसक वेद, स्त्री वेद, हास्यादि छह नौ कषाय, और पुरुष वेद का क्षय करता है। तदन्तर, संज्वलन क्रोध आदि का क्षय करता है।

अथ थीणगिद्धि कम्मं णिद्दा णिद्दा य पयलपयलाय।
अध णिरय तिरिय तिरियणामा झीणा संछोहणादी सु॥ २ ॥

अर्थ—मध्यम आठ कषायों के क्षय करने के अनन्तर स्त्यानगृद्धि कर्म, निद्रा निद्रा और प्रचला प्रचला इन तीन दर्शनावरणीय प्रकृतियों का और नरक गति, और तिर्यंच गति, सम्बन्धी नाम कर्म की तेरह प्रकृतियों का संक्रमण आदि करते समय क्षीण करता है।

भूतबली पुष्पदन्त आचार्य के मतानुसार पहले इन उपर्युक्त सोलह प्रकृतियों का क्षय करके पीछे आठ मध्यम कषायों का क्षय करता है। किन्तु गुणधर और यति वृषभ आचार्य के मतानुसार पहले आठ मध्यम कषायों का क्षय करके पुनः सोलह प्रकृतियों का क्षय करता है ऐसा सिद्धान्त भेद जानना चाहिये।

सव्वस्स मोहणीयस्स आणुपुव्वीय संकमो होई।
लोभ कषाए णियमा असंकमो होईबोद्धव्वो ॥३॥

अर्थ—मोहनीय कर्म की सम्पूर्ण प्रकृतियों का आनुपूर्वी से संक्रमण होता है, किन्तु, लोभ कषाय का संक्रमण नहीं होता है। ऐसा नियम से जानना चाहिए।

संछुहदि पुरिसवेदे इत्थी वेदं णवुसयं चेव।
सत्तो व णोकसाए णियमा कोधम्हि संछुहदि ॥४॥

अर्थ—स्त्री वेद और नपुंसक वेद का पुरुष वेद में संक्रमण करता है। पुरुष वेद तथा हास्यादि छह इन सात कषायों का नियम से संज्वलन क्रोध में संक्रमण करता है॥ ४॥

कोहं च छुहइ माणे माणं मायाए णियमसा छुहई ।
मायं च छुहइ लोहे पडिलोमो संकमो णत्थि ॥५॥

अर्थ—संज्वलन क्रोध को संज्वलन मान में, संज्वलन मान को संज्वलन माया में, संज्वलन माया को संज्वलन लोभ में नियम से संक्रमण करता है। इस प्रकार इन सब मोह प्रकृतियों का अनुलोम ही संक्रमण करता है। प्रतिलोम संक्रमण नहीं होता है ॥ ५ ॥

जावण छदुमत्थादो तिण्हं घादीण वेदगो होइ ।
अधऽणंतरेण खइया सव्वण्हू सव्वदरिसी य ॥१२॥

अर्थ—जब तक यह क्षीण कषाय वीतराग संयत छद्मस्थ अवस्था से नहीं निकलता है तब तक ज्ञानावरण और दर्शनावरण तथा अन्तराय इन तीनों घातियाँ कर्मो का वेदक रहता है। इसके पश्चात् अनन्तर समय में तीनों घातियाँ कर्मो का क्षय करके सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाता है ॥ १२ ॥ कषाय पाहुडसुत्त पृष्ठ ८९७-८९९ ।

सूक्ष्म सांम्पराय गुणस्थान

(१) सूक्ष्म सांम्पराय गुणस्थान में कौनसा भाव है ?

शंका—जीव सूक्ष्म साम्परायिक शुद्धि संयत तथा यथाख्यात विहार शुद्धि संयत कैसे होता है। सूत्र नं० ५२ ॥

समाधान—औपशमिक व क्षायिक भाव से जीव सूक्ष्म साम्परायिक शुद्धि संयत व यथाख्यात विहार शुद्धि संयत होता है। सूत्र नं० ५३ ॥

नोट—यहाँ पर भी सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान में औपशमिक व क्षायिक भाव कहा है वह उपचार मात्र है यथार्थ में इस गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ रूप चारित्र गुण में अशुद्धता है जिससे मिश्र भाव है अर्थात् क्षयोपशमिक भाव है। और ग्यारहवें गुणस्थान में औपशमिक तथा बारहवें गुणस्थान में क्षायिक भाव है यही परम सत्य है ऐसा श्रद्धान करना चाहिए।

(२) सूक्ष्म सांम्पराय गुणस्थान में बन्ध के कितने प्रत्यय हैं ?

लोभ कषाय एक प्रत्यय तथा एक योग प्रत्यय इस प्रकार जघन्य व उत्कृष्ट से दो प्रत्ययों से जीव विवक्षित प्रकृतियों को बांधता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २७ पुस्तक नं० ८।

उपशान्त मोह गुणस्थान

(१) उपशान्त कषाय वाला जीव कैसे गिरता है ?

शंका—अवस्थित परिणाम वाला उपशान्त कषाय वीतराग कैसे गिरता है ?

समाधान—स्वभाव से गिरता है। (अर्थात् पारिणामिक भाव से गिरता है)

उपशान्त कषाय का वह प्रतिपात दो प्रकार का है (१) भव क्षय निबन्धन (२) उपशमन काल निबन्धन। उनमें भव क्षय से प्रतिपात को प्राप्त हुए जीव के देवों में उत्पन्न होने के प्रथम समय में ही बन्ध

उदीरणा एवं संक्रमणादि रूप सब करण निज स्वरूप से प्रवृत्त हो जाता है। जो कर्म उदीरणा को प्राप्त हैं वे उदयावली में प्रवेशित है, जो उदीरणा को प्राप्त नहीं है वे अपकर्षण करके उदयावली के बाहर गोपुच्छाकार श्रेणी रूप से निक्षिप्त होता है।

उपशान्त काल के क्षय से होने वाले प्रतिपात को कहते हैं—उपशान्त गुणस्थान काल के क्षय से प्रतिपात को प्राप्त होने वाला उपशान्त कपाय जीव लोभ में अर्थात् सूक्ष्म साम्परायिक गुणस्थान में गिरता है, क्योंकि, उसके सूक्ष्म साम्परायिक गुणस्थान छोड़कर अन्य गुणस्थान में जाने का अभाव है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३१७-३१८ पुस्तक नम्बर ६।

पडिवादो च कदि विधो कन्हि कसायम्हि होइ पडिवदिदो।
केसिं कम्मंसाणं पडिवदिदो बंध गो होदि ॥ १२० ॥

अर्थ—चारित्र मोहनीय कर्म का उपशम करने वाले जीव का प्रतिपात कितने प्रकार का होता है? वह प्रतिपात सर्वप्रथम किस कषाय में होता है। वह गिरते हुए किन-किन कर्म प्रवृतियों का बन्ध करने वाला होता है।

दुविहो खलु पडिवादो भवक्खया दु व समक्खयादो दु।
सुहुमे च संपराए बादर रागे च बोद्ध वा ॥ १२१ ॥

अर्थ—वह प्रतिपात दो प्रकार का होता है। (१) भव क्षय से (२) उपशम काल के क्षय से। तथा वह प्रतिपात सूक्ष्म साम्परायिक नामक दशवें गुणस्थान में और बादर राग नामक नवें गुणस्थान में होता है। १२१ ॥

उवसा मणा खएण दु पडिवदिदो होइ सुहुम रागम्हि।
बादर रागे णियमा भवक्खया होई परिवदिदो ॥१२२॥

अर्थ—उपशम काल के क्षय होने से जो प्रतिपात होता हैं वह सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान में होता है। किन्तु भव क्षय से जो प्रतिपात होता है वह नियम से बादर साम्पराय नामक नवें गुणस्थान में होता है॥ १२२ ॥

उवसामणा क्खएण दु अंसे बधदि जहाणु पुव्वीएं।
एमेव य वेदयदे जहाणु पुव्वीय कम्मंसे ॥ १२३ ॥

अर्थ—उपशम काल के क्षय होने से गिरने वाला जीव यथानुपूर्वी से कर्म प्रकृतियों को बांधता हैं। तथा इसी प्रकार यथानुपूर्वी से कर्म प्रकृतियों का वेदन भी करता है। किन्तु भव क्षय से गिरने वाले जीव के देवों में उत्पन्न होने के प्रथम समय में ही सर्व करण प्रगट हो जाता है॥ १२३ ॥ कषाय पाहुड सुत्त पृष्ठ ६७७।

नोट—जीव उपशम भाव से कभी भी गिरता नहीं है। मोहनीय कर्म का उदय दशवें ही गुणस्थान में आते हैं ग्यारहवें में नहीं आता है। ऐसी अवस्था में ग्यारहवाँ का अन्तिम समय में जीव पारिणामिक भाव से गिरता है अर्थात् ग्यारहवाँ गुणस्थान का व्यय में पारिणामिक भाव है और दशवां गुणस्थान के उत्पाद में क्षयोपशमिक भाव हो जाता है यही वस्तु का स्वभाव है।

(२) उपशान्त क्षीण कषाय और सयोगि केवली को कितना प्रत्ययों से बन्ध होता है ?

उपशान्त कषाय, क्षीण कषाय और सयोगि केवली को केवल एक योग से ही बन्धक है। गो० क० ७९२ धवल ग्रन्थ पृष्ठ २७ पुस्तक नम्बर ८।

क्षीण मोह गुणस्थान

(१) क्षपक जीवों में असत्यादि मनोयोग रहने का कारण ?

शंका—क्षपक और उपशमक जीवों के सत्य मनोयोग, अनुभय मनोयोग का सद्भाव रहा आवे, परन्तु बाकी दो अर्थात असत्य मनोयोग, उभय मनोयोग का सद्भाव नहीं हो सकता है, क्योंकि,* इन दोनों में रहने वाला अप्रमाद, असत्य और उभय मन के कारण भूत प्रमाद का विरोध हैं । अर्थात क्षपक और उपशमक प्रमाद रहित होते हैं, इसलिए उनके असत्य मनोयोग और उभय मनोयोग नही पाय जा सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, आवरण कर्म से युक्त जीवों के विपर्यय और अनध्यवसाय रूप अज्ञान के कारण भूत मन के सद्भाव मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है। परन्तु इसके सम्बन्ध से क्षपक या उपशमक जीव प्रमत नहीं माने जा सकते हैं, क्योंकि, प्रमाद मोह की पर्याय है । धवल ग्रन्थ पृष्ठ २८६ पुस्तक नम्बर १

(२) क्षीण कषाय वाले के असत्य वचन कैसे हो सकता है ?

मृषा वचन योग और सत्य मृषा वचन योग संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीण मोह वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान तक पाये जाते हैं ।।सूत्र नम्बर ५५।।

शंका—जिसकी कषायें क्षीण हो गई हैं ऐसे जीव के वचन असत्य कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—ऐसी शंका व्यर्थ है, क्योंकि, असत्य वचन का कारण अज्ञान बारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है । इस अपेक्षा से वहां पर असत्य वचन के सद्भाव का प्रतिपादन किया गया है । और इसलिए उभय संयोगज सत्य मृषावचन भी बारहवें गुणस्थान तक होता है इस कथन में कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका—वचन गुप्ति का पूरी तरह से पालन करने वाले कषाय रहित जीवों के वचन योग कैसे सम्भव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कषाय रहित जीवों के अन्तर्जल्प के पाये जाने में कोई विरोध नहीं आता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २८९ पुस्तक नम्बर १

(३) जीव कषायी अकषायी किस भाव से होता है ?

चरित्त मोहणीयस्स कम्मस्स उदएण ।।सूत्र नम्बर ४१।।

अर्थ—चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से अर्थात औदयिक भाव से जीव क्रोधादि कषायी होता है ।।सूत्र नम्बर ४१।।

नोट—केवल औदयिक भाव से कषायी होता है वह कहना उपचार है । जब तक चारित्र गुण सम्पूर्ण पने विकारी परिणमन करता है तब तक औदयिक भाव से परिणमन करता है अर्थात् दूसरे गुण-स्थान तक औदयिक भाव से परिणमन करता है। जब गुण अंश में शुद्ध व अंश में अशुद्ध परिणमन करता है तब वही गुण क्षयोपशमिक भाव से ही परिणमन करता है। उस क्षयोपशमिक भाव में जितने अंश अशुद्धता के हैं उससे बन्ध पड़ता है। अर्थात् तीसरे गुणस्थान से चारित्र गुण दसवें गुणस्थान तक क्षयोपशमिक भाव से परिणमन करता है यही श्रद्धान करना चाहिए।

अकसाई णाम कधं भवदि ? ॥सूत्र नम्बर ४२॥ उवसमियाए खइयाए लद्धीए ॥४३॥

अर्थ—जीव अकषायी कैसे होता है ॥४२॥ औपशमिक तथा क्षायिक भाव से जीव अकषायी होता है ॥४३॥ धवल ग्रन्थ पृष्ठ ८८३ पुस्तक नम्बर ७

नोट—अपूर्व करण, अनिवृति करण और सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान में बहुत से सूत्रों में उपशम भाव तथा क्षायिक भाव माना परन्तु इस सूत्र से सिद्ध हो जाता है कि वहाँ जो उपशम क्षायिक भाव कहा है वह उपचार से ही कहा गया है यथार्थ में वहाँ क्षयोपशमिक ही भाव है । जब तक यह सूत्र आपके सामने नहीं आता तो नियम से सूत्र पर प्रतिती कर आप इन तीन गुणस्थान में नियम से उपशम क्षायिक भाव मानते ? इतना नहीं, परन्तु सूत्र की शाख देकर अज्ञानी वहाँ तक कहते हैं कि "यह आगम नहीं मानता है" परन्तु ऐसा उपचार कथन को सिद्धान्त वाक्य कैसे माना जावे ? यह पाठक स्वयं विचार करें । ऐसा उपचार के कथन से जिनागम भरा हुआ है ऐसे कथनों से सावधान होकर अपना अपना निर्णय यथार्थ कर लेना वही सम्यग्ज्ञान का कारण है, अथवा शास्त्र पढ़ते भी मिथ्याज्ञान रह जाता है।

सयोगि केवली गुणस्थान

(१) केवली की वाणी अक्षरी या अनक्षरी है ?

शंका—केवली का वचन संशय और अनध्यवसाय को पैदा करते हैं उसका क्या तात्पर्य है ?

समाधान—केवली के ज्ञान के विषय भूत पदार्थ अनन्त होने से और श्रोता के आवरण कर्म का क्षयोपशम अतिशय रहित होने से केवली के वचनों के निमित्त से संशय और अनध्यवसाय की उत्पत्ति हो सकती है।

शंका—तीर्थंकर के वचन अनक्षर रूप होने के कारण ध्वनि रूप है, और इसलिए वे एक रूप है, और एक रूप होने के कारण वे सत्य और अनुभय रूप इस प्रकार दो प्रकार के नहीं हो सकते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, केवली के वचन में "स्यात्" इत्यादि रूप से अनुभय रूप वचन का सद्भाव पाया जाता है इसलिये केवली के ध्वनि अनक्षरात्मक है यह बात असिद्ध है।

शंका—केवली की ध्वनि को साक्षर मान लेने पर उनके वचन प्रति नियत एक भाषा रूप ही होंगे अशेष भाषा रूप नहीं हो सकेंगे ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, क्रम विशिष्ट, वर्णात्मक, अनेक पंक्तियों के समुच्चय रूप और सर्व श्रोताओं में प्रवृत होने वाली ऐसी केवली की ध्वनि संपूर्ण भाषा रूप होती है ऐसा मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है।

शंका—जबकि वह अनेक भाषा रूप है तो उसे ध्वनि रूप कैसे माना जा सकता है ?

समाधान—नहीं क्योंकि, केवली के वचन इसी भाषा रूप ही है ऐसा निर्देश नहीं किया जाता है, इसलिए उनके वचन ध्वनि रूप हैं यह बात सिद्ध हो जाती है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २८३-२८४ पुस्तक नं० १

(२) केवली की वाणी भाषा युक्त है।

अठारह महा भाषा और सात सौ लघु भाषाओं से युक्त ऐसे तिर्यंच और देव तथा मनुष्यों की भाषा के रूप में परिणत होने वाली हैं। पृष्ठ ६१

ज्ञानावरणादि चारघातीया कर्मों के निश्चय व्यवहार रूप विनाश कारणों की विशेषता से उत्पन्न हुए अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य तथा क्षायिकसम्यक्त्व, दान, लाभ, भोग और उपभोग की निश्चय व्यवहार रूप प्राप्ति के अतिशय से प्राप्त हुई नौ केवल लब्धियों से परिणत भगवान महावीर ने भाव श्रुत का उपदेश दिया। अर्थात निश्चय और व्यवहार से अभेद भेद रूप, नौलब्धियों से युक्त होकर भगवान महावीर ने उपदेश दिया। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ६३ पुस्तक नम्बर १

(३) केवल ज्ञान में मन की जरूरत नहीं है।

शंका—सयोगी केवली के तो केवल ज्ञान मन से उत्पन्न होता हुआ उपलब्ध होता है ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, जो ज्ञान ज्ञानावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न है और जो अक्रमवर्ती है उसकी मन से पुनः उत्पति मानना विरुद्ध है।

शंका—जिस प्रकार मति आदि ज्ञान स्वयं ज्ञान होने से अपनी उत्पत्ति में कारण की अपेक्षा करते हैं उसी प्रकार केवल ज्ञान भी ज्ञान है, अतएव उसे भी अपनी उत्पत्ति में कारक की अपेक्षा करनी चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, क्षायिक और क्षयोपशमिक ज्ञान में साधर्म्य नहीं पाया जाता है।

शंका—अपरिवर्तनशील केवल ज्ञान प्रत्येक समय में परिवर्तनशील पदार्थों को कैसे जानता है ?

समाधान—ऐसी शंका ठीक नही है, क्योंकि, ज्ञेय पदार्थों को जानने के लिए तदनुकूल परिवर्तन करने वाले केवल ज्ञान के ऐसे परिवर्तन के मान लने में कोई विरोध नहीं आता है।

शंका—ज्ञेय की परतन्त्रता से परिवर्तन करने वाले केवल ज्ञान की फिर से उत्पत्ति क्यों नहीं मानी जाय ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, केवल ज्ञान रूप उपयोग सामान्य की अपेक्षा केवल ज्ञान की पुनः उत्पत्ति नहीं होती है। विशेष की अपेक्षा उसकी उत्पत्ति होते हुए भी वह (उपयोग) इन्द्रिय, मन व आलोक से उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि, जिसके ज्ञानावरणीय कर्म नष्ट होगये हैं ऐसे केवल ज्ञान में इन्द्रियादिक की सहायता मानने में विरोध आता है।

दूसरी बात यह है कि, केवल ज्ञान स्वयं असहाय है, इसलिये वह इन्द्रियादिकों की सहायता की अपेक्षा नही करता है; अन्यथा, ज्ञान के स्वरूप की हानि का प्रसंग आ जायगा।

शंका—यदि केवल ज्ञान असहाय है तो वह प्रमेय को भी मत जानो ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि पादार्थों को जानना उसका स्वभाव है। और वस्तु के स्वभाव

दूसरों के प्रश्नों के योग्य नहीं हुआ करते हैं। यदि स्वभाव में भी प्रश्न होने लगें तो फिर वस्तुओं की व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी।

शंका—पांच प्रकार के भावों में से इस गुणस्थान में कौनसा भाव है?

समाधान—सम्पूर्णघातीया कर्मों के क्षीण हो जाने से और थोड़े ही समय में अघातीया कर्मों के नाश को प्राप्त होने वाले इस गुणस्थान में क्षायिक भाव है। कहा भी है कि—

सलेसि संयतो णिरुद्ध-णिस्सेस आसवो जीवो।
कम्म रय विप्पमुक्को गय जोगो केवली होई ॥ १२६ ॥ गो० जी० ६५

अर्थ—जिन्होंने अठारह हजार शील के स्वामीपने को प्राप्त कर लिया है। अथवा जो मेरु के समान निःकम्प अवस्था को प्राप्त हो चुके हैं जिन्होंने सम्पूर्ण आश्रव का निरोध कर दिया है, जो नूतन बन्धने वाल कर्म रज से रहित हैं और जो मन, वचन और काय योग से रहित होते हुए केवल ज्ञान से विभूषित ह उन्हें अयोग केवली परमात्मा कहते हैं। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १९८ पुस्तक नम्बर १।

नोट—अर्थात् में सयोग केवली के क्षायिक भाव भी हैं अर्थात, ज्ञान गुण दर्शन, गुण, चारित्र गुण, श्रद्धा गुण, सुख गुण क्षायिक भाव से परिणमन करता है परन्तु योग गुण, क्रिया गुण, अव्याबाध गुण, सूक्ष्मत्व गुण और अगुरु लघु आदि गुण औदयिक भाव से परिणमन करते हैं।

(४) केवली परमात्मा में एक ज्ञान हैं या अनेक ज्ञान हैं?

शंका—केवली भगवान् में क्या एक ही ज्ञान होता है अथवा पांचों ही ज्ञान होता है? प्रथम पक्ष तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि, आवरणीय अर्थात् आवरण करने योग्य ज्ञानों के अभाव होने से मति ज्ञानावरणादि चारों आवरण कर्मों के अभाव का प्रसंग आता है। न दूसरा पक्ष भी माना जा सकता है, क्योंकि, प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष, परिमित, अपरिमित, सहाय, असहाय और क्रम, अक्रम रूप पांचों ज्ञानों का एक आत्मा में एक साथ रहने का विरोध है?

समाधान—यहां पर उपर्युक्त शंका का परिहार करते हैं। दूसरे पक्ष में कहा गया दोष तो संभव नहीं है, क्योंकि, वैसा अर्थात् पांचों ज्ञानों का एक साथ रहना माना नहीं गया है। और न प्रथम पक्ष में कहा गया दोष भी सम्भव है। क्योंकि, आवरण के वश से उत्पन्न होने वाले मति ज्ञानादि चारों ही आवरणीय ज्ञान पाये जाते हैं। क्षीणावरणीय केवली भगवान् में उनका होना सम्भव नहीं है, क्योंकि, आवरण के निमित्त से होने वाले ज्ञानों का आवरणों के अभाव होने पर होना विरुद्ध है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३०-३१ पुस्तक नम्बर ६।

(५) सिद्ध और अरहन्तों में गुणकृत भेद नहीं हैं।

शंका—सिद्ध और अरिहन्तों में क्या भेद है?

समाधान—आठ कर्मों को नष्ट करने वाले सिद्ध होते हैं और चार घातीया कर्मों को नष्ट करने वाले अरिहन्त होते हैं। यही इन दोनों में भेद है।

शंका—चार घातीया कर्मों का नष्ट हो जाने पर अरिहन्तों की आत्मा के समस्त गुण प्रगट हो जाते हैं इसलिए सिद्ध और अरहन्त परमेष्टी में गुण कृत भेद नहीं हो सकते हैं?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, अरिहन्तों के अघातीया कर्मो का उदय और सत्त्व दोनों पाए जाते हैं अतएव इन दोनों परमेष्टियों में गुणकृत भेद भी है।

शंका—वे अघातीया कर्म शुद्ध ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा अधजले से हो जाने के कारण उदय और सत्त्व रूप से विद्यमान रहते हुए भी अपना कार्य करने में समर्थ नहीं है?

समाधान—ऐसा भी नहीं है, क्योंकि, शरीर के पतन का अभाव अन्यथा सिद्ध नहीं होता है इसलिये अरिहन्तों के आयु आदि शेप कर्मो के उदय और सत्त्व की सिद्धि हो जाती है। अर्थात् यदि आयु आदि कर्म अपने कार्य में असमर्थ माने जाय तो शरीर का पतन हो जाना चाहिए, परन्तु शरीर का पतन तो होता नहीं है, इसलिए आयु आदि कर्मो का कार्य करना सिद्ध है।

शका—कर्मो का कार्य तो चौरासी लाख योनि रूप जन्म, जरा और मरण से युक्त संसार है। वह अघातीया कर्मो के रहने पर भी अरिहन्त परमेष्टि में नहीं पाया जाता है। तथा अघातीया कर्म आत्मा के अनुजीवी गुणों के घात करने में असमर्थ भी है, इसलिए, अरिहन्त और सिद्ध परमेष्टि में गुण कृत भेद मानना ठीक नहीं है?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, जीव के उर्ध्व गमन स्वभाव का प्रति बन्धक आयु कर्म का उदय और सुख गुण का प्रतिवन्धक वेदनीय कर्म का उदय अरिहन्तों के पाया जाता है, इसलिए अरिहन्त और सिद्धों में गुण कृत भेद मानना ही चाहिए।

शंका—उर्ध्वगमन आत्मा का गुण नहीं है, क्योंकि, उसे आत्मा का गुण मान लेने पर उसके अभाव में आत्मा का भी अभाव मानना पड़ेगा। इसी कारण सुख भी आत्मा का गुण नहीं है। दूसरे वेदनीय कर्म को दुःखोत्पादक मान लेने पर केवली भगवान् के केवलीपना नहीं बन सकता है?

समाधान—यदि ऐसा हो तो रहो अर्थात् अरिहन्त और सिद्धों में गुणकृत भेद सिद्ध नहीं होता तो मत होओ क्योंकि, वह न्याय संगत है। फिर भी सलेपत्व और निर्लेपत्व की अपेक्षा और देश भेद की अपेक्षा उन दोनों परमेष्टियों में भेद सिद्ध है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४६ पुस्तक नम्बर १।

नोट—यह सब उपचार का कथन है। दोनों परमेष्टियों में गुणकृत भेद हैं। अरिहन्त की आत्मा में ज्ञान गुण, दर्शन गुण, चारित्र गुण, सुख गुण, वीर्य गुण तथा श्रद्धा गुण, शुद्ध परिणमन करते हैं और योग गुण, क्रिया गुण, अव्याबाध गुण, अवगाहनां गुण, अगुरुलघु गुण, सूक्ष्मत्व गुण, और प्रदेशत्व गुण विकारी परिणमन करते हैं जब सिद्ध परमेष्टि की आत्मा के सम्पूर्ण गुण शुद्ध परिणमन करते हैं तो भी गुणकृत भेद नहीं है यह कहना कहां तक उचित है वह पाठक विचार करें। अरिहन्त में चार घातीया कर्मो के नाश से चार ही गुण प्रगट हुए हैं (१) अनन्त ज्ञान (२) अनन्त सुख (सम्यग्दर्शन सम्यग्चारित्र सहित) अनन्त वीर्य जब सिद्ध परमेष्टि में अष्टकर्मो के अभाव में आठ गुण प्रगट हुए हैं। यही वात धवल ग्रन्थ पृष्ठ १४-१५ पुस्तक नम्बर १ में लिखा है। देखिये।

जिस ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से जीव जिन द्रव्य गुण पर्याय इन तीनों को नहीं जानता उसी ज्ञानावरण कर्म के क्षय से वही जीव उन सभी तीनों को एक साथ जानने लगता है ॥ ४ ॥

जिस दर्शनावरणीय कर्म के उदय से जीव जिन द्रव्य गुण पर्याय इन तीनों को नहीं देखता था उसी दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से वही जीव उन सभी तीनों को एक साथ देखने लगता है ॥ ५ ॥

जिस वेदनीय कर्म के उदय से जीव सुख और दुःख इस दो प्रकार की अवस्था का अनुभव करता है उसी वेदनीय कर्म के क्षय से आत्मस्थ अनन्त सुख उत्पन्न होता है ॥ ६ ॥

जिस मोहनीय कर्म के उदय से जीव मिथ्यात्व कषाय और असंयम रूप से परिणमन करता है उसी मोहनीय के क्षय से इनके विपरीत गुणों को प्राप्त करता है ।। ७ ।।

जिस आयु कर्म के उदय से बेचारा जीव प्रति समय मरता और जीता है वही कर्म के उदय क्षय से वही जीव जन्म और मरण से रहित हो जाते हैं ।। ८ ।।

जिस नाम कर्म के उदय से अंगोपांग, शरीर, इन्द्रिय, मन और उच्छ्वास के योग्य निष्पत्ति होती है उसी नाम कर्म के क्षय से सिद्ध अशरीरी होते हैं ।। ९ ।।

जिस गोत्र कर्म के उदय से जीव उच्चोच्च उच्च उच्चनीच नीचोच्च नीच या निच्च निच भाव को प्राप्त होता है उसी कर्म के क्षय से वह जीव नीच और उच्च भावों से मुक्त होता है।

जिस अन्तराय कर्म के उदय से जीव के वीर्य, उपभोग, भोग, दान और लाभ में विघ्न उत्पन्न होता है उसी कर्म के क्षय से सिद्ध पंच विधि लब्धियों से संयुक्त होते हैं।

इससे भी सिद्ध होता है कि अरिहन्त तथा सिद्ध परमेष्टि में गुण कृत भेद भी है। कर्म आत्मा के अनुजीवों गुण का ही घात करते हैं प्रतिजीवी गुणों को घात नहीं करता है। यदि अनुजीवी गुणों को घात नहीं करते तो प्रतिपक्षी कर्म के अभाव में किस उपादान शक्ति में शुद्ध अवस्था आती है। वही उपादान शक्ति अनुजीवी गुण बिना हो ही नहीं सकती है।

(६) केवली को पंचेन्द्रिय किस अपेक्षा से कहा जाता है ?

असंज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर अयोगि केवली गुणस्थान तक पंचेन्द्रिय जीव होते हैं ।। सूत्र नम्बर ३७ ।।

शंका--पंचेन्द्रिय जीवों में गुणस्थानों की संख्या का प्रतिपादन नहीं करके असंज्ञी आदि पंचेन्द्रिय होते हैं ऐसा क्यों कहा ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, असंज्ञी आदि लेकर अयोगि केवली पर्यन्त पंचेन्द्रिय जीव होते हैं ऐसा कथन कर देने पर पंचेन्द्रियों में गुणस्थानों की संख्या का ज्ञान हो जाता है।

शंका—असंज्ञी से लेकर अयोगि केवली तक पंचेन्द्रिय जीव होते हैं यह ठीक है, परन्तु वे क्या पांच इन्द्रियों से युक्त होते हैं या पांच भावेन्द्रियों से युक्त होते है ? इनमें से प्रथम विकल्प तो वन नहीं सकता, क्योंकि, उसके मान लेने पर अपर्याप्त जीवों के साथ व्यभिचार दोष आता है। अर्थात् अपर्याप्त जीव पंचेन्द्रिय होते हुए भी उनके द्रव्येन्द्रियां नहीं पाई जाती, इसलिए व्यभिचार दोष आता है। इसी प्रकार दूसरा विकल्प भी नहीं बनता, क्योंकि, उसके मान लेने पर केवलियों से व्यभिचार दोष आता है। अर्थात् केवली पंचेन्द्रिय होते हुए भी भावेन्द्रियाँ नहीं पाई जाती हैं इसलिए व्यभिचार आता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यहाँ पर भावेन्द्रियों की अपेक्षा पंचेन्द्रियपना स्वीकार किया है। और ऐसा मान लेने पर पूर्वोक्त दोष भी नहीं आता है। केवलियों के यद्यपि भावेन्द्रियां समूल नष्ट होगई हैं और बाह्य इन्द्रियों का व्यापार भी बन्द होगया है तो भी (छद्मस्थ अवस्था में) भावेन्द्रियों के निमित्त से उत्पन्न हुई द्रव्येन्द्रियों के सद्भाव की अपेक्षा उन्हें पंचेन्द्रिय कहा गया है। अथवा भूतपूर्व का ज्ञान कराने वाले न्याय के आश्रय से उन्हें पंचेन्द्रिय कहा है।

शंका—सब जगह निश्चय नय का आश्रय लेकर वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन करने के पश्चात-फिर यहाँ पर व्यवहार नय का आलम्बन क्यों लिया जारहा है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, मन्द बुद्धि शिष्यों के अनुग्रह के लिए उक्त प्रकार से वस्तु स्वरूप का विचार किया है। अथवा उक्त व्याख्यान को ठीक नहीं समझना चाहिए, क्योंकि, मन्द बुद्धि शिष्यों के लिए यह व्याख्यान दुःख बोध है। दूसरे इन्द्रिय और प्राणों के साथ इस कथन का पुनरुक्त दोष भी आता है।

शंका— तो फिर वह दूसरा कौनसा व्याख्यान है जिसे ठीक माना जाय ?

समाधान—एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म के उदय से एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय जाति नाम कर्म के उदय से द्विन्द्रिय-त्रिन्द्रिय जाति नाम कर्म के उदय से जीव त्रिन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय नाम कर्म के उदय से जीव चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय नाम कर्म के उदय से जीव पंचेन्द्रिय होते हैं। इस व्याख्यान के अनुसार केवली और अपर्याप्त जीवों के भी पंचेन्द्रिय जाति नाम कर्म का उदय होता ही हैं। अतः यह व्याख्यान निर्दोष है। अतएव इसका आश्रय करना चाहिए। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २६३-२६४ पुस्तक नम्बर १।

(७) केवली के मन नहीं पाया जाता है।

शंका—केवली के अतीन्द्रिय ज्ञान होता है, इसलिए उनके मन नहीं पाया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उनके द्रव्य मन का सद्भाव पाया जाता है।

शंका—केवली के द्रव्य मन का सद्भाव रहा आवे, परन्तु वहाँ पर उसका कार्य नहीं पाया जाता है ?

समाधान—द्रव्य मन के कार्य रूप उपयोगात्मक क्षयोपशमिक ज्ञान का अभाव भले ही रहा आवे परन्तु द्रव्य मन के उत्पन्न करने में प्रयत्न तो पाया जाता है, क्योंकि, द्रव्य मन की वर्गणाओं के लाने के लिए होने वाले प्रयत्न में कोई प्रति बन्धक कारण नहीं पाया जाता है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि उस मन के निमित्त से जो आत्मा का परिस्पन्द रूप प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते हैं।

शंका—केवली के द्रव्य मन को उत्पन्न करने में प्रयत्न विद्यमान रहते हुए भी वह अपने कार्य को क्यों नहीं करता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, केवली के मानसिक ज्ञान के सहकारी कारण रूप क्षयोपशमिक का अभाव है, इसलिए उनके मनो निमित्तक ज्ञान नहीं होता है।

शंका—जब कि केवली के यथार्थ में क्षयोपशमिक मन नहीं पाया जाता है तो उससे सत्य और अनुभव इन दो प्रकार के वचनों की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उपचार से मन के द्वारा उन दोनो प्रकार के वचनों की उत्पत्ति का विधान किया गया है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २८४ पुस्तक नम्बर १

(८) सयोगि केवली को संज्ञी असंज्ञी से रहित क्यों न माना जावे ?

शंका—जबकि सयोगि केवली जिनेन्द्र संज्ञी और असंज्ञी इन दोनों ही व्यपदेशों से रहित है, इसलिये सयोगि जिनको अतीत जीव समास वाला होना चाहिए ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, द्रव्य मन के अस्तित्व और भाव मनो गत, पूर्वगति अर्थात् भूतपूर्व न्याय के आश्रय से सयोगि केवली के संज्ञीपना माना गया है। अथवा पृथ्वी कायिक, जल कायिक, अग्नि कायिक, वायु कायिक, वनस्पति कायिक और त्रस कायिक जीवों के पर्याप्त और अपर्याप्त सम्बन्धी चौदह

जीव समासों में से सात अपर्याप्त जीव समासों में कपाट, प्रतर और लोक पूरण समुद्घात सयोगि केवली का सत्व माना जाने से उन्हें अतीत जीव समास वाला नहीं कहा जा सकता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ६५१ पुस्तक नम्बर २

(९) केवली समुद्घात को प्राप्त केवली पर्याप्त है या अपर्याप्त है ?

शंका—कपाट, प्रतर लोक पूरण समुद्घात को प्राप्त केवली पर्याप्त है या अपर्याप्त ?

समाधान—उन्हें पर्याप्त तो माना नहीं जा सकता है, क्योंकि, "औदारिक मिश्र काय योग अपर्याप्तकों के होता है" इस सूत्र से उनके अपर्याप्तपना सिद्ध है इसलिए वे अपर्याप्त कहे हैं।

शंका—"सम्यग्मिथ्यादृष्टि संयता संयत और संयतों के स्थान में जीव नियम से पर्याप्तक होता हैं" इस प्रकार सूत्र निर्देश होने के कारण यही सिद्ध होता है कि सयोगि को छोड़कर अन्य औदारिक मिश्र काय योग वाले जीव अपर्याप्तक हैं। यहां शंकाकार का यह अभिप्राय है है कि औदारिक मिश्र काय योग वाले जीव अपर्याप्तक होते हैं यह सामान्य विधि है, और सम्यग्मिथ्यात्व, संयमासयम और संयत जीव पर्याप्तक होते हैं यह विशेष विधि है और संयतों में सयोगि का अन्तर्भाव हो ही जाता है। अतएव "विशेष विधिना सामान्य विधि वध्यिते" इस नियम के अनुसार उक्त विशेष विधि से सामान्य विधि बाधित हो जाती है जिससे कपाट आदि समुद्घात काल केवली को अपर्याप्त सिद्ध करना असंभव है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, यदि "विशेष विधि से सायान्य विधि बाधित होती है" इस नियम के अनुसार "औदारिक मिश्र काय योग वाले जीव अपर्याप्तक होते हैं" यह सामान्य विधि" सम्यग्मिथ्यादृष्टि आदि पर्याप्तक होते हैं" इससे बाधि जाती है तो आहार मिश्र काय योग वाले प्रमत संयतों को भी पर्याप्तक ही मानना पड़ेगा, क्योंकि, वे ही संयत है। किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि, "आहारक मिश्र काय योग अपर्याप्तकों के होते हैं" इस सूत्र से अपर्याप्तक ही सिद्ध होते हैं। पृष्ठ ४४१

शंका—जिसका आरम्भ किया हुआ शरीर अर्ध अथवा अपूर्ण हैं उसे अपर्याप्त कहते हैं, परन्तु सयोगि अवस्था में शरीर का आरम्भ तो होता नहीं अतः सयोगि अपर्याप्तपना बन नहीं सकता हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कपाटादि समुद्घात अवस्था में सयोगि छह पर्याप्ति रूप शक्ति से रहित होते हैं अतएव उन्हें अपर्याप्त कहा है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४४१-४४४ पुस्तक नम्बर २

(१०) केवली को अपर्याप्त काल में कितने प्राण होते हैं ?

आयु और काय बल ये दो प्राण होते हैं। किन्तु पांच इन्द्रिय प्राण नहीं होते हैं, क्योंकि, जिनके ज्ञानावरणादि कर्म नष्ट हो गये हैं ऐसे क्षीणावरण सयोगि केवली में आवरण कर्मो का क्षयोपशम नहीं पाया जाता है, और इसलिए क्षयोपशम लक्षण भावेन्द्रियाँ भी नहीं पाई जाती है। तथा इन्द्रिय प्राणों के द्रव्येन्द्रियों से प्रयोजन है नहीं, क्योंकि, अपर्याप्त काल में पाँचों इन्द्रिय प्राणों के अस्तित्व के प्रतिपादन करने वाला सत्प्ररुपणा के सूत्र देखा जाता है। मनो बलप्राण, वचन बल प्राण और स्वासोच्छ्वास प्राण भी औदायिक मिश्र काय योगी सयोगि केवली के नहीं होते हे, क्योंकि, मनःपर्याप्ति, वचन पर्याप्ति और आनापान पर्याप्ति संज्ञिक पौद्गलिक स्कन्धों निमित्त स्वप्राण संज्ञाओं से अर्थात मन, वचन, और स्वासोच्छ्वास प्राणों से संयुक्त शक्तियों का कपाट समुद्घात गत केवली में अभाव पाया जाता है। अथवा समुद्घात गत केवली के वचन बल और स्वासोच्छ्वास प्राणों के कारण भूत वचन और आनापान पर्याप्तियाँ पाई जातो है इसलिए लोक पुरण समुद्घात के अनन्तर होने वाले प्रतर समुद्घात के पश्चात उपरिम छटे

समय से लेकर आगे वचन बल और स्वासोच्छ्वास प्राणों का सद्भाव हो जाता है इसलिए सयोगि केवली के औदारिक मिश्र काय योग में चार प्राण भी होते है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ६५८ पुस्तक नम्बर २

(११) वीतरागी को लेश्या किस कारण से कही है ?

शंका—जबकि उपशान्त कषाय आदि गुणस्थान में कषायों का उदय नहीं पाया जाता है तो फिर वहां लेश्या किस कारण से कही ?

समाधान—यहां पर कर्म नोकर्म के लेप के निमित्त भूत योग का सद्भाव पाया जाता है। इसलिए शुक्ल लेश्या कही है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४३९ पुस्तक नम्बर २ एवं धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३९१ पुस्तक नम्बर १ में लिखा है कि—

शंका—जिन जीवों की कषाय क्षीण अथवा उपशान्त होगई है उनके शुक्ल लेश्या का होना कैसे सम्भव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिन जीवों की कषाय क्षीण अथवा उपशान्त हो गई है उनमें कर्म लेप का कारण योग पाया जाता है इसलिये, इस अपेक्षा से उनके शुक्ल लेश्या के सद्भाव मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है।

(१२) सयोगि केवली में अपर्याप्त काल में द्रव्य से कितनी लेश्या है ?

सयोगि केवली को अपर्याप्त काल में द्रव्य से कापोत लेश्या है ?

शंका—सयोगि केवली के मूल शरीर की तो छहों लेश्याए होती हैं फिर भी उन्हें क्यों नहीं कहते है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कपाट समुद्घात के समय चौदह राजुआयाम (लम्बाई) से और सात राजु विस्तार से अथवा चौदह राजु आयाम से और एक राजु को आदि लेकर बढ़े हुए विस्तार से व्याप्त जीव के प्रदेशों का संख्यात अंगुल की अवगाहना वाले पूर्व शरीर के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है। यदि सम्बन्ध माना जायगा तो जीव के प्रदेशों के परिमाण वाला ही औदारिक शरीर को होना पड़ेगा, किन्तु, ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि, विशिष्ट बन्ध को धारण करने वाले शरीर के पूर्वोक्त प्रमाण रूप से पसरने (फैलने) की शक्ति का अभाव है। अथवा यदि मूल शरीर के कपाट समुद्घात प्रमाण प्रसरण शक्ति मानी जाय तो फिर उनकी औदारिक मिश्र काय योगता नहीं बन सकती है। तथा कपाट समुद्घात गत केवली पुराने मूल शरीर के साथ सम्बन्ध है नहीं अतएव यह ही निष्कर्ष निकलता है कि सयोगि केवली के मूल शरीर की छहों लेश्याए होने पर भी कपाट समुद्घात के समय उनका ग्रहण नहीं किया जा सकता है, किन्तु, औदारिक मिश्र काय योग होने के कारण एक कापोत लेश्या ही कहा गया है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ६६० पुस्तक नम्बर २।

(१३) केवली के योग निरोध के समय मन भी है ?

शंका—केवली योग निरोध किस प्रकार करता है ?

समाधान—स्थिति काण्डक और अनुभाग काण्डक का उत्कीरण काल अन्तर्मुहूर्त है। यहां से अन्तर्मुहूर्त से जाकर बादर काय योग द्वारा बादर मनोयोग का निरोध करता है। पश्चात अन्तर्मुहूर्त में पश्चात अन्तर्मुहूर्त में बादर काय योग द्वारा बादर वचन योग का निरोध करता है। बादर काय योग द्वारा वादर उच्छ्वास का निरोध करता है। पश्चात अन्तर्मुहूर्त जाकर सूक्ष्म काय योग

द्वारा सूक्ष्म मन योग का निरोध करता है। अन्तर्मुहूर्त जाकर सूक्ष्म काय योग द्वारा सूक्ष्म वचन योग का निरोध करता है। पश्चात अन्तर्मुहूर्त जाकर सूक्ष्म काय योग द्वारा सूक्ष्म उच्छ्वास का निरोध करता है। पश्चात अन्तर्मुहूर्त में सूक्ष्म काय योग द्वारा सूक्ष्म काय योग का निरोध करता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३२१ ३२२ पुस्तक नं० १०।

(१४) केवली को साता असाता वेदनीय कर्म का कैसे फल मिलता है ?

शंका—यदि जिन भगवान् के सत्कर्म पतन हो रहा है तो उसका युगपत् पतन क्यों नहीं होता ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, पुष्ट नदियों के समान बन्धे हुए कर्म स्कन्धों के पतन को देखते हुए पतन को प्राप्त होने वाले उनका अक्रम से पतन मानने में विरोध आता है। जिनेन्द्र भगवान् के पंचेन्द्रिय, त्रस, बादर, पर्याप्त, गोत्र और आयु कर्म की उदय और उदीरणा पाई जाती है, इसलिए वे देव कैसे हो सकते हैं, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उनका कर्म उदीर्ण होकर भी उदीर्ण नहीं है, क्योकि, वह दग्ध गेहूँ के समान निर्बीज भाव को प्राप्त हो गया है।

शंका—ईर्यापथ, कर्म का लक्षण करते समय शेष कर्मों के व्यापार का कथन क्यों किया जा रहा है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ईर्यापथ के साथ रहने वाले शेष कर्मो में भी ईर्यापथत्व सिद्ध है। इसलिए उनके लक्षण में ईर्यापथ का लक्षण घटित हो जाता है।

असाता वेदनीय का वेदन करने वाले जिन देव आमय और तृष्णा से रहित कैसे हो सकता है। यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, असाता वेदनीय वेदित होकर भी वेदीत नहीं है, क्योंकि, अपने सहकारी कारण रूप घाती कर्मों का अभाव हो जाने से उनमें दुःख को उत्पन्न करने की शक्ति मानने में विरोध आता है।

शंका—निर्बीज हुए प्रत्येक शरीर के समान निर्बीज हुए असाता वेदनीय का उदय क्यों नहीं होता ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, भिन्न जातीय कर्मों की समान शक्ति होने का कोई नियम नहीं है।

शंका—यदि असाता वेदनीय कर्म निष्फल ही है तो वहां उसका उदय है ऐसा क्यों कहा जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, भूत पूर्व नय की अपेक्षा से वैसा कहा जाता है।

दूसरे सहकारी कारण रूप घाती कर्मो का अभाव होने से ही शेप कर्मो के समान असाता वेदनीय कर्म न केवल निर्बीज भाव को प्राप्त हुआ है, किन्तु उदय स्वरूप साता वेदनीय का बन्ध होने से और उदया गत उत्कृष्ट अनुभाग युक्त साता वेदनीय रूप सहकारी कारण होने से उसका उदय भी प्रतिहत हो जाता है। यदि कहा जाय कि,बन्ध के उदय स्वरूप रहते हुए साता वेदनीय कर्म की गोपुच्छा स्तिवुक संक्रमण के द्वारा असाता वेदनीय को प्राप्त होती होगी सो यह भी बात नहीं है, क्योंकि, ऐसा मानने में विरोध आता है।

शंका—यदि यहाँ स्तिबुक, संक्रमण का अभाव मानते हैं तो साता असाता की सत्व व्युच्छित्ति अयोगि के अन्त में समय में होने का प्रसंग आता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, साता के बन्ध की व्युच्छित्ति हो जाने पर अयोगि गुणस्थान में साता के उदय का कोई नियम नहीं है।

शंका—इस तरह तो साता वेदनीय का उदय काल अन्तर्मुहूर्त विनिष्ट होकर कुछ कम पूर्व कोटि प्रमाण प्राप्त हो जाता है ?

समाधान—नहीं, सयोगि गुणस्थान को छोड़कर अन्यत्र उदय काल का अन्तर्मुहूर्त प्रमाण नियम ही स्वीकार किया गया है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ५२-५४ पुस्तक नं० १३।

नोट—सयोगि केवली को असाता का उदय भी तो आता है। ऐसा नहीं कि असाता कर्म साता रूप परिणमन कर आता है। यदि साता रूप परिणमन कर आता है तब असाता का "उदय" यह संज्ञा नही रहती है। दूसरी बात सयोग केवली गुणस्थान छोड़कर साता का उदय अन्तर्मुहूर्त है ऐसा आगम वाक्य भी नहीं है। तीसरा जिस काल में साता का उदय है उसी समय में असाता का उदय नहीं हो सकता है, क्योंकि, एक समय में एक का ही उदय होगा। परन्तु टीकाकार ने" सयोगि केवली गुणस्थान को छोड़कर अन्यत्र उदय काल का अन्तर्मुहूर्त प्रमाण नियम स्वीकार किया है" ऐसा जो कहा है वह भी उपचार का कथन है।

(१५) केवली भोजन क्यों नहीं करता है ?

शंका—साता वेदनीय के वेदन करने वाले तथा क्षुधा तृषा आदि ग्यारह परिषहों द्वारा बाधा को प्राप्त हुए सयोगि केवली भगवान् के भोजन का ग्रहण कैसे नही होगा ?

समाधान—वह कोई दोष नही है, क्योंकि, जो भोजन पान में उत्पन्न हुई इच्छा से मोह युक्त है तथा मरण के भय से जो भोजन करता है, अतएव, परिषहो से जो पराजित हुए है ऐसे जीव के कवली होने का विरोध है। संक्लेश के साथ अवना भाव रखने वाली क्षुधा से जलने वाले भी केवलीपना बन जाता है, इस प्रकार यह दोष समान ही है। ऐसा भी समाधान नही करना चाहिए, क्योंकि, अपने सहायक घातीया कर्मो का अभाव हो जाने से अशक्तता को प्राप्त हुए असाता वेदनीय के उदय से क्षुधा व तृषा की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

शंका—बिना फल दिए ही प्रति समय निर्जीर्ण होने वाले परमाणु समूह की उदय संज्ञा कैसे बन सकती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जीव और कर्म विवेक मात्र फल को देख कर उदय को फल रूप से स्वीकार किया गया है।

शंका—ऐसा है तो असाता वेदनीय के उदय काल में साता वेदनीय का उदय नहीं होता केवल असाता वेदनीय का उदय रहता है ऐसा नही कहना चाहिए, क्योंकि, अपने फल को नही उत्पन्न करने की अपेक्षा दोनों में ही समानता पाई जाती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, तब असाता वेदनीय के परमाणुओं के समान साता वेदनीय के परमाणुओं की अपने रूप से निर्जरा नही होती। किन्तु विनाश होने की अवस्था में असाता रूप परिणमन कर उनका विनाश होता है, यह देखकर साता वेदनीय का उदय नही है ऐसा कहा जाता है। परन्तु असाता वेदनीय का यह क्रम नही है क्योंकि, तब असाता के परमाणुओं की अपने रूप से ही निर्जरा पाई जाती है इस कारण दुःख रूप फल के अभाव मे भी असाता वेदनीय का उदय मानना युक्ति-युक्त है यह सिद्ध होता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २५ पुस्तक नम्बर १२।

नोट—ऊपर में असाता वेदनीय का उदय नहीं माना और यहां पर असाता का उदय सयोगि केवली के भी है यह स्वीकार किया है। प्रथम कथन किया था वह उपचार है और यहां पर जो कथन किया है वही सत्य है। दोनों कथन को सत्य मानना मिथ्या ज्ञान है। सयोगि जिन भोजन क्यों नहीं लेता है उसी का समाधान ठोस वाला नहीं है परन्तु लूला है। यथार्थ में जहां आहार संज्ञा हीनहीं है वहां आहार की उदीरणा कैसे हो सकती है। आहार संज्ञा में ही आहार की उदीरणा

होवे अथवा न भी होवे परन्तु आहार संज्ञा का नाश हुआ बाद आहार की उदीरणा हो ही नहीं सकती है। दूसरी बात केवली परमात्मा अन्तराय का पालन भी तो करता होगा ? केवल ज्ञान में एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक जीवों का कलेवर देखते हैं वहाँ वह आहार कैसे ले सकते हैं। तीसरी बात यदि केवली के क्षुधा लगे तो अनन्त सुख कहाँ रहा ? यह सब बातों का विचार करने से यही सिद्ध हुआ कि, केवली परमात्मा के क्षुधा है ही नहीं, जिससे आहार की उदीरणा भी करते नहीं हैं।

(१६) केवली समुद्घात कैसे करते हैं ?

सयोगि जिन आयु कर्म के अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रहने पर पहले आवर्जित करण करते हैं, और तदनन्तर केवली समुद्घात करते हैं। सूत्र नम्बर २ ॥

विशेषार्थ—केवली समुद्घात के अभिमुख होने को आवर्जित करण कहते हैं, अर्थात् केवली समुद्घात के लिए आवश्यक तैयारी की जाती है उसे आवर्जित करण कहते हैं।

सयोगि केवली जिन प्रथम समय में दण्ड समुद्घात करते हैं। उसमें कर्मो की स्थिति के असंख्यात वहु भागों का घात करते हैं। कर्मो के अविशिष्ट अनुभाग के अप्रशस्त अनुभाग सम्बन्धी अनन्त बहु भागों का घात करता है। ३-५ ॥ तदन्तर द्वितीय समय में कपाट समुद्घात करते हैं उसमें अघातीया कर्मो की शेप स्थिति के भी असंख्यात बहु भागों का घात करते हैं, और, अविशिष्ट अनुभाग सम्बन्धी अप्रशस्त अनुभाग के अनन्त वहु भागों का घात करते हैं। ६-८॥ तत्तपश्चात, तृतीय समय में मन्थ समुद्घात करते हैं। इसमें अघातीया कर्मो की स्थिति और अनुभाग की कपाट समुद्घात के समान ही निर्जरा करता है। ९-१०। तदनन्तर चतुर्थ समय में लोक को पूरित करते हैं। लोक के आत्म प्रदेशों से पूरित करने पर योग की एक वर्गणा हो जाती है। इस अवस्था को ही "समयोग" जानना चाहिये। ११-१२। लोक के पूर्ण होने पर अर्थात् लोक पूर्ण समुद्घात करने पर अघातीया कर्मों की अन्तमुर्हूर्त प्रमाण स्थिति को स्थापित करता है। यह अन्तमुर्हूर्त प्रमित स्थिति आयु कर्म की स्थिति से संख्यात गुणी है। १३-१४। केवली समुद्घात के समयों में अप्रशस्त कर्मांशों के अनुभाग की प्रति समय अपवर्तना होती है। एक समय वाले स्थिति काण्डक घात होता है। लोक पूरण समुद्घात के पश्चात आत्म प्रदेश संकोचने के प्रथम समय से लेकर आगे के समयों में शेप रही हुई अन्तमुहूर्त प्रमित स्थिति के संख्यात भागों का घात करता है। तथा शेष रहे अनुभाग के अनन्त वहु भाग का भी नाश करता है। इस स्थल पर स्थिति काण्डक और अनुभाग काण्डक का उत्कीरण काल अन्तमुर्हूर्त प्रमाण है। १५-१९। इससे अन्तमुर्हूर्त आगे जाकर अर्थात् समुद्घात के उपसंहार के अन्तर्मुहूर्त पश्चात व सयोगि जिन योग निरोध करते हैं। कषाय पाहुड सूत्त पृष्ठ ९००-९०३।

(१७) केवली को क्षयोपशमिक भाव।

सयोगि के प्रथम समय में, जो औदारिक शरीर के नोकर्म स्कन्ध निर्जीण हुए उनकी अपेक्षा दूसरे समय में, अधः कर्म की आदि होती है। और तीसरे समय में, अन्तर होकर सयोगि के अन्तिम समय में, पूर्व निर्जीण स्कन्धकों के बन्ध को प्राप्त होने पर अधः कर्म का अन्तर काल उपलब्ध होता है। इस प्रकार अधः कर्म का उत्कृष्ट अन्तर काल गर्भ से लेकर आठ वर्ष और तीन समय आठ अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्व कोटि होता है।

भावानुयोग की अपेक्षा निर्देश दो प्रकार का है। ओघ और आदेश। ओघ से प्रयोग कर्म का कौन भाव है ? क्षयोपशमिक भाव है। समवधान कर्म और अधः कर्म का कौनसा भाव है ? औदयिक भाव है।

ईर्यापथ कर्म का कौन भाव हैं ? औपशमिक भाव है या क्षायिक भाव है। तप कर्म और क्रिया कर्म का कौन भाव है ? औपशमिक भाव है, क्षायिक भाव है या क्षयोपशमिक भाव हैं।

विशेषार्थ—प्रयोग कर्म में तीनों योग मिल गये हैं। जो क्षयोपशमिक होता है। इससे यहां प्रयोग कर्म का क्षयोपशमिक भाव कहा है। यद्यपि सयोगि केवली के ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयोपशम नहीं होता परन्तु पूर्व प्रज्ञापन नय की अपेक्षा योग को क्षयोपशमिक भाव मानकर उसका एक क्षयोपशमिक ही भाव लिया गया है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १७२-१७३ पुस्तक नम्बर १३।

नोट—सूत्रकार ने तो केवली को भी क्षयोपशमिक भाव बता दिया परन्तु क्षयोपशमिक भाव केवली के होता ही नहीं। यह जो कथन है वह उपचार मात्र हैं।

(१८) सयोगि केवली को कौनसा भाव है ?

सयोगि केवली को केवल क्षायिक भाव है। सूत्र नम्बर ६॥

नोट—यहां पर केवली को केवल क्षायिक भाव कहा है वह भी उपचार हैं। तेरहवें गुणस्थान में क्षायिक तथा औदयिक भाव है। भाववति शक्ति का तो क्षायिक भाव है परन्तु आत्मा की क्रियावर्ती शक्ति में जितने गुण हैं वह सभी औदयिक भाव से ही परिणमन करती हैं। केवली को यदि केवल क्षायिक भाव ही माना जाय तो उसे वहाँ बन्ध भी नहीं होना चाहिए परन्तु सयोगि केवली को आस्रव तथा बन्ध तत्व दोनों ही हैं। जिससे वहां केवल क्षायिक भाव नहीं है ?

(१९) कषाय की निवृति से केवली में पारिणामिक भाव प्रगट होता है ?

सूत्र—संयत जीव प्रमत संयत से लेकर अयोगि केवली गुणस्थान तक होते हैं। सूत्र नं० १२४॥ स० सि० १-८।

शंका—बुद्धिपूर्वक सावद्य योग के त्याग को संयम कहना तो ठीक है। यदि ऐसा न माना जाय तो काष्ट आदि में संयम का भी प्रसंग आ जायगा ? किन्तु केवली में बुद्धिपूर्वक सावद्ययोग की निवृति तो पाई नहीं जाती है इसलिए उनमें संयम का होना दुर्घट ही है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, चार घातिया कर्मों के विनाश करने की अपेक्षा और समय-समय में असंख्यातगुणी श्रेणी रूप से निर्जरा करने की अपेक्षा सम्पूर्ण पाप क्रिया के निरोध स्वरूप पारिणामिक गुण प्रगट हो जाता है। इसलिए इस अपेक्षा से वहाँ (सयोगि केवली में) संयम का उपचार किया जाता है। अतः वहाँ पर संयम का होना दुर्घट नहीं है। अथवा प्रवृति के अभाव की अपेक्षा वहाँ पर मुख्य संयम है। इस प्रकार जिनेन्द्र में प्रवत्य भाव से, मुख्य संयम की सिद्धि करने पर काष्ट से व्यभिचार दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, काष्ट में प्रवृति नहीं पाई जाती है। तब उसकी निवृति भी नहीं बन सकती है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३७४ पुस्तक नं० १।

नोट—यहाँ पर "सम्पूर्ण पाप क्रिया के निरोध रूप पारिणामिक गुण प्रगट होता है" यह कहना उपचार है यथार्थ में वहाँ क्षायिक भाव प्रगट होता है। कषाय मोहनीय कर्म के सद्भाव में होतो है और मोहनीय कर्म के अत्यन्त अभाव में क्षायिक भाव प्रगट होता है तो भी उनको पारिणामिक भाव कहना उपचार है। ऐसा मानने से पारिणामिक और क्षायिक भाव में कोई अन्तर नहीं रहता है। दोनों भाव एक हो जाने से उनका लक्षण का भी नाश हो जावेगा।

(२०) वीर सासन में कितने सकल श्रुत के धारी हुए ?

द्रव्य श्रुत के कर्ता गौतम गणधर है। गौतम गणधर ने दोनों प्रकार का श्रुत ज्ञान लोहाचार्य को दिया। लोहाचार्य ने जम्बु स्वामी को दिया। परिपाटी क्रम से ये तीनों ही सकल श्रुत के धारण करने वाले कहे गये हैं। और यदि परिपाटी क्रम की अपेक्षा न की जावे तो उस समय संख्यात हजार सकल श्रुत के धारी हुए॥ धवल ग्रन्थ पृष्ठ ६५ पुस्तक नम्बर १।

(२१) केवली को बन्ध होता है या नहीं ?

अकसाई बंधा वि अत्थि अबंधा वि अत्थि॥ सूत्र नं० २०॥

अर्थ—अकपायी बन्धक भी है और अबन्धक भी है॥ २०॥

क्योंकि, ग्यारहवें गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक के सयोगि जीवों के बन्धक होने पर भी अकषायत्व पाया जाता है। और चौदहवें गुणस्थामवर्ती अयोगि जीवों के अबन्धक होते हुए भी अकपायत्व पाया जाता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १६ पुस्तक नं० ७।

(२२) सयोगि जिन अयोगि जिन को पंचेन्द्रि कैसे कहा ?

शंका—सयोगि जिन और अयोगि जिन के सम्पूर्ण इन्द्रियां नष्ट होगयी है, अतएव उनके पंचेन्द्रिय यह संज्ञा कैसे घटित होती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, पंचेन्द्रिय जाति नाम कर्म की अपेक्षा सयोगि केवली और अयोगि केवलियों को पंचेन्द्रिय संज्ञा बन जाती है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३१७ पुस्तक नम्बर ३।

अयोगि केवली गुणस्थान

(१) अयोगि केवली को एक आयु प्राण क्यों है ?

शंका—अयोगि केवली को एक आयु प्राण होने का क्या कारण है ?

समाधान—ज्ञानावरण के क्षयोपशम पांच इन्द्रिय प्राण तो अयोगि केवली के है नहीं, क्योंकि, ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय हो जाने पर क्षयोपशम का अभाव पाया जाता है। इसी प्रकार आनापान, भाषा और मनःप्राण भी उनके नहीं हैं, क्योंकि, पर्याप्ति जनित प्राण संज्ञा वाली शक्ति का उनके अभाव है। उसी प्रकार उन्हें काय बल नाम का भी प्राण नहीं है, क्योंकि, उनके शरीर नाम कर्म के उदय जनित कर्म और नोकर्म के आगमन का अभाव है। इसलिए अयोगि केवली के एक आयु प्राण ही होता है ऐसा समझना चाहिए। किन्तु उपचार का आश्रय लेकर उनके एक प्राण छह प्राण अथवा सात प्राण भी होते हैं। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४४५-४४६ पुस्तक नं० २।

नोट—अयोगि जिनको शरीर रहता नहीं है, जिस कारण से वह अयोगि हुए हैं, जब तक शरीर का संयोग है तब तक आत्मा अयोगि बन ही नहीं सकता है, क्योंकि, योग का निमित्त कारण शरीर था शरीर के अभाव में ही अयोगि होते हैं एवं वहाँ पर शरीरादि नामा नाम कर्म का उदय भी नहीं है, जिससे शरीर अंगोपांग आदि रहने का कारण भी नहीं है। तेरहवें गुणस्थान में ४२ प्रकृतियों का उदय था। जिस कारण शरीर अंगोपांग आदि थे उनमें से ३० प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाने से चौदहवें

गुणस्थान में केवल १२ प्रकृतियों का उदय रहने से शरीर अंगोपांग आदि रहता ही नहीं है वह प्रकृतियां निम्न प्रकार हैं—

तेरहवें गुणस्थान में जो ४२ प्रकृतियों का उदय था उनमें से व्युच्छित्ति (१) वेदनीय (२) वज्र ऋषभ नाराच संहनन (३) निर्माण (४) स्थिर (५) अस्थिर (६) शुभ (७) अशुभ (८) सुस्वर (६) दुस्वर (१०) प्रशस्त विहायो गति (११) अप्रशस्त विहायोगति (१२) औदारिक शरीर (१३) औदारिक अंगोपांग (१४) तैजश शरीर (१५) कार्मण शरीर, (१६) समचतुर संस्थान (१७) न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान (१८) स्वाति संस्थान (१६) कुब्जक संस्थान (२०) वामन सँस्थान (२१) हुण्डक संस्थान (२२) स्पर्श (२३) रस (२४) गन्ध (२५) वर्ण (२६) अगुरुलघु (२७) उपघात (२८) परघात (२६) उच्छ्वास (३०) प्रत्येक ये मिलकर ३० प्रकृतियों के घटाने पर शेष १२ प्रकृतियों का अर्थात् (१) वेदनीय (२) मनुष्य गति (३) मनुष्यायु (४) पंचेन्द्रिय जाति (५) शुभग (६) त्रस (७) वादर (८) पर्याप्त (६) आदेय (१०) यशःकीर्ति (११) तीर्थंकर (१२) उच्चगोत्र का उदय रहता है जिससे चौदहवे गुणस्थान में शरीर रहता ही नहीं। जिससे आलाप में भी लिखा है कि काय योग का गुणस्थान १३ होता है अर्थात् आदि के १३ गुणस्थान तक काय रहती है। देखिए आलाप नम्बर २५२-२६६ पृष्ठ नं० ६३३-६४६ धवल पुस्तक नम्बर २ तो भी अयोगि केवली को द्रव्य लेश्या या शरीर रहता है यह कहना न्याययुक्त नहीं है परन्तु उपचार का ही कथन है। धवल ग्रन्थ नम्बर २ में आलाप नम्बर ५४४ में लिखा है कि "अयोगि केवली को योग नहीं है (काय नहीं हैं) द्रव्य से छहों लेश्याएँ होती है" पृष्ठ नम्बर ८५५-५६ कथन उपचार मात्र है यथार्थ में जहाँ शरीर ही नहीं रहता तो वहाँ शरीर रंग रूप लेश्या कैसे रह सकती है ? तो भी धवल ग्रन्थ पृष्ठ १७-१८ पुस्तक नम्बर ७ में लिखा है कि—

शंका—योग किसे कहते है ?

समाधान—मन, वचन और काय सम्बन्धी पुदगलों के आलम्बन से जो जीव प्रदेशों का परि-स्पंदन होता है वही योग है।

शंका—यदि ऐसा है तो शरीरी जीव अयोगी हो ही नहीं सकते हैं, क्योंकि, शरीर गत जीव द्रव्य को अक्रिय मानने में विरोध आता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, आठों कर्मो के क्षीण हो जाने पर जो उर्ध्वगमनोप लब्धि क्रिया होती है वह जीव का स्वभाविक गुण है, क्योंकि, वह कर्मोदय के बिना प्रवृत होता हैं। स्व-स्थित प्रदेश को न छोड़ते हुए अथवा छोड़कर जो जीव द्रव्य का अपने अवयवों द्वारा परिस्पन्द होता है वह अयोग है, क्योंकि, वह कर्म क्षय से उत्पन्न होता है। अतः सक्रिय होते हुए भी शरीरी जीव अयोगि सिद्ध होता है। क्योंकि; उनके जीव प्रदेशों के तत्पायमान जीव प्रदेशों के सदृश उध्वर्तन और परिवर्तन रूप क्रिया का अभाव हैं इसलिए अयोगि को अबन्धक कहा है।

नोट—यहाँ पर अयोगि होते हुए भी शरीर रहता है यह सिद्ध किया है परन्तु जहाँ शरीर नामा नाम कर्म का उदय नहीं है वहाँ शरीर कैसे रह सकता है ? और जब तक योग का निमित कारण शरीर है तब तक अयोगि कैसे बन सकता है ? अर्थात वहाँ शरीर है ही नहीं।

दूसरी बात "उर्ध्वगमन उपलब्धि क्रिया होती है वह जीव का स्वभाविक गुण माना है", यह भी यथार्थ में नहीं है। उर्ध्वगमन नियम से जीव का विकार भाव है परन्तु कर्म क्षय के बाद जो उर्ध्वगमन हुआ है वह पारिणामिक भाव से विकार रूप परिणमन हुआ है और लोक के अग्र भाग पर स्थिर हो जाना

अर्थात निष्क्रिय हो जाना यह जीव का स्वभाव भाव है। गमन और स्थिर रहना वह परस्पर विरोधी क्रिया गुण की पर्याय है। यदि गमन करना शुद्ध पर्याय मानो जावे तो स्थिर होना विकार मानना पड़ेगा? परन्तु वस्तु स्वभाव ऐसा है नाहि। परन्तु गमन करना ही जीव का विकार परिणमन है। जिस प्रकार दूसरे गुणस्थान में पारिणामिक भाव से मिथ्यात्व रूप कर्म का उदय बिना परिणमन है उसी प्रकार चौदहवें गुणस्थान के अन्त में संसार की व्यय पर्याय भी पारिणामिक भाव से गमन किया है और उत्पाद पर्याय में स्थिर आत्मा हो जाता है। यह वस्तु का स्वभाव है।

(२) आहारक कौनसे भाव से होता है?

ओदइएण भावेण ॥सूत्र नम्बर ८९॥

अर्थ—औदयिक भाव से जीव आहारक होता है ॥८६॥

औदारिक, वैक्रियक व आहारक शरीर नाम कर्म के प्रकृतियों के उदय से जीव आहारक होता है।

शंका—तैजश और कार्मण शरीर के उदय से जीव आहारक क्यों नहीं होता है?

समाधान—नहीं होता, ऐसा मानने पर विग्रह गति में भी जीव के आहारक मानना पड़ेगा अर्थात आहारक होने का प्रसङ्ग आजायगा। और वैसा है नहीं, क्योंकि, विग्रह गति में जीव के अनाहारक भाव पाया जाता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ११३ पुस्तक नम्बर ७

नोट—चौदहवें गुणस्थान के प्रथम समय से जीव अनाहारक है। अनाहारक तब ही हो सकता है कि जब औदारिक वैक्रियक और आहारक शरीर का संयोग न होवे। इससे भी सिद्ध होता है कि चौदहवें गुणस्थान के प्रथम समय में परम औदारिक शरीर रहता ही नहीं है। इतना नहीं परन्तु चौदहवें गुणस्थान मे तो तैजश एवं कार्मण शरीर का भी उदय रहता नहीं तो भी औदारिक शरीर मानना न्याय युक्त नहीं है, केवल उपचार का कथन है।

(३) जीव अनहारक कौन से भाव से होते हैं?

शंका—जीव अनहारक कौन से भाव से होते हैं?

ओदइएण भावेण पुण खइयाए लद्धीए ॥सूत्र नम्बर ९१॥

अर्थ—औदयिक भाव से तथा क्षायिक भाव से जीव अनाहारक होता है ॥६१॥

अयोगि केवली भगवान् और सिद्धों के क्षायिक अनाहारत्व होता है, क्योंकि, उनके क्रमशः घातीया कर्मों का व समस्त कर्मों का क्षय होता है। किन्तु विग्रह गति में औदयिक भाव से अनाहारत्व होता है, क्योंकि, विग्रह गति में सभी कर्मों का उदय पाया जाता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ११३ पुस्तक नं० ७

नोट—यहाँ पर अयोगि केवली को क्षायिक भाव से अनाहारक माना है। अनाहारक भाव चौदहवां गुणस्थान के प्रथम समय में ही हो जाते हैं। तेरहवें गुणस्थान में सयोगि केवली की पास में सत्ता में ८५ प्रकृतियां थी जब अनाहारक रूप क्षायिक भाव प्रगट हुआ तथा वहाँ एक भी प्रकृति का नाश हुआ नहीं है तो क्षायिक लब्धि कैसे प्राप्त होगई? यही विचार करने की बात है। चौदहवें गुणस्थान का काल असंख्यात समय का है। शेष के दो समय में ही ७२ तथा १३ प्रकृतियों का नाश होता है तब प्रथम समय में ही अनाहारक क्षायिक लब्धि कौनसा कर्म का नाशकर प्रगट हुई वही पाठक विचार करें, लेखक इस विषय में मौन अवलंबन करते हैं? अर्थात क्या लिखें?

जहां शरीर ही नहीं रहता है तो भी अयोगि जिनके शरीर के परमाणु निर्जरा है वह कहना कहां तक सत्य है। देखिए धवल ग्रन्थ पृष्ठ १३२ पुस्तक नम्बर १३ में लिखा है कि–

(४) अयोगि जिनके शरीर के परमाणु निर्जीर्ण होते हैं ?

अणाहारि अजोगीहिंतो जे णिज्जिण्णा ओरालिय परमाणु तेसिमेसो जहण्णुक्कस्स कालो वत्तव्वो ॥

अर्थ—अनाहारक अयोगी जीवों के शरीर से जो औदारिक परमाणु निर्जीर्ण होते हैं उसका यह जघन्य और उत्कृष्ट काल कहना चाहिए।

नोट—जहां शरीर ही नहीं है तब वहां परमाणु निर्जीर्ण कैसे होगा ? यह सब उपचार का ही कथन है।

आदिनाथ पुराण में लिखा है कि तीर्थंकर, सामान्य केवली और गणधर केवली के शरीर को जलाने से तीन प्रकार की अग्नि पूज्य बन जाती है, इसलिये अग्नि की पूजा करना। परन्तु जहाँ मूल शरीर ही नहीं रहता है तब जलाया किसको ? और क्या शरीर को जलाने से, अग्नि पूज्य हो जावेगी ? अग्नि एकेन्द्रिय जीव की काय वह पूज्य कैसे बने परन्तु लिखने वाले लिख गये परन्तु पढ़ने वाले यदि विचार न करे तो सम्यग्ज्ञान ने क्या कार्य किया ? सम्यग्ज्ञान सच्चा रास्ता दिखावे या नहीं ? परन्तु कहे किसको ? हम को तो लिखा ही मानना है अपने ज्ञान की तो कुछ कीमत ही नहीं है। परन्तु भाई साहब ? निर्णय किसका ज्ञान करेगा ? जो निर्णय करने वाला है ऐसा ज्ञान स्वरूपी आत्मा की जिसकी कीमत नहीं है और केवल द्रव्य श्रुत की ही जिसको महिमा आती है वह जीव अपने स्वभाव की ओर कैसे आ सकता है ? कुछ अपने ज्ञान की भी कीमत होनी चाहिए ? प्रमाण केवल आगम नहीं है ? प्रत्यक्ष प्रमाण, परोक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण, तर्क भी तो प्रमाण है। जब अनुमान और तर्क से कसने के बाद निर्णय न होते तब आगम देखने की जरूरत है परन्तु जहा अनुमान, तर्क आदि प्रमाण से सिद्धि होती है वहाँ भी उनकी महिमा न आकर केवल "लिखा ही सत्य है" ऐसा मानने से ही सम्यग्ज्ञान हो जावे तो संसार के सभी जीव अपने अपने शास्त्रों की आज्ञा मानते है तो सभी जीव सम्यग्ज्ञानी हो जावेगा ? परन्तु स्वभाव ऐसा नहीं है, इसलिए तो आप्त मिमाँसा मे कहा है कि "आज्ञा प्रधानि से परीक्षा प्रधानि उत्तम आत्मा है"। पाठक को जो यथार्थ लगे सो माने, हमारे इसमें खींचातानी नहीं है, सब जीव अपने अपने परिणाम के स्वामी है कोई कोई के स्वामी नही है यही वस्तु धर्म है।

(५) अयोगि केवली अयोगि कौन से भाव से होता है ?

अजोगी णाम कधं भवदि ? ॥सूत्र नं० ३४॥

अर्थ—जीव अयोगि कौन से भाव से होते हैं ? ३४॥

खइयाए लद्धीए ॥सूत्र नं० ३५॥

अर्थ—क्षायिक भाव से जीव अयोगि होते। ३५॥

योग के कारण शरीरादिक कर्मों के निर्मूल क्षय से उत्पन्न होने के कारण अयोगि भाव क्षायिक भाव है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ७८-पुस्तक नम्बर ७

नोट–शरीरादिक कर्मों के निमूल क्षय से अयोगि होते हैं इससे भी सिद्ध होता है कि जब तक शरीर का संयोग है तब तक आत्मा अयोगि बन ही नहीं सकता है। एवं शरीरादि कर्मों के निमूल क्षय से अयोगि बनता है, परंतु चौदहवाँ गुणस्थान में एक भी कर्म प्रकृति का नाश होता नहीं है, तब क्षायिक भाव की प्राप्ति कैसे हुई ? कर्म का तो संयोग पड़ा हुआ हैं अर्थात जितने कर्मो को सत्ता योग अवस्था में थी इतने ही कर्मो की सत्ता अयोग अवस्था में है, तो कर्मो का नाश कहां हुआ ? क्षायिक भाव का यही लक्षण है, कि प्रति पक्षी कर्मो का अत्यन्त नाश से जो भाव उत्पन्न हुए वही क्षायिक भाव है परन्तु एक भी कर्म का नाश तो होता ही नहीं है, अर्थात जितनी कर्म प्रकृतियां तेरहवे गुणस्थान में सत्ता में थी उतनी ही चौदहवें गुणस्थान के प्रथम समय में अर्थात अयोग अवस्था में है तो क्षायिक भाव की प्राप्ति कैसे हुई, सो विचार करने की बात है। पाठक अपने ज्ञान से विचार करे ? लेखक क्या लिखे ?

(६) अयोगि जिन अलेश्यिक किस भाव से होता है ?

अलेस्सिओ णाम कधं भवदि ?॥सूत्र नं० ६२॥

अर्थ—जीव अलेश्यिक कैसे होता है ? सूत्र नम्बर ६२॥

खइयाए लद्धीए ॥सूत्र नम्बर ६३॥

अर्थ—क्षायिक लब्धि से जीव अलेश्यिक होता है ॥६३॥

लेश्या के कारणभूत कर्मो के क्षय से उत्पन्न हुए जीव परिणाम को क्षायिक लब्धि कहते हैं, उसी क्षायिक लब्धि से जीव अलेश्यिक होता है। यह सूत्र का तात्पर्य है। शरीर नाम कर्म की सत्ता का होना क्षायिकत्व के विरुद्ध नहीं है, क्योंकि, क्षायिक भाव नाम कर्म के आधीन नहीं है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १०५-१०६ पुस्तक नम्बर ७।

नोट—अलेश्यिक भाव में यदि शरीरादि नामा नाम कर्म की सत्ता रहना क्षायिकत्व के विरुद्ध नहीं है यह कहना कहाँ तक ठीक है। यदि सत्ता में कर्म है तो उसका उदय भी तो आ सकता है ? यदि सत्ता में रहना विरुद्ध नहीं है तो औपशम भाव किसे कहोगे ? मिथ्यात्व कर्म सत्ता में रहने से उनका उदय नहीं होने से उपशम भाव होता है परन्तु क्षायिक भाव नहीं होता हैं। यहाँ पर कर्म सत्ता में रहने से क्षायिक भाव कैसे हो सकता है। उपशम भाव कहना था ? उसी प्रकार चारित्र मोहनीय कर्म सत्ता में रहने से यदि उनका उदय नहीं है तो उपशम भाव होते हैं परन्तु वहाँ क्षायिक भाव माना नहीं जाता। यदि वहाँ क्षायिक भाव माना जावे तो ग्यारहवें गुणस्थान का नाश हो जाता है, एवं उपशम एवं क्षायिक भाव का लक्षण का भी नाश हो जाता है। तो भी "शरीर नाम कर्म की सत्ता का होना क्षायिकत्व के विरुद्ध नहीं है, क्योंकि, क्षायिक भाव शरीर नाम कर्म के आधीन नहीं है" यह कहना कहां तक सत्य है वह पाठक विचार करें ? केवल सूत्र की रक्षा के लिए ही यह कथन किया गया है यथार्थ में वस्तु का स्वरूप ऐसा नही है।

(७) जीव त्रस कायिक और अकायिक किस भाव से होता है ?

तसकाइओ णाम कधं भवदि ? ॥ सूत्र नं० २८ ॥

अर्थ—जीव त्रस कायिक कैसे होता है ॥ २८ ॥

तसकाइयणामाए उदएण ॥ सूत्र नं० २९ ॥

अर्थ—त्रस कायिक नाम कर्म के उदय से जीव त्रस कायिक होता है। राजा० पृष्ठ ७१।

अकाइओ णाम कधं भवदि ? ।। सूत्र नं० ३० ।।

अर्थ—जीव अकायिक कैसे होता है ? सूत्र नम्बर ३०।।

खइयाए लद्धीए ।। सूत्र न० ३१ ।।

अर्थ—क्षायिक लब्धि से जीव अकायिक होता है ।। ३१ ।।

अनादि होने से आस्रव नित्य नहीं हो जाता, क्योंकि, कूटस्थ अनादि को छोड़कर प्रवाह अनादि में नित्यत्व नहीं पाया जाता है। यदि पाया जाय तो बीजादिक का विनाश नहीं होना चाहिए ? क्योंकि, प्रवाह रूप से उनमें अनादित्व देखा जाता है। इसलिए अनादि आस्रव के नित्यत्व सिद्ध करने में साधन नहीं हो सकता, क्योंकि, वह अनेकान्तिक अर्थात् पक्ष और विपक्ष में समान रूप से पाया जाता है। और आस्रव कूटस्थ अनादि स्वभाव वाला है नहीं, क्योंकि, प्रवाह अनादि रूप से आये हुए मिथ्यात्व, असंयम और कषाय रूप आस्रवों का वर्तमान काल में भी किसी-किसी जीव में विनाश देखा जाता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ७३-७४ पुस्तक नम्बर ७ ।

नोट—त्रस नामा नाम कर्म का उदय चौदहवां गुणस्थान के अन्त तक रहता हैं चौदहवाँ गुण स्थान के व्यय में हो त्रसनामा नाम कर्म का क्षय होने से ही क्षायिक भाव प्रगट होता है ऐसा शरीर नामा नाम कर्म के क्षय से अयोगि अलेश्यिक भाव प्रगट होना चाहिए था। परन्तु वहाँ तो कर्म सत्ता में रहते हैं ? त्रसनामा नाम कर्म के उदय से योग नहीं होता परन्तु योग मे कारण शरीर नामा नाम कर्म का उदय है। शरीर नामा नाम कर्म के उदय में औदारिक आदि शरीर मिलता है और शरीर नामा नाम कर्म के उदय के अभाव में शरीर रहता नहीं है, तो भी वह जीव त्रस नामा नाम कर्म के उदय से त्रस जीव कहा जाता है इससे सिद्ध होता है कि त्रस नामा नाम कर्म का कार्य और शरीर नामा नाम कर्म का कार्य अलग-अलग है।

(८) अयोगि केवली का कौनसा भाव है ?

धवल ग्रन्थ पृष्ठ १०३-१०४ पुस्तक नम्बर ५ में सूत्र नम्बर ६ एवं गोमट्टसार जीव कांण्ड गाथा १४ में लिखा है कि "अयोगि केवली को क्षायिक भाव है" इसका यह अर्थ नहीं करना चाहिए कि चौदहवें गुणस्थान में केवल क्षायिक ही भाव है। वहाँ गति नामा नाम कर्म के उदय से औदयिक भाव है तो भी वह औदयिक भाव बन्ध का कारण नहीं है, इससे सिद्ध होता है कि केवल औदयिक भाव ही बन्ध का कारण नहीं है परन्तु श्रद्धा गुण, चारित्र गुण तथा क्रिया गुण का विकारिपरिणमन औदयिक भाव से या क्षयोपशम भाव से होगा तब तक बन्ध होता है। बन्ध का कारण यह तीन ही गुणों की विकारिपरिणति है परन्तु "औदयिक" भाव ही बन्ध का कारण नही है। इससे सिद्ध हुआ कि चौदहवें गुणस्थान में केवल क्षायिक भाव नहीं है परन्तु औदयिक भी भाव है। ऐसी श्रद्धा रखना कार्यकारिणी है।

चौदहवाँ गुणस्थान का व्यय और सिद्ध पर्याय की प्राप्ति तभी ही मोक्षतत्त्व, प्रगट होता है तब सब गुणों क्षायिक भाव से ही परिणमन करता है। सिद्ध पर्याय प्रगट हुआ बाद मोक्षतत्त्व भी नहीं रहता केवल जीव तत्व रह जाता है। वहाँ क्षायिक भाव कहना भूतपूर्व प्रज्ञापननय की अपेक्षा से कहते हैं परन्तु यथार्थ में अब वहाँ केवल शुद्ध पारिणामिक भाव है। क्षायिक भाव कहना यह भी व्यवहार है अर्थात् उपचार है। इति गुणस्थान अधिकार समाप्त। माल थोन ता १६-१-५८।

विविध विषयाधिकार

(१) विविक्त शयासन तप का स्वरूप।

ध्यान और ध्येय के विघ्न के कारण भूत स्त्री, पशु और नपुंसक आदि से रहित गिरि की गुफा कन्दरा, पब्भार, (गिरि गुफा) स्मशान, सून्य घर, आराम और उद्यान आदि प्रदेश विविक्त कहलाते हैं। वहाँ शयन और आसन का नियम करना विविक्त शयनासन नाम का तप है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ५८ पुस्तक नम्बर १३।

(२] क्षेत्र बड़ा है या काल बड़ा है ? दो मत

शंका—क्षेत्र प्रमाण का उलंघन करके पहले काल प्रमाण का प्ररूपण किसलिए किया जा रहा है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जो "जो अल्पवर्णीनीय होता है उसका पहले वर्णन करना चाहिए" इस वचन के अनुसार पहले काल प्रमाण का प्ररूपण किया है।

शंका—काल से क्षेत्र वहुवर्णीनीय कैसे है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, क्षेत्र में जग श्रेणी, जग प्रतर और विषकुम्भ सूची की प्ररूपणा पाई जाती है, इसलिए काल से क्षेत्र वहुवर्णीनीय है।

कितने आचार्य ऐसे कहते हैं कि, जो वहुत अर्थात् बहुत प्रदेशों से उपचित होता है वह सूक्ष्म होता है। यथा

सुहुमो यहवदि कालो तत्तो सुहुमं ग्धु जायदे खेतं।
अंगुल असंख भागे हवंति कप्पा असंखेज्जा ॥ ६२ ॥

अर्थ—काल सूक्ष्म होता है, और क्षेत्र भी उससे सूक्ष्म होता है, क्योंकि एक अंगुल के असंख्यातवें भाग में असंख्यात कल्प काल आ जाता है। अर्थात् एक अंगुल के असंख्यातवें भाग के जितने प्रदेश होते हैं असंख्यात कल्प काल के उतने प्रदेश होते हैं।

परन्तु आचार्यों का यह व्याख्यान घटित नहीं होता है, क्योंकि, द्रव्य से क्षेत्र स्थूल है इस बात को छोड़ कर ही पहले द्रव्य प्रमाण की प्ररूपणा बन सकती है, अन्यथा क्षेत्र प्रमाण के प्ररूपण के पहले द्रव्य प्रमाण की प्ररूपणा नहीं बन सकती है।

शंका—द्रव्य से क्षेत्र स्थूल कैसे है ?

समाधान—क्षेत्र सूक्ष्म होता है, और उससे भी सूक्ष्म द्रव्य होता है, क्योंकि, एक द्रव्यांगुल में (गणना की अपेक्षा) अनन्त क्षेत्रांगुल पाए जाते हैं।

शंका—एक द्रव्यांगुल और एक क्षेत्रांगुल में परमाणु प्रदेश और आकाश प्रदेश समान होते हैं, इसलिए पूर्वोक्त व्याख्यान घटित नहीं होता हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, एक क्षेत्रांगुल में अवगाहना की अपेक्षा अनन्त द्रव्यांगुल देखे जाते हैं। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १३०-१३१ पुस्तक नम्बर ३।

(३) असंख्यात का स्वरूप—

शंका—असंख्यात किसे कहते हैं ? अर्थात् अनन्त से असंख्यात में क्या भेद है ?

समाधान—एक-एक संख्या के बढ़ाते जाने पर जो राशि समाप्त हो जाती है वह असंख्यात है और जो राशि समाप्त नहीं होती है वह अनन्त है।

शंका—यदि ऐसा है तो व्यय सहित होने से नाश को प्राप्त होने वाला अर्ध पुद्गल परिवर्तन काल भी असंख्यात रूप हो जायगा ?

समाधान—हो जाओ।

शंका—तो फिर उस अर्ध पुद्गल परिवर्तन काल को अनन्त संख्या कैसे दी गई ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अर्ध पुद्गल परिवर्तन काल को जो अनन्त संज्ञा दी गई है वह उपचार निमित्तक है। आगे उनका स्पष्टीकरण करते हैं। अनन्त रूप केवल ज्ञान का विषय होने से अर्ध पुद्गल परिवर्तन काल भी अनन्त है ऐसा कहा जाता है।

शंका—केवल ज्ञान के विषयत्व के प्रति कोई विशेषता नहीं होने से सभी संख्याओं का अनन्तत्व प्राय हो जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जो संख्याएँ अवधि ज्ञान का विषय हो सकती हैं उनसे अतिरिक्त ऊपर की संख्याए केवल ज्ञान को छोड़कर और किसी भी ज्ञान का विषय नहीं हो सकती है, अतएव ऐसी संख्याओं में अनन्तत्व के उपचार की प्रवृति हो जाती है। अथवा जो संख्या पांच इन्द्रियों का विषय है वह संख्यात है। उसके ऊपर जो संख्या अवधि ज्ञान का विषय है वह असंख्यात है। उसके ऊपर जो केवल ज्ञान के विषय भावों को प्राप्त होती है वह अनन्त है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २६७-२६८ पुस्तक नम्बर ३।

(४) अन्तः कोड़ा कोड़ी किसे कहते हैं ?

अन्तः कोड़ा कोड़ी ऐसा कहने पर एक कोड़ा कोड़ी सागरोपम को संख्यात कोटियों से खण्डित करने पर जो एक खण्ड होता है वह अन्तः कोड़ा कोड़ी का अर्थ करना चाहिए। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १०४ पुस्तक नम्बर ६।

(५) वेदना समुद्घात और कषाय समुद्घात ये दोनों मरणान्तिक समुद्घात में अन्तर्भूत क्यों नहीं होते हैं ?

समाधान—वेदना समुद्घात और कषाय समुद्घात का मरणान्तिक समुद्घात में अन्तर्भाव नहीं होता है, क्योंकि, जिन्होंने परभव की आयु बांध ली है ऐसे जीवों के ही मरणान्तिक समुद्घात होता है। किन्तु वेदना समुद्घात और कषाय समुद्घात बद्धायुष्क जीवों के भी होते हैं और अबद्धायुष्क जीवों के भी होते हैं। मरणान्तिक समुद्घात निश्चय से आगे जहाँ उत्पन्न होता है ऐसे क्षेत्र की दिशा के अभिमुख होता है। किन्तु अन्य समुद्घातों के इस प्रकार एक दिशा में गमन का नियम नहीं है। क्योंकि, उनका दशों दिशाओं में भी गमन पाया जाता है। मरणान्तिक समुद्घात की लम्बाई उत्कृष्ट अपने उपद्यमान क्षेत्र के अन्त तक है, किन्तु इतर समुद्घातों का यह नियम नहीं है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २७ पुस्तक नं० ४।

(६) "तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" ये निश्चय सम्यग्दर्शन है या व्यवहार सम्यग्दर्शन है ?

अभेद को श्रद्धा में लेना उसी का नाम निश्चय सम्यग्दर्शन है परन्तु "तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं" यह तो अनेक विकल्प रूप है जिससे वह निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं है परन्तु व्यवहार सम्यग्दर्शन है। यथार्थ

में वह सम्यग्दर्शन नहीं है परन्तु सम्यग्ज्ञान है। केवल जीवतत्व ही निश्चय नय का विषय है और तत्व सब व्यवहार नय का विषय है। जीव तत्व अभेद अखण्ड अनन्त गुण और अनन्तानन्त पर्याय का पिण्डरूप ज्ञायक स्वभाव का नाम है। जो अनादि अनन्त है "वही में हूँ" ऐसी अन्तरंग प्रतीति, श्रद्धा, विश्वास का नाम निश्चय सम्यग्दर्शन है। लक्षबिन्दु एक ही होता है परन्तु अनेक नहीं। वही लक्षबिन्दु जो वचन से अगोचर है वही सम्यग्दर्शन है। दर्शन पाहुड की गाथा १९ में लिखा है कि—

छह दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा।
सद्दहइ ताण रूवं सो सदिट्ठी मुणेयव्वो ॥ १९ ॥

अर्थ—छह द्रव्य, नव पदार्थ, पांच अस्तिकाय, सप्ततत्व ये जिन वचन में कहे हैं तिनके स्वरूप को जो श्रद्धान करे सो सम्यग्दृष्टि जानना।

यह व्यवहार सम्यग्दृष्टि है, क्योंकि, वचन द्वारा अभव्य आत्मा ऐसा जानता है परन्तु आत्म अनुभूति हुई नहीं जिससे वह मिथ्यादृष्टि का मिथ्यादृष्टि रह गया। यथार्थ में आत्म श्रद्धान, आत्म अनुभूति उसी का नाम निश्चय सम्यग्दर्शन है। दर्शन पाहुड गाथा २० में ही लिखा है कि—

जीवादी सद्दहणं सम्मत्त जिणवरेहिं पण्णत्तं।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ॥२०॥

अर्थ—जीव आदि कहे जो पदार्थ तिन का श्रद्धान सो तो व्यवहार सम्यक्त्व जिन भगवान ने कहा है, परन्तु निश्चय तो अपना आत्मा का श्रद्धान अर्थात् अनुभूति सो सम्यक्त्व है।

दर्शन निर्विकल्प उपयोग है अर्थात् अभेद को ग्रहण करता है और ज्ञान सविकल्प उपयोग है अर्थात् गुण गुणी का भेद डाल कर ग्रहण करता है। दर्शन का जो विषय अखण्ड अनन्त गुण पर्याय का पिंड रूप जो निज स्वभाव भाव है वही है और वही "मैं हूँ" ऐसी आत्म प्रतीति, विश्वास, अनुभूति उसी का नाम सम्यग्दर्शन है। परन्तु नव तत्व का विकल्प सम्यग्दर्शन नहीं है तो भी उनको सम्यग्दर्शन कहना वह व्यवहार है अर्थात् उपचार है। यथार्थ में वह सम्यग्ज्ञान है ऐसा जानना चाहिए।

(७) अवधि ज्ञान का विषय रूपी पदार्थ है ऐसे ही मनःपर्यय ज्ञान का विषय रूपी पदार्थ है या नहीं ?

अवधि ज्ञान का विषय रूपी पदार्थ ही है परन्तु मनःपर्यय ज्ञान का विषय रूपी पदार्थ ही है वह कहना व्यवहार है। यथार्थ में मनःपर्यय ज्ञान का विषय विकारी आत्म भाव है। यथार्थ में आत्मा अरूपी है उसी का भाव भी अरूपी है, तो भी आत्म भाव को रूपी कहना वह निमित्त का कथन है। अर्थात् वह विकारी भाव में निमित्त कारण रूपी पदार्थ हैं जिससे निमित्त की अपेक्षा से आत्म भाव को रूपी कहा जाता है जो व्यवहार है अर्थात् उपचार है। उपादान की अपेक्षा आत्म भाव रूपी नहीं है परन्तु अरूपी ही है तो भी उनको रूपी कहना वह उपचार है व्यवहार है। जो जीव आत्म भाव को रूपी मानता है यही मान्यता का नाम मिथ्या मान्यता है।

(८) मति, श्रुत तथा अवधि ज्ञान को मिथ्या ज्ञान कहा जाता है वह व्यवहार का कथन है।

कुमति, कुश्रुत तथा कुअवधिज्ञान जो कहा जाता है वह केवल उपचार है अर्थात् व्यवहार का कथन है। ज्ञान कभी भी कु अर्थात् मिथ्या होता ही नहीं, परन्तु मिथ्यादर्शन के कारण वही ज्ञान को मिथ्या

ज्ञान कहा जाता है और सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से वही ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। यह तो पर गुण का आरोप से कहा जाता है। यथार्थ में विचार किया जावे तो श्रद्धा गुण में ज्ञान गुण का अन्योन्य अभाव है, तो भी ज्ञान गुण में श्रद्धा गुण का आरोप कर कथन करना उसी का नाम व्यवहार है अर्थात् उपचार हैं। उपचार को उपचार मानना सम्यक् ज्ञान है परन्तु उपचार को सत्य मानना मिथ्या ज्ञान है। जैसे धनके कारण से मनुष्य को धनी कहा जाता है और धन के अभाव से वही मनुष्य को निर्धन कहा जाता हैं। यथार्थ में विचारा जाय तो मनुष्य तो जो है सो ही है तो भी वही मनुष्य को धनी और निर्धन कहा जाता हैं वह केवल धन के कारण से ही कहा जाता है। यथार्थ में विचारा जाय तो धन से मनुष्य अलग ही है उसी प्रकार मिथ्यादर्शन के कारण ज्ञान को मिथ्या ज्ञान कहा जाता है और सम्यग्दर्शन के कारण वही ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। परन्तु ज्ञान की अपेक्षा से विचारा जाय तो ज्ञान तो ज्ञान ही है ज्ञान में मिथ्यादर्शन या सम्यग्दर्शन है ही नहीं ऐसी श्रद्धान का नाम सम्यग्ज्ञान है।

(९) सूत्र जी में जो तीन प्रकार का पारिमाणिक भाव "जीवभव्याभव्यत्वानिच" कहा हैं वह शक्ति रूप है या व्यक्त रूप है ?

यथार्थ में ये तीन भाव शक्ति रूप हैं और शक्ति रूप जो भाव हैं उनका अनुभव कभी भी होता ही नहीं हैं। अनुभव नियम से व्यक्ति रूप जो भाव है उनका ही होता है। शक्ति अनादि अनन्त हैं जिसका कभी नाश नहीं होता है, परन्तु, व्यक्त भाव तो वदल जाता हैं। गुण जिस समय में जिस भाव से परिणमन करता है उसी समय वही गुण में अन्य भाव शक्ति रूप है। ऐकी साथ में जीव में एक गुण का एक ही भाव होता है, परन्तु एकी साथ में अनेक भाव होता ही नहीं है। अभेद विवक्षा की अपेक्षा से जीवत्व भाव कहा है, परन्तु भेद विवक्षा की अपेक्षा से दर्शन एवं ज्ञान गुण का परिणमन सब संसारीरागी जीवों में क्षयोपशम भाव से ही परिणमन करता, उसी समय जीवत्व भाव को पारिणामिक भाव सब जीवों में कहना वर शक्ति अपेक्षा से ही कहा जाता है। शक्ति अनादि अनन्त है अर्थात् शक्ति का कभी नाश नहीं होता है। शक्ति का नाश हो जावे तो द्रव्य का नाश हो जावे। दूसरे गुणस्थान में जो पारिणामिक भाव कहा है वह व्यक्त रूप भाव है, वह भाव ये तीन प्रकार के अर्थात् जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व भाव से अलग भाव है। वह भाव व्यक्त रूप है उसी समय ये तीनों प्रकार के पारिणामिक भाव शक्ति रूप तो है ही परन्तु उनका अनुभव (स्वाद) आता नहीं है अनुभव हमेशा व्यक्त भाव का ही आता है। ऐसा जानना चाहिए ?

(१०) वीर्य गुण की क्षायिक लाभ, दान आदि पांच पर्याय होती हैं ?

क्षायिक भाव में वीर्य गुण की जो क्षायिक, लाभ, .दान, भोग, उपभोग और क्षायिक वीर्य रूप पांच पर्याय कही है वह उपचार का कथन है यथार्थ में एक गुण की शुद्ध पर्याय पांच नहीं हो सकती है। वीर्य गुण को घात करने वाली कर्म की प्रकृति पांच होने से वीर्य गुण की विकारी पर्याय पांच हो जाती थी परन्तु प्रतिपक्षी कर्म का अत्यन्त नाश होने से स्वभाव पर्याय जो प्रगट होती है, वही एक ही होती है ऐसा श्रद्धान करना चाहिए।

शंका—सूत्र जी के ऊपर अनेक टीका लिखी गई हैं तव कोई भी आचार्य ने ऐसा खुलासा क्यों नहीं किया ?

समाधान—वहाँ आचार्य का अभिप्राय केवल सूत्र की रक्षा अर्थात् सूत्र की सिद्धि करना था जिससे उपचार को उपचार से ही सिद्ध किया परन्तु वस्तु स्वरूप क्या है उनका प्रतिपादन नहीं किया है।

(११) क्या "कायवाङ्मनः कर्म योगः" आश्रव है ?

काय, वचन और मन की क्रिया को योग अर्थात् आश्रव कहा जाता है यह उपचार का कथन है। काय, वचन, मन यह भाव आश्रव एवं द्रव्य आश्रव भी नहीं है। यथार्थ में आत्मा में एक योग नाम का गुण है उनकी कम्पन रूप अवस्था का नाम भाव आश्रव है और कार्मण वर्गणा का आत्म प्रदेश के नजदीक आना द्रव्य आश्रव है। भाव आश्रव में, मन, वचन और काय में से एक समय में एक निमित्त होते है। निमित्त को आश्रव कहना व्यवहार है अर्थात् उपचार है, परन्तु निमित्त को आश्रव मानना वही मान्यता का नाम मिथ्यात्व भाव है। उपादान की अवस्था को निमित्त की अवस्था कहना वह व्यवहार अर्थात् उपचार है परन्तु उपादान की अवस्था को निमित्त की अवस्था मानना वही मान्यता का नाम अज्ञान भाव है। जैसा का तैसा मानना उसी का नाम सम्यक् ज्ञान है।

(१२) "विधि द्रव्य दातृ पात्र विशेषातद्विशेषः" विधि विशेष, द्रव्य विशेष, पात्र विशेष और दातृ विशेष से दान के फल में विशेषता कैसे होती है ?

यह सूत्र की टीका में प्राय सब ने यही टीका की है कि उत्तम पात्र, मध्यम पात्र और जघन्य पात्र को दान देने से दान के फल में विशेपता होती है। यह कथन उपचार का ही है यथार्थ में वस्तु स्वरूप ऐसा नहीं है। जैसे–

दातार आहार लेते पहले पात्र जीवों को आहारदान दिया बाद ही आहार लेने की भावना करता है, जिससे वह अपने अपने फाटक में प्रासुक जल लेकर पात्र जीव कब पधारे ऐसी भावना करता है। जिसका पुण्य कर्म का उदय होगा उसी का ही चोका में पात्र जीवका योग मिलता है। परन्तु पुण्य बन्ध का कारण पात्र जीव नहीं है, केवल अपनी भावना ही है। जिसके चोके में मुनिराज पधारे हैं वह पुण्य जितना न बांध सके उससे विशेष पुण्य बन्ध जिसके चोके में मुनिराज नहीं पधारे हैं वह बान्ध सकता है, क्योंकि, पुण्य बन्ध का कारण अपनी भावना ही है न की पर पात्र जीव। हरेक पात्र जीव को अर्थात दातार को उस पुण्य रूप बन्ध से सुभोग भूमि सुदेव की पर्याय और परम्परा मोक्ष मिलती है। जिस कारण से पुण्य के फल में अनन्तर नहीं है। पुण्य बन्ध का भाव असंख्यात लोक प्रमाण होता है उसमें अनेक बाह्य कारण पड़ता है केवल आहार दान का ही भाव पुण्य बन्ध का कारण नहीं है। एक चोके में एक मुनिराज गये हैं पीछे वह सामान्य मुनि है या गणधर मुनि हो या तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध वाले मुनिराज हो। उनके उस चोके में अनेक जीव एक ही साथ में आहार दान देते हैं तो क्या सब दातार जीव को समान पुण्य बन्ध पड़ सकता है ? कभी नहीं ? अपने अपने भाव के अनुसार बन्ध पड़ता है परन्तु मुनिराज के कारण बन्ध नहीं पड़ता है। उसी प्रकार एक ही चोके में अनेक पात्र जीव आहार ले रहे हैं। यद्यपि भोजन सामग्री एक ही है दातार भी अनेक ही हैं तो क्या सब दातार जीवों को समान बन्ध पड़ेगा ? या अपने अपने भाव के अनुसार ? तब आपको कहना होगा कि अपने अपने भाव के अनुसार बन्ध पड़ता है। जिससे सिद्ध होता है कि उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्र के भेद से यह सूत्र नहीं है परन्तु पात्र, कुपात्र और अपात्र के भेद से यह सूत्र है। पात्र कुपात्रादि के भेद से पुण्य में भी भेद पड़ता है। दातार पात्र है और पात्र भी पात्र है। दातार कुपात्र है और पात्र भी कुपात्र है। दातार अपात्र है और पात्र भी अपात्र है जिससे दान के फल में भेद पड़ता है। पात्र दातार जीव पात्र को आहार दान देने से उसके फल में सुदेव, सुमनुष्य और परम्परा मोक्ष मिलती है। कुपात्र दातार जीव कुपात्र को पात्र मान कर दान देने से उसके फल में सुदेव, सुमनुष्य परन्तु परम्परा मोक्ष नहीं मिलती है यह दान के फल में अन्तर है। कुपात्र को पात्र मानने

से मिथ्यात्व का बन्ध पड़ता है जिससे परम्परा मोक्ष नहीं मिलती हैं यही अन्तर है । अपात्र दातार जीव अपात्र पात्र को पात्र मानकर दान देने से उसके फल में कुदेव और कुमनुष्य होता है परन्तु परम्परा मोक्ष एवं सुदेव, सुमनुष्य नहीं होता है यही तो फल में अन्तर है । ऐसा जानना चाहिए ।

(१३) संवर किसको कहते हैं ?

तत्त्वार्थ सूत्र में नौंव में अध्याय में लिखा है कि "आश्रव निरोधः संवरः" उनका यथार्थ अर्थ समझने में बहुत जीव गलती करते है । आश्रव के कारण पांच है । (१) मिथ्यात्व भाव (२) अव्रत भाव (३) प्रमाद भाव (४) कषाय भाव (५) योग भाव । उन भाव का रोकना यथार्थ में संवर तत्त्व हैं । जैसे मिथ्यात्व भाव को न होने देना सम्यग्दर्शन रूप संवर तत्त्व है । अव्रत भाव को न होने देना अर्थात अनन्तानुबन्धी रूप भाव अप्रत्याख्यान रूप भाव, प्रत्याख्यान रूप भाव को न होने देना उसी का नाम अव्रत भाव का संवर है । संज्वलन कषाय का तीव्र भाव का नाम प्रमाद है उन भाव को न होने देना उसी का नाम प्रमाद का संवर है । कषाय भाव को न होने देना, कषाय का अत्यन्त अभाव का नाम कषाय का संवर है । आत्म प्रदेशों का कम्पन न होने देना उसी का नाम योग का संवर है । योग का संवर होने से लघु काल में आत्मा में मोक्षतत्व की प्राप्ति हो जाती है ।

आश्रव का सत्तावन भेद की अपेक्षा से विचार किया जावे तो मिथ्यात्व का पांच प्रत्यय अव्रत भाव का बारह प्रत्यय, कषाय भाव का पच्चीस प्रत्यय, और योग का पन्द्रह प्रत्यय । यह सब मिलकर सत्तावन प्रत्यय होते हैं । इस प्रत्यय का अभाव का नाम संवर है । तब ही सूत्र की सिद्धि होती है । तो भी संवर का कारण "सगुप्ति समित्ति धर्मानुप्रेक्षा परीषह जय चारित्रैः" मानना कहां तक उचित है ? यथार्थ में यह संवर नहीं है । क्योंकि, इसको संवर माना जाय तों "आश्रव निरोधः" जो संवर का लक्षण बनाया है उस लक्षण का नाश हो जाता है । प्रत्यय की अपेक्षा से विचार किया जाय तो, गुप्ति का तीन प्रत्यय है, समित्ति का पाँच प्रत्यय है, धर्म का दश प्रत्यय है, अनुप्रेक्षा का बारह प्रत्यय है, परिषह जय का बाईस प्रत्यय है और चारित्र का पांच प्रत्यय है । यह सब मिल कर संवर के सत्तावन प्रत्यय होते है । इन सतावन संवर के प्रत्यय से विचार किया जावे तो कौनसा संवर का सतावन प्रत्यय मिलने से मिथ्यात्व का पांच प्रत्यय का अभाव होता है ? इससे मालूम पड़ेगा कि आश्रव का सत्तावन कारण दिखाया है इसलिए संवर का भी सत्तावन कारण दिखाया । परन्तु यथार्थ में धर्म अनुप्रेक्षादि संवर का कारण नहीं है परन्तु आश्रव का अभाव ही संवर का कारण है । तो भी धर्मादि सत्तावन कारण को संवर का कारण कहना वह व्यवहार का कथन है, यथार्थ में वस्तु स्वरूप ऐसा नहीं है । ऐसी श्रद्धान हुए तो वह व्यवहार का कथन व्यवहार है । व्यवहार का नाम तो उपचार है । और उपचार कब कहा जावे कि जब यथार्थ श्रद्धान है तब उपचार व्यवहार है । परन्तु जो जीव व्यवहार को ही सत्य मान लेते हैं उसी को जिनागम में व्यवहार भाषी मिथ्यादृष्टि कहा गया है ।

(१४) निर्जरा तत्व किसको कहते हैं ?

निर्जरा तत्व दो प्रकार का है । (१) भाव निर्जरा (२) द्रव्य निर्जरा ।--भाव निर्जरा आत्मा की अंश में शुद्ध अवस्था का नाम निर्जरा है । -तत्वार्थ सूत्र में "तपसा निर्जरा च" सूत्र नम्बर ३ में कहा है । अर्थात् तप से निर्जरा तथा संवर होती है । तप का लक्षण "इच्छा निरोधस्तपः" कहा है । शुभ अशुभ भाव से बन्ध होता है और अंश-अंश में शुद्धोपयोग से निर्जरा होती है । यथार्थ में भाव निर्जरा चारित्र गुण की अंश-अंश में शुद्धता का नाम है । निर्जरा तत्व में संवर तत्व का अभाव है और संवर तत्व में निर्जरा-तत्व

का अभाव है निर्जरा केवल चारित्र गुण की अंश-अंश में शुद्धता का नाम है अर्थात् चारित्र गुण में ही निर्जरा होती है, जब संवर मिथ्यात्व कषाय और योग का अभाव अर्थात् श्रद्धागुण की शुद्धता, चारित्र गुण की शुद्धता, और योग गुण की शुद्धता का नाम है। संवर पूर्वक ही निर्जरा होती है अर्थात् अनन्तानुबन्धी भाव कषाय का अभाव रूप संवर हुए बिना निर्जरा तत्व की शुरूआत होती ही नहीं है। कषाय भाव की चार जाति व्यवहार से मानी गई हैं—(१) अनन्तानुबन्धी कषाय भाव (२) अप्रत्याख्यान रूप कषाय भाव (३) प्रत्याख्यान रूप कषाय भाव (४) संज्वलन रूप कषाय भाव। यह कषाय भाव का अभाव का नाम कषाय सम्बन्धी संवर तत्व है। वर्तमान में जो कषाय भाव सम्यग्दृष्टि आत्मा में है उसी जाति के कषाय में से अंश-अंश कषाय की निवृत्ति का नाम भाव निर्जरा तत्व है। जैसे अव्रत सम्यग्दृष्टि आत्मा की भीतर में जो अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव हुआ है वह तो भाव संवर है और वर्तमान में जो अप्रत्याख्यान रूप भाव कषाय है, उन भाव कषाय में से अंश-अंश में इच्छा का नाश करना अर्थात् इच्छाओं का अंश-अंश में यम रूप त्याग करना उसी का नाम भाव निर्जरा तत्व है। उसी प्रकार पंचम गुणस्थानवर्ती जीव में अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यान भाव कषाय का अभाव हुआ है वही तो भाव संवर तत्व है और वर्तमान में जो प्रत्याख्यान कषाय रूप भाव है उन भावों में से अंश-अंश में इच्छा का नाश करना अर्थात् इच्छाओं का त्याग यम रूप करना उसी का नाम भाव निर्जरा है। उसी प्रकार छट्ठा गुणस्थानवर्ती जीव में अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, और प्रत्याख्यान रूप भाव कषाय का अभाव हुआ वह तो भाव संवर तत्व है और वर्तमान में जोसंज्वलन कषाय रूप भाव है उन भावों में से अंश-अंश में इच्छा का अभाव होना अर्थात् अंश अंश में इच्छाओं का यम रूप त्याग करना उसी का नाम भाव निर्जरा तत्व है।

भाव निर्जरा तत्व केवल कषाय में ही अर्थात् चारित्र गुण की अंश-अंश में शुद्धता का नाम है, परन्तु भाव निर्जरा तत्व मिथ्यात्व तथा योग में नहीं होता है। क्योंकि, मिथ्यात्व का अभाव हुआ बाद ही निर्जरा तत्व की शुरुआत होती है। योग में अंश-अंश में शुद्धता होती ही नहीं है। जब तक योग का कारण मन, वचन और काय है तब तक योग में शुद्धता होती ही नहीं है। योग गुण में दो ही अवस्था होती है। (१) सम्पूर्ण विकार (२) सम्पूर्ण शुद्धता। परन्तु उनमें अंश-अंश में शुद्धता होती ही नहीं है। यदि योग में अंश-अंश में शुद्धता होती तो योग को क्षयोपशमिक भाव माना जाता परन्तु योग में दो ही भाव होता है। (१) औदयिक भाव (२) क्षायिक भाव। तीसरा भाव अर्थात् क्षयोपशमिक या औपशमिक भाव होता ही नहीं है। तो भी मुनिराज को जो गुप्ति कही जाती है वह व्यवहार का कथन है अर्थात् उपचार का कथन है। शुभ योग को गुप्ति कहना व्यवहार है और शुभ योग को गुप्ति मानना यही मान्यता का नाम मिथ्यात्व भाव है। शुभ योग मिथ्यात्व नहीं है वही तो शुभ योग ही है। शुभ योग को शुभ योग न मानकर उनको गुप्ति अर्थात् संवर निर्जरा मानना यही मान्यता का नाम मिथ्यात्व भाव है।

छह प्रकार का बाह्य तप और छह प्रकार का अभ्यन्तर तप यह सब तप का भाव पुण्य तत्व है। क्योंकि, वह व्यवहार तप है। व्यवहार उपचार का नाम है। बारह प्रकार के तप रूप भाव से पाप कर्म की निर्जरा होती है और देवादि पुण्य का बन्ध होता है। जिस भाव से बन्ध हुए यह भाव से निर्जरा तत्व कभी नहीं होता है। निर्जरा तत्व उपादेय तत्व है जब बन्ध तत्व हेय तत्व है। हेय तत्व को उपादेय मानना यही मान्यता का नाम मिथ्यात्व भाव है।

द्रव्य निर्जरा—

आत्म प्रदेश से द्रव्य कर्म रूप कार्मण वर्गणा का अंश-अंश में अलग होना उसी का नाम द्रव्य निर्जरा है। वह द्रव्य निर्जरा दो प्रकार की होती है—(१) सविपाक निर्जरा (२) अविपाक निर्जरा।

सविपाक निर्जरा—समय समय में जो द्रव्य कर्म का ' उदय" होता है उसी कर्म का फल देकर आत्म प्रदेश से अलग हो जाना उसी का नाम सविपाक द्रव्य निर्जरा है। इस कर्म के उदय में काल द्रव्य निमित्त कारण है। काल पकने से ही कर्म का उदय होना उसी का नाम "उदय" है और उदय उसी को कहता है कि जो नियम से आत्मा को फल देकर ही खिर जावे अर्थात आत्म प्रदेश से उसी वर्गणा का अलग हो जाना। कर्म का उदय होना आत्म भाव के आधीन नहीं है। परन्तु काल द्रव्य के आधीन हैं अर्थात् काल द्रव्य निमित्त कारण है। कर्म का उदय कारण है और तदरूप आत्म गुण की तथा प्रकार की अवस्था होना कार्य है जिससे ऐसे भाव को क्रम बद्ध पर्याय कही जाती है। सविपाक निर्जरा सब संसारी जीवों को समय समय में ही हो रही है।

अविपाक निर्जरा—तप रूपी विशेष भाव से जो कर्म उदय में आने वाले नहीं है, ऐसे सत्ता में पड़े हुए कर्मो को उदयावली में लाकर उसी कर्मो का उदय में आने के काल से पहले आत्म प्रदेश से अंश-अंश में अलग हो जाना उसी का नाम अविपाक निर्जरा है। अविपाक निर्जरा में आत्म भाव कारण है और कर्म का उदयावली में आना कार्य है। यदि तथा प्रकार का भावआत्मा न करे तो वह द्रव्य कर्म उदयावली में नहीं आ सकता है। क्योंकि, आत्म भाव और द्रव्य कर्म का उदयावली में आना निमित्त नैमितिक सम्वन्ध है। आत्म भाव निमित्त है और द्रव्य कर्म का उदयावली में आना वह द्रव्य कर्म की नैमित्तिक अवस्था है। यह भाव करने में आत्मा स्वतंत्र है जिसको "उदीरणा" भाव कहा जाता हैं। परन्तु कर्म के "उदय" में आत्मा पराधीन है। अर्थात वह भाव आत्मा को लाचारी से करना पड़ता है। क्योंकि वह भाव अबुद्धि पूर्वक ही होता है। और "उदीरणा भाव" बुद्धि पूर्वक ही होता है। बुद्धि पूर्वक भाव ज्ञान की उपयोग रूप अवस्था में होता है। परन्तु ज्ञान की लब्धि रूप अवस्था में नहीं होता है। अबुद्धि पूर्वक भाव तो ज्ञान की लब्धि रूप अवस्था में एवं उपयोग रूप अवस्था में होता है। जहां अबुद्धि पूर्वक भाव है वहां बुद्धि पूर्वक भाव हो अगर न भी हो परन्तु जहां बुद्धि पूर्वक भाव है वहां अबुद्धि पूर्वक भाव नियम से है। यह बुद्धि पूर्वक भाव अर्थात उदीरणा भाव का नाम "अक्रम पर्याय" है। यह अविपाक निर्जरा मिथ्यादृष्टि जीव को भी होती है परन्तु भाव निर्जरा मिथ्यादृष्टि को कभी नहीं होती है। प्रवचन सार ग्रन्थ में कहा भी है कि—

"यदज्ञानी कर्म क्रमपरिपाक्या बालतपो वैचित्र्योपक्रमेण च पच्यमान मुपात्त रागद्वेष तया सुख दुःखादि विकार भाव परिणतः पुनरारोपति संतानं भव शतसहस्र कोटीभिः कथंचन निस्तरति, तदेव ज्ञानीं, स्यात् कार केतनागम ज्ञान तत्त्वार्थ श्रद्धान संयतत्त्व यौग पद्यातिशय प्रसादा सादितशुद्धज्ञानमयात्म तत्त्वानु भूति लक्षण ज्ञानित्व सद्भावात्काय, वाङ् मनः कर्मो परम प्रवृत त्रिगुप्तत्वात् पचण्डोपक्रमपच्य मानम पहस्तित रागद्वेष तया दूर निरस्त समस्त सुख दुःखादि विकारः पुनरनारोपित सत्तानमुच्छ्वास मात्रेणैव लीलयेव पातयति।"

अर्थ—जो कर्म (अज्ञानी को) क्रम परिपाटी से तथा अनेक प्रकार के बालतपादि रूप उद्यम से पकते हुये, रागद्वेष को ग्रहण किया होनेसे सुख दुःखादि विकार भाव रूप परिणामित होने से पुनः संतान को आरोपित करता जाय उस प्रकार लक्ष कोटि भवों में, ज्यों ज्यों करके (महा कष्ट से) अज्ञानी पार कर जाता है, वही कर्म (ज्ञानी को) स्यातकारकेतन आगम ज्ञान, तत्वार्थ श्रद्धान और संयतत्व को युगपत्ता के अतिशय प्रसाद से प्राप्त शुद्ध आत्मतत्व की अनुभूति जिसका लक्षण है ऐसे ज्ञानी पन के सद्भाव के कारण काय, वचन, मन के कर्मो के उपरम से त्रिगुप्तिता प्रवर्तमान होने से प्रचण्ड उद्यम से पकता हुआ, रागद्वेष के

छोड़ने से समस्त सुख दु:खादि विकार अत्यन्त निरस्त हुआ होने से पुनः संतान को आरोपति न करता जाय इस प्रकार उच्छ्वास मात्र में ही, लीला मात्र से ही ज्ञानी नष्ट कर देता है।

यहाँ पर जो कर्म क्रम परिपाटी से अर्थात् क्रमबद्ध सविपाक निर्जरा से तथा अनेक प्रकार के बालतपादि रूप उद्यम से अर्थात् अक्रम से अविपाक निर्जरा से आत्म प्रदेश से अलग हो जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि मिथ्यादृष्टि को सविपाक एवं अविपाक दोनों प्रकार की द्रव्य निर्जरा होती है।

जो जीव केवल क्रमबद्ध ही पर्याय मानता है उसने अविपाक निर्जरा मानी ही नहीं है इतना नहीं परन्तु वर्तमान में आत्मा में जो पुरुषार्थ शक्ति प्रगट हुई है उसको भी मानी नहीं है जिससे वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही है। सविपाक निर्जरा कर्म के "उदय" में ही होती है और अविपाक निर्जरा "उदीरणा" भाव से ही होती है। उदय में आत्मा पराधीन है और उदीरणा में आत्मा स्वाधीन है। अविपाक निर्जरा करने से ही होती है। यदि आत्मा पुरुपार्थ न करे तो अविपाक निर्जरा नहीं होती है। जो जीव अपनी वर्तमान पुरुषार्थ शक्ति को स्वीकारता नहीं है वही जीव अज्ञानी नहीं है तो क्या हैं ?

प्रवचन सार ग्रन्थ में भी अक्रम पर्याय होती है ऐसा लिखा है। कहा भी है कि—

"देश कालज्ञस्यापि बाल वृद्ध श्रान्त ग्लानत्वानुरोधेनाहार विहारयोरल्प लेप भयेनाप्रवर्तमान स्याति कर्कशा चरणीभूयाक्रमेण शरीरं पातयित्वा सुरलोकं प्राप्योद्वान्त समस्त संयमामृतभारस्य तपसोऽनवकाशतया शक्य प्रतिकारो महान् लेपो भवति।

अथ—देश कालज्ञ को भी यदि वह बाल, वृद्ध, श्रांत, ग्लानत्व के अनुरोध से जो आहार-विहार है, उससे होने वाले अल्प लेप के भय से उसमें प्रवृति न करे तो, अति कर्कश आचरण रूप होकर अक्रम से शरीर पात करके देवलोक प्राप्त करके जिसने समस्त संयमामृत का समूह वमन कर डाला है उसे तप का अवकाश न रहने से जिसका प्रतिकार अशक्य है ऐसा महान लेप होता हैं।

अक्रम पर्याय होती है ऐसा अमृतचन्द्र आचार्य देव ने "अक्रम" शब्द का प्रयोग कर कहा है, तो भी जो जीव कथंचित् अक्रम पर्याय नहीं मानते हैं ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवों के मुख पर अक्रम शब्द का प्रयोग कर ताला लगा दिया है। इससे विशेष क्या हो सकता है। इससे सिद्ध हुआ कि अबुद्धिपूर्वक भाव का नाम क्रमबद्ध पर्याय है और बुद्धिपूर्वक भाव का नाम अक्रम पर्याय है। क्रमबद्ध पर्याय उदय से होती है और अक्रम पर्याय उदीरणा से होती है। क्रमबद्ध पर्याय से सविपाक द्रव्य निर्जरा होती है और अक्रम पर्याय से द्रव्य कर्म की अविपाक निर्जरा होती है। ऐसा ज्ञान करना चाहिए।

(१५) सिद्ध होने से भव्यत्व भाव का नाश होता है ?

जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व रूप पारिणामिक भाव शक्ति रूप हरेक जीवों में है। परन्तु जिस जीव में भव्यत्व शक्ति है उसमें अभव्यत्व शक्ति नहीं है, क्योंकि, यह दोनों शक्तियाँ परस्पर विरुद्ध हैं। शक्ति का नाश नहीं होता है। तो भी तत्वार्थ सूत्र में भव्यत्व भाव का अभाव सिद्ध अवस्था में कहा है वह उपचार कथन है। भव्यत्व भाव पारिणामिक भाव है। और पारिणामिक भाव से कर्म का बन्ध होता ही नहीं है। तो भी भव्यत्व रूप पारिणामिक भाव का व्यय मानकर क्षायिक भाव की उत्पत्ति मान कर भव्यत्व-भाव सिद्ध में नहीं है ऐसा माना है। भव्यत्व रूप पारिणामिक भाव से बन्ध ही नहीं पड़ता है तो उसके अभाव में क्षायिक भाव कैसे हो सकता है ? कौनसा कर्म का नाश कर क्षायिक भाव की उत्पत्ति हुई है ? भव्यत्व रूप पर्याय का नाश होने से कौनसी पर्याय प्रगट हुई उसी का कुछ वर्णन किया ही नहीं है जिससे सिद्ध हुआ

कि यह कथन केवल उपचार का कथन है। भव्यत्व भाव शक्ति रूप है और शक्ति का नाश कभी होता ही नहीं है ऐसी श्रद्धा रखना चाहिए, यही सम्यग्ज्ञान है।

(१६) मुक्त आत्मा अलोकाकाश में क्यों नहीं जाता है ?

तत्त्वार्थ सूत्र में लिखा है कि "धर्मास्तिकायाभावात्" सूत्र नं० ८।

धर्मास्तिकाय द्रव्य के अभाव से मुक्त आत्मा अलोकाकाश में जाता नहीं है यह केवल उपचार का कथन है। क्योंकि—

(१) धर्मास्तिकाय द्रव्य उदासीन निमित्त है। हम चले तो धर्मास्तिकाय को निमित्त कहा जाता है यदि हम न चले तो धर्मास्तिकाय हमको जबरजस्ति से चलाता नहीं है। इसलिए उसकी कोई मुख्यता नहीं है।

(२) लोक का द्रव्य लोक में ही रहता है वह अलोक में क्यों जावे ?

(३) निमित्त हमेशा विकारी पर्याय में ही होता है। स्वभाव में निमित्त का क्या काम है। सिद्ध पर्याय स्वभाव पर्याय है और स्वभाव में कारण होता ही नहीं। जैसे जल शीतल क्यों ? सोना पीला क्यों ? मिसरी मीठी क्यों ? आत्मा में ज्ञान क्यों ? पुद्गल रूपी क्यों ? उसका इतना ही जवाब है कि स्वभाव में निमित्त होता ही नहीं है। उसी प्रकार मुक्तात्मा अलोकाकाश में क्यों नहीं जाता, उसीका इतना ही जवाब है कि स्वभाव भाव में निमित्त होता ही नहीं है तो भी धर्मास्तिकाय द्रव्य के अभाव से मुक्त आत्मा अलोकाकाश में जाता नहीं है यह कहना केवल उपचार है। वस्तु रूप नहीं है।

(१७) अकाल मृत्यु किसकी नहीं होती है ?

अकाल मृत्यु किस की नहीं होती है इस विषय में तत्त्वार्थ सूत्र में लिखा है कि "औपपादिक, चरमोतम देहासंख्येय वर्पायुषोऽनयवर्त्यायुषः।" अर्थात् उपपाद जन्म वाले देव, नारकी, चरमशरीरी मनुष्य उत्तम देह वाले अर्थात् त्रीसठ सलाका पुरुष तथा असंख्यात वर्षों की आयु वाले भोग भूमि के जीव की अकाल मृत्यु होती ही नहीं है। तो भी प्रतिनारायण तथा चक्रवर्ती जीवों की अकाल मृत्यु का वर्णन पुराण में देखने में आते हैं। वहीं सब उपचार का कथन है। जैसे उत्तर पुराण पर्व नम्बर ६८ श्लोक नम्बर ३०३ में कहा है कि—

ध्रुवं तन्नारदेनोक्तम कालमरणं ध्रुवं।
भावीति भावयन् सीतां तत्स भायाम लक्षयन् ॥उ० पु०३०३।६८

अर्थ—नारद ने जो कहा था कि रावण का अकाल मरण अवश्य होने वाला है सो बात सर्वथा सत्य है इस तरह विचार करते हुए उस सभा में सीता न देख पड़ी। पृष्ठ २९९॥

उसी प्रकार सुभम नाम के चक्रवर्ती का भी अकाल मृत्यु माना है। ऐसी अवस्था में उत्तम देह का अर्थ केवल तीर्थंकर तथा बलभद्र ही होता है जो न्याय संगत नहीं है। यथार्थ में विचारा जाय तो त्रीसठ सलाका पुरुष का अकाल मृत्यु होता ही नहीं है। तो भी प्रतिनारायण चक्रवर्ती आदि का अकाल मृत्यु का जो लेख पुराण में देखा जाता है, वह केवल उपचार का कथन है वस्तु स्वरूप ऐसा है नहीं। परन्तु कहे किसको ? यदि रावण आदि का अकाल मृत्यु न माना जावे तो पुराण की बात गलत हो जाती है वह भी पुपाता नहीं है ऐसी अवस्था में क्या करें ? यदि अकाल मृत्यु का लक्षण ज्ञान में आ जावे तो सब बात का निर्णय तुरंत हो जाता है। तब सत्य को सत्य और उपचार को उपचार तुरंत मानकर अपना निर्णय कर

लेता है। मरण दो प्रकार से होता है। (१) उदय से (२) उदीरणा से। जिस काल में मरण होने का है वही समय में मरण होना उसी का नाम "उदय" मरण है। उदय मरण में बाह्य निमित्त कोई भी हो सकता है। स्वइच्छा से मरण करना उसी का नाम उदीरणा मरण है। क्योंकि अपने कर्मों के साथ अपना ही भाव का सम्बन्ध है। पर-जीवों भाव करे और अपने कर्म का नाश हो जावे ऐसा निमित्त नैमितिक सम्बन्ध नहीं है। ऐसा वस्तु का स्वरूप है। यदि पर जीवों के भाव से हमारे कर्मो का नाश हो जावे तो समवसरण में तीर्थकर देव के भाव से सब जीवों को सम्यग्दृष्टि बन जाना चाहिए परंतु ऐसा होता नहीं है। जैसे निगोदिया जीव का शरीर एक होते सन्ते उस में अनन्त जीव हैं हरेक जीवों का द्रव्य कर्म अलग अलग है। उनमें से एक जीव ने परिणाम सुधार कर मनुष्य पर्याय पाई ली और जीवों ने मनुष्य पर्याय न पाई? जिससे सिद्ध होता है कि हरेक जीवों का अपने अपने द्रव्य कर्मो के साथ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है परन्तु पर जीवों के भाव से पर जीवों के आयु कर्म का नाश हो जावे ऐसा वस्तु स्वभाव नहीं है। यही बात समयसार बन्ध अधिकार में श्री कुन्द कुन्द आचार्य ने भी कही है—

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२४७॥

अर्थ—जो पुरुष ऐसा मानता है कि मैं पर जीव को मारता हूँ और पर जीवों से मैं मारा जाता हूँ, पर मुझे मारते हैं वह पुरुष मोही हैं अज्ञानो हैं और इससे विपरीत ज्ञानी हैं ऐसा जानना चाहिए।

ऐसी मान्यता वाले जीवों को अज्ञानी क्यों कहा जाता है—

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउ ण हरेसि तुमं कहते मरणं कयं तेसिं ॥२४८॥
आउक्खयेण मरणं जीवाणंजिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउ न हरंति तुहं कह ते मरणं कयं तेहिं ॥२४९॥

अर्थ—जीवों के मरण है वह आयु कर्म के क्षय से होता है ऐसा जिनेश्वर देव ने कहा है सो है भाई! तू मानता है कि मैं पर जीवों को मारता हूँ यह अज्ञान है, क्योंकि, उन पर जीवों का आयु कर्म तू नहीं हरता तो तूने उनका मरण कैसे किया? तथा जीवों का मरण आयू कर्म के क्षय से होता हैं ऐसा जिनेश्वर देव ने कहा है परन्तु है भाई? तू ऐसा मानता है कि मैं पर जीवों कर मारा जाता हू यह मानना तेरा अज्ञान है, क्योंकि; पर जीव तेरा आयु कर्म नहीं हरते इसलिए उन्होंने तेरा मरण कैसे किया?

इससे सिद्ध हुआ कि परजीवों की आयु अपने आधीन नहीं है। आयु क्षय होने से बाह्य निमित्त कोई बन जाता है। ऐसे निमित्त से इसका मरण हुआ वह कहना व्यवहार है, उपचार है। यथार्थ में उनका मरण इसी प्रकार से होने वाला था। ऐसा मरण का नाम "उदय" से मरण हुआ किया जाता है। और जो जीव स्वइच्छा से मरण करते हैं उसी का नाम "उदीरणा" मरण है। तीसरी प्रकार का मरण होता ही नहीं है। स्वइच्छा रूप तीव्र कषाय परिणाम से आयु कर्म का क्षय हो जाता है। परन्तु पर जीवों, पर जीवों की आयु कर्म का क्षय कर ही नहीं सकता है। यह स्वयं सिद्ध होता है।

(१८) मुनिराज के उपदेश से मन्दिर बनवाने से मन्दिर में जब तक पूजादि होते रहे तब तक मुनिराज को उस पूजादि पुण्य भाव से पुण्य का बटवारा मिले या नहीं?

मुनिराज का उपदेश सुनकर गृहस्थ मन्दिर आदि बनवावे। मन्दिर बनवाने में जो हिंसा होती है

उक्त भाग का भागीदार गृहस्थ है परन्तु मन्दिर में जो पुण्य कार्य होता है उस पुण्य बन्ध में मुनिराज को भी पुण्य का हिस्सा मिलता है ऐसा जो कथन "यशोधर चरित्र में पृष्ठ २०४ में किया है", ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है अर्थात् वह आगम विरुद्ध कथन है श्रद्धान करने योग्य नहीं है।

शंका—आगम में जब लिखा है तब वह श्रद्धान करने योग्य नहीं है, ऐसा क्यों कहा जाता है ?

समाधान—जिस कथन में सिद्धान्त में बाधा न आवे उसको आगम का कथन कहा जाता है। वस्तु स्वरूप से विपरीत बात लिखी जाय ऐसा कथन को आगम कथन कैसे कहा जा सकता है ?

शंका—वह कथन वस्तु स्वरूप से विपरीत कथन कैसे हैं ?

समाधान—जब तक मन्दिर रहे तब तक उसमें भक्ति आदि कार्य तो होता ही रहे और उस भक्ति आदि शुभ कार्यों में से मुनिराज को पुण्य बन्ध होते रहे, तो मुनिराज का तो कभी मोक्ष हो नहीं सकता, यह सिद्धान्त में बाधा आती है। मन्दिर का नाश किया बाद ही मुनिराज का मोक्ष हो सकता है। ऐसा तत्व का स्वरूप नहीं है। हरेक जीवों को अपने अपने भाव से पुण्य-पाप का बन्ध होता है। और अपने वीतराग भाव से मोक्ष होता है ऐसा न मान कर विपरीत मानना वही तो मिथ्यात्व भाव है।

(१९) निश्चय से आत्मा का धर्म क्या है ?

यशोधर चरित्र में लिखा है कि—

> जीवस्स णिच्छिया दो धम्मो दहलक्खणो हवे सुयणो।
> सो णेइ देवलोए सो चिय दुक्खक्खयं कुणइ॥

अर्थ—यदि निश्चय से विचार किया जाय तो इस जीव का उत्तम क्षमादि दश लक्षण धर्म ही हितू (स्वजन) है, क्योंकि यही धर्म जीव को स्वर्ग लोक प्रति प्राप्त करता है और यही धर्म समस्त दुःखों को नाश रूप मोक्ष करता है अर्थात् धर्म के सिवाय अन्य कोई भी इस जीव का सहाय नहीं है। पृष्ठ १७३।

यथार्थ में विचारा जाय तो उत्तम क्षमादि दश धर्म, धर्म नहीं है परन्तु पुण्य भाव है।

शंका—उत्तम क्षमादि दश धर्म को धर्म कहा जाता है उसे पुण्य भाव कैसे कहते हो ?

समाधान—उत्तम क्षमादि दश धर्म को धर्म कहना वह व्यवहार है, उपचार है। उसे पुण्य भाव कहना वह निश्चय है। उस उत्तम क्षमादि दश धर्म को धर्म मानना वही मान्यता का नाम मिथ्या मान्यता है। उनमें क्षमादि दश धर्म मिथ्यात्व एवं सम्यग्दर्शन नहीं है वही तो पुण्य भाव है। क्योंकि वह चारित्र गुण की मन्द कषाय रूप अवस्था है। पुण्य भाव को पुण्य तत्व न मानकर उसको संवर निर्जरा रूप धर्म तत्व मानना वही मान्यता का नाम मिथ्यात्व है और वही मिथ्यात्व श्रद्धा गुण की विपरीत मान्यता रूप विकारी अवस्था है।

शंका—उत्तम क्षमादि दश धर्म क्यों नहीं है ?

समाधान—जिस भाव से स्वर्ग लोक की प्राप्ति होवे उसी भाव से मोक्ष कैसे हो सकता है ? स्वर्ग का कारण पुण्य भाव है और मोक्ष का कारण वीतराग भाव है। जिस भाव से बन्ध पड़े उसी भाव से मोक्ष कभी भी मिल सकती नहीं है ऐसा जिस जीवों को श्रद्धान नहीं है वही जीव मिथ्यादृष्टि है।

धर्म अनेक प्रकार का होता नहीं है। धर्म एक ही प्रकार का होता है। तो भी जहाँ अनेक प्रकार का धर्म कहा हो वही कथन का नाम व्यवहार का कथन है अर्थात् उपचार का कथन है सत्य कथन नहीं है। दश धर्म में सत्य बोलना धर्म है। उसी को यथार्थ में धर्म माना जाय तो विपरीतता हो जावे।

शंका—उसमें विपरीतता क्या हो जावे ?

समाधान—झूठ बोलना पाप भाव है। और सत्य बोलने को धर्म माना जाय तो पुण्य भाव किसको कहोगे ? यथार्थ में झूठ बोलना पाप भाव है सत्य बोलना पुण्य भाव है। और बोलने का राग मिट जाना उसी का नाम धर्म भाव है। ऐसा माने नहीं और सत्य बोलना धर्म माने उसी मान्यता का नाम मिथ्यात्व भाव है। सत्य बोलना मिथ्यात्व नहीं है परन्तु सत्य बोलने का भाव को संवर निर्जरा रूप धर्म मानना यही मान्यता का नाम मिथ्यात्व है।

(२०) तीर्थंकर केवली की वाणी क्रमबद्ध अर्थात् एक के पीछे एक शब्द रूप निकलती है है या अक्रम ?

१ आदिनाथ पुराण पर्व नम्बर २४ श्लोक नम्बर ८३-८६ में लिखा है कि—

"तालवा होठ इनि का परिस्पन्द कहिये चलायमानपना न भया "अर मुख विसै और छाया न भई अर इन्द्रिय का उद्यमन भया ऐसी वाणी भगवान् के मुख से निकलती भई ॥ ७३ ॥ जैसे गिरि की गुफा गुंजार करे, तैसी गुंजार रूप दिव्य ध्वनि स्वयं भू के मुख से निकसी प्रगट है सकल अक्षर जामे ॥ ८४ ॥ कहवे की इच्छा बिना ही प्रभू के सरस्वती प्रकट भई सो पुराण पुरषनि से ध्यान करी उपजी शक्ति ताकि महिमा अचिंत्य है काहुके चिन्तवन में न आवे। ८५ ॥ में अनुक्रमते तत्वार्थानि का व्याख्यान करहुँ सो भली भांति सुनि जीव कु आदि दे काल पर्यंत यह द्रव्य हैं तिनके भेद गुण पर्याय सहित उर में निकेधारी ॥ ८६ ॥

नोट—यहाँ पर अनुक्रमते वाणी निकली है ऐसा कहा है। अनुक्रमते वाणी निकलना रागी जीव का लक्षण है वीतराग की वाणी अनुक्रमते एवं प्रश्न उत्तर रूप निकलती ही नहीं है। समय समय में द्वादशांग रूप ही निकलती है। श्रोता अपने अपने क्षयोपशम के अनुसार उसमें से ग्रहण करते हैं। लोक में शब्द असंख्यात हैं। भगवान् के आत्म प्रदेश भी असंख्यात हैं। एक एक प्रदेश से शब्द स्वयं निकल जाते हैं, जो सत्य वचन रूप और अनुभय वचन रूप अनेक भाषा में स्वयं परिणमन कर जाता है ऐसा ही कर्म का उदय भी है।

आदिनाथ पुराण पर्व नम्बर ४३ में लिखा है कि—

"वचन अतिशय जो जानु जो प्रभु बिना अनुक्रम एक ही बारे दिव्य ध्वनि वचन करि सकल सभा कू पोखे हैं, जाकी दिव्य आवरण के क्षय ते अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, दिव्य ध्वनि सकल की भाषा रूप होय परिणमें है।

नोट—यहाँ पर भाषा अनुक्रम रहित कही गई है। ऊपर में अनुक्रम सहित निकलती है ऐसा कहा है। ऊपर में उपचार से कथन किया है यहाँ पर यथार्थ कथन किया है ऐसा जानना चाहिए। उपचार को उपचार जान लेना चाहिए तो सम्यग्ज्ञान है परन्तु उपचार को सत्य मान लिया जावे तो वह मिथ्याज्ञान है।

आदिनाथ पुराण पर्व नम्बर २५ श्लोक नम्बर ३२ में लिखा है कि—

"हे प्रभो ! यह बड़ा अचरज है विचित्र रूप ये वचन तिनकी अनुक्रम रहित यह उत्पत्ति है सो तीर्थंकर पद का ऐसा ही महात्म्य है।

भावार्थ—भगवान की वाणी एकी लार सब जीव अपनी-अपनी भाषा में समझे हैं।

आदिनाथ पुराण पर्व नम्बर २३ श्लोक नम्बर ६९ से ७२ में लिखा है कि—

भगवान के मुख रूप कमल ते मेघ की ध्वनि समान दिव्यध्वनि निकसती संती भव्यनि के मन का मोह रूप अन्धकार दूर करती भई जैसे सूर्य उदय होता रात्रि के तिमिर कुं हरे ।। ६६ ।। एकहु वह सब मनुष्यनि की भाषा और ताके अन्दर तिर्यचादिक की बहुत कुभाषा सो सब भाषा रूप परिणमती अज्ञान रूप तिमिर कुं हरती वह जिनवाणी प्रभू के प्रभाव करि सबकूं प्रति बोधे है, तत्वज्ञान उपजावे है ।।७०।। जैसे जल का समूह एक रूप है परन्तु वृक्षादि के भेद ते नाना रूप होय है तैसे पात्रनि के विशेष ते इह सर्वज्ञ की ध्वनि बहुत प्रकार होती भई ।।७१।। बहुरि जैसे स्फटिक मणी एक रूप है परन्तु जो-जो वस्तु याके समीप आवे है तिन रूप स्फटिकमणी निर्मलता रूप होय है तैसे वीतराग की वाणी एक रूप है परन्तु श्रोतानि के घट विषै नाना भाषा रूप होय परिण में है। देव मनुष्य तिर्यंच सब ही अपनी भाषा में अर्थ समझे है ।।७२।।

नोट—इससे सिद्ध होता है कि भगवान् सर्वज्ञ वीतराग देव की वाणी अक्षर सहित अनेक भाषा युक्त होते सन्ते अक्रम ही खोरती है। यदि भगवान् की वाणी क्रम रूप मानी जावे तो वीतरागता न रहकर सरागता हो जाती है जो मान्यता बाधा युक्त है। जैसे यशोधर चरित्र पर्व नम्बर २ श्लोक नम्बर ६२-६३ पृष्ठ नम्बर १४ में लिखा है कि—

"सब से पहले भगवान् ने आचारंग का उपदेश दिया, पश्चात् दूसरा सूत्रकृतांग, तीसरा स्थानांग' चौथा समवायंग, पाँचवां व्याख्याप्रज्ञप्त्यंग अङ्ग का स्वरूप समझाया ।।" यह सब उपचार का कथन जानना एवं मानना चाहिए, क्योंकि, वीतराग की वाणी इस प्रकार से निकलती नहीं है ऐसी तो सरागी जीवों की वाणी है। अर्थात् यह सरागी का लक्षण है।

(२१) वीतरागी पुरुषों में सुख का अन्तर होता होगा ?

"यशोधर चरित्र में पर्व नम्बर ३ श्लोक नम्बर ८६-८७ पृष्ठ २२ पर लिखा है कि—"सबसे अधिक सुख तो सयोग तथा अयोग गुणस्थान में है, क्योंकि, वहाँ क्षायिक लब्धि की प्राप्ति हो जाती है। इसलिए अनन्त सुख प्रकटित हो जाता है इन्द्रिय जन्य विनाशीक सुख नहीं है ।।८६।। कुछ कम सुख बारहवें गुणस्थान में है, क्योंकि, वहां समस्त कषायों का नाश होता है। उससे कम सुख ग्यारहवें गुणस्थान में है, क्योंकि, उसमें कषाय नष्ट नहीं होते शान्त हो जाते हैं।"

नोट—यह सब कथन व्यवहार का है अर्थात् उपचार है। परमार्थ से विचार किया जावे तो सुख को घात करने वाला कषाय है। अर्थात् कषाय ही दुःख की जननी है। जहां कषाय का अभाव होगया वहाँ ही वीतरागता है और वीतरागता ही सुख की जननी है। ग्यारहवां, बारहवां और तेरहवां गुणस्थान योग की अपेक्षा से है, परन्तु वहां कषाय नहीं है। चौदहवां गुणस्थान योग के अभाव की अपेक्षा से। योग गुण में सुख गुण का अभाव है। योग गुण का विकारी परिणमन होते सन्ते चारित्र श्रद्धा ज्ञान दर्शन वीर्यादि गुण शुद्ध परिणमन करते हैं, क्योंकि, सब गुण स्वतन्त्र हैं और उनको घात करने वाले कर्म भी अलग-अलग हैं। कषाय के अभाव में निराकुल अवस्था प्राप्त हो जाती है। वही निराकुल अवस्था ग्यारहवां गुणस्थान से सब जीवों को समान है ऐसा श्रद्धान करना चाहिए। उपचार कथन को उपचार मानना सम्यग्ज्ञान है परन्तु उपचार को सत्य मानना मिथ्याज्ञान है।

(२२) क्या केवली में भी करुणा होती है ?

"वरांग चरित्र" में पर्व ११ श्लोक नम्बर ३ पृष्ठ ८५ में लिखा है कि "यतिराज बरदत केवली गुणों की खान थी, तथा उनका चित परम करुणा भाव से भास मान था। अतएव उक्त प्रकार से प्रश्न

किये जाने पर उसके शुद्ध समाधान करने की भावना से ही उन्होंने मिथ्यात्व और सम्यक्त्व के विकल्पो तथा उसके सार भूत तत्त्व का व्याख्यान करना प्रारम्भ किया।"

नोट—यह सब उपचार का कथन है। सर्वज्ञ वीतराग में करुणा कहना केवल उपचार है। और सर्व वीतराग में करुणा मानना वही मान्यता का नाम मिथ्यात्व भाव है। करुणा चारित्र गुण की मन्द कषाय का नाम है जिससे पुण्य का बन्ध पड़ता है जब वीतरागी पुरुषों का चारित्र गुण शुद्ध परिणमन करता है एवं वहां कषाय जनित बन्ध भी नहीं है। ऐसा माना न जावे तो अतत्व में तत्व श्रद्धान रूप मिथ्यात्व का दोष आ जाने से जीव मिथ्यादृष्टि ही रह जाता है। जिनागम उपचार कथन से भरा हुआ है उसको उपचार मानना चाहिए।

(२३) क्या केवली वीतरागी पुरुषों अन्य जीवों को व्रत ग्रहण करने की अनुमति देता है ?

"वरांग चरित्र" पर्व नम्बर ४० पृष्ठ ६६ में लिखा है कि कुमार वरांग भव्य थे, इसलिए वह अपने को धर्म मार्ग पर लगा सके थे, तथा वे वास्तव में अत्यन्त प्रसन्न थे। यही कारण था कि जब आचार्य वरदत केवली ने उनके वचन सुने तो उन्हें व्रत ग्रहण करने की अनुमति दी थी तथा स्वयं ही विधि पूर्वक व्रतों की दीक्षा दी थी॥

नोट—सर्वज्ञ वीतराग व्रत लेने की अनुमति देवें एवं विधि पूर्वक व्रतों की दीक्षा देवें ऐसा कभी भी नहीं हो सकता है। यह सब रागी जीवों का कार्य है। अर्थात् छटा गुणस्थानवर्ती जीव की ऐसी प्रवृति हो सकती है परन्तु सातवां गुणस्थान से जीव ध्यान अवस्था में है वह न अनुमति देता है न व्रत, दीक्षा आदि देते हैं। तेरहवें गुणस्थान वर्ती सर्वज्ञ वीतराग अनुमति देवे, व्रत देवे, दीक्षा देवे यह कहना केवल उपचार नहीं तो क्या है ? सचमुच से विचार किया जावे तो ऐसे जीवों को सर्वज्ञ वीतराग का ज्ञान ही नहीं है।

(२४) सर्वज्ञ वीतरागीओं का परम औदारिकादि शरीर का नाश कब होता है ?

आदिनाथ पुराण पर्व नम्बर ४७ श्लोक नम्बर ३३८-३४१ में लिखा है कि—"माघ वदी चतुर्दशी के दिन सूर्य उदय समे भगवान् वृषभ देव ने अमिणित नामा मुहूर्त विषे अनेक मुनियों सहित पद्मासन धरि पूर्व सन्मुख तीसरे शुक्ल ध्यान कर तीनों योग रोके तीसरे शुक्ल ध्यान नाम सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति है, अर चौथे शुक्ल ध्यान नाम समुच्छिन्न क्रिया सो चौथे शुक्ल ध्यान करि नाम, गोत्र, वेदनीय और आयु ये चार अघातियां कर्म तिनका अन्त किया। अइउऋऌ ये पांच ह्रस्व स्वर तिनका उच्चारण करते जेताकाल व्यतीत होय तेताकाल चौदवां गुणस्थान तिष्टि करि परम औदारिक, तेजस और कार्मण शरीर का अन्त करि सिद्ध पर्यायकु प्राप्त भये।

उत्तर पुराण पर्व नम्बर ६३ श्योक नम्बर ४६८ में लिखा है कि—

इकार पंचकोच्चार मात्र काले वियोगकः ।
चतुर्थ शुक्ल ध्यानेन निराकृत तनुत्रयः ॥

अर्थ—अ इ उ ऋ ऌ इन पांचों अक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है उतने ही समय में सब कर्मों को नाश कर उसी समय चौथा शुक्ल ध्यान से तीनों शरीरों का नाश किया।

मूलाचार ग्रन्थ में श्लोक नम्बर १२४३ में लिखा है कि—

तत्तोरालिय देहो णामा गोदं चकेवली युग जं ।
आऊग वेदणीयं चदुहिं खिविइत्तु णीर ओ होइ ।।

अर्थ—योग निरोध करके अयोग केवली होने के बाद वे अयोगी केवली जिन औदारिक शरीर सहित नाम कर्म, गोत्र कर्म, आयु कर्म और वेदनीय कर्म इन चार अघातियां कर्मों का क्षय कर कर्म रूपी रज रहित निर्मल सिद्ध भगवान हो जाता है।

नोट—यहाँ तीनों ग्रन्थों में चौदवां गुणस्थान के अन्त में परम औदारिकादि तीनों शरीर का नाश होता है ऐसा कहा गया है। यहां परम औदारिक शरीर का नाश अर्थात् वह शरीर छोड़कर आत्मा सिद्ध पद को पाता है और परम औदारिक शरीर पड़ा रहता है। ऐसा अभिप्राय है। यदि ऐसा अभिप्राय नहीं होता तो इन्द्र ने निर्वाण पूजा कैसी की होगी ?

आदिनाथ पुराण पर्व नम्बर ४७ श्लोक नम्बर ३४३-३४६ में लिखा है कि—"जब भगवान का मोक्ष हुआ तब सर्व देव आय करि निर्वाण कल्याणक की पूजा कर वे कि जिनकी सो प्रभू का शरीर परम पवित्र मोक्ष का साधन महाशुचि, महा निर्मल ताहि पालखी विषे आरोपण करि ले चले। अग्नि कुमार का इन्द्र ताके मुकटते उपजी रत्न प्रभा रूप अग्नि ता विषे चन्दन, अगर, कपूर, केशर आदि सुगन्धि द्रव्यनि करि दाग क्रिया करि, घृत, दुग्धादि करि अग्नि प्रज्वलित करि भगवान् के शरीर का सुगन्धता करि सब सुगन्धता रूप हो गये। अनादि काल में ऐसा शरीर न पाया था जा करि मुक्ति होय सो अनन्त शरीर के अन्त यह दिव्य शरीर पाया उनको तज करि आप परम धाम को पधारे, शरीर का आकार अग्नि के योग तैं भस्म भाव को प्राप्त भया"

नोट—यह सब उपचार का कथन है। परमार्थ से विचारा जाय तो चौदवे गुणस्थान के प्रथम समय में तीनों शरीर अर्थात् औदारिक शरीर, तेजस शरीर और कार्मण शरीर नामा नाम कर्म की प्रकृति का उदय का अभाव हो जाने से शरीर विलय हो जाता है। जिस कारण से शरीर बनाया उस कारण का अभाव हो जाने से शरीर रूप कार्य का भी अभाव हो जाता है। तेरहवे गुणस्थान में जो ४२ प्रकृतियों का उदय होता था उनमें से व्युच्छित्ति वेदनीय एक व्रजऋषभनाराच संहनन एक, निर्माण एक, स्थिर एक, अस्थिर एक, शुभ एक, अशुभ एक, सुस्वर एक, दुःस्वर एक, प्रशस्तविहायोगति एक, अप्रशस्त विहायोगति एक, औदारिक शरीर एक, औदारिक अंगोपांग एक, तैजस शरीर एक, कार्मण शरीर एक, समचतुर सस्थान एक, न्यग्रोध परिमडएल एक, स्वाति संस्थान एक, कुल्जक संस्थान एक, वामन संस्थान एक, हुएडक संस्थान एक, स्पर्श एक, रस एक, गन्ध एक, वर्ण एक, अगुरुलघु एक, उपघात एक, परघात एक, उच्छ्वास एक और प्रत्येक एक। ये मिलकर ३० प्रकृतियों के घटाने पर शेष १२ प्रकृतियों का अर्थात् वेदनीय, मनुष्यगति, मनुष्यायु, पचेन्द्रिय जाति, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्त, आदेय, यशःकीर्ति, तीर्थंकर और उच्च गोत्र का उदय रहता है। जहाँ औदारिक आदि नामा नाम कर्म प्रकृति का उदय नहीं है तो औदारिक शरीर कैसे रह सकते है ? तो भी चौदवै गुणस्थान में शरीर मानना न्याय युक्त नहीं है। वर्णादि चतुष्टयका उदयज नहीं है एवं शरीर भी नहीं है तो भी चौदवे गुणस्थान में छह प्रकार की द्रव्य लेश्या मानना न्याय युक्त नहीं है। यह सब कथन उपचार का है। जब शरीर नहीं रहता है तो मोक्ष कल्याणिक में भगवान् का शरीर का भस्म किया यह कहना कहां तक उचित है ? यथार्थ में इन्द्र ने अपनी वैक्रियिक ऋद्धि द्वारा भगवान् का कृत्रिम शरीर बनाया है और वही शरीर की दग्धादि सब क्रिया की है।

उपचार से भगवान् का शरीर को दग्ध किया ऐसा बोलने का व्यवहार है उपचार है। बोलना यह व्यवहार है परन्तु जैसा बोलता है ऐसा ही यदि मानते हैं तो वही मान्यता का नाम मिथ्या मान्यता है वही तो अज्ञान भाव है और है क्या ?

(२५) दान अन्तराय कर्म के क्षय से केवली को क्या लाभ होता ?

श्री आदिनाथ पुराण पर्व नम्बर २० श्लोक नम्बर २६८ में लिखा है कि—

"दानान्तराय कर्म के क्षय से क्षायिक भाव रूप अनेक जीव के समूह परि अनुग्रह करण हारा अभयदान" की प्राप्ति होती है।

नोट—यह सब उपचार का कथन है। परमार्थ से विचारा जाय तो अन्तराय कर्म वीर्य गुण को घात करती है। अन्तराय कर्म के अभाव से आत्मा में अनन्त वीर्य रूप पर्याय प्रगट होती है। परन्तु, अनन्त लाभ, अनन्त दान, अनन्त भोग, अनन्त उपभोग और अनन्त वीर्य रूप पर्याय प्रगट होती ही नहीं है, क्योंकि स्वभाव पर्याय एक गुण की एक ही होती है विभाव पर्याय अनेक होती हैं। जैसे ज्ञानावरण कर्म की पाँच प्रकृतियाँ हैं। (१) मति ज्ञानावरण, (२) श्रुत ज्ञानावरण, (३) अवधि ज्ञानावरण, (४) मनः पर्यय ज्ञाना वरण, (५) केवल ज्ञानावरण। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से एक जीव में ज्ञान गुण की चार शक्तियाँ प्रगट हो सकती हैं, परन्तु ज्ञानावरण कर्म का सम्पूर्ण नाश होने से एक स्वभाव पर्याय अनन्त ज्ञान अर्थात् केवल ज्ञान रूप पर्याय प्रगट होती है उसी प्रकार अन्तराय कर्म के नाश से अनन्त वीर्य रूप पर्याय प्रगट होती है परन्तु पाँच प्रकार का क्षायिक भाव अन्तराय कर्म के अभाव में कहना यह व्यवहार का कथन है अर्थात् उपचार मात्र है। परन्तु पाँच प्रकार का क्षायिक भाव अन्तराय कर्म के अभाव में मानना यह मान्यता का नाम मिथ्या मान्यता है।

(२६) व्यवहार दश प्राण जीव का अशुद्ध पारिणामिक भाव है ?

"द्रव्य संग्रह" ग्रन्थ की बड़ी टीका करते लिखा है कि, इन्द्रियादिक दश प्राण जीव का अशुद्ध पारिणामिक भाव हैं" यह कहना उपचार मात्र है। उपचार का अर्थ अभूतार्थ, असत्यार्थ आदि हैं। जैसा वस्तु का स्वरूप है ऐसा न कह कर अन्यथा कहना उसी का नाम उपचार है। उपचार को उपचार कहना सम्यग्ज्ञान है परन्तु उपचार को सत्य मानना मिथ्या ज्ञान है।

नोट—पारिणामिक भाव उसे कहते हैं कि द्रव्य के परिणमन में, पर द्रव्य का सद्भाव या अभाव रूप कारण न हो स्वतन्त्र परिणमन किया हो उसे पारिणामिक भाव कहते हैं। इन्द्रिय प्राण, बल प्राण, आयु प्राण, और स्वाच्छोस्वास प्राण यह कर्म जनित अवस्था है। कर्म के उदय के अनुकूल ही वह अवस्था होती हैं, वह पारिणामिक भाव कैसे हो सकता है। यदि वह पारिणामिक भाव होता तो सब जीवों को समान प्राण मिलते परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता है। दूसरी बात दश प्राण का उपादान कारण पुद्गल द्रव्य है। कहा भी है कि—

इंदियपाणो य तधा बलपाणो तह य आउपाणो य।
आणप्पाणप्पाणो जीवाणं होंति पाणा ते ॥ १४६ ॥
पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं।
सोजीवो पाणा पुण पोग्गल दव्वेहिं णिव्वत्ता ॥ १४७ ॥

अर्थ—इन्द्रिय प्राण, बल प्राण, आयु प्राण और स्वासोच्छ्वास प्राण ये चार जीवों के प्राण हैं।

जो चार प्राणों से जीता है। जियेगा और पहले जीता था वह जीव है। फिर भी प्राण तो पुद्गल द्रव्यों से रचित है।

यह दश प्राण जीव का व्यवहार से कहा जाता है अर्थात् उपचार मात्र है। निश्चय से जीव का चैतन्य प्राण है। जब दश प्राण का उपादान प्राण पुद्गल है तब वह जीव का पारिणामिक भाव कैसे हो सकता है ? पुद्गल द्रव्य का स्वतन्त्र परिणमन पुद्गल का पारिणामिक भाव है। इससे सिद्ध हुआ कि दश प्राण जीव द्रव्य का अशुद्ध पारिणामिक भाव नहीं है परन्तु, औदयिक भाव है। अर्थात् कर्म जनित परिणमन है। ऐसा श्रद्धान करना चाहिए। दश प्राण जीव द्रव्य की अजीव तत्व रूप पर्याय है। अर्थात संयोगी अवस्था है। संयोग को केवल संयोग जानना मानना सम्यक् ज्ञान है परन्तु संयोग को तादात्म संबन्ध मानना यही मान्यता का नाम मिथ्यात्व भाव है अज्ञान भाव है।

(२७) पात्र, कुपात्र, अपात्र का भेद कौनसा अनुयोग में होता है ?

रत्नकरण्ड श्रावकाचार की गाथा ११५ की टीका करते श्रीमान् पंडित जी सदासुख जी कुपात्रका लक्षण लिखते हैं कि —

"जिनके मिथ्या धर्म की दृढ़ वासना हृदय में तिष्ठे है, और, घोर तप के धारक, समस्त जीवनी दया करने में उद्यमी, असत्य वचन, कठोर वचन सु परांङ्मुख, समस्त प्रिय वचन कहै, धन में, स्त्री में, कुटुम्ब में निःस्पृह, मिथ्या धर्म का निरंतर सेवन करने वाला, जप, तप, शील, संयम नियम में जिनके दृढ़ता सहित प्रीत हो, मन्द कषायी, परिग्रह रहित, कषाय विषयनिका त्यागी, एकान्त बाग वनादिक में बसने वाले, आरम्भ रहित, परिषंह सहने वाले, संक्लेश रहित, संतोष सहित, रस नीरस के भक्षण में समभाव के धारक, क्षमा के धारक, आत्म ज्ञान रहित बाह्य क्रिया काण्ड में मोक्ष मानने वाले ऐसे कुपात्र हैं।" पृष्ठ २६७।

नोट—द्रव्य लिंगी मुनि को यहाँ कुपात्र कहा है। कुपात्र का जो वर्णन किया है ऐसा मुनि वर्तमान काल में देखना दुर्लभसा है। यहाँ पर कुपात्र का लक्षण करणानुयोग की अपेक्षा से किया गया है। यथार्थ में करणानुयोग में पात्रादिक का भेद होता ही नहीं है। पात्रादिक का भेद चरणानुयोग में ही होता है। यहाँ पर "मिथ्या धर्म की दृढ़ वासना हृदय में तिष्टे है, मिथ्या धर्म का निरन्तर सेवन करने वाला, आत्म ज्ञान रहित" जो कहा है उसका इतना ही अर्थ है कि पुण्य भाव को संवर निर्जरा मानने वाला है। जो द्रव्य लिंगी का लक्षण है। श्री मोक्ष मार्ग प्रकाश के आठवां अध्याय में पृष्ठ ४१६ में लिखा है कि —

चरणानुयोग विषैं व्यवहार लोक प्रवृति अपेक्षा ही नामादिक कहिए हैं। जैसे सम्यक्त्वी को पात्र कहा, मिथ्यात्वी को अपात्र कहा। सो यहाँ जाके जिन देवादिक का श्रद्धान पाईए सो तो सम्यग्दृष्टि जाके तिनका श्रद्धान नाहीं सो मिथ्यात्वी जानना। जातैं दान देना चरणानुयोग विषैं कहा है, सो चरणानुयोग ग्रहण करने। करणानुयोग अपेक्षा सम्यक्त्व मिथ्यात्व ग्रहै वो ही जीव ग्यारवैं गुणस्थान था और वो ही अन्तर्मुहूर्त में पहिले गुणस्थान आवै, तहाँ दातार पात्र अपात्र का कैसे निर्णय कर सकै ? बहुरि द्रव्यानुयोग अपेक्षा सम्यक्त्व मिथ्यातत्व गहैं मुनि संघ विषै द्रव्यलिंगी भी हैं भावलिंगीभी है। सो प्रथम तो तिनका ठीक होना कठिन है। जातैं बाह्य प्रवृति समान है। अर जो कदाचित् सम्यक्त्वी कों कोई चिन्ह करि ठीक पड़ै,

अर वह वाकी भक्ति न करै, तब औरनिकैं संशय होय याकी भक्ति क्यों न करी ऐसें वाका मिथ्यादृष्टिपना प्रगट होय तब संघ-विषैं विरोध उपजे । तातें यहाँ व्यवहार सम्यक्त्व, मिथ्यात्व की अपेक्षा कथन जानना ।"

जिससे सिद्ध हुआ कि पात्रादिक का भेद चरणानुयोग में ही करना चाहिए न कि करणानुयोग या द्रव्यानुयोग में। चरणानुयोग से पात्र, उनको कहा है जिसको देव की श्रद्धा है, गुरु की श्रद्धा है और व्यवहार धर्म को धर्म मानता है वही पात्र है। जिनको देव की श्रद्धा में विपरीतता है। गुरु की श्रद्धा में विपरीतता है। और व्यवहार धर्म को धर्म मानता है। अर्थात् हिंसा झूठ, चौरी, कुशील और परिग्रह को पाप मानता है और अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को धर्म मानता है ऐसे जीव कुपात्र है। और जिनको देव की श्रद्धा में विपरीतता है, गुरु की श्रद्धा में विपरीतता है और व्यवहार धर्म की श्रद्धा में विपरीतता है अर्थात गंगा स्नान में, पति वियोग में सती होना, भगवान् के नाम पर बलि (जीव हिंसा) में धर्म मानना ऐसे जीव अपात्र हैं।

(२८) अनेक एकेन्द्रिय जीव मारने से एक पंचेन्द्रिय मार के खाने में क्या दोष है ?

रत्नकरण्ड श्रावकाचार की गाथा ६६ की टीका करते श्रीमान् पंडितजी सदासुख जी लिखते हैं कि—

"यहां कोऊ कहै अन्नादिक के भक्षण में तो बहुत जीवनिका घात है तातैं एक जीव कूं मारि भक्षण करना श्रेष्ठ है ऐसा विचार करि बड़ा प्राणी कू मारि खावना योग्य नाहीं जातें एकेन्द्रिय प्रत्येक वनस्पति, पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन, समस्त त्रैलोक्य में भरे हुए समस्त विकलत्रय, अर समस्त देव, मनुष्य, तिर्यंच, इन समस्त निकूं इकट्ठा करि गिनिये तो समस्त असंख्यात परिमाण हैं, अर मनुष्य तिर्यंचनि के *मांस का एक कण में एते बादर निगोदिया जीव है जो त्रैलोक्य के एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय,* तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, समस्त मनुष्य, तिर्यंच, देव, नारकी, तितैं अनन्तगुणा भगवान् सर्वज्ञ देखि परमागम में कहा है तातैं अन्न जलादिक असंख्यातवर्ष भक्षण करे तिसमें जो एकेन्द्रिय हिंसा होय तातैं अनन्तगुणे जीवनि की हिंसा सुई की अणीमात्र मांस के भक्षण करने में हैं।" पृष्ठ १८१।

नोट—यहाँ पर मांस की एक कणिका में अनन्त निगोद रासी होने से मांस भक्षण न करने का निषेध किया है वह यथार्थं जवाब नहीं है। यहाँ पर निगोद का अर्थ "साधारण" जीव माना है। साधारण जीव तो एक आलू के टुकड़ें में अनन्त है तो क्या आलू आदि कन्दमूल और मांस में समान जीवों की घात है ? निगोद केवल साधारण वनस्पति को नहीं कहा है। निगोद का अर्थ जो जीव स्वास के अठारहवें भाग में जन्म मरण करते हैं ऐसा जीव का नाम निगोद संज्ञा है। निगोद जीव दो प्रकार का हैं—(१) स्थावर निगोद (२) त्रस निगोद। जिस जाति के जीव हैं उसी जाति का असंख्यात त्रस निगोद उसी जाति की मांस की कणिका में हैं। जीव की संख्या पर विशेष पाप नहीं है परन्तु प्राणों पर विशेष पाप है। एकेन्द्रिय जीव को चार ही प्राण हैं जब पंचेन्द्रिय संज्ञी जीव को दश प्राण है। तीव्र कषाय भाव बिना दश प्राण के धारी जीव की हिंसा कैसे होगी ? एक प्राण से विशेष एक एक प्राण मिलना महान पुण्य का उदय होवे तब ही मिलता है। ऐसे महान पुण्य के उदय वाले दश प्राण धारी जीव को मारना चार प्राण के धारी एकेन्द्रिय जीव के मारने से महान पाप हिंसा है। ऐसा जानना चाहिए।

(२९) क्या आहार देने वाले और लेने वाले दोनों को कर्म की निर्जरा होती है ?

उतर पुराण पर्व नम्बर ५६ श्लोक नम्बर ७२ में लिखा है कि—

आभ्यामाद्यं तदानाभ्यां उभयोः कर्म निर्जरा।
पुण्यास्रवश्च शेषेण दातुस्त दुभयं भवेत् ॥ ७२ उ० पु० ॥

अर्थ—इन दानों में से शास्त्रदान तथा आहार दान से देने वाले और लेने वाले दोनों को कर्म की निर्जरा होती है और अभय दान से देने वाले के कर्म की निर्जरा होती है और पुण्यास्रव भी होता है दोनों ही होते हैं।

नोट—यहां पर आहार दान देने वाले और लेने वाले दोनों को कर्म निर्जरा होती है यह कहा है वह उपचार का कथन है। आहार दान देना वह पुण्यास्रव है और पाप कर्म की निर्जरा होती है, परन्तु आहार लेने का भाव तो पाप भाव है, क्योंकि, आहार संज्ञा पाप ही है। उससे कर्म की निर्जरा कैसे होगी? आहार लेना निर्जरा का कारण नहीं है, परन्तु उपवास करना वह द्रव्य निर्जरा का कारण है। यदि आहार लेना कर्म की निर्जरा कारण हो जावे तो उपवास कौन करेगा? आहार लेने का भाव नियम से पाप तत्व ही हैं और आहार दान देने का भाव पुण्य तत्व है। पाप तत्व को पुण्य तत्व मानना यही मान्यता का नाम मिथ्यात्व भाव है। पाप तत्व और पुण्य तत्व मिथ्यात्व नहीं है परन्तु पाप तत्व को पुण्य तत्व मानना यही मान्यता का नाम मिथ्यात्व भाव है। पाप तत्व का वर्णन करते पंचास्तिकाय ग्रन्थ की गाथा १४० में श्री कुन्दकुन्दाचार्य लिखते हैं कि—

सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदा अत्तरूद्दाणि।
णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होंति ॥ १४० ॥

अर्थ—चार संज्ञा और तीन लेश्या और इन्द्रियों के आधीन होना, तथा आर्त और रौद्रध्यान और सत्क्रिया के अतिरिक्त असत्क्रियाओं में ज्ञान का लगाना तथा दर्शन मोहनीय चारित्र मोहनीय कर्म के समस्त भाव है ते पाप रूप आस्रव के कारण होते हैं।

टीका—तीव्र मोह के उदय से आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ये चार संज्ञायें होती हैं।

इससे सिद्ध हुआ कि आहार लेने का भाव पाप भाव है किन्तु पुण्य भाव नहीं है। आहार देने का भाव पुण्य भाव है। कोई प्रकार का आहार लेने का भाव है वह पाप भाव ही है। परन्तु उपवास करने का भाव पुण्य भाव हैं जिससे पाप कर्म की निर्जरा होती है और पुन्य का बन्ध होता है। कहा भी है कि—

देवदजदि गुरु पूजा सु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।
उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा ॥ ६९ ॥

अर्थ—देव, गुरु, यति की पूजा में, तथा दान में एवं सुशीलों में और उपवासादिक में लीन आत्मा शुभोपयोगात्मक है। इससे सिद्ध हुआ कि आहार लेने का भाव पाप भाव है और उपवास का भाव पुण्य भाव है।

यदि शास्त्र, दान में लेना पुण्य भाव है तो मुनिराज, जितना विशेष शास्त्र रखे उतना विशेष पुण्य होता हो, तो मुनिराज शास्त्र पढ़कर जंगलों में शास्त्र रूपी परिग्रह क्यों छोड़ देते हैं। एकाद शास्त्र को ज्ञान का उपकरण कहा गया है परन्तु विशेष शास्त्र रखना ज्ञान का उपकरण न रहकर उपधि अर्थात् परिग्रह हो जाता है और परिग्रह पाप है। ऐसा जानना चाहिए। शास्त्र लिखना, शास्त्र पढ़ना ये पुण्य भाव है परन्तु विशेष शास्त्र दान में लेकर संग्रह करना पुण्य भाव नहीं है।

(३०) कृष्ण नारायण का जीव नरक में किस कारण से गया है ?

कृष्ण नारायण का जीव नरक में क्यों गया इस विषय में उत्तर पुराण पर्व नम्बर ७२ श्लोक नम्बर २८२ में लिखा है कि—

द्रोहान्मुनेः पलपचः स कुधीरघोगात्तद्वीजएवतपसाप्य च चक्रलक्ष्मी ।
ध्वंसं समाप तदपास्त परिग्रहाणा माकृध्वमल्पमपि पापधिया पकारं ॥२८२॥

कृष्ण के जीव ने चांडाल अवस्था में मुनि से द्रोह किया था उसी पाप से वह बुद्धिहीन नरक में गया तथा उसी कारण से तपश्चरण से प्राप्त हुई चक्रवर्ती की राजलक्ष्मी भी नष्ट हुई है। इसलिए आचार्य उपदेश देते है कि परिग्रह का त्याग करने वाले मुनिराजों को पाप रूप बुद्धि से थोड़ासा भी अपकार मति करो ॥"

नोट—मुनिराज से द्रोह करना पाप बन्ध का कारण है उससे असाता वेदनीय आदि का बन्ध पड़ता है। उस पाप कर्म के उदय से चक्रवर्ती की राजलक्ष्मी का नाश होना सम्भव है क्योंकि पुण्य के उदय से बाह्य सामग्री मिलती है और पाप कर्म के उदय से बाह्य सामग्री का वियोग होता है। परन्तु पाप कर्म के उदय से नरक गति में जाना यह कहना उपचार का कथन है। नरक में जाना वह वर्तमान पर्याय से किए हुए मलिन परिणाम का फल है न की पूर्व पाप कर्म का उदय का कारण है। तीव्र पाप कर्म का उदय गजकुमार मुनिराज,शुकौशल मुनिराज, श्री पार्श्वनाथ भगवान् आदि अनेक जीवों को आया, परन्तु वर्तमान भावो की शुद्धता के कारण वह जीव मोक्ष पधार गये। प्रत्येक नारायण के आत्मा में तीव्र कषाय रूप भाव विशेष रूप से रहते हैं उस तीव् कषाय रूप जब भाव होते है उसी काल में नरकायु का बन्ध पड़ जाता है, जिस कारण से वह जीव को नरक गति में जाना पड़ता है परन्तु पूर्व पाप कर्म के उदय से नरक में जाना पड़ता है वह व्यवहार अर्थात् उपचार का कथन है।

उत्तर पुराण पर्व नम्बर ७२ में श्लोक नम्बर १८१ में लिखा है कि—

"जरत कुमार के द्वारा कृष्ण की मृत्यु होगी, तथा मरकर वह एक सागर की आयु पाकर पहिले नरक में नारकी होगा और आयु पूरी होने पर वहाँ से निकल कर भरत क्षेत्र में तीर्थंकर होगा।"

नोट—यहाँ पर कृष्ण नारायण पहली नरक में गया ऐसा कहा है परन्तु अन्य ग्रन्थों में तीसरी नरक में गया है ऐसा विधान देखने में आते है। यह शंका वाला प्रश्न है कि किसकी बात यथार्थ है। तो भी तर्क की कसौटी पर विचार करते कृष्ण नारायण तीर्थंकर बनने वाला है वह काल का मिलान करने पर पहली नरक यथार्थ नहीं भासकर तीसरी नरक यथार्थ प्रतिती होती है। क्योंकि तीसरी नरक की आयु काल में और प्रथम नरक के आयु काल में महान अन्तर है। उसी काल पर से विचार कर सकते हैं।

(३१) पुण्य भाव मोक्ष का कारण है ?

उत्तर पुराण पर्व नम्बर ७६ श्लोक नम्बर ५५३ में लिखा है कि—

पुण्यं त्वया जिनविनेयविधेयमिष्टं गत्यादिभिः परम निर्वृतिसाधनत्वात् ।
नैवामराखिलसुखं प्रति तच्च यस्माद् बंधप्रदं विषयनिष्टममीष्टघाति ॥ ५५३ ॥

"हे जिन ! आपने जो पुण्य का स्वरूप कहा है वह ज्ञानादिक के द्वारा भव्य जीवों को सिद्ध करने योग्य हैं और सबको इष्ट है क्योंकि ज्ञानादिक के द्वारा उपार्जन किया हुआ पुण्य परम मोक्ष का कारण

है। जो देवादिकों के पुण्य सुख के लिए कहा गया है वह कुच्छ पुण्य नहीं है क्योंकि वह बन्ध के कारण है विषयों में लुभाने वाले हैं और मोक्ष रूप इष्ट विघात करने वाला है।"

नोट—यहाँ पर पुण्य को मोक्ष का कारण कहा है वह उपचार का कथन है। "पुण्य बन्ध" जिस भाव से बन्ध पड़े वह भाव मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है ? बन्ध के भाव मोक्ष के घातक ही है। बन्ध भाव का अभाव अर्थात् पुण्य भाव का अभाव ही मोक्ष कारण है। पुण्य तत्व है वह हेय तत्व है वह "इष्ट" कैसे हो सकता है। इष्ट तो संवर निर्जरा एवं मोक्ष तत्व है। तो भी जो जीव पुण्य तत्व को श्रद्धा में इष्ट मानता है। वही मान्यता मिथ्यात्व की है। पुण्य मिथ्यात्व नहीं है पुण्य तो पुण्य ही है परन्तु पुण्य तत्व को मोक्ष का कारण मानना यही मान्यता मिथ्यात्व की है। सम्यग्दृष्टि पुन्य तत्व को चाहता अर्थात् इष्ट मानता नहीं है। तो भी पुन्य भाव उसको होते हैं तो भी उनको हेय ही जानता है मानता है। कहा भी है कि—

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्मं।
अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होई ॥ २१० ॥

अर्थ—ज्ञानी परिग्रह से रहित है इसलिए परिग्रह की इच्छा से रहित है ऐसा कहा है इसी कारण धर्म को (पुन्य को) नहीं चाहता इसीलिए धर्म का (पुन्य का) परिग्रह नहीं है, वह ज्ञानी (पुन्य का) ज्ञायक ही है।

सम्यग्दृष्टि आत्माओं पुन्य तत्व को उपादेय नहीं मानता है परन्तु हेय ही मानते हैं, जिससे पुन्य की रुचि नहीं है, केवल वीतराग भाव की रुचि है। तो भी पाप छोड़ने को पुन्य में आते हैं, अर्थात् पुन्य भाव करते हैं, तो भी पुन्य की खुशाली नहीं है, खुशाली पाप छुटता है उसकी अर्थात् निवृत्ति मार्ग की खुशाली है परन्तु प्रवती मार्ग का दुःख ही है। जब अज्ञानी पुन्य तत्व को उपादेय मानता है। जब पुन्य बन्ध को उपादेय माना तब वह उनको छोड़ कैसे सकते हैं ? क्योंकि, उनकी श्रद्धा में विपरीतता है। कहा भी है कि—

परमट्ठ बाहिरा जेते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं विमोक्खहेउं अजाणंता ॥१५४॥

अर्थ—जो जीव परमार्थ से बाह्य हैं परमार्थभूत ज्ञान स्वरूप आत्मा को नहीं अनुभव करते हैं, वे जीव अज्ञान से "पुण्य" अच्छा मान के चाहते हैं, वह पुण्य संसार गमन का कारण है, तो भी वे जीव मोक्ष का कारण ज्ञान स्वरूप आत्मा को नहीं जानते। पुण्य को ही मोक्ष का कारण मानते हैं।

नोट—मोक्ष का कारण वीतराग भाव है तो भी जो जीव पुण्य बन्ध को मोक्ष का कारण मानते हैं वही जीव अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि जीव ही पुण्य में रुचि करता है अर्थात् पुण्य को ही मोक्ष का कारण मानते हैं। कहा भी है कि—

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह य पुणो य फासेदि।
धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥२७५॥

अर्थ—वह अज्ञानी जीव पुण्य रूपी धर्म को श्रद्धान करता है, प्रतीति करता है, रुचि करता है, और स्पर्शता है, वह संसार भोग के निमित्त जो पुण्य रूपी धर्म है उसी को श्रद्धान आदि करता है, परन्तु

कर्म क्षय होने का निमित्त रूप वीतराग भाव रुचि धर्म का श्रद्धान, रुचि, प्रतीति, और ग्रहण भी नहीं करता है।

इससे सिद्ध हुआ कि पुण्य भाव मोक्ष का कारण नहीं है परन्तु संसार का ही कारण है। जिस जीवों को आत्म ज्ञान नहीं है और पुण्य भाव रूपी व्रत, तप, शील आदि में धर्म मानता है उसी जीवों का व्रत तपादि को वाल व्रत वाल तप कहा है।

परमठम्हि दु अट्ठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेई।
तं सव्वं वालतवं वालवदं विंति सव्वाण्हू ॥१५२॥

अर्थ—जो ज्ञान स्वरूपी आत्म को जानता नहीं है और तप करता है, तथा व्रत को धारण करता है उस सब तप व्रत को सर्वज्ञ देव अज्ञान तप अज्ञान व्रत कहते है।

मोक्ष का कारण केवल वीतराग भाव है ऐसा जिस जीवों को श्रद्धान नहीं है उसी जीवों का पुन्य रूपी व्रत तप मोक्ष का कारण नहीं है। कहा भी है कि—

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति ॥१५३॥

अर्थ—जो कोई व्रत और नियम को धारण करते है उसी तरह शील और तप को करते है परन्तु परमार्थ भूत ज्ञान स्वरूप आत्म से बाह्य है अर्थात् जिनको तत्व का ज्ञान नहीं है वे मोक्ष को नहीं पाते।

मोक्ष मार्ग में पाप भाव और पुण्य भाव दोनों हेय है ऐसा न मानकर ऐसी श्रद्धा नहीं कर, जो जीव की ऐसी मान्यता है श्रद्धा है कि पाप भाव खराव है और पुण्य भाव अच्छा है वह जीव को तत्व का ज्ञान नहीं होने से अनन्त संसारी अज्ञानी है। कहा भी है कि—

णहि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्ण पावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥७७॥

अर्थ—इस प्रकार पुण्य और पाप में अन्तर नहीं है इस प्रकार जो नहीं मानता वह मोहाच्छादित होता हुआ घोर अपार संसार में परिभ्रमण करता है।

पुण्य पाप का भेद अघाति कर्म में ही है परन्तु घाति कर्म की अपेक्षा दोनों भाव पाप ही है। क्योंकि, घाती कर्म सब पाप रूप ही है जिससे समस्त कषाय भाव पाप ही है। कषाय मन्द हो या तीव्र हो वह दोनों प्रकार की कषाय घाती कर्म की अपेक्षा पाप ही है ऐसा जो नहीं मानता वह जीव अज्ञानी है। इससे सिद्ध हुआ कि पुण्य भाव मोक्ष का कारण नहीं है परन्तु संसार का ही कारण है। पुण्य भाव को मोक्ष का कारण कहना व्यवहार है। पुण्य भाव को संसार का कारण कहना वह निश्चय है और पुण्य भाव को मोक्ष का कारण मानना वह मान्यता का नाम मिथ्यात्व भाव है। व्यवहार का अर्थ उपचार, अभूतार्थ, असत्यार्थ, निश्चय का नाम यथार्थ भूतार्थ सत्यार्थ है।

(३२) कुतूहली नारद नरक में ही जाते हैं या मोक्ष भी होता है?

नौ नारायण एवं नौ प्रतिनारायण नरक गामी ही है उसी प्रकार नौ "नारद" भी नरक अभेद ही होता है, क्योंकि, उनकी आत्मा में कषाय की तीव्रता विशेष रूप ही रहती है ऐसा अनेक ग्रन्थों है तो भी हरि वंश पुराण में पर्व नम्बर ४२ में श्लोक नम्बर २०-२३ में लिखा है कि—

"जब नारद पूर्ण विद्वान और अनेक शास्त्रों में प्रवीण हो गया तो वह किसी दिगम्बर मुनि के पास गया और पूर्ण सेवा कर संयमासंयम व्रत का धारक बन गया ॥२०॥ कंदर्प के समान रूप होने पर ब्रह्मचारी नारद बाल काल से ही काय विकार से रहित था। कामी राजाओं का परम प्रिय-परम कुतूहली, हंसी करने में आनंद मानने वाला, लोभ रहित, चरम शरीरी, स्वाभाविक कषाय रहित, संग्राम देखने का महा प्रेमी, और अधिक बोलने वाला था, एवं ढाई द्वीप के भीतर जहां जहां जिनेन्द्रों के जन्माभिषेक आदि अतिशय होते थे वहां सर्वत्र घूमने वाला था।" पर्व ६५ श्लोक नम्बर २४५ में लिखा है कि "नरोत्तम ऋषि नारद ने भी दिगम्बर दीक्षा धारण करली और तप से संसार का सर्वथा नाश कर निर्वाण सुख पाया।"

नोट—ये दोनों कथन में एक कथन सत्य होना चाहिए। इसमें कौनसा कथन सत्य है इस विषय में गौतम गणधर को पूछना चाहिए। इस विषय में हमारी कलम तो मौन सेवन करती है।

(३३) तीर्थंकर अणुव्रत धारण करते हैं ?

उत्तर पुराण पर्व नम्बर ५३ श्लोक नम्बर ३५ में लिखा है कि—

स्वायुरा द्यष्टवर्षेभ्यः सर्वेषा परतो भवेत् ।
उदिताष्टकषायाणां तीर्थेशां देश संयमः ॥

अर्थ—सब तीर्थकरों के अपनी आयु के प्रारम्भ के आठ वर्ष बाद ही प्रत्याख्यान और संज्वलन कषाय का उदय रहता है अर्थात अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उपशम हो जाता है इसलिए आठ वर्ष के बाद ही सब तीर्थकरों के देश संयम हो जाता है।

नोट—यह कथन कल्पना मात्र है। व्यवहार है, उपचार हैं, अभूतार्थ है, असत्यार्थ हैं। तीर्थंकर अणुव्रत ग्रहण करते ही नहीं है। महान पुरुषों सकल संयम ही ग्रहण करते है। धवल ग्रन्थ नम्बर १३ पृष्ठ ३८८ में उच्च गोत्र का व्यापार कहां होता है उसी का वर्णन करते लिखते हैं कि—"अणुव्रतियों से जीवों की उत्पति में उच्च गोत्र का व्यापार होता है यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, ऐसा मानने पर औपपादिक देवों में उच्च गोत्र के उदय का अभाव प्राप्त होता है तथा नाभिपुत्र नीच गोत्री ठहरते हैं।" इससे भी सिद्ध होता है कि नाभिपुत्र आदिनाथ ने देश संयम धारण किया ही नहीं है।। तीर्थंकरों अणुव्रत धारण करता नहीं है इतना नहीं परन्तु जिन जीवों को चतुर्थ गुणस्थान में क्षायिक सम्यग्दर्शन हो जाता है। वही क्षायिक सम्यग्दृष्टि पंचम गुणस्थान को स्पर्श किये बिना ही महाव्रत धारण करते हैं। देखिये धवल ग्रन्थ नम्बर ५ पृष्ठ २५६ तथा २७७ परन्तु जिन जीव को क्षयोपशमिक सम्यग्दर्शन है वह जीव अणुव्रत धारण करने के बाद वही पंचम गुणस्थान में क्षायिक सम्यग्दृष्टि बन सकते हैं इसी अपेक्षा से पंचम गुणस्थान में कम क्षायिक सम्यग्दृष्टि होते है ऐसा कहा गया है परन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन हुआ बाद वह अणुव्रत धारण नहीं करते हैं।

(३४) भरत महाराज को अवधि ज्ञान कब प्राप्त हुआ था ?

आदिनाथ पुराण पर्व नम्बर ४१ श्लोक नम्बर २६-२८ में लिखा है कि—

"गंधकुटि विषे सिंहासन पर बिराजते देव, दानव, गंधर्व, विद्याधर तिनि करि पूजित भगवान् तिनिकु देख करि भक्ति का भर्या भरत प्रणाम करता भया ॥२६॥ महास्तुति करि जगदीश्वर की विधि पूर्वक पूजा करि धर्म रूप अमृत का तिसाया मनुष्यनि की सभा विषै बैठा ॥२७॥ भगवान के चरण कमल कूं भक्ति करि प्रणति करतें परिणमन की विशुद्धता करि चक्रेस्वर कूं अवधि ज्ञान प्राप्त भया ॥२८॥

नोट—यहां पर भरत चक्रवर्ती को समवसरण में अवधि ज्ञान की प्राप्ति हुई लिखा है वह उपचार का कथन है। यथार्थ में भरत महाराजा की आत्मा सर्वार्थ सिद्धि विमान से चय कर मनुष्य पर्याय में आयी है। देखिये आदिनाथ पुराण पर्व नम्बर ४७ श्लोक नम्बर ३६३-३६४। सर्वार्थ सिद्धि से जो जीव मनुष्य पर्याय में जन्म लेते हैं वह सभी तीन ज्ञान सहित ही जन्म लेते है यह सिद्धान्त है। धवल ग्रन्थ पुस्तक नं० ६ पृष्ठ ५०० में सूत्र नं० २४३ में लिखा है कि—"सर्वार्थ सिद्धि विमान से च्युत होकर मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों के आभिनी बोधिक ज्ञान, श्रुत ज्ञान और अवधि ज्ञान नियम से होता है।"

इससे सिद्ध हुआ कि भरत महाराजा तीन ज्ञान सहित ही मनुष्य गति में आये हैं तो भी समवसरण में अवधि ज्ञान की प्राप्ति हुई वह कहना उपचार मात्र है।

(३५) स्वानुभूति किसको कहते हैं ?

पंचाध्यायी उतरार्ध्व में गाथा नं० ४०७ में स्वानुभूति को ज्ञान की पर्याय कही है वह केवल उपचार है। ज्ञान का कार्य देखना जानना है। परन्तु ज्ञान का कार्य सुख या दुःख रूप होना नहीं है। सब गुण की अवस्था को ज्ञान जानता हैं जिससे व्यवहार से सब आरोप ज्ञान में ही किया जाता है। एक गुण की पर्याय में दूसरे गुण की पर्याय का अभाव हैं वह नियम है। सुख या दुःख चारित्र गुण की पर्याय है तब वह ज्ञान गुण की पर्याय कैसे हो सकती हैं ? जैसे-जैसे गुणस्थान बढ़ता है उसी प्रकार स्वानुभूति भी बढ़ती है इसी का यह अर्थ नहीं है कि मति ज्ञान गुणस्थान के अनुकूल बढ़ता जावे। मति ज्ञान का क्षयोपशम बहुत होवे और गुणस्थान हीन हो एवं मति ज्ञान का क्षयोपशम हीन हो और गुणस्थान उच्च हो सकता है जिससे सिद्ध हुआ कि मतिज्ञान के साथ स्वानुभूति की विपम व्याप्ति है। इससे मालूम होता है कि स्वानुभूति ज्ञानगुण की मति ज्ञान की पर्याय नहीं है परंतु चारित्र गुण की पर्याय ही है। सर्वार्थ सिद्धि देवों को मतिज्ञान का क्षयोपशम विशेष है और स्वानुभूति कम है, जबकि मुनिराज को मति ज्ञान का क्षयोपशम हीन है और स्वानुभूति विशेष है, जिससे भी सिद्ध हुआ कि स्वानुभूति चारित्र गुण की पर्याय हैं। ज्ञान पर पदार्थ को जानता है तब क्या स्वानुभूति चली जाती होगी ? स्वानुभूति अर्थात आत्म शान्ति तो अपना कार्य करती ही है। ज्ञान लब्धि और उपयोग रूप होता है, परन्तु स्वानुभूति लब्धि रूप होती ही नहीं है वह तो ज्ञान की कोई भी अवस्था में निरन्तर रहती है। जितनी कषाय का अभाव है उतनी आत्म शान्ति या स्वानुभूति खाते वक्त, लड़ाई लड़ते वक्त, एवं निद्रा मे भी अपना कार्य करती ही है। स्वानुभूति कहो, आत्म शान्ति कहो, अनाकूल दशा कहो, चारित्र गुण की शुद्धता कहो, कषाय का अभाव कहो, ये शब्द एक ही पर्याय वाची नाम है।

(३६) अव्रत सम्यग्दृष्टि को कर्म चेतना एवं कर्म फल चेतना है या नहीं ?

"समयसार में सर्व विशुद्धाधिकार में गाथा नम्बर ३१९ एवं उनकी टीका में लिखा है कि "ज्ञानी (अव्रत सम्यग्दृष्टि) कर्म चेतनाकर सून्य है एवं कर्म फल चेतनाकर भी सून्य है। ज्ञानी केवल ज्ञान चेतनामय होने से केवल ज्ञाता ही हैं।"

यह कथन केवल श्रद्धा की अपेक्षा से है। अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीवों की कर्म चेतना एवं कर्म चेतना में रुचि नहीं है अर्थात् कर्म चेतना रूप भाव या कर्म फल चेतना रूप भाव करने योग्य है ऐसा श्रद्धान नहीं है। परमार्थ से विचार किया जावे तो कर्म चेतना करने योग्य है या करने योग्य नहीं है यह श्रद्धा का विषय नही है परन्तु ज्ञान की अवस्था है। ज्ञान में श्रद्धा का आरोप किया जाता है जो व्यवहार है। श्रद्धा अभेद

की होती है अर्थात श्रद्धा का विषय अभेद त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव ही है। गुण गुणी भेद या गुण पर्याय भेद श्रद्धा स्वीकार करती नहीं है। अर्थात वह श्रद्धा का विषय नहीं है। सम्यग्दर्शन श्रद्धा गुण की पर्याय है। जब कर्म चेतना कर्म फल चेतना चारित्र गुण की अशुद्ध अवस्था है। श्रद्धा गुण में चारित्र गुण का अन्योन्य अभाव है, तब कर्म चेतना श्रद्धा गुण में कैसे आ सकती है? श्रद्धा तो अभेद स्वभाव भाव की होती है। श्रद्धा दर्शन, ज्ञान, चारित्र को भी स्वीकार करती नहीं है। इसी का यह अर्थ नहीं है कि आत्मा में दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि गुण है ही नहीं? श्रद्धा का विषय अभेद त्रिकाली स्वभाव भाव ही है परन्तु गुण पर्याय नहीं है। इसी का यह अर्थ नहीं है कि द्रव्य में गुण पर्याय ही नहीं है? गुण पर्याय का समूह का नाम तो द्रव्य है। द्रव्य उससे भिन्न वस्तु नहीं है। श्रद्धा पर्याय की होती ही नहीं है, क्योंकि, पर्याय का समय समय में नाश हो जाता है। जिसने पर्याय की श्रद्धा की है वह श्रद्धा का भी नाश हो जावेगा। जिससे श्रद्धा अभेद त्रिकाली स्वभाव भाव की जिसका नाम "जीव तत्व" है उसी की हो होती है। केवल ज्ञान एवं केवल दर्शन भी पर्याय है। अर्थात् श्रद्धा केवल ज्ञान, केवल दर्शन को भी स्वीकार करती नहीं है इसी का यह अर्थ नहीं है कि आत्मा में केवल ज्ञान, केवल दर्शन होता ही नहीं हैं। जब श्रद्धा केवल ज्ञान केवल दर्शन को स्वीकार करती नहीं है तब कर्म चेतना कर्म फल चेतना को कैसे स्वीकार करेगी? अर्थात् नहीं स्वीकार करेगी? इसी का यह अर्थ नहीं है कि अव्रत सम्यग्दृष्टि की आत्मा में कर्म चेतना एवं कर्म फल चेतना के भाव होता ही नहीं। ज्ञान चेतना बन्ध का कारण नहीं परन्तु बन्ध का कारण कर्म चेतना एवं कर्म फल चेतना है। दशवाँ गुणस्थान तक बन्ध पड़ता है। वहाँ बन्ध का कारण कौन है? क्या ज्ञान चेतना से कभी बन्ध पड़ सकता है? लोक में जो बुद्धि पूर्वक कार्य किया जाता है ऐसा बुद्धि पूर्वक भाव छठवाँ गुणस्थान तक ही किया जाता है, क्योंकि, सातवें गुणस्थान में ध्यान अवस्था है। इसी अपेक्षा से सम्यग्दृष्ट आत्मा कर्म चेतना एवं कर्म फल चेतना का छठवाँ गुणस्थान तक कर्ता है बाद में कर्म चेतना के भाव होते सन्ते उस भाव का वह कर्ता न होकर केवल ज्ञाता है। चारित्र की अपेक्षा से यदि सम्यग्दृष्टि आत्मा राग का कर्ता न होता तो सम्यग्दृष्टि आत्माओं अपनी निंदा गर्हा क्यों करते है? जब निंदा गर्हा करता है तो उसी भाव का कर्त्ता स्वयं सिद्ध हो जाता है। जिससे सिद्ध हुआ कि सम्यग्दृष्टि आत्मा में भी कर्म चेतना एवं कर्म फल चेतना का भाव होता है। श्रद्धा की अपेक्षा आत्मा में दर्शन ज्ञान चारित्र आदि नही है तो कर्म चेतना आदि नहीं है यह कहना कहाँ तक उचित है? श्रद्धा की अपेक्षा से ज्ञान चेतना भी नही है क्योंकि ज्ञान चेतना भी तो पर्याय है और पर्याय को श्रद्धा स्वीकार करती नहीं है। श्रद्धा की अपेक्षा केवल ज्ञायक स्वभाव ही है और कुछ नहीं है। कर्म चेतना चारित्र गुण की विकारी पर्याय का नाम है। जब तक चारित्र गुण शुद्ध परिणमन नहीं करता है तब तक अशुद्ध परिणमन नियम से है। चारित्र गुण की शुद्ध परणति का नाम ज्ञान चेतना है। ज्ञान चेतना ज्ञान गुण की पर्याय का नाम नही है। ऐसी श्रद्धा अर्थात् ज्ञान करना चाहिए। उसी प्रकार श्रद्धा की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि में "भय" नहीं है वह भी कहना केवल उपचार है, क्योकि, भय तो चारित्र गुण की पर्याय है और चारित्र गुण का श्रद्धा गुण में अभाव है। श्रद्धा केवल ज्ञायक स्वभाव की ही होती है। अनन्त गुण एवं अनन्तानन्त पर्याय के भेद श्रद्धा में होते ही नहीं है। ऐसा ज्ञान करना चाहिए।

(३७) वस्त्रादिक का त्याग किया बाद ही छठवाँ सातवाँ गुणस्थान होता है या छठवाँ सातवाँ गुणस्थान हुआ बाद ही वस्त्रादिक का त्याग किया जाता है?

द्रव्यानुयोग तथा करणानुयोग वस्त्रादिक को अर्थात नोकर्म को साधक बाधक नहीं मानता है क्योंकि, द्रव्यानुयोग में भाव की मुख्यता है और करणानुयोग में द्रव्य कर्म की मुख्यता है। द्रव्या-

नुयोग तथा करणानुयोग का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है जिस कारण से तत्वार्थ सूत्र के सातवें अधिकार में सूत्र नम्बर १७ में "मूर्च्छापरिग्रह" परिग्रह का लक्षण बनाया है। यदि पर पदार्थ के संयोग नहीं हैं और मूर्च्छा है तो वह परिग्रहवान है और पर पदार्थ का संयोग होते सन्ते मूर्च्छा नहीं है तो वह अपरिग्रही ही है। जैसे भरत महाराज को "वैरागी" कहा जाता है। यद्यपि उनके पास में छह खन्ड की विभूती एवं ९६ हजार स्त्री का परिग्रह है। एक भिखमंगा के पास में कुच्छ परिग्रह बाह्य में नहीं है और छह खन्ड की बिभूती का ममत्व है तो वह परिग्रही ही है। जैसे तन्दूल मच्छ ने एक जीव को मारा नहीं है परन्तु खाने की मूर्च्छा होने से मरकर सातवें नरक में चला गया। यह सब कथनी द्रव्यानुयोग एवं करणानुयोग की अपेक्षा है। समयसार ग्रन्थ में टीका करते जयसेनाचार्य लिखते हैं कि—

"न हि शालिर्तदुलस्य बहिरिंगतुषे विद्यमाने सत्यभ्यंतर तुषस्य त्यागः कुतुंमायाति । अभ्यंतर तुषत्यांगे सति बहिरंगतुषत्यागो नियमेन भवत्येवा। अनेन न्यानेन सर्व संग परित्याग रूपे बहिरंगद्रव्यलिंगे सति भाव लिंग भवति न भवति वा नियमोनास्ति, अभ्यंतरे तु भावलिंगे सति सर्व संग परित्याग रूप द्रव्य लिंग भवत्येवेति। हे भगवान भाव लिंगे सति बहिरंग द्रव्य लिंग भवतीति नियमो नास्ति साहारणासाहारणे त्यादि वचनादितिः ? परिहार माह कोऽपि तपोधनो ध्याना रूढ़ स्तिष्ठति तस्य के नापि दुष्ट भावेन वस्त्र वेष्टनं कृतं। आभरणादिकं वा कृतं तथाप्यसौ निग्रंथ एव। कस्मात ? इति चेत्, बुद्धि पूर्वक ममत्वा भावात् पांडवादिवत्।"

इससे सिद्ध हुआ कि मोक्षमार्ग में पर पदार्थ का संयोग या वियोग साधक बाधक नहीं हैं परन्तु "मूर्च्छा" ही बाधक एवं मूर्च्छा का अभाव ही साधक है । यह कथन द्रव्यानुयोग एवं करणानुयोग की अपेक्षा से है। जिनागम में वस्त्रादिक को भी नोकर्म कहा गया है उसी प्रकार शरीर को भी नोकर्म कहा गया है। यदि शरीर में मूर्च्छा है तो वह परिग्रह है और शरीर में मूर्च्छा नहीं तो वह परिग्रह नहीं है। यद्यपि शरीर का त्याग किया जाता नहीं है।

चरणानुयोग में बाह्य लिंग की मुख्यता है भाव की मुख्यता नहीं है। जिस कारण से तत्वार्थ सूत्र में सातवां अध्याय में सूत्र नम्बर २९ में "क्षेत्र वास्तु हिरण्य सुवर्ण धन धान्य दासी दास कुप्य भान्ड" को रखना परिग्रह माना है। और उनका त्याग से अपरिग्रही माना है। यह व्यवहार का कथन है । अर्थात उपचार है। बाह्य त्याग होते सन्ते अन्तरङ्ग मिथ्यात्वादि परिणाम का त्याग नहीं है तो वह त्याग की मोक्ष मार्ग में कोई कीमत नहीं है। जैसे द्रव्यलिंगी मुनिराज ?

छद्मस्थ जीवों की भाव पूर्वक ही क्रिया होती है। यह नियम है। प्रथम भाव होता है बाद में ही क्रिया होती है। खाने का भाव हुआ बाद ही ग्रास उठाया जाता है। बोलने का भाव हुआ बाद ही बोलने की क्रिया होती है। वस्त्र पहरने का भाव हुआ बाद ही वस्त्रादिक पहरने की क्रिया होती है। वस्त्रादिक का त्याग का भाव हुआ बाद ही वस्त्रादिक का त्याग की क्रिया होती है। दान देने का भाव हुआ बाद ही दान देने रूप क्रिया होती है। उसी प्रकार छठवाँ, सातवाँ गुणस्थान का भाव हुआ बाद ही वस्त्रादिक का त्याग होता है। भाव पाहुड में गाथा ७३ में कहा है कि—

भावेण होई नग्गो मिच्छत्ताइ य दोस चइऊणं।
पच्छा दव्वेण मुणि पयडदि लिंगं जिणाणाए।।

अर्थ—प्रथम मिथ्यात्वादि दोषों को छोड़कर भाव नग्न होकर एवं शुद्ध आत्मा का ज्ञान, श्रद्धान और आचरण कर ततपश्चात् मुनि द्रव्य रूप बाह्य क्रिया जिन आज्ञा पूर्वक करे ऐसा जैन मुनि का मार्ग

है। यह कथन द्रव्यानुयोग करणानुयोग की अपेक्षा से है परन्तु चरणानुयोग की अपेक्षा से वस्त्रादिक का त्याग किया बाद ही मुनि पर्याय मानी जाती है। यह व्यवहार है। अर्थात् एक सूत्त मात्र बाह्य में परिग्रह अर्थात् संयोग होवे तो चरणानुयोग मुनि पर्याय स्वीकार करता नहीं है।

शंका—वस्त्रादिक बाह्य संयोग होते सन्ते छठवाँ, सातवाँ गुणस्थान रूप भाव हो जावे ऐसा कोई आगम कथन है ?

समाधान—उत्तर पुराण पर्व नम्बर ६९ श्लोक नम्बर ५२ में लिखा है कि—

क्षयोपशम संप्राप्त प्रशस्त संज्वलनोदयः ।
लब्धबोधिः सुत्तं राज्ये निजे संयोज्य सुप्रभं ॥

अर्थ—कर्मो के क्षयोपशम से भगवान् नमिनाथ को प्रशस्त संज्वलन का उदय हुआ अर्थात् प्रत्याख्यानावरणीय, अप्रत्याख्यानावरणीय का उपशम हो गया और रत्न त्रय को पाकर उन्होंने सुप्रभ नाम के अपने पुत्र को राज्य का भार सोंपा।

सातवाँ गुणस्थान का भाव हुआ बाद अपने पुत्र को राज्य का भार सोंपा। क्या यह राज्य का भार नग्न अवस्था में सोंपा होगा या वस्त्रादि अवस्था में सोंपा होगा शान्ति से विचार करना चाहिए ? इनमें श्वेताम्बर मान्यता की गन्ध आ जाती है ऐसा गलत विकल्प नहीं करना चाहिए। क्योंकि वस्तु स्वरूप ऐसा ही है।

(३८) तीर्थंकर की आत्मा में रत्नत्रय रूप भाव की प्राप्त हुआ बाद लोकान्तिक देव आते हैं या अव्रत अवस्था में ही आते हैं ?

तीर्थंकरों की आत्मा में रत्नत्रय अर्थात् छठवाँ, सातवाँ गुणस्थान का भाव हुआ बाद ही लोकान्तिक देव सम्बोधनार्थ आते हैं। तीर्थंकर की अव्रत अवस्था में आते नहीं हैं। यदि अव्रत अवस्था में आते तो अव्रत अवस्था तो जन्म से ही थी अभी तक क्यों नहीं आये ? इससे मालूम होता है कि अप्रत्याख्यानावरणीय तथा प्रत्याख्यानावरणीय कषाय के उपशम से और संज्वलन कषाय के उदय में ही लोकान्तिक देव आते हैं। उनसे पूर्व आते ही नहीं हैं।

उत्तर पुराण पर्व नम्बर ६३ श्लोक नम्बर ७१-७२ में लिखा है कि—

अथ क्षेमकरः पृथ्व्याः क्षेमं योगं च संदधत्
लब्ध बोधिर्मतिज्ञान क्षयोपशमनव्रत ॥ ७१ ॥
वज्रायुधकुमारस्य कृत्वाराज्याभिषेचनं ।
प्राप्तलौकांतिकस्तोत्रःपरिनिष्कम्य गहेता ॥८२॥

अर्थ—राजा क्षेमकर पृथ्वी के क्षेम और योग का पालन करने लगे ! किसी एक दिन मतिज्ञानावरण कर्म के अति क्षयोपशम होने से उन्हें रत्नत्रय की प्राप्ति हुई। उन्होंने वज्रायुध कुमार का राज्याभिषेक किया उसी समय लौकान्तिक देवों ने आकर स्तुति की और उन्होंने घर से निकल कर दीक्षा धारण की।

उत्तर पुराण पर्व नम्बर ७३ श्लोक नम्बर १२३-१२४ में लिखा है कि—

पश्चाद्ध्यावर्णयामास प्राज्ञा हि क्रमवेदिनः।
श्रुत्वा तत्तत्र किं जातः तीर्थकृन्नाम बद्धवान् ॥ १२३ ॥
एष एव पुनर्मुक्तिमापदित्युपयोगवान्।
साक्षात्कृत विजानीतसर्व प्रभव संततिः ॥१२४॥
विजृंभितमतिज्ञान क्षयोपशम वैभवात्।
लब्ध बोधिः पुनर्लोकान्तिकदेव प्रबोधितः ॥ १२३ ॥

अर्थ—प्रथम श्री ऋषभदेव आदि तीर्थंकरों का वर्णन कर फिर अपने नगर का हाल कहा सो ठीक ही है, क्योंकि, बुद्धिमान लोग अनुक्रम को भी अच्छी तरह जानते हैं। उसे सुनकर पार्श्वनाथ विचार करने लगे कि मैंने तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध किया इससे लाभ क्या हुआ। यह तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध करना तब ही उपयोगी हो सकता है जब यह जीव मुक्त हो जावे। इस तरह विचार करते हुए उन्होंने मति ज्ञान का विशेष क्षयोपशम होने से अपने पहिले के भव प्रत्यक्ष के समान जान लिए तथा उन्हें रत्नत्रय की प्राप्ति हुई उसी समय लोकान्तिक देवों ने आकर स्तुतिकर समझाया।

उत्तर पुराण पर्व नम्बर ७४ श्लोक नम्बर २९६-२९७ में लिखा है कि—

त्रिंशच्छरद्भिस्तस्यैव कौमारमगमद्वयः।
ततोन्येद्युर्मतिज्ञान क्षयोपशम भेदतः ॥२९६॥
समुत्पनमहा बोधिः स्मृत पूर्वभवांतरः।
लोकांन्तिकामरैः प्राप्य प्रस्तुतस्तुतिभिःस्तुतः ॥२९७॥

अर्थ—भगवान् महावीर के कुमार काल के तीस वर्ष व्यतीत हुए। उसके दूसरे ही दिन मतिज्ञान के विशेष क्षयोपशम से उन्हें रत्नत्रय की प्राप्ति हुई और पहिले भव का जाति स्मरण हुआ। उसी समय लोकान्तिक देव ने आकर समय अनुसार उनकी स्तुति की।

इससे सिद्ध होता है कि रत्नत्रय की अर्थात् छठवां, सातवां गुणस्थान रूप भावों की प्राप्ति बाद ही लोकान्तिक देव आते हैं उनसे पूर्व अर्थात् अव्रत अवस्था में वह आते ही नहीं हैं।

यहां पर बोधिः शब्द का अर्थ श्रीमान लालाराम जी शास्त्री मैनपुरी वालों ने एवं श्रीमान पन्नालाल जी साहित्याचार सागर निवासी ने "आत्म ज्ञान की प्राप्ति हुई" अपनी भाषा टीका में लिखा है। परन्तु आत्म ज्ञान की प्राप्ति हुई लिखना उचित नहीं है, क्योंकि, वे आत्मज्ञाती सम्यग्दृष्टि जीव थे ही। उनने आत्मज्ञान प्राप्त किया ऐसा कहना योग्य नहीं है, क्योंकि, आत्मज्ञान प्राप्ति हुए पहले क्या वह मिथ्यादृष्टि थे ? नहीं ! क्योंकि, मिथ्यादृष्टियों का गर्भ तथा जन्म कल्याणिक होता ही नहीं। इससे मालूम होता है कि "बोधिः" का अर्थ रत्नत्रय की प्राप्ति ही करना चाहिए परन्तु आत्मज्ञान की प्राप्ति करना योग्य नहीं है। क्योंकि "बोधिः" शब्द का अर्थ उत्तर पुराण पर्व नम्बर ६६ श्लोक नम्बर ५२ एवं भाव पाहुड गाथा नम्बर ७५-७८-११०-१५२ आदि में भी रत्नत्रय ही किया है न कि आत्मज्ञान। रत्नत्रय का अर्थ अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण का उपशम और संज्वलन कषाय का उदय।

मतिज्ञानावरण कर्म का विशेष क्षयोपशम से आत्मज्ञान हुआ वह कहना केवल उपचार है। मतिज्ञान के क्षयोपशम से ज्ञान की प्राप्ति होती है परन्तु उनसे सम्यग्दर्शन या सम्यग्चारित्र की प्राप्ति होती नहीं। ग्रैवेयक वासी अहमेन्द्रो को ज्ञान का क्षयोपशम विशेष है और वहां मिथ्यात्व रह जाता है और हीन ज्ञान वाले संज्ञी पंचेन्द्रियों को सम्यग्दर्शन हो जाता है। ग्यारह अंग नौ पूर्व के पाठी मिथ्यादृष्टि रह जाता है और केवल अष्ट प्रवचन माता के ज्ञान वाले जीव सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करता है, इतना नहीं परन्तु केवल ज्ञान की प्राप्ति करता है।

मतिज्ञान का विशेष क्षयोपशम होने से "अपने पहले के भव प्रत्यक्ष के समान जान लिए" ऐसा तीर्थंकरों को कहना उपचार है, क्योंकि, तीर्थंकर तीन ज्ञान सहित ही जन्म लेते हैं। क्या अवधि ज्ञान से वह पूर्व के भव देख नहीं सकते हैं ?

मतिज्ञान का विशेष क्षयोपशम शब्द गाथा में है इसलिए "बोधि" का अर्थ आत्मज्ञान प्राप्त हुआ ऐसा करना उचित नहीं है, क्योंकि, तीर्थंकर आत्मज्ञानी जन्म से ही है। परन्तु "बोधि" का अर्थ रत्नत्रय की प्राप्ति करना वही योग्य और लोकान्तिक देव का आना उसी वक्त होता है वह ठीक मेल बैठ जाता है।

(३९) सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान बिना सम्यक् चारित्र होता है !

श्री उत्तर पुराण पर्व नम्बर ७४ श्लोक नम्बर ५४३ में लिखा है कि—

समेतमेव सम्यक्त्व ज्ञानाभ्यां चरितं मतं।
स्यातां विनापि तेनेन गुणस्थाने चतुर्थके ॥

अर्थ—सम्यक् चारित्र, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ ही होता है परन्तु सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ये दोनों बिना सम्यग्चारित्र भी चौथे गुणस्थान में हो जाता है।

नोट—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान बिना चौथे गुणस्थान में सम्यक् चारित्र हो जाता है वह परमार्थ वचन नहीं है। परन्तु उपचार भी नहीं है। प्रथम तो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सहित चोथे गुणस्थान में स्वरूपा चरण चारित्र होता है इसी का यह अर्थ नही है कि वहां चारित्र का पालन होता है। यदि चारित्र का पालन होता हो तो उसी को अव्रत सम्यग्दृष्टि क्यों कहते ? अव्रत भाव में चारित्र कैसे हो सकता है ? परन्तु चौथे गुणस्थान में स्वरूप की और रुचि हुई है जो रुचि अनादि काल से पर पदार्थो में होती थी। केवल अभिप्राय में फर्क हुआ है तो भी दुःख का कारण रागादिक को छोड़ नहीं सकता है। और रागादिक को छोड़े बिना चारित्र नाम कैसे हो सकता है ? सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान विना चतुर्थ गुणस्थान होता हीं नहीं तब चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन बिना सम्यक् चारित्र मानना मिथ्या ज्ञान है। पंच महाव्रत, पंच समिति और तीन गुप्ति रूप व्यवहार चारित्र का पालन करे और सम्यग्दर्शन नहीं है तो उनको चारित्र जिनागम में कहा नहीं है परन्तु मिथ्याचारित्र कहा है तब चतुर्थ गुणस्थान में सम्यक् चारित्र हो जाता है वह कहना जिनागम का वचन नहीं है। ऐसी श्रद्धा करना चाहिए।

(४०) अणुव्रत में चारित्र की गंध नहीं है !

उत्तर पुराण पर्व नम्बर ५९ श्लोक नं० ३५ में कहते हैं कि—

चारित्रस्य न बंधोपि प्रत्याख्यानोदयो यतः।
बंधश्चतुर्विधोप्यस्ति बहुमोह परिग्रहः ॥

अर्थ—प्रत्याख्यानावरण कर्म के उदय से मेरे (विमलनाथ भगवान् को) चारित्र की गन्ध भी नहीं है और बहुत से मोह तथा परिग्रह को बढ़ाने वाला चारों प्रकार का बन्ध अब तक विद्यमान है।

नोट—पंचम गुणस्थान में चारित्र की गन्ध भी नहीं है ऐसा कहना केवल उपचार है। बहुत से मोह और परिग्रह बढ़ाने वाला चारों प्रकार का बन्ध कहना वह भी उपचार है। उस गुणस्थान में देश चारित्र है एवं मोह और परिग्रह को बढ़ाते नहीं हैं परन्तु उनकी मर्यादा भी की हैं। यदि मर्यादा न की जावे तो अणुव्रत नाम नहीं हो सकता है। अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यान रूप कषाय का अभाव रूप देश चारित्र है तो भी चारित्र की गन्ध नहीं वह कहना केवल उपचार है। अपनी हीनता दिखाने के लिए व्यवहार का वचन है। देश चारित्र विना प्रत्याख्यानावरण कर्म का उदय हो नहीं सकता? प्रत्याख्यानावरण का उदय सकल चारित्र को रोकता है परन्तु देश चारित्र का घातक नहीं है। ऐसी श्रद्धा करना चाहिए।

(४१) सर्वार्थ सिद्धि विमान में मुनियों का मान्य सुख है ?

उत्तर पुराण पर्व नं० ६४ श्लोक नं० ११ में कहा है कि—

अन्वभूद प्रवीचारं सुखं तत्रात्तकौतुकं ।
मानसं माननीयं यत् मुनीनांचापरागजं ॥११॥

अर्थ—सर्वार्थ सिद्ध में सिंहरथ राजा के जीव ने कौतुक पूर्वक प्रविचार रहित मानसिक मुनियों का मान्य और राग रहित सुखों का अनुभव किया।

नोट—सर्वार्थ सिद्धि में मुनियों का मान्य और राग रहित सुख का अनुभव किया यह कहना केवल व्यवहार अर्थात् उपचार है। सर्वार्थ सिद्धि में अव्रत अवस्था है वहाँ मुनियों का सुख की तो बात छोड़ दीजिये परन्तु व्रती श्रावक का आत्मीक सुख नहीं है। सर्वार्थ सिद्धि के देव तीन कषाय से अर्थात अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषाय से निरन्तर जल रहे हैं जिससे वह जीव मनुष्य पर्याय की भावना करते हैं। क्योंकि देव पर्याय में व्रत का भाव होई नहीं सकता है। किन्तु सर्वार्थ सिद्धि देवों के अप्रत्याख्यानावरण कर्म का अति मन्दतम उदय है जिससे उसी जाति का, राग की मन्दता होने से "राग रहित सुखों का अनुभव करते हैं" ऐसा उपचार से कहा जाता है। वहाँ कषाय की इतनी मन्दता है कि भगवान् के समवसरण एवं नन्दीश्वर द्वीप में जाने की उनकी भावना होती ही नहीं है। इसी का यह अर्थ नहींहै कि मुनि पर्याय और देश व्रति श्रावक का पर्याय का आत्मिक सुख की वहाँ प्राप्ति हो जावे? जैसा पद है ऐसी ही श्रद्धा व ज्ञान करना सम्यग्ज्ञान है। जिनागम में उपचार एवं अलंकार का कथन बहुत है उनको उस रूप जानना मानना चाहिए।

(४२) पांच वर्ष का बालक मुनि को भेंट में दिया जाता है ?

उत्तर पुराण पर्व नम्बर ७६ के श्लोक नम्बर २४२-२४६ में लिखा है कि—

पुत्र जन्म के पाँच वर्ष बाद वे ही मुनिराज फिर धान्यपुर नगर में आये। कुवेरदत्त और धन मित्रा ने जाकर उनकी वंदना की और कहा कि, हे मुनिराज! यह आपका क्षुल्लक है इसे लीजिए। इस प्रकार कह कर वह बालक उन्हें दे दिया। मुनिराज भी उस बालक को लेकर फिर धान्यपुर नगर में आ गए। २४२-२४३॥ वहाँ पर उन मुनिराज ने दश वर्ष तक उस बालक को समस्त शास्त्रों की शिक्षा दी। आसन्न भव्य होने के कारण शिक्षा के बाद ही वह बालक संयम धारण करने के लिए तैयार हो गया।

२४४ ।। परन्तु मुनिराज ने दीक्षा लेने से उसे रोक दिया और समझा दिया कि तेरा अभी दीक्षा लेने का समय नहीं है । पीतंकर ने भी गुरु की बात स्वीकार करली भक्ति पूर्वक उनकी वंदना कर अपने माता-पिता के पास चला गया ।। २४५-२४६ ।। इत्यादि ।

नोट—प्रथम तो पाँच वर्ष का बालक मुनिराज को भेंट दिया जाता ही नहीं है । एवं वीतरागी भाव लिंगी मुनिराज ऐसी भेंट स्वीकार करता भी नहीं हैं । महाव्रत एवं अणुव्रत आठ वर्ष के बाद ही लिया जाता है । अणुव्रत लिया पहले, उनको 'क्षुल्लक' कहना 'क्षुल्लक' पद की हँसी करना है । दीक्षा लेने के भावों को रोककर गृहस्थ रहने की अनुमोदना करना वीतरागी मुनिराज का धर्म नहीं है । नग्न अवस्था में कोई वेषधारी मुनिराज की ऐसी भावना एवं पाँच वर्ष के बालक को भेंट में लेना ऐसी क्रिया हो सकती है परन्तु वीतरागी भाव लिंगी एवंद्रव्यलिंगी मुनिराज ऐसा कार्य एवं ऐसी अनुमोदना कभी देते ही नहीं है, ऐसी श्रद्धा रखना चाहिए । यह सब उपचार एवं अलंकार का कथन है उनको जिनाज्ञा एवं जिन वचन नहीं मानना चाहिए ।

(४३) योग निरोध बाद वेदनीय का बन्ध होता है !

श्री उत्तर पुराण पर्व नम्बर ७६ श्लोक नम्बर ५७१ में लिखा है कि—

अस्त्वेव देव तव चौदयिकोपि भावः
किंत्वेष मोह रहितस्य न बंधहेतुः ।
योगानुरोधसमवाप्त शुभाणुवेद्य बंधं
निबंधनमुशंत्य विरोधकत्वात् ।। ५७१ ।।

अर्थ—हे देव आपके औदयिक भाव है सो वह भले ही बना रहे, आप मोह रहित हैं इसलिए वह आपको कर्म बन्ध का कारण नहीं हो सकता परन्तु मन, वचन काय की क्रियाओं का निरोध करने से आपको थोड़ा शुभ वेदनीय कर्मों का बन्ध होता है, इसलिए विद्वान लोग आपको ही शुभ बन्ध का कारण बतलाते हैं क्योंकि, इसमें कोई विरोध नहीं आता ।

नोट—औदयिक भाव ही बन्ध के कारण नहीं हैं, क्योंकि, औदयिक भाव में गति, अज्ञान, असिद्धत्व आदि होते सन्ते उससे बन्ध नहीं पड़ता है । बन्ध का कारण, मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, योग रूप आत्म परिणाम ही है । केवली को जब तक योग है तब तक उनको एक समय का साता वेदनीय का बन्ध पड़ता है । परन्तु योग निरोध करने से उनको बन्ध पड़ता ही नहीं है तो भी यहाँ पर आचार्य ने "मन, वचन काय की क्रिया का निरोध करने से साता वेदनीय का बन्ध कहा है" वह केवल उपचार है । वस्तु स्वरूप ऐसा नहीं है । चौदहवें गुणस्थान के प्रथम समय में योग रहित हो जाने से वहाँ बन्ध नहीं है । उस गुणस्थान में बन्ध के कारण मन, वचन काय का अभाव हो जाता है । और योग नाम का आत्मा का गुण निष्कम्प रूप स्वभाव भाव से परिणमन करता है । और स्वभाव भाव से बन्ध कभी नहीं होता है । तो भी बन्ध कहा है वह उपचार है । ऐसा श्रद्धान करना चाहिए ।

(४४) दो प्रकार के रत्नत्रय से मोक्ष होती है ।

श्री महावीर पुराण में पृष्ठ १६५ पर्व नम्बर १८ में लिखा है कि—

"व्यवहार रत्नत्रय और निश्चय रत्नत्रय मिलकर दो प्रकार के विशाल मोक्ष मार्ग है और मोक्ष रूपी महा सम्पत्ति को देने वाले हैं । मोक्षाभिलाषी भव्य जीवों को चाहिए कि मोह रूपी फन्द को तोड़कर

सदैव इन दोनों रत्नत्रयों का सदैव स्थिर भाव से अनुष्ठान करते रहें। इस संसार से जितने भी भव्य जीव मोक्ष को प्राप्त करने की चेष्टा में क्रिया शील है वे इन दोनों रत्नत्रयों का बिना पालन किए सफलता नहीं प्राप्त कर सकते हैं। भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों काल में इन दोनों रत्नत्रयों के द्वारा मोक्ष मिला है मिलेगा और मिल रहा है। इसके अतिरिक्त और कोई अन्य उपाय हो नहीं सकता हैं।

नोट—मोक्ष का मार्ग तीनों काल में एक ही है। वीतराग भाव ही मोक्ष मार्ग है। उन वीतराग भाव का नाम निश्चय रत्नत्रय है। जब तक पूर्ण वीतराग अवस्था प्राप्त नहीं होती है तब तक आत्मा में मिश्र अवस्था रहती है। जिसको क्षयोपशमिक भाव कहा जाता है। जितने अंश में वीतरागता है वह निश्चय रत्नत्रय है और जितने अंश में पुण्य रूपी विकार भाव है उनको व्यवहार रत्नत्रय कहा जाता है। यथार्थ में यह रत्नत्रय नहीं है, मोक्ष मार्ग भी नहीं है, परन्तु बन्धन मार्ग है। व्यवहार रत्नत्रय बोलने मात्र है परन्तु श्रद्धा करने योग्य नहीं है। श्री पंचास्तिकाय ग्रन्थ में लिखा है कि कैसा है वह व्यवहार रत्नत्रय ?

"जो पुरुष मोक्ष के निमित्त उद्यमी हुआ प्रवर्ते है और मन से अगोचर जिन्होंने संयम तप का भार लिया है, अर्थात् अंगीकार किया है, तथा परम वैराग्य रूपी भूमिका में चढ़ने की है उत्कृष्ट शक्ति जिनमें ऐसा है, विषयानुराग भाव से रहित है तथापि प्रशस्त राग रूप पर समय कर (व्यवहार रत्नत्रय) संयुक्त है। उस प्रशस्त राग के संयोग सें, नव पदार्थ तथा पंचपरमेष्टि में भक्तिपूर्वक प्रतीति श्रद्धा उपजती है, ऐसे पर समय रूप प्रशस्त राग को छोड़ नहीं सकता। जैसे रुई धुननेहार पुरुष (धुनिया) रुई धुनते धुनते पीजन में जो लगी हुई रुई है उसको दूर करने में भय संयुक्त है, तैसे राग दूर नहीं होता। इस कारण ही साक्षात मोक्ष पद को नहीं पाता।

जो पुरुष निश्चय करके अरहन्तादिक की भक्ति में सावधान बुद्धि करता है और उत्कृष्ट इन्द्रिय मन से शोभायमान, परम प्रधान अतिशय तीव्र तपस्या करता है सो पुरुष उतना ही अरहन्तादिक तप रूप प्रशस्त राग मात्र क्लेश कलकित अन्तरंग भाव से भावित चित्त होकर साक्षात मोक्ष को नहीं पाता, किन्तु मोक्ष का अन्तराय करने हारे स्वर्ग लोक को प्राप्त होता है। उस स्वर्ग में वही जीव सर्वथा अध्यात्म रस के अभाव से इन्द्रिय विषय रूप विष वृक्ष की भावना से मोहित चित्त वृत्ति को धरता हुआ बहुत काल पर्यन्त सराग भाव रूप अङ्गारों से दह्यमान हुआ बहुत ही खेद खिन्न होता है।

जो साक्षात मोक्ष का कारण होय सो वीतराग भाव है। अरहन्तादिक में जो भक्ति है वह राग है वह स्वर्ग लोकादिक के क्लेश की प्राप्ति करके अन्तरंग में अतिशय दाह को उत्पन्न करे है। कैसे हैं यह धर्मानुराग ? जैसे चंदन वृक्ष में लगी अग्नि पुरुष को जलाती है। यद्यपि चंदन शीतल है अग्नि दाह को दूर करने वाली है, तथापि चंदन में प्रविष्ट हुई अग्नि आताप को उपजाती है। इसी प्रकार धर्मानुराग भी कथंचित दुःख का उत्पादक है। इसी कारण धर्म राग भी हेय है, त्यागने योग्य जानना। गाथा नम्बर १७०, १७२, १७३ की टीका।

इससे सिद्ध हुआ कि मोक्ष का कारण केवल निश्चय रत्नत्रय है। व्यवहार रत्नत्रय, स्वर्ग का कारण है परन्तु मोक्ष का तो अन्तराय करने वाला है जिससे मोक्ष मार्ग में व्यवहार रत्नत्रय हेय है। निश्चय का अर्थ यथार्थ और व्यवहार का अर्थात् उपचार है। मोक्ष मार्ग है नहीं और मोक्ष मार्ग कहना उसी का नाम व्यवहार है। ऐसा व्यवहार रत्नत्रय को जो मोक्ष मार्ग मानता है वही मान्यता का नाम अज्ञान भाव है। व्यवहार रत्नत्रय अज्ञान नहीं है। वह तो पुण्य भाव है परन्तु पुण्य भाव को संवर निर्जरा

रूप मोक्ष मानना वही मान्यता अज्ञान की है। कोई काल में व्यवहार रत्नत्रय मोक्ष मार्ग का साधक नहीं है परन्तु बाधक ही है ऐसी श्रद्धा कार्य कारी है।

(४५) ज्ञानादिक एवं सुखादिक का बाधक कौन कर्म है ?

वरांग चारित्र श्लोक नम्बर ४ पर्व नम्बर ४ पृष्ठ ५२ लिखा है कि—

"ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य भोग आदि की प्राप्ति का प्रधान बाधक अन्तिम (आठवां) कर्म है।"

नोट—यहां पर ज्ञानादिक का एवं सुखादिक का बाधक कारण अन्तराय कहा है यह उपचार है। जिस भाव से कर्मों का बन्ध पड़ता है वही भाव ज्ञानादिक का एवं सुखादिक का बाधक है और वही कर्म मोहनीय है। वीर्य का क्षयोपशम विशेष हो और ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम न होवे तो ज्ञान हीन रहता है। उसी प्रकार दर्शन का बाधक दर्शनावरणीय है। सुख का बाधक मोहनीय कर्म का उदय है व्यवहार से साता वेदनीय का उदय है। वीर्य शक्ति का बाधक अन्तराय कर्म है। असाता वेदनीय का तीव्र उदय हो, और मोह का मन्दतर यदि उदय हो तो असाता वेदनीय दुःख का कारण नहीं है। जैसे गजकुमार, सुकौशल स्वामी, आदि को असाता कर्म का तीव्र उदय था परन्तु मोह मन्दतर होने से ऐसे असाता कर्म के उदय में भी केवल ज्ञान की प्राप्ति की। अन्तराय कर्म का क्षयोपशम रहे और मोहनीय कर्म का नाश हो जावे तो निराकुल दशा की प्राप्ति हो जावे इससे सिद्ध हुआ कि सब कर्मों का राजा केवल मोहनीय है। अन्तराय कर्म को दुःख का कारण कहना वह व्यवहार, उपचार है।

(४६) सुख दुःख का कारण कौनसा कर्म का फल है ?

वरांग चरित्र में पर्व नम्बर ४ श्लोक नम्बर ७ पृष्ठ २८ पर लिखा है कि—

"वेदनीय आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इन पांचों कर्मो का फल सदा ही सुख और दुःख मय होता है।"

नोट—यहाँ पर अघाति कर्मो एवं अन्तराय कर्म को सुख दुःख का कारण बताया है वह उपचार है। यथार्थ में दुःख का कारण मोहनीय कर्म है। साता वेदनीय का तीव्र उदय होय और साथ में अनन्तानुबन्धी का उदय होय तो जीव दुःखी ही है वहां सुख की गन्ध भी नहीं है। क्योंकि, चारों कषाय से वही आत्मा निरन्तर जल ही रही है। और असाता का तीव्र उदय होय और मोह मन्द होय तो वही आत्मा सुखी है। लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से सुख की सामग्री (धनादि) मिलती है वह व्यवहार का कथन है अर्थात् उपचार मात्र है। क्योंकि, अन्तराय कर्म वीर्य गुण को घात करता है। परन्तु सुख को घात करता नहीं है। दूसरी बात अन्तराय कर्म घातीया कर्म है और घातीया कर्म पाप प्रकृति रूप है। पाप प्रकृति से सुख की सामग्री कैसे मिले ? लाभान्तराय कर्म जीव का व्यवसाय करने का वीर्य को घात करती है। लाखों रुपया की सम्पत्ति होवे और लाभान्तराय कर्म का उदय होवे तो वह जीव व्यवसाय (व्यापार) कर नहीं सकता है। और जिसके पास में धन नहीं है और लाभान्तराय कर्म का क्षयोपशम है तो वह जीव लाखों का व्यापार कर सकता है। क्योंकि, उसी चाल की उनको वीर्य शक्ति की प्राप्ति हुई है। तो भी धन की प्राप्ति साता वेदनीय कर्म के उदय में ही होती है। जिससे सिद्ध हुआ कि बाह्य सामग्री का कारण साता वेदनीय कर्म है परन्तु लाभान्तराय कर्म का क्षयोपशम नहीं है। साता वेदनीय कर्म में लाभान्तराय कर्म का आरोप कर कहा जाता है कि लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से धनादिक की प्राप्ति होती है वह व्यवहार का कथन है परन्तु वस्तु स्वरूप ऐसा नहीं है।

केवलज्ञानीओं के अन्तराय कर्म का नाश हो गया है तो भी तीर्थंकर केवली को समवसरण की ऋद्धि मिलती है और सामान्य केवली को मात्र गन्ध कुटी मिलती है। तो भी दोनों के अनन्त चतुष्टय में अन्तर नहीं है। दोनों को अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य है। केवली को चारों ही अघाति कर्म का संयोग होते सन्ते वह दुःख का कारण नहीं है। परमार्थ से दुःख का कारण मोहनीय कर्म ही है। –

(४७) अवधि ज्ञान की प्राप्ति कैसे होती है ?

वरांग चरित्र में पर्व नम्बर ४ श्लोक नम्बर १८ पृष्ठ नं० ३० में लिखा है कि—"अवधि ज्ञानावरणीय कर्म का नाश होने से संसार के जीवों में अवधिज्ञान का उदय होता है।"

नोट—अवधि ज्ञानावरणीय कर्म का नाश हो जाने से तो आत्मा में केवल ज्ञान की प्राप्ति हो जावेगी। परन्तु अवधि ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से अवधि ज्ञान की प्राप्ति होती है। जितने अंश में अवधि ज्ञानावरणीय कर्म का संयोग है उतना अवधिज्ञान रूका हुआ रहेगा और जितने अंश में अवधि ज्ञान का क्षयोपशम होगा उतना ही अवधि ज्ञान होगा। परन्तु अवधि ज्ञानावरणीय कर्म के नाश से अवधि ज्ञान की प्राप्ति होना कहना परमार्थ कथन नहीं है ऐसे कथन को व्यवहार का कथन कहना भी उचित नहीं है।

(४८) चार कषाय का भेद तीव्र मन्द की अपेक्षा से है ?

वराग चरित्र में पर्व नं० ४ श्लोक नं० ६६ से लिखा है कि—

"अनन्तानुबन्धी क्रोध का जो संस्कार आत्मा पर पड़ता है वह इतना तीव्र होता है कि उसकी उपमा पत्थर पर खोदी गई रेखा से दी जाती है। यही कारण है कि क्रोधादिक जन्म जन्मान्तरों में भी जाकर शान्त नहीं होते हैं और निमित्त सामने आते ही भड़क उठते हैं ॥६६॥ अनन्तानुबन्धी मान इतना तीव्र और विवेकहीन होता है कि शास्त्रकारों ने उसे पत्थर के स्तम्भ के समान माना है इसीलिए अनन्त काल बीत जाने पर भी उससे आक्रान्त जीव में तनिक भी मृदुता या विनम्रता नहीं आती है ॥७०॥ अनन्तानुबन्धी माया के उदय होने पर जीव की चित वृत्ति बिलकुल बांस की जड़ों के समान हो जाती है इसी कारण उसका चालचलन और स्वभाव अत्यन्त उलझे तथा कुटिल हो जाते हैं और उनमें कभी भी सीधापन नहीं आता है ॥७४॥ अनन्तानुबन्धी के उदय होने पर आत्मा पर वैसा ही अमीर संस्कार पड़ जाता है कि जैसा कि कीड़ों के खून से बनाये गए लाल रंग का होता है। अतएव ऐसे आत्मा को जब शास्त्र ज्ञान रूपी ज्वाला में जलाया जाता है तब भी वह लोभ का संस्कार उसे नहीं छोड़ता है ॥७८॥

नोट—अनेक ग्रन्थों में इसी प्रकार का कथन लिखा है परन्तु वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है यह सर्व उपचार का अर्थात् व्यवहार का कथन है। क्योंकि, नौवी ग्रे वियेक के अहमेन्द्र को अनन्तानुबन्धी का उदय है और कपाय इतनी शान्त है कि यह क्रोधादिक अमुक सागर तक करते ही नहीं हैं। और सम्यग्दृष्टि आत्मा में अनन्तानुबन्धी कषाय नहीं होते सन्ते लड़ाई में हजारों जीवों का प्राण ले रहा है। अनन्तानुबन्धी कषाय वाला जीव सामने निमित्त आने से भड़क उठते हैं ऐसी भी बात नहीं है, क्योंकि, द्रव्यलिंगी मुनि को घानी में पील डाले, अग्नि में जला देवे, मूर्ख लोग अनेक प्रकार के कटु शब्द सुनावे तो भी कषाय करते नहीं हैं भड़क उठते नहीं हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय में शुक्ल लेश्या हो सकती है और अप्रत्याख्यान कपाय में तीव्र कृष्ण लेश्या हो सकती है। जैसे मिथ्यादृष्टि अहमेन्द्र देव एवं सप्तम नरक का सम्यग्दृष्टि नारकी। जिससे सिद्ध हुआ कि अनन्तानुबन्धी आदि कषायों का भेद तीव्र, मन्द, तीव्रतर, मन्दतर की अपेक्षा नहीं है। कपाय का भेद आत्म सुख की घात की अपेक्षा से है परन्तु तीव मन्द की अपेक्षा से नहीं है। अनन्तानुबन्धी कपाय

स्वरूपा चरण चारित्र होने नहीं देता है अर्थात् अनन्तानुबन्धी कषाय पर पदार्थ में ही सुख और दुःख मनाती है। परमार्थ से पर पदार्थों में सुख एवं दुःख है नही तो भी उनको सुख दुःख का कारण मनावे वही अनन्तानुबन्धी कषाय है। मेरा आत्मा में सुख है अर्थात् वीतराग भाव ही सुख का कारण है और रागादिक भाव ही दुःख का कारण है ऐसी मान्यता होने ही नहीं देती है। जिस कारण से पर पदार्थ की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करता है परन्तु रागादिक की निवृति के लिए उनका पुरुषार्थ कार्य करता ही नहीं है।

दुःख का कारण पर पदार्थ नहीं है परन्तु मेरा ही रागादिक परिणाम है ऐसी मान्यता होते अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव हो जाने से अप्रत्याख्यान कषाय आती है। जो रागादिक को दुःखदायक मानते जानते सन्ते रागादिक को छोड़ नहीं सकता है वही कषाय का नाम अप्रत्याख्यान कषाय है।

व्यवहार से हिंसा दो प्रकार की मानी गयी है। (१) त्रसहिंसा (२) स्थावर हिंसा। अप्रत्याख्यान कषाय का अभाव होने से त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का राग छूट जाता है, तो भी स्थावर जीवों की हिंसा का संपूर्ण राग न छूटे ऐसी कषाय का नाम प्रत्याख्यान कषाय है। अर्थात् एक देश चारित्र का भाव होवे परन्तु सकल चारित्र न होने देवे ऐसी कषाय का नाम प्रत्याख्यान कषाय है।

प्रत्याख्यान कषाय के अभाव में त्रस स्थावर जीवों की हिंसा का राग व्यवहार से छूट जावे परन्तु प्रशस्त भक्ति आदिक का राग न छूटे ऐसी कषाय का नाम संज्वलन कषाय है।

इसी प्रकार संयम भाव की घात की अपेक्षा से चार कषाय हैं परन्तु तीव्र मन्द की अपेक्षा से चार कषाय नहीं है। ऐसी श्रद्धा ज्ञान करना चाहिए।

आचार्य ने लिखा है कि "अतएव ऐसा आत्मा को जब शास्त्र ज्ञान रूपी ज्वाला में जलाया जाता है तब भी वह लोभ का संस्कार उसे नहीं छोड़ता" यह सब व्यवहार का कथन है। शास्त्र ज्ञान का अर्थ यहाँ पर केवल शब्द ज्ञान है। केवल शब्द ज्ञान से अनन्तानुबन्धी कषाय नहीं छूटेगी परन्तु आत्म ज्ञान होने से अनन्तानुबन्धी कषाय का विलय हो जाता है। इसलिए मोक्षमार्ग में आत्म ज्ञान ही कार्य कारी है। इसीलिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही चारित्र होता है उनके अभाव में चारित्र होता ही नहीं है। अर्थात् कषाय की निवृती होती ही नही है।

(४९) जिनागम में अलंकार का कथन कहां तक हो सकता है?

आदिनाथ पुराण पर्व नम्बर ४ श्लोक नम्बर १३२ में लिखा है कि—महाबल की माता कैसी है? "वह रानी मानू कामलता ही है, मूलकनि रूप पुष्पनी करि भांति अर वह पतिव्रता मानू जिनवाणी ही है। जिनवाणी आत्म कल्याण की करणहारी और रानी हू आत्म कल्याण की करण हारी जिनवाणी दया रूप और रानी हू दया रूप, जिनवाणी जसकी खानी, अर रानी हू जश की खानी, जिनवाणी निर्दोष अर रानी हू निर्दोष सो राजा के रानी सुअति प्रीति ॥"

नोट—यह सब अलंकार है। अलंकार को अलंकार मानना सम्यक् ज्ञान है परन्तु अलंकार को सत्य मानना मिथ्या ज्ञान है। रानी प्रत्येका राग पाप भाव हैं जो आत्मा को अधोगति में ले जावे और जिनवाणी प्रत्येका राग पुण्य भाव है जो स्वर्गादिक की प्राप्ति करावे इतना महान अन्तर है तो भी दोनों को समान दिखाया यह केवल अलंकार है—

(२) व्यंतर देव का स्थान कहां है?

आदि पुराण पर्व नम्बर ३१ श्लोक नम्बर ११३ में लिखा हैं कि—"हम व्यंतर वट वृक्ष निमें रहे.

हैं, अर अवर कहिये, ओठी जायगा, खाडे, खोचरे, तिनिमें रहे है, अर गिरनि के शिखर निमें रहे है अर वृक्ष के खोलका में रहे है, अर उरज पर्णशाला तिनि में रहे है, अर अक्षपाटा कहिए दिन विषै भ्रमण क रे है, अर क्षपाटा कहिये रात्रि विषै भ्रमण करे हैं, हे सार्व कहिये सब प्रजा के हितु हम कु मध्य लोक विषै सर्वगामी जान हूं ।।"

नोट—यहां पर व्यतंर देव का निवास साथ, खाडा-खोचरे, वट वृक्ष, वृक्ष के खोलका कहा है वह उपचार है, व्यन्तर देवों का निवास स्थान सुन्दर महल है। एक-एक व्यन्तर देव को ३२ अपसरा कम से कम होती है। ऐसा जानना चाहिये।

(३) क्षीर समुद्र का जल काला हो गया।

हरिवंश पुराण पर्व नम्बर २ श्लोक नम्बर ५३-५४ में लिखा है कि—"भौरे के समान काले काले भगवान् के केशों को इन्द्र ने क्षीर सागर में लाकर क्षपेण कर दिया ।।५३।। उस समय भगवान के केश पूंज से क्षीर सागर का जल काला होगया था, सो ऐसा जान पड़ता था मानो इन्द्र नीलमणि व्याप्त है ।।५४।।"

नोट— भगवान के केश डालने से क्षीर समुद्र का जल काला होगया यह सब अलंकार के कथन है। क्षीर समुद्र का जल दूध जैसा नहीं होता है परन्तु दूध का जैसा स्वाद है ऐसा क्षीर समुद्र के जल का स्वाद है। जल का रङ्ग तो सामान्य जल जैसा ही है। ऐसा जान करना चाहिये।

(४) भगवान की मुनि पर्याय में जटा भी बढ़ जाती थी।

हरिवंश पुराण में पर्व नम्बर ९ श्लोक नं० २०३ में लिखा है कि—"उस समय भगवान आदिनाथ की जटा(केश) अधिक बढ़ गये थे इसलिये वे अनेक शाखाओं से व्याप्त वट वृक्ष के समान जान पड़ते थे ।।"

नोट—यह सब उपचार अलंकार है। केश लोंच करना मुनिराज का एक मूल गुण है। वह नियम से केश लोंच करते हैं। उत्कृष्ट मार्ग दो मास में एक दफे केश लोंच करने का है। मध्यम मार्ग तीन मास में एक दफे केश लोंच करने का है। और जघन्य मार्ग चार मास में एक दफे केश लोंच करने का है। इस में केश लोंच न करे तो मूल गुण का घात हो जाता है। तब भगवान का केश (जटा) कैसे बढ़ जाती होगी ? इस प्रकार का व्यवहार तो संन्यासी साधुओं में देखने में आते है परन्तु जैन संयमी मुनिराज में कभी नहीं होते हैं। तो भी कहा है कि "भगवान की जटा बढ़ गयी थी" यह सब अलंकार है।

(५) भाले के अग्र भाग से मुनिराज को आहारदान दिया जाता होगा ?

हरिवंश पुराण में पर्व नम्बर ६४ श्लोक नम्बर १४६ (गांधी हरि भाई देवकरण जैन ग्रन्थ माला से प्रकाशित टीकाकार पण्डित गजाधर लाल जी वाली प्रति) पृष्ट ६१८ में लिखा है कि—

"मुनिराज भीमसेन ने जो कोई भाले के अग्रभाग से आहार देगा, उसी से आहार लूंगा, इस प्रकार क्षुधा से समस्त शरीर को सुखाने वाले महा घोर वृति परिसंख्यान तप तपा और छह मास के बाद उन्हें आहार मिला तो शान्ति से आहार लिया।"

नोट—भाले की अणी पर आहार कैसे दिया जाता होगा यही सोचने की बात है ? आहार के काल में भाला देखे तो मुनिराज को अन्तराय आ जावे। ऐसी परिस्थिति मे भाव लिंगी मुनिराज आहार भाले से कैसे लेवें। तो भी जो आगम में लिखा है वह उपचार अलंकार का कथन है। इसी का इतना ही अर्थ करना चाहिए कि महान कड़ी आखरी मुनिराज भीमसेन ने ली थी परन्तु जैसा शब्द लिखा है ऐसा

ही मानना नहीं चाहिए। इतना विवेक न किया जावे तो शास्त्र पढ़ने से भी लाभ नहीं होगा। शास्त्र में शब्द की महिमा नहीं है परन्तु शब्द के पीछे भाव क्या है वही जानना लाभ दायक है।

इसी प्रकार जैन आगम में भी अलंकार उपचार आदि अनेक कथन हैं उनको अलंकार उपचार रूप मानना चाहिए। जो शब्द लिखा है वही सत्य है ऐसी गलत धारणा नहीं करना चाहिए।

(५०) वीतरागी मुनिराज की भावना।—

आचार्य जिनसेन हरिवंश पुराण संपूर्ण करते पर्व नम्बर ६५ श्लोक नम्बर ४४, ४५, ४६ पृष्ठ नम्बर ६०६ (भाषा टीकाकार पण्डित गजाधर लाल जी प्रकाशक गाँधी हरिभाई देवकरण जैन ग्रन्थ माला) में लिखा है कि—

"चौवीसौ भगवान की सेवा करने वाले सज्जनों की हितकारणी जो चक्रेश्वरी पद्मावती आदि शासन देवतायें है उनसे यह प्रार्थना है कि सदा वह समीप बनी रहे कृपा रखे ॥४४॥ गिरनार पर्वत पर भगवान नेमिनाथ के मन्दिर की उपासना करने वाली अनेक देवों के स्वामिनी सिंह की सवारी से शोभित हाथ में चक्र लिए देवी अंबिका भी हमारे कल्याण के लिए सदा समीप रहैं, क्योंकि, उसके समीप रहने पर शास्त्र में कैसे भी विघ्न नहीं आ सकते हैं और यह भी बात है कि भगवान् के शासन देवियों के प्रभाव से और सामर्थ्य से जीवों के अनेक प्रकार के विघ्न करने वाले ग्रह, नाग, भूत, पिशाच आदि भी हित करने वाले होते हैं ॥४५-४६॥ इत्यादि।

नोट—भवनत्रिक में मिथ्यादृष्टि जीव ही उत्पन्न होते हैं। ऐसे कुदेवों मेरी पर कृपा करे यह कहना अर्थात् ऐसी भावना रखना अनायतका सेवन करना है। जो जीव अनायतका सेवन करने वाले हैं उनको मुनि पर्याय का ज्ञान ही नहीं है। मुनि होना तो और बात है। वीतरागी मुनिराज को ऐसी भावना कभी भी होती ही नहीं है। जिनके चरणों में इन्द्रादि शिर झुकावे ऐसे पंच परमेष्टि में से एक परमेष्टि कुदेवों की पासे में ऐसी प्रार्थना करता होगा कि "मेरी पर कृपा रखे"। पाठक स्वयं विचार करें।

अपना असाता कर्म का उदय टालने की तीर्थंकर देव में भी शक्ति नहीं है तो अंबिका देवी कैसे टाल देवेगी? देव पुण्य के गुलाम हैं। अपना पुण्य का उदय होगा तो स्वयं देव आपकी चरण की सेवा करेगा। और अपने पाप के उदय में देव सब आपसे अलग हो जाते हैं। अर्थात् आपकी सेवा करने को आते ही नहीं है। तीर्थंकर देवों के पुण्य के उदय में, माता के गर्भ में आने के पहले छह मास से रत्नों की वृष्टि करते हैं। और पाप के उदय में कोई आते ही नहीं है। जब आदिनाथ भगवान् का पाप का उदय था, छह मास तक आहार मिला नहीं तब एक देव क्यों नहीं आया? सीता का हरण हुआ तब एक देव क्यों नहीं आया? सीता जी को जंगल में एकांकी छोड़ दिया तब देव क्यों नहीं आया? क्या उस वक्त सीता सती नहीं थी? सती थी परन्तु पाप के उदय में कोई बाह्य निमित्त भी नहीं होते हैं। और जब वही सीता के पुण्य के उदय आया तब देवों ने अग्नि का जल बना दिया। यह पुण्य के ठाठ हैं तो भी सम्यग्दृष्टि पुण्य भाव को चाहता नहीं है, तब पुण्य का फल को कैसे चाहे? गजकुमार, शुकौशल स्वामी, पाडवों आदि का उपसर्ग काल में पाप का उदय था एक देव भी आया नहीं बाहिर में महान् अनिष्ट संयोग होते सन्ते वीतरागी मुनि राज ने केवल ज्ञान की प्राप्त कर सिद्ध पद की प्राप्त किया वह किसके जोर पर? क्या अम्बिका चक्रेश्वरी, पद्मावती आदि कुदेवों के जोर पर या अपने आत्म बल पर? अपना मित्र अपनी ही आत्मा है और अपना शत्रु भी अपनी ही आत्मा है ऐसी श्रद्धा रखना मोक्ष मार्ग में कार्यकारणी है। पर आत्माओं अपना भला बुरा कर देवें ऐसी मिथ्या मानता कभी भी स्वप्न में नहीं करनी चाहिए ऐसी पक्की श्रद्धा

रखना चाहिए ? विशेष क्या लिखें ? पाठक स्वयं विचार करते सीख जावे तो मोक्ष मार्ग दूर नहीं है, नहीं तो अनंत भव चले गये और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई ऐसे यह भव भी चला जावेगा ? इसलिए अपना पुरुषार्थ पर विश्वास रख "तत्व" निर्णय करने में उपयोग को लगाना वही करने योग्य है।

द्रव्य कर्माधिकार

आत्मा के रागादिक परिणाम को निमित्त पाकर जो कार्मण वर्गणा कर्म रूप परिणमन कर जाती है उसे द्रव्य कर्म कहते हैं। वह कर्म अष्ट प्रकार का है। (१) ज्ञानावरणीय (२) दर्शनावरणीय (३) वेदनीय (४) मोहनीय (५) आयु (६) नाम (७) गोत्र (८) अन्तराय।

शंका—रागादिक परिणाम तो एक किस्म का है उसमें से अष्ट कर्म कैसे बन जाता है ?

समाधान—कार्मण वर्गणा में उस प्रकार की उपादान शक्ति है जिससे वह अष्ट प्रकार रूप अपनी अवस्था धारण कर जाती है। यदि रागादिक परिणाम से ही कार्मण वर्गणा द्रव्य कर्म रूप परिणमन कर जाती है तो कर्म एक ही प्रकार का होना चाहिए। एवं उसमें स्थिति एवं अनुभाग समान पड़ना चाहिए परन्तु ऐसा देखने में आता नहीं है। जिससे मालूम पड़ता है कि केवल रागादिक परिणाम ही द्रव्य कर्म होने के कारण नहीं है परन्तु काल द्रव्य भी कारण है। कार्मण वर्गणा की उपादान शक्ति ऐसी है कि वह स्वयं उस रूप अवस्था धारण कर जाती है। यदि रागादिक भावों से ही कार्मण वर्गणा कर्म रूप परिणमन करती है ऐसा एकान्त माना जावे तो, जब आत्मा पारिणामिक भाव से रागादि रूप परिणमन करता है तब कार्मण वर्गणा कर्म रूप परिणमन क्यों नहीं कर जाती ? इससे सिद्ध हुआ है कि कार्मण वर्गणा में ही अचिन्त्य शक्ति है। वह अपनी शक्ति से ही तथा रूप परिणमन कर जाती है। जैसे आहार का ग्रास एक ही किस्म का होते सन्ते उसमें से स्वयं सप्तमलीन धातु आपसे आप बन जाती है, उसी प्रकार कार्मण वर्गणा स्वयं उस रूप परिणमन कर जाती है। वस्तु का स्वभाव में तर्क नहीं चल सकता है तो भी उपचार से ऐसा कहा जाता है कि रागादिक परिणाम ने कार्मण वर्गणा को कर्म रूप परिणमन कराया।

(१) द्रव्य कर्मों की उत्तर प्रकृति कितनी है ?

ज्ञानावरणीय कर्म तथा दर्शनावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृतियां असंख्यात प्रकृतियां हैं कहा भी है कि—

णाणावरणीय, दंसणावरणीय, कम्मस्स, असंखेज्ज लोग पयडोओ ॥ सूत्र नं० ४ ॥

अर्थ—ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म की असंख्यात प्रकृतियां हैं। ४॥

शंका—उनकी प्रकृतियां इतनी हैं यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

समाधान—चूँकि आवरण के योग्य ज्ञान व दर्शन के असंख्यात लोक मात्र भेद पाए जाते हैं। अतएव उनके आवरण के उक्त कर्मों की प्रकृतियां भी उतनी होनी चाहिए। यथा सूक्ष्म निगोद जीव का जो जघन्य लब्ध्यक्षर रूप ज्ञान है वह निरावरण है, क्योंकि, अक्षर के अनन्तवें भाग मात्र ज्ञान सदा प्रगट रहता है ऐसा आगम वचन है। अथवा ज्ञान के अभाव में चूँकि जीव के अभाव का भी प्रसंग आता हैं, अतएव अक्षर के अनन्तवें भाग मात्र ज्ञान सदा प्रकट रहता है, यह स्वीकार करना चाहिए। जितने ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद है, इतनी ही कर्म की आवरण शक्तियां हैं।

वेदणीयस्स कम्मस्स दुवे पयडीओ ॥ सूत्र नं० ७ ॥

अर्थ—वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियां है। ७॥

शंका—अनन्त विकल्प रूप सुख के भेद से और दुःख के भेद से वेदनीय कर्म की अनन्त शक्तियां क्यों नहीं कही गई हैं?

समाधान—यदि पर्यायार्थिक नय का अवलम्बन किया गया होता तो यह कहना सत्य था, परन्तु चूँकि यहाँ द्रव्यार्थिक नय का अवलम्बन किया गया है, अतएव वेदनीय कर्म की उतनी मात्र शक्तियां संभव नहीं है किन्तु दो ही शक्तियां हैं।

शंका—यहाँ पर्यायार्थिक नय का अवलम्बन क्यों नहीं किया गया है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उसके अवलम्बन का कोई प्रयोजन नहीं था।

शंका—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय की प्ररूपणा में उसका अवलम्बन किस लिए किया गया है?

समाधान—जीव स्वभाव का ज्ञान कराने के लिए यहाँ उसका अवलम्बन किया गया है।

मोहणीयस्स कम्मस्स अट्ठावीसं पयडीओ ॥ सूत्र नं० १० ॥

अर्थ - मोहनीय कर्म की अट्ठाइस प्रकृतियां हैं। सूत्र नम्बर १०॥

यहाँ भी प्ररूपणा अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय का अवलम्बन करके की गई है। पर्यायार्थिक नय का अवलम्बन करने पर तो मोहनीय कर्म की संख्यात लोक मात्र शक्तियां हैं, क्योंकि, अन्यथा उसके असंख्यात लोक मात्र उदय स्थान बन नहीं सकते।

शंका—तो फिर यहाँ पर्यायार्थिक नय का अवलम्बन क्यों नहीं लिया गया है?

समाधान—ग्रन्थ बहुत्व के भय से अथवा अर्थापत्ति से उनका परिज्ञान हो जाने से उसका अवलम्बन नहीं लिया गया है।

आउअस्स कम्मस्स चत्तारि पयडीओ ॥ सूत्र नं० १३ ॥

अर्थ—आयु कर्म की चार प्रकृतियां हैं। १३॥

यह प्ररूपणा भी अशुद्धि द्रव्यार्थिक नय को विषय करने वाली है। पर्यायार्थिक नय का अवलम्बन करने पर तो, आयु की प्रकृतियां भी असंख्यात लोक मात्र है, कर्म के उदय रूप विकल्प असंख्यात लोक मात्र पाए जाते हैं। यहाँ भी ग्रन्थ बहुत्व के भय से अथवा अर्थापत्ति से उनका परिज्ञान हो जाने के कारण पर्यायार्थिक नय का अवलम्बन नहीं लिया गया है।

णामस्स कम्मस्स असंखेज्ज लोगमेत्त पयडीओ ॥ सूत्र नं० १६ ॥

अर्थ—नाम कर्म की असंख्यात लोकमात्र प्रकृतियाँ हैं॥ १६॥

शंका—यहाँ पर्यायार्थिक नय का अवलम्बन किस लिए किया गया है?

समाधान—आनुपूर्वी के भेदों को बतलाने के लिए यहाँ पर्यायार्थिक नय का अवलम्बन किया गया है। उनमें से अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र बाहल्य रूप तिर्यक् प्रतर को श्रेणी के असंख्यातवें भाग मात्र अवगाहना भेदों से गुणित करने पर जो राशि उत्पन्न होती है उतनी मात्र नरक गति प्रायोग्यानुपूर्वी नाम कर्म की शक्तियां होती हैं। श्रेणी के असंख्यातवें भाग मात्र अवगाहना भेदों से लोक को गुणित करने पर

जो संख्या उत्पन्न होती है, उतनी मात्र तिर्यंच गति प्रायोग्यानुपूर्वी नाम कर्म की शक्तियां होती हैं। ऊर्ध्व कपाट के अर्धच्छेदों से उत्पन्न पैंतालीस लाख योजन बाहल्य रूप तिर्यक् प्रतरों को श्रेणि के असंख्यातवें भाग मात्र अवगाहना भेदों से गुणित करने पर जो संख्या उत्पन्न होती है उतनी मात्र मनुष्य गति प्रायोग्यानुपूर्वी नाम कर्म की प्रकृतियाँ होती हैं। नौ सौ योजन बाहल्य रूप तिर्यक् प्रतर को श्रेणि के असंख्यातवें भाग मात्र अवगाहना भेदों से गुणित करने पर जो संख्या उत्पन्न होती हैं उतनी मात्र देव गति प्रायोग्यानुपूर्वी नाम कर्म की प्रकृतियां होती हैं। गति जाति व शरीर आदिक प्रकृतियों के भी भेदों की प्ररूपणा जानकर करनी चाहिए।

गोदस्स कम्मस्स दुवे पयडीओ ॥ सूत्र नं० १९ ॥

अर्थ—गोत्र कर्म की दो प्रकृतियां हैं ॥ सूत्र नं० १९ ॥

उच्च गोत्र को उत्पन्न करने वाली और नीच्च गोत्र को उत्पन्न करने वाली इस प्रकार गोत्र कर्म की दो प्रकृतियां हैं। अवान्तर भेद से यद्यपि वे बहुत हैं तो भी ग्रन्थ बढ़ जाने से अथवा अर्थापत्ति से उनका ज्ञान हो जाने के कारण यहां नहीं कहा है।

अंतराइयस्स कम्मस्स पंच पयडीओ ॥ सूत्र नं० २२ ॥

अर्थ—अन्तराय कर्म की पांच प्रकृतियाँ हैं ॥ २२ ॥

कारण यह है कि पांच विशेषणों के भेद से विशेषता को प्राप्त हुए उस कर्म के स्कन्धों का भी भेद न्याय प्राप्त है। उसके न मानने पर प्रमाण की अनुसारिता का प्रसंग आता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४७९-४८५ पुस्तक नं० १२।

(२) क्या प्राणातिपात से कर्म बन्ध होता है ?

शंका—यदि एक क्षेत्रावगाह रूप हुए कार्मण स्कन्ध प्राणातिपात के निमित्त से कर्म पर्याय रूप परिणमन करते हैं तो समस्त लोक में स्थित जीवों के प्राणातिपात प्रत्य के द्वारा सभी कार्मण स्कन्ध एक साथ ज्ञाना वरणीय रूप पर्याय से परिणत हो जाना चाहिए। परन्तु ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि, ऐसा होने पर द्वितीयादिक समयों में कार्मण स्कन्धों का अभाव हो जाने से सब जीवों के ज्ञानावरणीय का बन्ध न हो सकने का प्रसंग आता है। किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि, इस प्रकार से समस्त जीवों के मुक्ति प्राप्ति का प्रसंग अनिवार्य है ?

समाधान—उपर्युक्त शंका का परिहार कहा जाता है—एक अवगाहना विषयक प्रत्यासत्ति के होने पर भी सब कार्मण स्कन्ध एक समय में ज्ञानावरणीय स्वरूप से नहीं परिणमते है, क्योंकि, प्राप्त इन्धन आदि दाह्य वस्तु को जलाने वाली अग्नि के समान जीव में उस प्रकार की शक्ति नहीं है।

शंका—जीव में वैसी शक्ति के न होने का क्या कारण है ?

समाधान—उसमें ऐसी शक्ति न होने का कारण स्वभाव ही है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २७७ पुस्तक नम्बर १२।

(३) द्रव्य कर्म की उत्तर प्रकृतियों का स्वरूप—

ज्ञानावरणीय कर्म—ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञान के विकास को रोकता है। ज्ञानावरणीय कर्म के उत्तर भेद व्यवहार से पांच हैं—(१) मति ज्ञानावरणीय (२) श्रुत ज्ञानावरणीय (३) अवधि ज्ञानावरणीय (४) मनःपर्यय ज्ञानावरणीय (५) केवल ज्ञानावरणीय।

शंका—ज्ञानावरणीय का उत्कृष्ट बन्ध किसको होता है ।। सूत्र नं० ७ ।।

समाधान—अण्णदरेण पंचिंदिएण सण्णिमिच्छाइट्ठिणा सव्वाहि पज्जत्तीहि पज्जत्तयदेण सागारूवजोगेण जागारेण णियमा उक्कस्ससंकिलिट्ठेण बंधल्लयं जस्सं त्त संतकम्ममत्थि ।। सूत्र नं० ८ ।।

अर्थ—अन्यतर पंचेन्द्रिय संज्ञी, मिथ्यादृष्टि सब पर्याप्तियों से पर्याप्त अवस्था को प्राप्त, साकार उपयोग युक्त जागृत और नियम से उत्कृष्ट संक्लेश को प्राप्त जिस जीव के द्वारा वन्ध होता है और जिस जीव के इसका सत्व होता है ।।८।। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १३ पुस्तक नं० १२ ।

नोट—यही सूत्र उदीरणा भाव दिखाता है। जागृत अवस्था मे अर्थात् बुद्धिपूर्वक राग में ही उत्कृष्ट बन्ध होता है परन्तु अबुद्धिपूर्वक रागादिक भाव में ज्ञानावरणादिक का तीव्र उत्कृष्ट वन्ध नहीं होता है। अबुद्धिपूर्वक वन्ध में बुद्धिपूर्वक रागादिक कारणों से स्थिति बढ़ जाती है। यहीं उदीरणा भाव हैं। मानो या न मानो परन्तु वस्तु स्वरूप छिपा नहीं रह सकता है।

दर्शनावरणीय कर्म—दर्शनावरणीय कर्म दर्शन चेतना का विकास को रोकता है। उनकी उत्तर प्रकृतियां नौ व्यवहार से है—(१) चक्षु दर्शन (२) अचक्षु दर्शन (३) अवधि दर्शन (४) केवल दर्शन (५) निद्रा (६) निद्रानिद्रा (७) प्रचला (८) प्रचलाप्रचला (९) स्त्यान गृद्धि। इस प्रकार तो चार दर्शन चेतना को रोकने वाली है और पांच प्रकार की निद्रा जो दर्शन चेतना प्रकट हुई है उसको उपयोग में नहीं आने देती है। अर्थात् दर्शन शक्ति की जो लब्धि प्राप्त हुई है उस लब्धि को रोकने वाली है।

शंका—पांच निद्रा नाम की प्रकृतियों को प्रथम कर्म ज्ञानावरणीय में नहीं गिनकर दर्शनावरणीय में क्यों गिना जाता है ?

समाधान—ज्ञान दर्शन पूर्वक ही होता है इसी कारण जो दर्शन चेतना में बाधा डालती है वही ज्ञान में तो वाधा डालेगी ही। इसी कारण से निद्रा आदि पांच प्रकृतियों को दर्शनावरणीय कर्म में गिना जाता है। यदि उन प्रकृतियों को ज्ञानावरणीय कर्म में शामिल किया जाय तो यह निद्रा नाम की प्रकृति केवल ज्ञान को रोकती परन्तु दर्शन चेतना को वह वाधा नहीं डाल सकती ? परन्तु वस्तु स्वरूप ऐसा नहीं है। निद्रा में न दर्शन चेतना उपयोग रूप हो सकती है न ज्ञान चेतना उपयोग रूप हो सकती है, परन्तु दोनों ही चेतना लब्धि रूप रहती है। इसी कारण निद्रा नाम की प्रकृतियां दर्शनावरणीय कर्म में गिनी जाती हैं। यह निद्रा भी सर्वघाती प्रकृतियां है।

ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म को प्रकृतियाँ सब कर्मों में कितने भाग प्रमाण है ?

पयडिअट्ठदाए णाणावरणीय दंसणावरणीयस्स कम्मस्स पयडीओ सव्वपयडीणं केवडियो भागो ? ।।३।। दु भागो देसुणो ।।सूत्र नं० ४।।

अर्थ—प्रकृत्यर्थता से ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म की प्रकृतियाँ सब प्रकृतियों के कितने भाग प्रमाण है ? ।।३।। वे सब प्रकृतियों के कुच्छ कम द्वितीय भाग प्रमाण है ।।४।।

यथा अवधिज्ञानावरणीय प्रकृतियों और अवधिदर्शनावरणीय की प्रकृतियों पृथक-पृथक असंख्यात लोक प्रमाण होकर परस्पर की अपेक्षा समान है, क्योंकि, अवधिज्ञान के सब भेद अवधिदर्शन पूर्वक पाये जाते हैं। मतिज्ञानावरणीय की प्रकृतियाँ और चक्षुदर्शन व अचक्षुदर्शनावरणीय की प्रकृतियाँ पृथक-पृथक

असंख्यात लोक प्रमाण होकर अन्योन्य की अपेक्षा समान है। क्योंकि, समस्त मतिज्ञान को दर्शन पूर्वक स्वीकार किया गया है। श्रुत ज्ञानावरणीय की प्रकृतियाँ असंख्यात लोक मात्र है। मनः पर्यय ज्ञानावरणीय की प्रकृतियाँ असंख्यात कल्प मात्र है। इन श्रुत ज्ञानावरणीय और मनः पर्यय ज्ञानावरणीय प्रकृतियों का दर्शन नहीं होता क्योंकि, यह ज्ञान मति ज्ञान पूर्वक ही होता है। इसलिए दर्शनावरणीय कर्मों की अपेक्षा ज्ञानावरणीय कर्म को प्रकृतियाँ विशेष अधिक है। विशेष का प्रमाण कितना है? वह असंख्यातवें भाग मात्र है। किन्तु मतिज्ञान में चुंकि श्रुतज्ञान प्रविष्ट हैं, अतएव यहाँ पृथक ग्रहण करना नहीं चाहिए, अन्यथा ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय की प्रकृतियाँ सब प्रकृतियों के कुच्छ कम द्वितीय भाग प्रमाण नहीं बन सकती है। अथवा श्रुत ज्ञान और मनः पर्यय ज्ञानों के भी दर्शन है, क्योंकि, उसके द्वारा अवगत अर्थ का संवेदन वहाँ भी पाया जाता है। ऐसा स्वीकार करने पर पूर्व मान्यता के साथ विरोध होगा सो भी नहीं, क्योंकि, उनके कारण भूत दर्शन के प्रतिषेध का वहाँ विधान किया गया है।

केवल ज्ञानावरणीय एक प्रकृति है। केवल दर्शनावरणीय की भी एक प्रकृति है। इसलिए वे दोनों समान है। निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यान गृद्धि, निद्रा और प्रचला ये पाँच प्रकृतियाँ दर्शनावरणीय की है किन्तु ये अप्रधान है, क्योंकि, वे मनः पर्यय ज्ञानावरणीय प्रकृतियों के असंख्यातवें भाग मात्र है। इससे सिद्ध है कि दर्शनावरणीय की प्रकृतियों की अपेक्षा ज्ञानावरणीय की प्रकृतियाँ बहुत है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ५०२ पुस्तक नम्बर १२

निद्रा नाम की प्रकृतियाँ स्वसंवेदन का विनाश करती है ?

शंका—निद्रा नाम की पाँच प्रकृतियाँ बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग दोनों ही प्रकार के अर्थ के ग्रहण में बाधक है। इसलिए इनकी दर्शनावरणीय संज्ञा कैसे हो सकती है, क्योंकि, दोनों का आवरण करने वालों को एक का आवरण करने वाला मानने में विरोध आता है?

समाधान—नहीं वे पांच प्रकृतियाँ दर्शनावरणीय ही है, क्योंकि, वे स्वसंवेदन का विनाश करती है?

शंका—बहिरङ्ग अर्थ के ग्रहण का अभाव भी तो उन्हीं से होता है?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, उनका विनाश दर्शन के अभाव से होता है।

शंका—दर्शन का अभाव होने से ज्ञान का अभाव क्यों होता है?

समाधान—कारण कि निद्रा बाह्य अर्थ के ग्रहण को उत्पन्न करने वाली शक्ति का विनाशक है। और बाह्य अर्थ को उत्पन्न करने वाली यह शक्ति ज्ञान तो हो नहीं सकती, क्योंकि, वह दर्शनात्मक जीव स्वरूप है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३५५ पुस्तक नम्बर १३।

नोट—यहाँ पर निद्रा आदि पांच प्रकृतियों को "स्वसंवेदन" का विनाशक कहा वह उपचार है। विग्रह गति में भी अबुद्धि पूर्वक अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव रूप स्वसंवेदन करती है। तब निद्रा स्वसंवेदन का नाश कैसे कर सकती है? क्या निद्रा में अबुद्धि पूर्वक सम्यग्दर्शन वेदन नहीं है? यदि नहीं है तो मिथ्यात्व का वेदन होना ही चाहिए? एक गुण के परिणमन में दूसरा गुण बाधक कभी भी नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, सब गुण अपने परिणमन के स्वामी हैं। स्वसंवेदन चारित्र गुण की पर्याय है उसको ज्ञान कैसे रोक सकती है। यदि ज्ञान पुद्गल को देखता है तब क्या सम्यग्दृष्टि को स्वसंवेदन नहीं है? जरूर है। इससे सिद्ध हुआ कि निद्रा स्वसंवेदन का विनाश नहीं कर सकती है।

वेदनीय कर्म ।

वेदनीय कर्म का फल बाह्य सामग्री का संयोग वियोग कराना है और यदि मोह है तो उस सामग्री में सुख दुःख का वेदन कराना यही वेदनीय कर्म का कार्य है। वेदनीय कर्म की उत्तर प्रकृति दो हैं। (१। साता वेदनोय (२) असाता वेदनीय।

शंका—बाह्य सामग्री लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से मिलती है ऐसा किसी किसी आचार्य का मत है, तव मात्र वेदनीय कर्म से वाह्य सामग्री मिलती है इस बात में विरोध आता है ?

समाधान—अन्तराय कर्म घाति कर्म है। उसके सद्‌भाव में आत्मा की वीर्य शक्ति का नाश होता है। और अन्तराय कर्म से क्षयोपशम से अर्थात् अभाव में वीर्य शक्ति प्राप्त होती है। यह अन्तराय का फल है। अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से बाह्य सामग्री मिलती है यह गलत मान्यता है। अन्तराय कर्म पाप प्रकृति है और पाप प्रकृति से वाह्य सामग्री का मिलना मानना भी भूल है। लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से व्यवसाय करने की वीर्य शक्ति मिलती है। व्यवसाय करने पर भी असाता कर्म का उदय होगा तो बाह्य सामग्री का मिलना तो दूर रहा परन्तु जो मिली है उसका भी वियोग हो जावेगा। और साता कर्म का उदय होगा तब ही बाह्य सामग्री मिल सकती है। इसलिए यह श्रद्धा रखना कि बाह्य सामग्री का संयोग वियोग होना वेदनीय कर्म का फल है। बाह्य सामग्री कर्म के उदय में ही मिलती है परन्तु कर्म के क्षयोपशम से नहीं मिलती है क्योंकि अघाति कर्मों के क्षयोपशम होता ही नहीं है।

वेदनीय कर्म जनित सुख है ?

जीव के सुख और दुःख का उत्पादक कर्म वेदनीय है।

शंका—प्रकृत में सुख शब्द का क्या अर्थ लिया गया है ?

समाधान—प्रकृत में दुःख के उपशम रूप सुख लिया गया है।

शंका—दुख का क्षय सुख है ऐसा क्यों नहीं ग्रहण करते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वह कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है। तथा वह जीव का स्वभाव है। अतः उसे कर्म जनित मानने में विरोध आता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २०८ पुस्तक नम्बर १३।

सुख व दुःख कर्म से होता है ?

शंका—यदि, सुख और दुख कर्मों से होते हैं, तो कर्मों के विनिष्ट हो जाने पर जीव को सुख और दुःख से रहित हो जाना चाहिए, क्योंकि, उसके सुख और दुःख के कारण भूत कर्मों का अभाव हो गया है। यदि कहा जाय कि कर्मों के नष्ट हो जाने पर जीव सुख और दुःख से रहित हो जाता है, सो कह नहीं सकते, क्योंकि, जीव द्रव्य के निःस्वभाव हो जाने से अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है। अथवा यदि दुःख को ही कर्म जनित माना जाय तो साता वेदनीय कर्म का अभाव प्राप्त होगा, क्योंकि, फिर उसका कोई फल नहीं रहता है ?

समाधान—दुःख नाम की जो कोई भी वस्तु है वह असाता वेदनीय कर्म के उदय से ही होती है, क्योंकि, वह जीव का स्वरूप नहीं है। यदि जीव का स्वरूप माना जाय तो क्षीण कर्म अर्थात् कर्म रहित जीवों के भी दुःख होना चाहिए; क्योंकि, ज्ञान और दर्शन के समान कर्म विनाश होने पर दुःख का विनाश नहीं होगा। किन्तु सुख कर्म से उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि, वह जीव का स्वभाव है। और इसलिए वह

कर्म का फल नहीं है। सुख को जीव का स्वभाव मानने पर साता वेदनीय कर्म का अभाव भी प्राप्त नहीं होता, क्योंकि, दुःख उपशमन के कारण भूत सुद्रव्यों के सम्पादन में साता वेदनीय कर्म का व्यापार होता है। इस व्यवस्था के मानने पर साता वेदनीय प्रकृति के पुद्गल विपाकित्व प्राप्त होगा ऐसी भी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि, दुःख के उपशमन से उत्पन्न हुए दुःख के अविनाभावी उपचार से सुख संज्ञा को प्राप्त और जीव से अपृथग्भूत, ऐसे स्वास्थ्य के कण का हेतु होने से सूत्र में साता वेदनीय कर्म के जीव विपाकित्व का और सुख हेतुत्व का उपदेश दिया गया है। यदि कहा जाय कि, उपर्युक्त व्यवस्थानुसार तो साता वेदनीय कर्म के जीव विपाकीपना और पुद्गल विपाकीपना प्राप्त होता है, सो भी कोई दोष नही है, क्योंकि, यह बात हमें इष्ट है। यदि कहा जावे कि, उक्त प्रकार का उपदेश प्राप्त नहीं है, सो भी नहीं, क्योंकि, जीव का अस्तित्व अन्यथा बन नहीं सकता है, इसलिए उस प्रकार के उपदेश के अस्तित्व की सिद्धि हो जाती है, सुख और दुःख के कारण भूत द्रव्यों का सम्पादन करने वाला दूसरा कोई कर्म नही है, क्योंकि वैसा कर्म कोई पाया नहीं जाता।

जस्सोदयेण जीवो सुहं व दुक्खं व दुविहमणु भवइ।
तस्सोदय क्खएण दु सह दुक्ख विवज्जियो होइ ॥ ७॥

अर्थ—जिसके उदय से जीव सुख और दुःख इन दोनों का अनुभव करता है, उसके उदय का क्षय होने से वह सुख और दुःख से रहित हो जाता है। ७॥

पूर्वोक्त व्यवस्था मानने पर इस गाथा के साथ विरोध भी नहीं आता है, क्योंकि, साता वेदनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले सुख के अभाव की अपेक्षा उपर्युक्त गाथा में सुख और दुःख के अभाव का उपदेश दिया गया है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३५-३७ पुस्तक नम्बर ६।

वेदनीय कर्म का उत्कृष्ट बन्ध व सत्ता किसके होती है?

सामित्तेण उक्कस्स पदे वेयणीय वेयणा भावदो उक्कस्सियांकस्स ॥ सूत्र नं० १२ ॥

अर्थ—स्वामित्व से उत्कृष्ट पद में वेदनीय वेदनाभाव की अपेक्षा उत्कृष्ट किसके होती है। १२॥

अण्णदरेण खवगेण सुहुमसांपराइय सुद्धिसंजदेण चरिम समय बद्धल्लयं जस्स तं संतकम्ममत्थि ॥ सूत्र नं० १३ ॥

अर्थ—अन्यतर क्षपक सूक्ष्म साम्परायिक शुद्धि संयत जिस जीव के द्वारा अन्तिम समय में वन्ध होता है और जिस जीव के इसका सत्व होता है। १३॥ धवल ग्रन्थ पृष्ठ १६ पुस्तक नम्बर १२।

मोहनीय कर्म।

मोहनीय कर्म के दो भेद हैं। (१) दर्शन मोहनीय (२) चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय का कार्य तत्त्वार्थ की सत्य श्रद्धा नहीं होने देना। चारित्र मोहनीय वीतराग भाव होने में विघ्न डालना है। अर्थात् वीतराग भाव न होने देना। दर्शन मोहनीय की उत्तर प्रकृति तीन हैं। (१) मिथ्यात्व (२) सम्यग्मिथ्यात्व (३) सम्यक्त्व प्रकृति।

चारित्र मोहनीय के दो भेद हैं। (१) कषाय वेदनीय (२) नोकषाय वेदनीय।

कषाय वेदनीय की १६ प्रकृति, अनन्तानुबन्धी चार, अप्रत्याख्यान चार, प्रत्याख्यान चार और संज्वलन चार। क्रोध, मान, माया, लोभ इस तरह १६ कषाय वेदनीय की है। नौ नोकषाय वेदनीय की

प्रकृति है। (१) हास्य (२) रति (३) अरति (४) भय (५) शोक (६) जुगुप्सा (७) स्त्री वेद (८) पुरुष वेद (९) नपुंसक वेद। इन्हें नोकषाय अर्थात् ईषत् कषाय कहते हैं।

तीव्र और मन्द कषाय की अपेक्षा से अनन्तानुबन्धी आदि प्रकृति का भेद नहीं है। पत्थर की लकीर सो अनन्तानुबन्धी और जल की लकीर जैसी कषाय सो संज्वलन ऐसा भेद नहीं है। छह मास तक कषाय न छूटे सो अनन्तानुबन्धी ऐसा भी भेद नहीं है। इकतीस सागर तक कषाय न करे तो भी उस जीव में अर्थात् नौवी ग्रीवेयक के अहमिन्द्र देव में अनन्तानुबन्धी कषाय रहती है। अनन्तानुबन्धी कषाय उसे कहते है जो पर पदार्थ में अच्छे बुरे की कल्पना करावे सो अनन्तानुबन्धी कषाय है। पर पदार्थ अमूक अच्छे है और पर पदार्थ अमूक खराब है अर्थात् कुदेव हमारा नुकसान करने वाला हैं और सुदेव हमारा भला करने वाले है ऐसी मान्यता का नाम अनन्तानुबन्धी कषाय है। जो पर पदार्थ में सुख मनावे और मेरी आत्मा में सुख नहीं है ऐसी मान्यता का नाम अनन्तानुबन्धी कषाय है। आत्म शान्ति के घात की अपेक्षा कषाय में भेद है। अर्थात् अनन्तानुबन्धी कषाय के सद्भाव में स्वरूपाचरण चारित्र नहीं होता है। अप्रत्याख्यान कषाय के सद्भाव में देश संयम नहीं होता है। प्रत्याख्यान कषाय के सद्भाव में सकल चारित्र नहीं होता है। संज्वलन कषाय के सद्भाव में वीतरागता प्राप्त नहीं होती है।

स्त्री की साथ, पुरूष के साथ तथा स्त्री पुरुष दोनों के साथ रमण करने के भाव का नाम भाव वेद हैं और चारित्र मोहनीय कर्म की पुद्गल प्रकृति का नाम द्रव्य वेद है परन्तु शरीर रूपी ढांचा को द्रव्य वेद मानना गलत है। क्योंकि, वह तो अंगोपांग नामा नाम कर्म का फल है।

दर्शन मोदनीय का स्वरूप—

जं तं दंसणमोहणीयं कम्मंतं बंधादो एयविहं तस्स संतकम्मं पुणितिविहं सम्मतं मिच्छतं सम्मामिच्छत चेदि ॥सूत्र नं० २१॥ गो. क. २६

अर्थ—जो दर्शन मोहनीय कर्म है वह बन्ध की अपेक्षा एक प्रकार है किन्तु उसका सत् कर्म तीन प्रकार का है। सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व ॥

दर्शन रुचि, प्रत्यय श्रद्धा और स्पर्शन ये सब एकार्थ वाचक नाम है। आप्त या आत्मा में, आगम और पदार्थों में रुचि या श्रद्धा को दर्शन कहते हैं। उस दर्शन को जो मोहित करने में निमित्त है अर्थात् विपरीत मान्यता कराने में जो निमित्त कारण है उसे दर्शन मोहनीय कर्म कहते है। जिस कर्म के उदय से अनात्म में आत्मबुद्धि और और अपदार्थ में पदार्थ बुद्धि अर्थात् अतत्व में तत्वबुद्धि होती है। अथवा आप्त, आगम और पदार्थों में श्रद्धान की अस्थिरता होती है, अथवा दोनों में भी अर्थात् आप्त, अनाप्त, आगम, अनागम में और पदार्थ अपदार्थ में श्रद्धा होती है वह दर्शन मोहनीय कर्म है, यह अर्थ कहा गया है। वह दर्शन मोहनीय बन्ध की अपेक्षा एक प्रकार का है, क्योंकि, मिथ्यात्व बन्ध आदि कारणों के द्वारा आने वाले दर्शन मोहनीय कर्म स्कन्धों का एक स्वभाव पाया जाता है।

शंका—बन्ध से एक प्रकार का दर्शन मोहनीय कर्म सत्व की अपेक्षा तीन प्रकार कैसे हो जाता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जांते से (चक्की से) दले गये कोदों में कोदों, तन्दुल और अर्ध तन्दुल इन तीन विभागों के समान अपूर्व करण आदि परिणामों के द्वारा दले गये दर्शन-मोह-

नीय के (तीन पना) त्रिविधता पाई जाती है है। उनमें जिस कर्म के उदय से आप्त, आगम और पदार्थों की श्रद्धा में शिथिलता होती है वह सम्यक्त्व प्रकृति है।

शंका—उस प्रकृति का सम्यक्त्व ऐसा नाम कैसे हुआ?

समाधान—सम्यग्दर्शन के सहचरित उदय होने के कारण उपचार से "सम्यक्त्व" ऐसा नाम कहा जाता है।

जिस कर्म के उदय से आप्त, आगम और पदार्थों में अश्रद्धा होती हैं यह मिथ्यात्व प्रकृति है। जिस कर्म के उदय से आप्त, आगम और पदार्थों में तथा उनके प्रतिपक्षीयों में अर्थात् कुदेव, कुशास्त्र और कुतत्वों में युगपत् श्रद्धा उत्पन्न होती है वह सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति है।

शंका—आप्त, आगम और पदार्थों में सन्देह किस कर्म के उदय से उत्पन्न होता है?

समाधान—सम्यग्दर्शन का घात नहीं करने वाला सन्देह सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से उत्पन्न होता है। किन्तु सर्व सन्देह अर्थात् सम्यग्दर्शन का सम्पूर्ण रूप से घात करने वाला सन्देह और मूढत्व मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न होता है।

शंका—दर्शन मोहनीय कर्म सत्व की अपेक्षा तीन प्रकार का है यह कैसे जाना जाता है?

समाधान- आगम से और लिंग अर्थात् अनुमान से जाना जाता है कि दर्शन मोहनीय कर्म सत्व की अपेक्षा तीन प्रकार का है।

विपरीत अभिनिवेष, मूढता और सन्देह यह मिथ्यात्व के चिह्न हैं। आगम और अनागमों में समः भाव होना सम्यग्मिथ्यात्व का चिह्न है। आप्त आगम और पदार्थों की श्रद्धा में शिथिलता और श्रद्धा की हीनता होना सम्यक्त्व प्रकृति का चिह्न है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३८-४० पुस्तक नम्बर ६।

चारित्र का स्वरूप—

पाप रूप क्रिया की निवृति को चारित्र कहते हैं। घातिया कर्मों को पाप कहते हैं। मिथ्यात्व, असंयम और कषाय ये पाप की क्रिया हैं। इन पाप क्रियाओं के अभाव को चारित्र कहते हैं। उस चारित्र को जो मोहित करता है अर्थात् आच्छादित करता है उसे चारित्र मोहनीय कर्म कहते हैं। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४० पुस्तक नम्बर ६।

क्रोधादि कषायों की परिभाषा—

हृदय दाह, अंग कम्प, नेत्ररक्तता और इन्द्रियों की अपटुता आदि के निमित्त भूत जीव के परिणाम को क्रोध कहा जाता है। विज्ञान, ऐश्वर्य, जाति, कुल, तप और विद्या इनके निमित्त से उत्पन्न उद्धतता रूप जीव का परिणाम मान कहा जाता है। अपने हृदय के विचार को छुपाने की जो चेष्टा की जाती है उसे माया कहते हैं। बाह्य पदार्थों में "यह मेरा है" इस प्रकार अनुराग रूप बुद्धि होती है उसे लोभ कहा जाता है। माया, लोभ, तीन वेद, हास्य, रति इनका नाम राग है। क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इनको द्वेष कहा जाता है। क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद और मिथ्यात्व को मोह कहा जाता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २८३ पुस्तक नम्बर १२।

संक्लेश स्थानों तथा विशुद्धि स्थानो में क्या भेद है ?

साता, स्थिर, शुभ, शुभग, सुस्वर और आदेय आदिक परिवर्तमान शुभ प्रकृतियों के बन्ध के कारणभूत कषाय स्थानों को विशुद्धि स्थान कहते हैं और असाता, अस्थिर, अशुभ, दूर्भग और अनादेय आदि परिवर्तमान अशुभ प्रकृतियों के बन्ध के कारणभूत कषायों के उदय स्थानों को संक्लेश स्थान कहते हैं यह उन दोनों में भेद है।

शंका—बढ़ती हुई कषायों को संक्लेश स्थान और हीन होती हुई कषायों को विशुद्धि क्यों नहीं कहते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वैसा स्वीकार करने पर संक्लेश स्थानों और विशुद्धि स्थानों की संख्या के समान होने का प्रसंग आता है। कारण यह है कि जघन्य और उत्कृष्ट परिणामों के क्रमशः विशुद्धि और संक्लेश का नियम देखा जाता है। तथा मध्यम परिणाम का संक्लेश अथवा विशुद्धि के पक्ष में अस्तित्व देखा जाता है। परन्तु संक्लेश और विशुद्धि स्थानों में संख्या की अपेक्षा समानता है नहीं, क्योंकि, "संक्लेश स्थानों की अपेक्षा विशुद्धि स्थान नियम से स्तोक है" इस परम्परा से प्राप्त गुरु के उपदेश से विरोध आता है। अथवा उत्कृष्ट स्थिति में विशुद्धि स्थान थोड़े और जघन्य स्थिति में बहुत होते हैं इस गुरु के उपदेश से जाना जाता है, कि हानि को प्राप्त होने वाली कषाय के उदय स्थानों के विशुद्धता सम्भव नहीं। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २०८ पुस्तक नम्बर ११।

सूक्ष्म स्थिति बन्ध कहां होता है ?

सूक्ष्म सांम्परायिक शुद्धि संयम के अन्तिम स्थिति बन्ध को जघन्य स्थिति बन्ध मानना चाहिए।

शंका—इससे ऊपर के स्थिति बन्ध को जघन्य स्वरूप से क्यों नहीं ग्रहण करते ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ऊपर कषाय का अभाव होने से स्थिति बन्ध का अस्तित्व भी नहीं है।

शंका—क्षीण कषाय गुणस्थान में भी एक समय वाली स्थिति सूक्ष्म सांम्पराय के अन्तमुंहूर्त मात्र अन्तिम स्थिति बन्ध की अपेक्षा असंख्यातगुणी हीन पायी जाती है। उसका ग्रहण क्यों नहीं करते ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, द्वितीयादि समयों में स्थिति रहने का नाम स्थिति है उत्पति समय में कही स्थिति नहीं होती, क्योंकि, वैसा होने में विरोध है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २२८-२२९ पुस्तक नं० ११।

स्त्री वेद में जघन्य व उत्कृष्ट बन्ध कैसे पड़ता है ?

काल प्ररूपणा में—५ ज्ञानावरणीय, ९ दर्शनावरणीय, मिथ्यात्व, १६ कषाय, भय, जुगुप्सा, तैजस, कार्मण शरीर, वर्ण ४, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, ५ अन्तराय का जघन्य एक समय उत्कृष्ट पल्योपम सत पृथक्त्व है। विशेष यह है कि, मिथ्यात्व का बन्ध काल जघन्य से अन्तमुंहूर्त हैं। साता, असाता वेदनीय, छह नोकषाय, दो गति, चार जाति, आहारकद्विक, पांच संस्थान; पांच संहनन, दो आनुपूर्वी, आताप, उद्योत, अप्रशस्त विहायोगति, चार स्थावर, स्थिरादि दो युगल, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, यशः कीर्ति, अपयशः कीर्ति, नीच गोत्र का जघन्य, बन्ध काल एक समय, उत्कृष्ट से अन्तमुंहूर्त है। पूरुष वेद, मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय जाति, समचतुरस्र संस्थान, औदारिक अंगोपांग, वज्रवृषभ, आदेय, उच्चगोत्र का जघन्य एक समय, उत्कृष्ट देशोन ५५ पल्योपम प्रमाण है। महाबन्ध पृष्ठ ५६-५७ पुस्तक नम्बर १।

नपुंसक वेद में बन्ध काल भेद जघन्य व उत्कृष्ट कितना है ?

नपुंसक वेद में, पांच ज्ञानावरणीय, नौ दर्शनावरणीय, मिथ्यात्व, सोला कषाय, भय, जुगुप्सा, औदारिक, तैजस, कार्मण शरीर, वर्ण चतुष्क, अगुरु लघु, उपघात, निर्माण तथा पांच अन्तरायों का जघन्य एक समय है, किन्तु मिथ्यात्व का क्षुद्रभव प्रमाण है। इनका उत्कृष्ट अनन्त काल असंख्यात पुद्गल परिवर्तन है। पुरुष वेद, मनुष्य गति, समचतुरस्र संस्थान, वज्रवृषभ संहनन, मनुष्यानुपूर्वी, प्रशस्त विहायोगति, सुभग, सुस्वर, आदेय का जघन्य बन्ध काल एक समय, उत्कृष्ट कुच्छ कम, तेतीस सागर प्रमाण है। तिर्यंचगति त्रिक का, ओघ के समान भंग हैं। देव गति चार का जघन्य बन्ध काल एक समय, उत्कृष्ट कुच्छ कम पूर्व कोटि है। पंचेन्द्रिय, औदारिक अंगोपांग, परघात, उच्छ्वास, त्रस चार का जघन्य एक समय उत्कृष्ट साधिक तेतीस सागर है। साता आदि प्रकृतियों का जघन्य एक समय उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है। तीर्थकर प्रकृति का जघन्य बन्ध एक समय उत्कृष्ट साधिक तीन सागर है। महाबन्ध ग्रन्थ पृष्ठ ५७ पुस्तक नम्बर १।

मिथ्यात्व आदि कर्म की उत्कृष्ट अनुभाग वृद्धि तथा हानि किसके होती है ?

शंका—मिथ्यात्व की उत्कृष्ट अनुभाग वृद्धि किसके होती है ? चूर्णि सूत्र नम्बर ४१७।

समाधान—जो जीव संज्ञियों के योग जघन्य अनुभाग संक्रमण से, अवस्थित तथा वह उत्कृष्ट संक्लेश को प्राप्त हुआ और उसने उस संक्लेश परिणाम से उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध स्थान को बांधना प्रारम्भ किया। आवली काल के व्यतीत होने पर उसके मिथ्यात्व के अनुभाग की उत्कृष्ट वृद्धि होती है। उसी ही जीव के अनन्तर समय में मिथ्यात्व के अनुभाग का उत्कृष्ट अवस्थान होता है। चूर्णि सूत्र नं० ४१८-४१६।

शंका—मिथ्यात्व के अनुभाग की उत्कृष्ट हानि किसको होती है ? सूत्र नं० ४२०।

समाधान—जिस जीव के मिथ्यात्व का उत्कृष्ट अनुभाग काण्डक को घात करने के लिए ग्रहण किया। उस अनुभाग काण्डक के घात कर दिए जाने पर उस जीव के, मिथ्यात्व के, अनुभाग की उत्कृष्ट हानि होती है। सूत्र नम्बर ४२१ पृष्ठ ३८३ कषाय पाहुड सूत्त नम्बर १।

शंका—सम्यक्त्व प्रकृति तथा सम्यग्मिथ्यात्व के अनुभाव की उत्कृष्टि हानि किसके होती है ? सूत्र नम्बर ४२६।

समाधान—दर्शन मोहनीय की क्षपणा के समय द्वितीय अनुभाग काण्डक को प्रथम समय में संक्रमण करने वाले, दर्शन मोहनीय क्षपक के, उक्त दोनों कर्मो के अनुभाग की उत्कृष्ट हानि होती है। उसी जीव के तदन्तर समय में कर्मों के अनुभाग का उत्कृष्ट अवस्थान होता है। चूर्णि सूत्र नम्बर ४२७-४२८।

शंका—मिथ्यात्व के अनुभाग की जघन्य वृद्धि किसके होती है ? सूत्र नं० ४२९।

समाधान—जो जीव सूक्ष्म एकेन्द्रिय के योग्य, जघन्य अनुभाग, सत्कर्म से, विद्यमान था वह जीव परिणामों के निमित्त से अनन्त भाग रूप वृद्धि से वढ़ा तब उनके मिथ्यात्व के अनुभाग की जघन्य वृद्धि होती है। सूत्र नं० ४३०।

शंका—मिथ्यात्व के अनुभाग की जघन्य हानि किसके होती है। सूत्र नं० ४३१।

समाधान—जो सूक्ष्म निगोदिया का जघन्य अनुभाग संक्रमण अनन्त भाग वृद्धि रूप से बढ़ाया गया उसके घात करने पर उस जीव के मिथ्यात्व की जघन्य हानि होती है। सूत्र नं० ४३२।

मिथ्यात्व कर्म के अनुभाग की जघन्य वृद्धि या हानि करने वाले किसी एक जीव तदनन्तर समय में मिथ्यात्व के अनुभाग का अवस्थान होता है। उसी प्रकार आठों कषायों के जघन्य वृद्धि हानि और अवस्थान को जानना चाहिए। चूर्णि सूत्र नं० ४३३-४३४।

शंका—सम्यक्त्व प्रकृति के अनुभाग की जघन्य हानि किसके होती है ? सूत्र नं० ४३५।

समाधान—दर्श मोहनीय का क्षपण करने वाले, जीव के, एक समय अधिक आवली काल जब दर्शन मोहनीय के क्षपण करने में शेष रहे तब उसके सम्यक्त्व प्रकृति के अनुभाग की जघन्य हानि होती है। सूत्र नं० ४३६।

शंका—सम्यक्त्व प्रकृति के अनुभाग का जघन्य अवस्थान किसके होता है। सूत्र नं० ४३७।

समाधान—द्विचरम अनुभाग काण्ड का घात करके चरम अनुभाग काण्ड के घात करने में वर्तमान उसी दर्शन मोह का क्षपण करने वाले जीव के सम्यक्त्व प्रकृति के अनुभाग का जघन्य अवस्थान होता है। सूत्र नं० ४३८।

शंका—सम्यग्मिथ्यात्व के अनुभाग की जघन्य हानि किसके होती है ? सूत्र नं० ४३९।

समाधान—सम्यग्मिथ्यात्व के द्विचरम अनुभाग काण्डक के घात कर देने पर उसी दर्शन मोहनीय क्षपक के सम्यग्मिथ्यात्व के अनुभाग की जघन्य हानि होती है। उसी ही जीव के तदनन्तर समय में सम्यग्मिथ्यात्व के अनुभाग का जघन्य अवस्थान होता है। सूत्र नं० ४४०-४४१।

शंका—अनन्तानुबन्धी कपायों के अनुभाग की जघन्य वृद्धि किसके होती है ? सूत्र नं० ४४२।

समाधान—जो जीव अनन्तानुबन्धी कपायों का विसंयोजन करके पुनः मिथ्यात्व को जाकर और तत्प्रायोग्य विशुद्धि परिणाम से द्वितीय समय में तत्प्रायोग्य जघन्य अनुभाग को बांधकर आवली काल व्यतीत करता है उसके अनन्तानुबन्धी कषायों के अनुभाग की जघन्य वृद्धि होती है। सूत्र नं० ४४३।

शंका—अनन्तानुबन्धी कपाय के अनुभाग की जघन्य हानि किसके होती है ? सूत्र नं० ४४४।

समाधान—अनन्तानुबन्धी कषायों का विसंयोजन करके पुनः मिथ्यात्व को जाकर और अन्तर्मुहूर्त तक अनन्तानुबन्धी कषायों का संयोजन करके भी जिसके सूक्ष्म निगोदिया के अनुभाग से नीचे अनुभाग सत्त्व रहता है, तदनन्तर वह अन्तर्मुहूर्त तक कषायों से संयुक्त हो करके भी जब तक सूक्ष्म निगोदिया के योग्य जघन्य कर्मो को नहीं प्राप्त कर लेता है तब तक घात करता जाता है। इस क्रम से घात करते हुए घात ने योग्य सर्व स्तोक अनुभाग के घात करने पर उस जीव के अनन्तानुबन्धी कषायों के अनुभाग की जघन्य हानि होती है। उसी ही जीव को तदनन्तर काल में उक्त कषायों के अनुभाग का जघन्य अवस्थान होता है। सूत्र नं० ४४५-४४८।

संज्वलन क्रोध की जघन्य वृद्धि का स्वामित्व मिथ्यात्व के समान जानना चाहिए। सूत्र नं० ४४९।

शंका—संज्वलन क्रोध की जघन्य हानि किसके होती है ? सूत्र नं० ४५०।

समाधान—चरम समय में अर्थात् क्रोध की तृतीय संग्रहकृष्टि वेदक के अन्तिम समय में बन्धे हुए नवक बन्ध, अनुभाग को चरम समय में संक्रमण करने वाले अर्थात् मान वेदक काल के दो समय कम दो अवालीयों के अन्तिम समय में वर्तमान क्षपक के, संज्वलन क्रोध के, अनुभाग की जघन्य हानि होती है। चूर्णि सूत्र नम्बर ५४१।

शंका—संज्वलन क्रोध का जघन्य अवस्थान किसके होते है ? सूत्र नम्बर ४५२।

समाधान—अन्तिम अनुभाग काण्डक में वर्तमान उस ही क्षपक के संज्वलन क्रोध के अनुभाग का जघन्य अवस्थान होता है ।।सूत्र नम्बर ४५३।।

इसी प्रकार संज्वलन, मान, माया और पुरुष वेद के अनुभाग की जघन्य हानि वृद्धि और अवस्थान जानना चाहिएं। संज्वलन लोभ की जघन्य वृद्धि का स्वामित्व मिथ्यात्व के समान हैं। सूत्र नं० ४५४-४५५

शंका – संज्वलन लोभ की जघन्य हानि किसके होती है ? सूत्र नम्बर ४५६

समाधान—एक समय अधिक आवली काल के सकषाय सूक्ष्म सांम्पराय क्षपक के होती है । सूत्र नम्बर ४५७

शंका– संज्वलन लोभ का जघन्य अवस्थान किसके होता है ? सूत्र नम्बर ४५८

समाधान—द्विचरम अनुभाग कान्ड को घात कर चरम अनुभाग कान्डक में वर्तमान क्षपक के होता है। चूर्णि सूत्र नम्बर ४५६ कषाय पाहुड सुत्त पृष्ठ ३८३-३८७

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट वृद्धि हानि तथा अवस्थान का स्वरूप

शंका—मिथ्यात्व की उत्कृष्ट वृद्धि किसके होती है ? सूत्र नं० ५२६

समाधान—जो गुणित कर्मांशिक है, मिथ्यात्व का क्षपण कर रहा है, वह जब मिथ्यात्व की चरम फाली को सर्व संक्रमण से संक्रान्त करता है, तब उसके मिथ्यात्व की उत्कृष्ट वृद्धि होती है । सूत्र नम्बर ५२७

शंका—मिथ्यात्व की उत्कृष्ट हानि किसके होती है ?

समाधान—जो गुणित कर्मांशिक (सातवीं पृथ्वी का नारकी) सम्यक्त्व को उत्पन्न करके गुण संक्रमण से मिथ्यात्व का संक्रमण करके विध्यात संक्रमण प्रारम्भ करता है, उसके प्रथम समय में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट हानि होती हैं। सूत्र नम्बर ५२९

शंका—मिथ्यात्व का उत्कृष्ट अवस्थान किसके होता है ?

समाधान—जो गुणित कर्मांशिक है, और पूर्व जिसने सम्यक्त्व उत्पन्न किया है वह मिथ्यात्व से सम्यक्त्व प्राप्त हुआ उस सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व उत्पन्न करने के द्वितीय समय से लेकर जब तक वह आवली प्रविष्ट सम्यग्दृष्टि है तब तक इस अन्तराल के किसी एक समय में तत्प्रायोग्य उत्कृष्ट वृद्धि करके तदनन्तर काल में उतने ही द्रव्य का संक्रमण करता है तब उसके मिथ्यात्व का उत्कृष्ट अवस्थान होता है। सूत्र नम्बर ५३१

शंका—सम्यक्त्व प्रकृति की उत्कृष्ट वृद्धि किसके होती है ? सूत्र नम्बर ५३२

समाधान—सम्यक्त्व प्रकृति की उद्वेलना करने वाले जीव के चरम स्थिति खण्ड के चरम समय में सम्यक्त्व प्रकृति की उत्कृष्ट वृद्धि होती है। सूत्र नम्बर ५३३

शंका—सम्यक्त्व प्रकृति की उत्कृष्ट हानि किसके होती है ? सूत्र नं० ५३४।

समाधान—जो गुणित कर्मांशिक जीव सम्यक्त्व को उत्पन्न करके लघु काल से मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ। उस मिथ्यादृष्टि के प्रथम समय में अवक्तव्य संक्रमण होता है और द्वितीय समय में उसके सम्यक्त्व प्रकृति की उत्कृष्ट हानि होती है। सूत्र नम्बर ५३५।

शंका—सम्यग्मिथ्यात्व की उत्कृष्ट वृद्धि किसके होती है ? सूत्र नम्बर ५३६।

समाधान—गुणित कर्मांशिक जीव जब सर्व संक्रमण से सम्यग्मिथ्यात्व को संक्रान्त करता है, तब उसके सम्यग्मिथ्यात्व की उत्कृष्ट वृद्धि होती है। सूत्र नम्बर ५३७।

शंका—सम्यग्मिथ्यात्व की उत्कृष्ट हानि किसके होती है ? सूत्र नम्बर ५३८।

समाधान—उपशम सम्यक्त्व के उत्पन्न करने पर सम्यग्मिथ्यात्व से सम्यक्त्व प्रकृति में जो द्रव्य संक्रमित करता है वह प्रदेशाग्र अंगुल के असंख्यातवें भाग का प्रतिभागी है। (इसलिए उसकी उत्कृष्ट हानि नहीं होती है) अतएव जो गुणित कर्मांशिक जीव सम्यक्त्व को उत्पन्न करके लघु काल से ही मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ और जघन्य मिथ्यात्व काल के पूर्ण होने पर सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ। उस प्रथम समयवर्ती सम्यग्दृष्टि के सम्यग्मिथ्यात्व की उत्कृष्ट हानि होती है। सूत्र नम्बर ५३९-५४०।

शंका—अनन्तानुबन्धी कषायों की उत्कृष्ट वृद्धि किसके होती है ? सूत्र नम्बर ५४१।

समाधान—गुणित कर्मांशिक जीव अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करते हुए जब सर्व संक्रमण के द्वारा चरम फाली को संक्रान्त करता है तब उसके अनन्तानुबन्धी कषायों की उत्कृष्ट वृद्धि होती है। सूत्र नम्बर ५४२।

शंका—अनन्तानुबन्धी कषायों की उत्कृष्ट हानि किसके होती है। सूत्र नम्बर ५४३।

समाधान—गुणित कर्मांशिक जीव तत्प्रायोग्य उत्कृष्ट अधः प्रवृत संक्रमण से सम्यक्त्व को प्राप्त करके विध्यात संक्रमण को प्राप्त हुआ। उस प्रथम समयवर्ती सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धी कषायों की उत्कृष्ट हानि होती है। सूत्र नम्बर ५४४।

शंका—अनन्तानुबन्धी कषायों का उत्कृष्ट अवस्थान किसको होता है ? सूत्र नम्बर ५४५।

समाधान—जो तत्प्रयोग्य उत्कृष्ट अधः प्रवृत संक्रमण से वृद्धि को प्राप्त होकर अवस्थित उसके अनन्तानुबन्धी कषायों का उत्कृष्ट अवस्थान होता है। सूत्र नम्बर ५४६।

शंका – आठ मध्यम कषायों की उत्कृष्ट वृद्धि किसके होती है ? सूत्र नम्बर ५४७।

समाधान—गुणित कर्मांशिक जीव जब चारित्र मोह की क्षपणा के समय सर्व संक्रमण के द्वारा उक्त कषायों के सर्व द्रव्य का संक्रमण करता है तब उसके आठों मध्यम कषायों की उत्कृष्ट वृद्धि होती है। सूत्र नम्बर ५४८।

शंका—आठों कषायों की उत्कृष्ट हानि किसको होती है ? सूत्र नम्बर ५४९।

समाधान—गुणित कर्मांशिक जीव प्रथम बार कषाय उपशमन काल में जिस समय दोनों मध्यम क्रोधों के द्रव्य का चरम समयवर्ती संक्रामक हुआ और तदनन्तर समय में मर कर के देव हुआ। उस प्रथम समयवर्ती देव के दोनों क्रोध कषायों की उत्कृष्ट हानि होती है। सूत्र नम्बर ५५०।

इसी प्रकार दोनों मध्यम मान, दोनों माया, दोनों लोभ, कषायों की उत्कृष्ट हानि जानना चाहिए। विशेषता केवल यह है कि मान, माया, लोभ में से अपने-अपने द्रव्य का चरमवर्ती संक्रामक होकर तदनन्तर समय में मरा और देव हुआ। उस समय समीपवर्ती देव के विवक्षित द्विविध, मध्यम मान, माया और लोभ कषाय की उत्कृष्ट हानि होती है। सूत्र नम्बर ५५१-५५२।

शंका—आठों मध्यम कषायों का उत्कृष्ट अवस्थान किसके होता है। सूत्र नम्बर ५५३।

समाधान—जो तत्प्रायोग्य उत्कृष्ट अधः प्रवृत संक्रमण के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होकर तदनन्तर

काल में अवस्थित संक्रामक हुआ। उसके आठों मध्यम कषायों का उत्कृष्ट अवस्थान होता है। चुर्णि सूत्र नम्बर २५४ कषाय पाहुड सुत्त पृष्ठ ४४५ से ४४८।

शंका—अनुसमयापवर्तना घात किसे कहते हैं ?

समाधान—अनिवृति करण के अन्तिम समय सम्बन्धी अनुभाग की अपेक्षा सूक्ष्म साम्परायिक का प्रथम समय सम्बन्धी अनुभाग अनन्त गुणाहीन होता है। उसके द्वितीय समय में वही अनुभाग काण्डक घात के बिना अनन्त गुणा हीन होता है। पुनः घात करने के बाद शेष रहा वही अनुभाग, तीसरे समय में अनन्तगुणहीन होता है इस प्रकार सूक्ष्म साम्परायिक के अन्तिम समय तक जानना चाहिए। इसी का नाम अनुसमयापवर्तन घात है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३० पुस्तक नम्बर १२

मोहनीय कर्म की स्थिति बन्ध में विशेषता

मोहणीयस्स कम्मस्स, एक्केक्का पयडी सत्तरि, चतालीसं वीसं, पण्णारस, दस सागरोवम कोडा-कोडीयो समय पबद्धट्ठदाए गुणिदाए ॥सूत्र नम्बर ३२॥

अर्थ—सत्तर, चालीस, वीस, पन्द्रह और दश कोड़ा-कोड़ी सागरोपमों को गुणित करने पर जो प्राप्त हो उतनी मोहनीय कर्म की एक-एक प्रकृति है ॥३२॥

मिथ्यात्व की स्थिति, सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागरोपम, सोलह कषायों की चालीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और नपुंसक वेद की वीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम, स्त्री वेद की पन्द्रह कोड़ा-कोड़ी सागरोपम तथा हास्य, रति और पुरुष वेद की दस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम प्रमाण स्थिति है। इन कर्म स्थितियों के द्वारा समय प्रबद्धार्थता को गुणित करने पर जो प्राप्त हो इतनी मात्र एक एक प्रकृति है। क्योंकि, काल के भेद से बांधे गये स्कन्धों का भी भेद होता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४६० पुस्तक नम्बर १२

आयु कर्म—

आयु कर्म का फल चतुर्गतियों में रोक रखना है। उसकी उत्तर प्रकृति चार है। (१) देवायु (२) मनुष्यायु (३) तिर्यंचायु (४)नरकायु।

आयु बन्ध और मरण किस किस गुणस्थान में होता है ?

सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान में चारों ही गतियों में आयु कर्म के बन्ध का सर्वत्र अभाव है। इस कथन से सप्तम पृथ्वी सम्बन्धी असंयत सम्यग्दृष्टि जीवों से व्यभिचार भी नहीं उत्पन्न होता, क्योंकि, सातवीं पृथ्वी में भी उक्त गुणस्थान वर्ती जीवों के आयु कर्म के बन्ध का अभाव है। "जिस गति में जिस गुणस्थान में आयु कर्म का बन्ध नहीं होता" उस गुणस्थान सहित उस गति से निश्चयतः निर्गमन भी नहीं होता ऐसा कषाय उपशामकों को छोड़कर अन्य सर्व जीवों के लिए नियम है।

विशेषार्थ—जिस गुणस्थान में जिस गति में आयु कर्म बन्धता नहीं है उस गुणस्थान सहित उस गति में निर्गमन भी नहीं होता। यह व्यवस्था इस प्रकार है—चारों गतियों के जीव मिथ्यात्व गुणस्थान में आयु कर्म का बन्ध करता है अतएव उस गुणस्थान सहित उन गतियों से अन्य गतियों में जाते भी है। सातवीं पृथ्वी नारकी जीवों को छोड़कर अन्य सब गतियों के जीव सासादन गुणस्थान में आयु बन्ध करते हैं और इन गतियों से निकलते भी है यहाँ नरक आयु नहीं बन्धती। सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान में आयु

वन्ध किसी गति में नहीं होता और इसलिए किसी गति से उस गुणस्थान सहित निर्गमन भी नहीं होता। सप्तम पृथ्वी को छोड़कर शेष चारों गतियों से अव्रत सम्यग्दृष्टि जीव यथा योग्य मनुष्यायु और देवायु का वन्ध करते हैं और इसलिए उस गुणस्थान सहित निर्गमन भी उन गतियों से करते हैं, इन दोनों गतियों इस गुणस्थान में आयु वन्ध देवगति का होता है, और निर्गमन भी होता है। प्रमत और अप्रमत गुणस्थान केवल मनुष्य गति में पाये जाते है। इन दोनों गुणस्थानों में भी देवायु का बन्ध और निर्गमन होता है। अप्रमत गुणस्थान में आयु बन्ध का विच्छेद हो जाता है अर्थात् अपूर्व करण आदि सात गुणस्थानों में आयु वन्ध नहीं होता पर उपशम श्रेणी के चारों गुणस्थानों में चढ़ते व उतरते हुए किसी भी गुणस्थान में मरण सम्भव है तथा अयोगि गुणस्थान में केवलीयों का संसार से निर्गमन है। इस प्रकार उपशम श्रेणी व अयोगि गुणस्थान में तो जिस गुणस्थान में आयु वन्ध नहीं होता उसमें भी निर्गमन सम्भव है, पर अन्य अवस्था में निर्गमन उसी गुणस्थान सहित सम्भव है जिस गुणस्थान में आयु वन्ध भी सम्भव है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४६४ पुस्तक नम्बर ६

नाम कर्म।

नाम कर्म का फल नरकादि नाम करावे। नाम कर्म के उत्तर भेद ४२ हैं।

(१) गति चार—तिर्यंच गति, नरक गति, देव गति, मनुष्य गति।

(२) जाति पांच—एकेन्द्रिय जाति, दोइन्द्रिय जाति, तेइन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, पंचेन्द्रिय जाति।

(३) शरीर पांच—औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर, आहारक शरीर, तैजस शरीर, कार्मण शरीर।

जिस कर्म के उदय से जीव के द्वारा अवगाह देश में स्थिति आहार वर्गणा के पुद्गल स्कन्ध रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्र स्वभाव वाले औदारिक शरीर के स्वरूप से परिणत होते हैं उस कर्म की औदारिक शरीर यह संज्ञा है। जिस कर्म के उदय से आहार वर्गणा के स्कन्ध, अणिमा, आदि गुणों से उपलक्षित शुभाशुभात्मक वैक्रियिक शरीर के स्वरूप से परिणत होते हैं उस कर्म की वैक्रियिक शरीर यह संज्ञा है। जिस कर्म के उदय से आहार वर्गणा के स्कन्ध आहार शरीर के स्वरूप से परिणत होते हैं उस कर्म की आहार शरीर संज्ञा है। जिस कर्म के उदय से तेसज वर्गणा के स्कन्ध निस्सरण अनिस्सरणात्मक और प्रशस्त, अप्रशस्तात्मक तैजस शरीर के स्वरूप से परिणत होते हैं वह कारण में कार्य के उपचार से तैजस शरीर नाम कर्म कहलाता है। जिस कर्म का उदय कूष्माड फल के वेंट के समान सर्व कर्मों का आश्रय भूत हो उस कर्म की कार्मण शरीर यह संज्ञा है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ६९ पुस्तक नं० ६।

(४) अंगोंपांग तीन—औदारिक अंगोपांग, वैक्रियिक अंगोपांग, आहारक अंगोपांग।

शंका—अंगोपांग किसको कहते हैं?

समाधान—अंगोपांग निम्न प्रकार का है। कहा है?

णलया वाहु अ तहा णियंब पुट्ठी उरो य सीसं च।
अट्ठेव दु अंगाइं देहण्णाइं उवंगाइं॥ १०॥

अर्थ—शरीर में दो पैर, दो हाथ, नितम्ब (कमर के पीछे के भाग) पीठ, हृदय, और मस्तक ये आठ अंग हैं। इनके सिवाय अन्य (नाक, कान, आंख) उपांग है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ५४ पुस्तक नं० ६।

(५) निर्माण दो—नेत्रादि (१) यथा स्थान (२) यथा प्रमाण बनाने वाला कर्म।

शंका—निर्माण नाम कर्म किसे कहते हैं ?

समाधान—नियत मान को निर्माण कहते हैं। वह दो प्रकार का है। (१) प्रमाण निर्माण (२) संस्थान निर्माण।

जिस कर्म के उदय से जीवों के दोनों ही प्रकार के निर्माण होता है उस कर्म की "निर्माण" यह संज्ञा है। यदि प्रमाण निर्माण नाम कर्म न हो तो, जंघा, बाहु, शिर और नासिका आदि का विस्तार और आयाम लोक के अन्त तक फैल जायगा किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, उस प्रकार से पाया नहीं जाता है। इसलिए काल और जाति को आश्रय करके जीवों के प्रमाण को निर्माण करने वाला प्रमाण निर्माण नाम कर्म है।

यदि संस्थान निर्माण नाम कर्म न हो तो, अंग-उपांग और प्रत्यंग संकर और व्यतिकर स्वरूप हो जावेंगे, किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, वैसा पाया नहीं जाता है। इसलिए कान, आँख नाक, आदि अंगों का अपने अपनी जाति के अनुरूप अपने अपने स्थान पर जो नियामक कर्म है वह संस्थान निर्माण नाम कर्म है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ६६ पुस्तक नम्बर ६।

(६) बन्धन पांच—औदारिक, वैक्रियय, आहारक, तैजश और कार्मण बन्धन।

(७) संघात पांच—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण संघात।

(८) संस्थान छह—समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वातिक, कुब्जक, वामक, हुण्डक संस्थान।

(९) संहनन छह—वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलक और असंप्राप्ता-सृपाटिका, संहनन।

(१०) स्पर्श आठ—कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत, उष्ण।

(११) रस पाँच—तिक्त, कडुआ, खट्टा, मीठा, कषायला।

(१२) गन्ध दो—सुगन्ध, दुर्गन्ध।

(१३) वर्ण पाँच—काला, नीला, लाल, पीला, श्वेत।

(१४) आनुपूर्वी चार—नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी।

शंका—संस्थान नाम कर्म से आकार विशेष उत्पन्न होता है. इसलिए आनुपूर्वी को कल्पना निरर्थक है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, शरीर ग्रहण करने से प्रथम समय से ऊपर उदय में आने वाले उस संस्थान नाम कर्म का विग्रह गति के काल में उदय का अभाव पाया जाता है।

यदि आनुपूर्वी नाम कर्म न हो तो विग्रह गति के काल में जीव अनियत, संस्थान वाला हो जायगा किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, जाति प्रतिनियत संस्थान विग्रह काल में पाया जाता है।

शंका—पूर्व शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को नहीं ग्रहण करके स्थित जीव का इच्छित गति में गमन किस कर्म से होता है ?

समाधान—आनुपूर्वी नाम कर्म से इच्छित गति में गमन होता है।

शंका—विहायोगति नाम कर्म से इच्छित गति में गमन क्यों नहीं होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि विहायोगति नाम कर्म का औदारिक आदि तीनों शरीरों के उदय के बिना उदय नहीं होता है।

शंका—आकार विशेष को बनाए रखने में व्यापार करने वाली आनीपूर्वी इच्छित गति में गमन का कारण कैसे होती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, आनुपूर्वी का दोनों ही कार्यों में व्यापार में विरोध का अभाव है। अर्थात् विग्रह गति में आकार विशेष को बनाए रखना और इच्छित गति में गमन करना ये दोनों ही आनुपूर्वी नाम कर्म के कार्य हैं। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ५६-५७ पुस्तक नम्बर ६।

(१५) उपघात—जो कर्म अवयवों को पीड़ा का कारण बना देता है वह उपघात नाम कर्म है।

शंका—जीव को पीड़ा करने वाला अवयव कौन कौन है ?

समाधान—महाश्रृंग (बारह सिंगा के समान बड़े सिंग) लम्वेस्तन, विशाल तोंद वाला पेट, आदि जीवों के पीड़ा करने वाला अवयव है।

यदि उपघात नाम कर्म जीव के न हो तो बात, पीत और कफ से दूषित शरीर से जीव के पीड़ा न होना चाहिए। किन्तु ऐसा तो है नहीं, क्योंकि, वैसा पाया नहीं जाता।

शंका—जीव के दुःख उत्पन्न करने में तो असाता वेदनीय कर्म का व्यापार होता है, तब उपघात कर्म को जीव पीड़ा का कारण कैसे बनाया जा रहा है ?

समाधान—जीव के दुःख उत्पन्न करने में असाता वेदनीय का उदय रहा आवे, किन्तु उपघात कर्म भी असाता वेदनीय कर्म का सहकारी कारण होता है, क्योंकि, उसके उदय के निमित्त से दुःख कर पुद्गल द्रव्य का सम्पादन (समागम) होता है। धवल ग्रन्थ पुष्ठ ५९ पुस्तक नं० ६।

(१६) परघात—जिस कर्म के उदय से शरीर में परघात करने का कारण भूत पुद्गल निष्पन होते हैं, वह परघात नाम कर्म है। जैसे साँप की दाढ़ में विष, विच्छू की पूंछ पर दुःख के कारण भूत पुद्गलों का संचय, सिंह, व्याघ्र और धव्वल (चीता) आदि में (तीक्ष्ण) नख और दन्त तथा सिंगीवत्स्यनाभि और धतुरा आदि विषैले वृक्ष पर को दुःख उत्पन्न करने वाला है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ५९ पुस्तक नम्बर ६।

(१७) आताप—खूब तपने को आताप कर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में आताप होता है। उस कर्म की "आताप" यह संख्या है। यदि आताप नाम कर्म न हो तो पृथ्वी कायिक जीवों के शरीर रूप सूर्य मण्डल में आताप का अभाव हो जाय, किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, वैसा पाया नहीं जाता।

शंका—आताप नाम किसका है ?

समाधान—उष्णता सहित प्रकाश को आताप कहते हैं।

शंका—इस प्रकार आताप शब्द का अर्थ करने पर तैजस कायिक जीव में भी आताप कर्म का उदय प्राप्त होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, तेजस कायिक नाम कर्म के उदय से उत्पन्न हुई उस अग्नि की उष्ण प्रभा में सकल प्रभाओं की अविनाभावी उष्णता का अभाव होने से उसका आताप के साथ समानता का अभाव है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ६० पुस्तक नं० ६।

(१८) उद्योत—उष्णता रहित प्रभा का नाम उद्योत है।

शंका—वायु कायिक जीवों में आताप तथा उद्योत का अभाव भले ही हो, क्योंकि, उनमें वह पाया नहीं जाता। किन्तु तेज कायिक जीवों में उन दोनों का उदया भाव सम्भव नहीं है, क्योंकि, यहाँ उनका उदय प्रत्यक्ष में देखा जाता हैं?

समाधान—तेज कायिक जीवों में आताप का उदय नहीं है, क्योंकि, वहाँ प्रभा का अभाव है।

शंका—तेज कायिक में तो उष्णता पाई जाती है, फिर वहाँ आताप का उदय क्यों नहीं माना जाय?

समाधान—तेज कायिक में भले ही उष्णता पाई जाती है परन्तु उनका नाम आताप नहीं हो सकता, किन्तु तेज संज्ञा होगी। मूल में उष्णवती प्रभा का नाम तेज, सर्वांग व्यापी उष्णवती प्रभा का नाम आताप और उष्णता रहित प्रभा का नाम उद्योत है। इस प्रकार तीनों में भेद पाया जाता है।

इसी कारण वहाँ उद्योत भी नहीं है, क्योंकि, मूलो उष्ण उद्योत का नाम तेज है न कि उद्योत। केवल इतना ही भेद है और कहीं भी कुच्छ भेद नहीं है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १९९-२०० पुस्तक नं० ८।

(१९) अगुरुलघु—शरीर इतना हलका भी न हो कि हवा से उड़ जावे और इतना भारी भी न हो कि चला न जा सके।

शंका—अगुरुलघु नाम का गुण सर्व जीवों के पारिणामिक है। क्योंकि, अशेप कर्मों से रहित सिद्धों में भी उसका सद्भाव पाया जाता है, इसलिए अगुरुलघु नाम कर्म का कोई फल न होने से उसका अभाव मानना चाहिए?

समाधान—यह उपर्युक्त दोष प्राप्त होता यदि अगुरुलघु नाम कर्म जीव विपाकी होता, किन्तु वह कर्म पुद्गल विपाकी है, क्योंकि, गुरु, स्पर्श वाले अनन्तानन्त पुद्गल वर्गणाओं के द्वारा आराब्ध शरीर के अगुरु लघुता की उत्पत्ति होती है। यदि ऐसा न माना जाय तो गुरु भार वाले शरीर से संयुक्त यह जीव उठने के लिए भी नहीं समर्थ होता किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, शरीर के केवल हलकापन और केवल भारीपन पाया नहीं जाता है। धवल ग्रन्थ पष्ठ ११३-११४ पुस्तक नं० ६।

(२०) विहायोगति—विहायस् नाम आकाश का है। आकाश में गमन को विहायोगति कहते हैं। जिन कर्म स्कन्धों के उदय से जीव का आकाश में गमन होता है उनकी "विहायोगति" यह संज्ञा है।

शंका—तिर्यंच मनुष्यों का भूमि पर गमन किस कर्म के उदय से होता है?

समाधान—विहायोगति नाम कर्म के उदय से, क्योंकि, विहस्ति मात्र (बारह अंगुल प्रमाण) पांव वाले जीव प्रदेशों के द्वारा भूमि को व्याप्त करके जीव के समस्त प्रदेशों का आकाश में गमन पाया जाता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ६१ पुस्तक नम्बर ६।

शंका—विहायोगति नाम कर्म के कितने भेद हैं?

समाधान—दो भेद हैं। (१) शुभ विहायोगति (२) अशुभ विहायोगति। यह दोनों भेद कषाय की अपेक्षा से हैं।

(२१) उच्छ्वास—जिस कर्म के उदय से स्वासोच्छ्वास चलते रहें उस कर्म का नाम उच्छ्वास नाम कर्म है।

(२२) त्रस—जिस कर्म के उदय से जीवों के त्रसपना हो उस कर्म की "त्रस" यह संज्ञा कारण में कार्य के उपचार से है। यदि त्रस नाम कर्म न हो तो द्विन्द्रिय आदि जीवों का अभाव हो जायगा किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, द्विन्द्रिय आदि जीवों का सद्भाव पाया जाता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ६१ पुस्तक नम्बर ६।

(२३) स्थावर—जिस कर्म के उदय से जीव स्थावरपने को प्राप्त हो उस कर्म की "स्थावर" नाम यह संज्ञा है। यदि स्थावर नाम कर्म न हो तो, स्थावर जीवों का अभाव हो जाय, किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, स्थावर जीवों का सद्भाव पाया जाता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ६१ पुस्तक नम्बर ६।

शंका—हलन चलन करे सो त्रस जीव और हलन चलन न करे सो स्थावर इस प्रकार का लक्षण सुना जाता है यह क्या उचित नहीं है?

समाधान—यह लक्षण सदोष है क्योंकि, जल, हवा, अग्नि आदि चलते हैं तो वह त्रस जीव हो जावेगा परन्तु ऐसा है नहीं। एवं लकवाग्रस्त मनुष्य हलन चलन नहीं कर सकता है ऐसी अवस्था में वह "स्थावर" जीव बन जायगा परन्तु ऐसा है नहीं जिससे यह लक्षण सदोष है।

(२४) पर्याप्ति—जिस कर्म के उदय से अपने योग्य पर्याप्ति पूर्ण हो उसे पर्याप्ति नाम कहते है।

शंका—पर्याप्ति किसे कहते हैं?

समाधान—आहार वर्गणा, भाषा वर्गणा और मनो वर्गणा के परमाणुओं को शरीर इन्द्रिय आदि रूप परिणत करने वाली शक्ति की पूर्णता को पर्याप्ति कहते है।

शंका—पर्याप्ति के कितने भेद हैं?

समाधान—पर्याप्ति छह प्रकार की है। (१) आहार पर्याप्ति (२) शरीर पर्याप्ति (३) इन्द्रिय पर्याप्ति (४) स्वासोच्छ्वास पर्याप्ति (५) भाषा पर्याप्ति (६) मनः पर्याप्ति।

शंका—एकेद्रिन्य जीव के कितनी पर्याप्ति होती हैं?

समाधान—एकेन्द्रिय जीव के चार पर्याप्ति होती है (१) आहार पर्याप्ति (२) शरीर पर्याप्ति (३) इन्द्रिय पर्याप्ति (४) स्वासोच्छ्वास पर्याप्ति।

शंका—दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और असैनी पंचेन्द्रिय जीव के कितनी पर्याप्ति होती हैं?

समाधान—इन जीवों के मनः पर्याप्ति छोड़कर पांच पर्याप्तियां होती है।

शंका—संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के कितनी पर्याप्तियां होती हैं?

समाधान—संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के छहों ही पर्याप्तियां होती हैं।

शंका—पर्याप्ति पूर्ण होने का कितना काल है?

समाधान—छहों पर्याप्तियों के पूर्ण होने में अन्तर्मुहूर्त काल लगता है।

शंका—निर्वृत्य पर्याप्तिक किसे कहते हैं।

समाधान—जब तक किसी जीव की शरीर पर्याप्ति पूर्ण हुई न हो परन्तु नियम से पूर्ण होने वाली हो उसे निर्वृत्य पर्याप्तक कहते हैं।

शंका—लब्ध्यपर्याप्तक किसे कहते हैं?

समाधान—जिस जीव का एक भी पर्याप्ति पूर्ण न हुई हो और न होने वाली हो किन्तु जिसका स्वास के अठारहवें भाग में ही मरण होने वाला हो उस जीव को लब्ध्यपर्याप्तक कहते हैं।

शंका—पर्याप्तक किसे कहते हैं ?

समाधान—जिस जीव की पर्याप्ति पूर्ण होगई हो उस जीव को पर्याप्तक कहा जाता है।

(२५) अपर्याप्त—जब तक पर्याप्ति पूर्ण न हो ऐसी अपूर्ण अवस्था का नाम अपर्याप्ति नाम कर्म है।

शंका—पर्याप्ति और प्राण में क्या भेद है ?

समाधान—शरीर आदि की रचना का नाम पर्याप्ति है और उसी का भोग किया जावे उसी का नाम प्राण है।

शंका—प्राण कितने प्रकार का है ?

समाधान—प्राण उपचार से चार प्रकार का कहा जाता है—(१) इन्द्रिय प्राण (२) बल प्राण (३) स्वासोछ्वास प्राण (४) आयु प्राण।

शंका—प्राण के विशेष भेद कितने हैं ?

समाधान—प्राण के विशेष दश भेद हैं—(१) स्पर्शन इन्द्रिय प्राण (२) रसना इन्द्रिय प्राण (३) घ्राण इन्द्रिय प्राण (४) चक्षु इन्द्रिय प्राण (५) श्रोत्र इन्द्रिय प्राण (६) काय प्राण (७) वचन प्राण (८) मनः प्राण (९) स्वासोस्वास प्राण (१०) आयु प्राण।

शंका—किस जीव के कितने-कितने प्राण होते हैं ?

समाधान—एकेन्द्रिय जीव के चार प्राण होते हैं—(१) स्पर्शन इन्द्रिय (२) काय बल (३) स्वासोच्छ्वास (४) आयु प्राण। दो इन्द्रिय जीव के छह प्राण—(१) स्पर्शन इन्द्रिय (२) रसना इन्द्रिय (३) काय प्राण (४) वचन प्राण (५) स्वाछोच्छ्वास प्राण (६) आयु प्राण। ते इन्द्रिय जीव के सात प्राण, पूर्वोक्त छह प्राण और घ्राण इन्द्रिय प्राण एक विशेष। चतुरिन्द्रिय के आठ प्राण—पूर्वोक्त सात प्राण और एक चक्षु इन्द्रिय प्राण विशेष। असैनी पंचेन्द्रिय जीव के नौ प्राण—पूर्वोक्त आठ प्राण और एक श्रोत्र इन्द्रिय प्राण विशेष। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के दश प्राण—पूर्वोक्त नौ प्राण और मनः प्राण एक विशेष।

शंका—सयोगि केवली परमात्मा को कितने प्राण हैं ?

समाधान—सयोगि केवली के चार प्राण हैं—(१) काय प्राण (२) वचन प्राण (३) स्वासोच्छ्वास प्राण (४) आयु प्राण। केवली को इन्द्रिय और मन प्राण नहीं हैं, क्योंकि वह प्राण क्षयोपशमिक ज्ञान में ही होता है परन्तु क्षायिक ज्ञान में वह प्राण अकार्यकारी है तथापि पर्याप्तियाँ अर्थात् शरीर में इन्द्रियां आदिक की रचना जरूर है।

शंका—अयोगि केवली को कितने प्राण हैं ?

समाधान—अयोगि केवली को चौदहवें गुणस्थान के पहले समय में केवल एक आयु प्राण है। क्योंकि चौदहवें गुणस्थान के पहले समय में शरीर का विलय हो जाने से काय प्राण, वचन प्राण तथा स्वाछोच्छ्वास प्राण का स्वयं अभाव हो जाता है जिससे आयु प्राण एक ही है।

शंका—मनः प्राण तथा वचन प्राण का मनः पर्याप्ति तथा वचन पर्याप्ति में क्यों समावेश किया जावे ?

समाधान—मन प्राण का मनः पर्याप्ति में अन्तर्भाव नहीं होता है, क्योंकि, मनोवर्गणा के स्कन्धों से उत्पन्न हुए पुद्गल प्रचय को और उससे उत्पन्न हुए आत्मबल (मनोबल) को एक मानने में विरोध आता है। तथा वचन बल भी भाषा पर्याप्ति में अन्तर्भूत नहीं होती है, क्योंकि, आहार वर्गणा के स्कन्धों से उत्पन्न हुए पुद्गल प्रचय का और उससे उत्पन्न हुई भाषा वर्गणा के स्कन्धों का श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य पर्याय से परिणमन करने रूप शक्ति का परस्पर समानता का अभाव है। तथा कायबल का भी शरीर पर्याप्ति में अन्तर्भाव नहीं होता है, क्योंकि, वीर्यान्तराय के उदया भाव और उपशम से उत्पन्न हुए क्षयोपशम की और खल रस भाग की निमित्तभूत शक्ति के कारण पुद्गल प्रचय की एकता नहीं पाई जाती है। इसी प्रकार उच्छ्वास निःस्वास प्राण कार्य है और आत्मोपादान कारण है तथा उच्छ्वास निःस्वास पर्याप्ति कारण है और पुद्गलोपादान निमित्तक है अतएव इन दोनों में भेद समझ लेना चाहिए। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४१२ पुस्तक नम्बर १२।

(२६) प्रत्येक—जिस कर्म के उदय से एक शरीर का एक स्वामी जीव हो उस कर्म का नाम प्रत्येक नाम कर्म है।

(२७) साधारण—जिस कर्म के उदय से एक शरीर के अनेक (अनन्त) जीव स्वामी हों उसे साधारण नाम कर्म कहते हैं।

(२८) स्थिर—जिस कर्म के उदय से रस, रुधिर, मेदा, मज्जा, अस्थि, मांस और शुक्र इन सात धातुओं की स्थिरता अर्थात् अविनाश व अगलन हो उसे स्थिर नाम कर्म कहते हैं। यदि स्थिर नाम कर्म न हो तो इन धातुओं का स्थिरता के अभाव से गलना ही होगा। किन्तु ऐसा हैं नही, क्योंकि, हानि और वृद्धि के विना इन धातुओं का अवस्थान देखा जाता है।

(२९) अस्थिर—जिस कर्म के उदय से, रस, रुधिर, मांस, मेदा, मज्जा, अस्थि और शुक्र इन धातुओं का परिणमन होता है वह अस्थिर नाम कर्म है। इस विषय में यह उपयोगी श्लोक—

रसाद्रक्तं ततो मांस, मांसान्मेद, प्रवर्तते।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्झः शुक्रं ततः प्रजा ॥११॥

अर्थ—इससे रक्त बनता है, रक्त से मांस उत्पन्न होता है। मांस से मैदा होती है, मेदा से हड्डी बनती है, हड्डी से मज्जा पैदा होती है, मज्जा से शुक्र उत्पन्न होता है और शुक्र से प्रजा (संतान) उत्पन्न होती है ॥११॥

शंका—सातों धातुओं के कारण भूत पृथक-पृथक कर्म कहना चाहिए ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उन सातों धातुओं की शरीर नाम कर्म से उत्पति होती है।

शंका—सात धातुओं से रहित विग्रह गति में भी स्थिर और अस्थिर प्रकृतियों का उदय देखा जाता है इसलिये इनका वहाँ पर व्यापार नहीं मानना चाहिए ?

समाधान—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि, सयोगि केवली भगवान् में परघात प्रकृति के समान विग्रह गति में उन प्रकृतियों का अव्यक्त उदय रूप से अवस्थान रहता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ६३-६४ पुस्तक नम्बर ६

(३०) शुभ—जिस कर्म के उदय से शरीर के अवयव सुन्दर हो उसे शुभ नाम कर्म कहते हैं।

(३१) अशुभ—जिस कर्म के उदय से शरीर के अवयव सुन्दर न हो उस कर्म का नाम अशुभ कर्म है।

(३२) शुभग—जिस कर्म के उदय से दूसरे जीव अपने से प्रीति करें उस कर्म का नाम शुभग नाम कर्म है।

(३३) दुर्भग—जिस कर्म के उदय से दूसरे जीव अपने से वैर करे उस कर्म का नाम दुर्भग नाम कर्म है।

(३४) सुस्वर—जिस कर्म के उदय से सुन्दर स्वर हो उस कर्म का नाम सुस्वर नाम कर्म है।

(३५) दुःस्वर—जिस कर्म के उदय से स्वर अच्छा न हो उस कर्म का नाम दुःस्वर नाम कर्म है।

शंका—विकलेन्द्रिय जीवों के बन्ध भी और उदय भी दुःस्वर प्रकृतियों का होता है, यह सूत्र में कहा है। किन्तु भ्रमर आदि कुच्छ विकलेद्रिय जीव सुस्वर वाले भी दिखाई देते हैं इसलिए यह बात कैसे घटित होती है कि सुस्वर प्रकृति का बन्ध व उदय नहीं होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, भ्रमर आदि में कोकिलाओं के समान मधुर स्वर नहीं पाया जाता है।

शंका—भिन्न रुचि होने से कितने ही जीवों के अमधुर स्वर भी मधुर के समान रूचता है। इसलिए उसके अर्थात् भ्रमर के स्वर के मधुरता क्यों नहीं मानली जाती है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, पुरुषों की इच्छा से वस्तु का परिणमन नहीं पाया जाता है। नीम कितने ही जीवों को रूचता है इसलिए वह मधुरता को प्राप्त हो जाता है, क्योंकि, वैसा मानने पर अव्यवस्था प्राप्त होती है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १०६ पुस्तक नम्बर ६.

(३६) आदेय—जिस कर्म के उदय से कान्ति सहित शरीर उपजे एवं बहु मान्यता उत्पन्न होती हो उस कर्म का नाम आदेय नाम कर्म है।

(३७) अनादेय—जिस कर्म के उदय से कान्ति सहित शरीर न हो एवं अनादरणीयता उत्पन्न होती हो उस कर्म का नाम अनादेय नाम कर्म है।

(३८) यशःकीर्ति—जिस कर्म के उदय से संसार में जीव की प्रशंसा हो उस कर्म का नाम यशः कीर्ति नाम कर्म है।

(३९) अयशः कीर्ति—जिस कर्म के उदय से संसार में जीव की प्रशंसा न हो उस कर्म का नाम अयशः कीर्ति नाम कर्म कहते हैं।

(४०) बादर—जिस कर्म के उदय से शरीर की अवगाहना सूक्ष्म शरीर से भी छोटी हो तो भी पर पदार्थों से रुका जावे ऐसा शरीर जिस कर्म के उदय से मिलता है उसे बादर नाम कर्म कहते हैं।

(४१) सूक्ष्म—जिस कर्म के उदय से शरीर की अवगाहना बादर शरीर से बड़ी हो तो भी पर पदार्थों से भी रुका न जावें ऐसा शरीर जिस कर्म के उदय से मिलता है उस कर्म का नाम सूक्ष्म नाम कर्म कहते हैं।

(४२) तीर्थंकर—जिस कर्म के उदय से जीव पांच महा कल्याणकों को प्राप्त करके तीर्थ अर्थात् बारह अंगों की रचना करता है वह तीर्थंकर नाम कर्म है। कहा भी है कि—

जस्स कम्म सुदएण जीवो पंच महाकल्लाणाणि पाविदूण तित्थं दुवालसंगं कुणदि त तित्थयरणामं ॥धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३६६ पुस्तक नम्बर १३

गोत्र कर्म—

जिस कर्म के उदय से जीव उच्च तथा नीच गोत्र में जन्म लेवे उसे गोत्र कर्म कहते हैं।

शंका—गोत्र कर्म के कितने भेद हैं ?

समाधान—गोत्र कर्म के दो भेद हैं। (१) उच्च गोत्र (२) नीच गोत्र।

शंका—उच्च गोत्र किसे कहते हैं ?

समाधान—जिस कर्म के उदय से जीव मनुष्य तथा देव गति में जन्म लेवे उस कर्म का नाम उच्च गोत्र है।

शंका—मनुष्य में नीच गोत्र तो होता है ? जैसे शूद्रादि

समाधान—यह तो व्यवहार गोत्र है अर्थात् कार्य की अपेक्षा से गोत्र माना जाता है वह गोत्र तो संस्कार से परिवर्तन होता है। परन्तु निश्चय गोत्र संस्कार से भी परिवर्तन नहीं होता यदि ऐसा होने लगे तो तिर्यंच भी संस्कार से उच्च गोत्री बन जावे परन्तु यह होना असम्भव है।

शंका—गोमट्टसार ग्रन्थ की गाथा १३ में लिखा है कि–सन्तान परम्परा की अपेक्षा से नीच गोत्र माना है वह उच्च गोत्री कभी भी बन नहीं सकता है ? वह कैसे कहा गया है ?

समाधान—यह उपचार का कथन है। यथार्थ में वस्तु स्वरूप ऐसा नहीं है। जैसे भोग भूमि के जीव में से ही सब कर्म भूमि के जीव बने हैं। भोग भूमि के जीव सब उच्च गोत्री ही होते हैं उसी के सन्तान परम्परा से नीच गोत्री कैसे बनेंगे ? शान्ति से विचार करना चाहिए। एवं छठवां काल में सब नीच गोत्री हो जावेगा उनकी परम्परा से तीसरे काल में तीर्थंकर का जन्म होगा तो क्या परम्परा की अपेक्षा से तीर्थंकर को नीच गोत्री माना जा सकता है ? कभी भी नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि सन्तान परम्परा से उच्च नीच गोत्र का भेद मानना योग्य नहीं है। चक्रवर्ती म्लेच्छ की कन्या के साथ में शादी करते हैं उसकी सन्तान को क्या कहा जावेगा ? बसुदेव जी ने भील की कन्या के साथ में शादी की थी उसकी सन्तान को क्या नीच गोत्री माना जा सकता है ? चारुदत्त ने वेश्या की कन्या के साथ में शादी की थी उसकी सन्तान को क्या नीच गोत्री कहा जा सकता है ? कभी भी नहीं। वर्तमान में हरिजन आदि ईसाई एवं मुसलमान बन जाते हैं तब ईसाई को या मुसलमान को क्यों छूते हैं ? हरिजन को अस्पर्श क्यों मानते थे ? क्या बदल गया ? शान्ति से विचार कीजिये ?

शंका—शूद्रों को मुनिआहार देने का निषेध एवं मुनि बनने का निषेध क्यों किया है ?

समाधान—जब तक शूद्र शूद्र का व्यवसाय कर आजीविका करता है उसी अपेक्षा से उसी का निषेध किया गया है परन्तु जब वही शूद्र वह व्यवसाय छोड़ कर उच्च कार्य करने लगते हैं और उसको "वर्णलाभ" दिया जाता है अर्थात् जब वह संस्कार से ब्राह्मण बनाया जाता है तब वह मुनिदान एवं स्वयं मुनि भी बन सकते हैं। मुनि पर्याय जाति या बाह्य वेष पर है कि वह तो आत्मिक धर्म है ? सब मनुष्य आत्मिक धर्म की प्राप्ति कर सकता है।

शंका—शुद्र मुनिदान एवं मुनि पर्याय धारण कर सकता है इस विषय में कोई आगम प्रमाण है ?

समाधान—यदि तर्क से, अनुमान से, प्रत्यक्ष से यह बात सिद्ध होती है तो आगम प्रमाण की क्या जरूरत है। जब तर्क से, अनुमान से, या प्रत्यक्ष से प्रमाण न हो सके तब ही आगम प्रमाण की महिमा है। तर्क, अनुमान या प्रत्यक्ष प्रमाण की सामने आगम प्रमाण हीन कक्षा का माना जाता है।

शंका—यदि तर्क, अनुमान और प्रत्यक्ष प्रमाण की साथ में आगम प्रमाण मिल जावे तो बात विशेष रूप से ग्राह्य हो जाती है जिससे आगम प्रमाण मांगा जाता है। यदि है तो दिखावे ?

समाधान—यदि आपको आगम से ही सन्तोष है तो देखिये आगम वाक्य—

(१) अनगार धर्मामृत में चतुर्थ अध्याय श्लोक नम्बर १६७ में लिखा है कि "अन्यै ब्रह्मिण क्षत्रिय वैश्य सच्छूद्रः स्यदातृगृहात" अर्थ—मुनियों को दान ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा "सत्" शूद्र अपने घर से दे सकते हैं। जब यह चार वर्ण के जीव मुनि बन सकते हैं तो दान कैसे नहीं दे सकते हैं विचारने की बात है।

(२) आचार्य सोमसेन "धर्म रसिक" में लिखते हैं कि—

विप्र-क्षत्रिय-विट्-शुद्राः प्रोक्ताः क्रिया विशेषतः।
जैनधर्मपराः शक्तास्ते सर्वं बान्धवोपमाः॥

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सब ही भ्रात सम जैन धर्म में दीक्षित होने योग्य हैं।

(३) आचार्य सोमदेव यश स्तिलक में लिखते हैं कि—

दाक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चतुर्थश्च विधोचितः।
मनोवाक्कायधर्माय मताः सर्वेऽपि जन्तवा।

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीन वर्ण मुनि दीक्षा के योग्य हैं और चौथा शूद्र वर्ण विधि के द्वारा दीक्षा के योग्य है। मन, वचन तथा काय से किये जाने वाले धर्म का अनुष्ठान करने के लिए सभी जीव अधिकारी हैं।

(४) प्रवचनसार ग्रन्थ की चारित्र अधिकार की मूल गाथा ३६ जिसकी श्री अमृतचन्द्राचार्य ने यह गाथा मोक्ष मार्ग में कोई उपयोगी नहीं है ऐसा मान कर टीका नहीं की वही गाथा की श्री जयसेनाचार्य ने टीका की है जिसमें वह लिखते हैं कि—"कियथायोग्यं सच्छूद्राद्यपि" अर्थात सत् शुद्ध भी मुनि बन सकते हैं।

(५) आदिनाथ पुराण में पर्व नम्बर ३६ श्लोक नम्बर ६१-७१ में वर्ण लाभ किया अर्थात शूद्र को ब्राह्मण संस्कार से बनाया वहां क्या लिखते हैं देखिये—

"जे व्रत के धारक उत्तम श्रावक हैं, षट कर्म के पालक, तिनसु कन्या प्रदानादि सम्बन्ध करने की है इच्छा जाके, सो चार बड़े श्रावक महा क्रिया के धारक तिनकु बुलाय करि इह कहै जो "मोहि तुम आप समान किया।" तुम संसार तारक देव ब्राह्मण हो लोक विषे पूज्य अर में श्रावक का व्रत का धारक भया अंगीकार करी है अणुव्रत दीक्षा में। जो श्रावक का आचार था सो में आचर्या, देव, गुरू की पूजा करी, पात्र निकुभक्ति करि दान दिया, दीननीकु दया करी दान दिये। गुरु के अनुग्रह थकी "अयोनि" सम्भव जन्म में पाया चिरकाल के अज्ञान रूप अव्रत तिंनिकु तजी करी में पूर्व नहीं अंगीकार किये थे सम्यक्त्व सहित श्रावक के व्रत में आदरे। और व्रत की शुद्धता के अर्थि में जनेऊ का धारण किया और उपाशकाध्यन भली भान्ति भएया। जौ लग उपाशक अध्यन का अध्यन किया तोंलग ब्रह्मचारी के रूप में रहा, बहुरि व्रत अव-तरण के अंति आभरणादि किया। या भान्ति किया है श्रावक का अंगीकार में सो अब तुम सारिखे साध-र्मिनि की क्रिया में मोहि वर्ण लाभ क्रिया योग्य है। या भान्ति उनके कहे तब कहैं तुमने सत्य कहा हो, तुमारे कोई क्रिया जिन धर्म सु विपरीत नाहीं तिहारे वचन प्रशंसा योग्य हैं तुम सरीखा अब उत्तम ब्राह्मण कौन ? तुम सरीखे सम्यग्दृष्टि के अलाभ विषै ब्राह्मदृष्टिनि सु सम्बन्ध होय। ऐसा कहि करि वे उत्तम

श्रावक ब्राह्मणयाकि प्रशंसा करि "वर्ण लाभ" क्रिया करि याहि युक्त करै, पुत्र पुत्रिनि का सम्बन्ध याहिसु करे उनकी आज्ञा तें वर्ण लाभ क्रियायु पाय करि उनकी समान होय।"

देखिये शुद्र कु वर्ण लाभ दिया जाता है अर्थात उनको ब्राह्मण बना दिया जाता है। ऐसा संस्कार से बना हुआ ब्राह्मण मुनि को आहार दान दे सकता है एवं स्वयं मुनि बन सकते हैं।

जिना गम में गर्भ जन्म एवं संस्कार जन्म दो प्रकार का माना गया है विशेष देखना हो तो श्री आदिनाथ पुराण पर्व नम्बर ३९ श्लोक नम्बर १०६ से १४१ तक देखिये कि शुद्र ब्राह्मण बन कर जन्म ब्राह्मण को क्या उत्तर देते हैं ?

इससे आपको शांति मिली होगी कि जिनागम में शुद्र भी ब्राह्मण बन सकता है वह मुनि दान दे सकता है।

अन्तराय कर्म—

जीव की वीर्य शक्ति का घात करे उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। उसकी उत्तर प्रकृति पांच हैं। (१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय (५) वीर्यान्तराय।

दानान्तराय—जिस कर्म के उदय से जीव के दान देने रूप वीर्य शक्ति न हो उन कर्म का नाम दानान्तराय कर्म है।

लाभान्तराय—जिस कर्म के उदय से जीव में व्यवसाय करने रूप वीर्य शक्ति न हो उस कर्म का नाम लाभान्तराय कर्म है।

भोगान्तराय—जिस कर्म के उदय से भोग करने की वीर्य शक्ति का अभाव हो उस कर्म का नाम भोगान्तराय कर्म है।

उपभोगान्तराय—जिस कर्म के उदय से उपभोग करने की वीर्य शक्ति का अभाव हो उस कर्म का नाम उपभोगान्तराय कर्म है।

वीर्यान्तराय—जिस कर्म के उदय से संयम धारण करने की शक्ति का अभाव हो उस कर्म का नाम वीर्यान्तराय कर्म है।

अन्तराय के जघन्य अनुभाग की अपेक्षा ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय कर्म की जघन्य अनुभाग शक्ति अनन्त गुणी हैं।

शंका—अन्तराय के जघन्य अनुभाग की अपेक्षा ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय का जघन्य अनुभाग अनन्त गुणा होता है वह कैसे बनता, क्योंकि, यह तीनों कर्म संसार अवस्था में अनुभाग की अपेक्षा समान है, तथा अनुभाग काण्डक घात व अनुसमया पर्वतना घात की अपेक्षा भी समान है अतएव उनके विशद होने में विरोध आता है ?

समाधान—यदि वीर्यान्तराय कर्म सर्व घाती रूप से केवल ज्ञानावरण और केवल दर्शनावरण के समान होता तो इन तीनों में समानता अनिवार्य थी, परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, वीर्यान्तराय का सर्वत्र क्षयोपशम पाया जाता है, अतएव चूंकि वीर्यान्तराय कर्म देश घाती लक्षण वाला है इस कारण वह एरण्ड दण्ड के समान निःसार होने से बहुत घाता जाता है, किन्तु केवल ज्ञानावरण, केवल दर्शनावरण सर्व घाती है अतः वे वज्रशैल के समान निवड रूप से बन्ध को प्राप्त होने के कारण बहुत नहीं घाते जाते हैं, इसलिए

अन्तराय कर्म के जघन्य अनुभाग की अपेक्षा ज्ञानावरण और दर्शनावरण के अनुभाग का अनन्त गुणा होना उचित ही है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३३ पुस्तक नम्बर १२।

शंका—सर्व घाति और देश घाति कर्म किसे कहते हैं ?

समाधान—कहते हैं। कर्म दो प्रकार के हैं। घातिया कर्म और अघातिया कर्म। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातिया कर्म है। तथा वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र ये चार अघाति कर्म हैं।

शंका—ज्ञानावरण आदि कर्मों को घातिया कर्म क्यों नाम दिया गया ?

समाधान—क्योंकि, केवल ज्ञान, केवल दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र और वीर्य अर्थात् आत्मा की शक्ति रूप जो अनेक भेदों में भिन्न भिन्न गुण है उनके उक्त कर्म विरोधी अर्थात् घातक होते हैं, और इसलिए वे घातिया कर्म कहलाते हैं।

शंका—(जीव गुणों के विरोधक तो शेष कर्म भी होते हैं अतएव) शेष कर्मो को घातिया कर्म क्यों नहीं कहते हैं ?

समाधान—शेष कर्मो को घातिया नहीं कहते, क्योंकि, जीव के गुणों का विनाश करने की शक्ति नहीं पाई जाती। जैसे आयु कर्म जीव के गुणों का विनाशक नहीं है, क्योंकि, उनका काम तो भव धारण करने का है। गोत्र भी जीव गुण विनाशक नहीं है, क्योंकि, उसका काम नीच और उच्च कुल उत्पन्न करना है। क्षेत्र विपाकी और पुद्गल विपाकी नाम कर्म भी जीव गुण विनाशक नहीं है, क्योंकि, उनका सम्बन्ध यथायोग्य क्षेत्र और पुद्गलों से होने के कारण अन्यत्र उनका व्यापार मानने में विरोध आता है।

शंका—जीव विपाकी नाम कर्म एवं वेदनीय कर्मो को घातिया कर्म क्यों नहीं माना ?

समाधान—नहीं माना, क्योंकि, उनका काम अनात्मभूत शुभग दुर्भग आदि जीव की पर्यायें उत्पन्न करना है जिससे उन्हें जीव गुण विनाशक मानने में विरोध उत्पन्न होता है।

शंका—जीव के सुख को नष्ट करके दुःख उत्पन्न करने वाले असाता वेदनीय को घातिया कर्म नाम क्यों नहीं दिया ?

समाधात—नहीं दिया, क्योंकि, वह घातिया कर्मो का सहायक है और घातिया कर्मो के बिना अपना कार्य करने में असमर्थ तथा उसमें प्रवृति रहित है। इसी बात को वतलाने के लिए असाता वेदनीय को घातियां कर्म नहीं कहा।

इन कर्मो में घातिया कर्मों का अनुभाग दो प्रकार का है। सर्व घातक और देश घातक। कहा भी है कि—

सव्वावरणीयं पुण उक्कस्सं होदि दारुगसमाणे।
हेट्ठा देसावरणं सव्वावरणं च उवरिल्लं ॥१४॥ गो० क० १८०।

अर्थ—घातिया कर्मो की जो अनुभाग शक्ति लता, दारू, अस्थि और शैल समान कही है। उसमें दारू तुल्य से ऊपर अस्थि और शैल्य तुल्य भागों में तो उत्कृष्ट सर्वावरणीय शक्ति पाई जाती है किन्तु दारू सम भाग के नीचले अन्तिम भाग में (व उससे नीचे सब लता तुल्य भाग में) देशावरण शक्ति है तथा ऊपर के अनन्त वहु भागों में सर्वावरण शक्ति है ॥१४॥

णाणावरण चदुक्कं दंसणतिगमंतराइगा पंच ।
ता होंति देसघादी संजलणा णोकसाया य ॥१५॥ गो०क० ४० ।

अर्थ – मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय ये चार, ज्ञानावरण चक्षुदर्शन अचक्षु दर्शन अवधि दर्शन ये तीन दर्शनावरण, दान लाभ भोग उपभोग और वीर्य ये पांचों अन्तराय तथा संज्वलन चतुष्क और नौ नोकषाय ये तेरह मोहनीय कर्म देश घाति होते हैं ॥१५॥ धवल ग्रन्थ पृष्ठ ६२-६४ पुस्तक नम्बर ७ ॥

उसी प्रकार देशघाति कर्म २६ हैं और केवल ज्ञानावरण केवल दर्शनावरण, निद्रा पांच, अनन्तानुवन्धी, अप्रत्याख्यान तथा प्रत्याख्यान, क्रोध, मान, माया, लोभ की बारह प्रकृतियां, मिथ्यात्व तथा सम्यग्मिथ्यात्व यह सब मिलकर २१ प्रकृतियाँ सर्वघाति कर्म हैं।

शंका—जीव विपाकी कर्म किसे कहते हैं ?

समाधान—जिसका फल जीव को मिले उसे जीव विपाकी कर्म कहते हैं।

शंका—जीव विपाकी कर्म की प्रकृति कितनी व कौन-कौन सी हैं ?

समाधान—जीव विपाकी ७८ प्रकृति हैं, घातिया कर्म की ४७, गोत्र कर्म की २, वेदनीय कर्म की २, नाम कर्म की २७ (१) तीर्थंकर प्रकृति (२) उच्छ्वास (३) बादर (४) सूक्ष्म (५) पर्याप्त (६) अपर्याप्त (७) सुस्वर (८) दुःस्वर (९) आदेय (१०) अनादेय (११) यशः कीर्ति (१२) अयशः कीर्ति (१३) त्रस, (१४) स्थावर (१५) प्रशस्त विहायोगति (१६) अप्रशस्त विहायोगति (१७) सुभग (१८) दुर्भग (१९) मनुष्य गति (२०) देव गति (२१) तिर्यंच गति (२२) नारक गति (२३) एकेन्द्रिय जाति (२४) द्वीन्द्रिय जाति (२५) त्रिन्द्रिय जाति (२६) चतुरिन्द्रिय जाति (२७) पंचेन्द्रिय जाति ये मिलकर ७८ प्रकृति होती है।

शंका—पुद्गल विपाकी कर्म किसे कहते हैं ?

समाधान—जिसका फल शरीर में मिले उसे पुद्गल विपाकी कर्म कहते हैं।

शंका—पुद्गल विपाकी कर्म की प्रकृति कितनी और कौनसी हैं ?

समाधान—पुद्गल विपाकी की ६२ प्रकृतियां हैं। (सर्व प्रकृति १४८ हैं जिसमें से क्षेत्र विपाकी चार, भव विपाकी चार, जीव विपाकी अठत्तर ऐसे सब मिलकर ८६ प्रकृति घटाने से शेष जो ६२ प्रकृति रहीं ये पुद्गल विपाकी हैं।

शंका—भव विपाकी कर्म किसे कहते हैं ?

समाधान—जिस कर्म के फल से जीव संसार में रुके रहें उस कर्म का नाम भव विपाकी कर्म है।

शंका—भव विपाकी कर्म की कितनी व कौनसी प्रकृतियां हैं ?

समाधान—भव विपाकी कर्म चार हैं—(१) नरकायु (२) तिर्यंचायु (३) मनुष्यायु (४) देवायु।

शंका—क्षेत्र विपाकी कर्म किसे कहते हैं ?

समाधान—जिस कर्म के फल से विग्रह गति में जीव का आकार पहला सा बना रहे उसे क्षेत्र विपाकी कर्म कहते हैं।

शंका—क्षेत्र विपाकी कर्म की कितनी व कौनसी प्रकृतियां है ?

समाधान—क्षेत्र विपाकी कर्म चार है—(१) नरक गत्यानुपूर्वी (२) तिर्यंचगत्यानुपूर्वी (३) मनुष्य गत्यानुपूर्वी (४) देवगत्यानुपूर्वी।

शंका—पाप प्रकृति कर्म किसे कहते है ?

समाधान—जो जीव को दुःख देवे एवं अनिष्ट सामग्री मिलावे ऐसी प्रकृति का नाम पाप प्रकृति कर्म है।

शंका—पाप प्रकृति कर्म कितनी व कौनसी है ?

समाधान—पाप प्रकृति कर्म १०० हैं, घातीया कर्म की ४७, असाता वेदनीय १, नीच गोत्र १, नरकायु १ और नाम कर्म की ५० (नरक गति १, नरकगत्यानुपूर्वी १, तिर्यंच गति १, तिर्यंच गत्यानुपूर्वी १, जाति में से आदि की जाति ४, संस्थान अन्त के ५, संहनन अन्त के ५, स्पर्शादिक २०, उपघात १, अप्रशस्त विहायोगति १, सूक्ष्म १, अपर्याप्त १, अनादेय १, अयशः कीर्ति १, अशुभ १, दूर्भग १, दुःस्वर १, अस्थिर १ और साधारण १)।

शंका—पुण्य प्रकृति कर्म किसे कहते हैं ?

समाधान—जो जीवों को बाह्य इष्ट सामग्री प्राप्त करावे, उसे पुण्य प्रकृति कहते हैं।

शंका—पुण्य प्रकृति कितनी व कौनसी हैं ?

समाधान—पुण्य प्रकृति ६८ हैं। कर्म की समस्त १४८ प्रकृति हैं जिनमें से पाप प्रकृति १०० घटाने से ४८ रही उनमें नाम कर्म की स्पर्शादिक २० मिलाने से ६८ प्रकृति पुण्य प्रकृति कही जाती हैं। स्पर्शादिक २० प्रकृति किसी को इष्ट किसी को अनिष्ट होती हैं इसलिए यह २० प्रकृति पुण्य तथा पाप दोनों में गिनी जाती हैं।

शंका—आठों कर्म की उत्कृष्ट स्थिति कितनी है ?

समाधान—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, अन्तराय ये चारों कर्म ही उत्कृष्ट स्थिति तीस तीस कोड़ा कोड़ी सागर हैं। मोहनीय कर्म की सत्तर कोड़ा कोड़ी सागर है। नाम कर्म, गोत्र कर्म की बीस कोड़ा कोड़ी सागर और आयु कर्म की तेतीस सागर की है।

शंका—आठों कर्मो की जघन्य स्थिति कितनी कितनी है ?

समाधान—वेदनीय की बारह मुहूर्त, नाम तथा गोत्र कर्म की आठ आठ मुहूर्त और शेष समस्त कर्मो की अन्तर्मुहूर्त जघन्य स्थिति है।

शंका—उदय किसे कहते हैं ?

समाधान—जिस कर्म की स्थिति पूरी होने से फल देकर सविपाक निर्जरा रूप कर्म स्कन्ध से अलग हो जाय उसे उदय संज्ञा है।

शंका—उदीरणा कितने प्रकार की है एवं किसे कहते हैं ?

समाधान—उदीरणा दो प्रकार की है। (१) भाव उदीरणा (२) द्रव्य उदीरणा। आत्मा में जो बुद्धिपूर्वक रागादिक भाव तथा क्रियां होती है उसे भाव उदीरणा कहते हैं। जिस कर्म की स्थिति पूरी न हुई है परन्तु आत्मा के बुद्धिपूर्वक रागादिक का निमित्त पाकर जो कर्म फल देकर अविपाक निर्जरा रूप खिर जाता है उसे द्रव्य उदीरणा कहते हैं।

शंका—उदय और उदीरणा में क्या अन्तर है ?

समाधान—वेदक नाम के अनुयोग द्वार में उदय और उदीरणा नामक दो अनुयोग द्वारा है। सूत्र नम्बर १।

विशेषार्थ—कर्मों के यथा काल जनित फल या विपाक को उदय कहते है। और उदय काल आने के पूर्व ही तपस्चरणादि उपाय विशेष से, कर्मो के परिपाचन को उदीरणा कहते है। उदय और उदीरणा को कर्म फलानुभव रूप वेदन की अपेक्षा "वेदक" यह संज्ञा दी गई है। पृष्ठ ४६५ कषाय पाहुड सूत्त।

कदि आवलियं पवेसइ कदि च पविस्संति कस्स आवलियं।
खेत्त भव काख पोग्गल ट्ठिदि विवागो दयखयो दु ॥ ५९ ॥

अर्थ—प्रयोग विशेष के द्वारा कितनी कर्म प्रकृतियां को उदयावली के भीतर प्रवेश करता है? तथा किसी जीव के कितनी कर्म प्रकृतियों को उदीरणा के बिना ही स्थिति क्षय से उदयावली के भीतर प्रवेश करता है? क्षेत्र, भव, काल और पुद्गल द्रव्य का आश्रय लेकर जो स्थिति विपाक होता है उसे उदीरणा कहते हैं और उदय क्षय को उदय कहते हैं। ५९ पृष्ठ ४६५ कषाय पाहुड सुत्त।

शंका—उपशम निघत और निकाचित किसको कहते हैं?

समाधान—उनका स्वरूप निम्न प्रकार है।

उपशम—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के निमित्त से कर्म की शक्ति की अनुद्भूति (उदय में न आना) को उपशम कहते है। उपशम का दो भेद हैं। (१) अन्तकरण रूप उपशम (२) सद्वस्था रूप उपशम।

अन्त:करण रूप उपशम—आगामी काल में उदय आने योग्य कर्म स्कन्धों को आगे पीछे उदय आने योग्य करने को अन्तकरण रूप उपशम कहते हैं।

सदवस्था रूप उपशम—वर्तमान समय को छोड़कर आगामी काल में उदय आने वाले कर्मों के सत्ता में रहने को सदवस्थारूप उपशम कहते हैं।

निघत—जो प्रदेशाग्र उदय में देने के लिए, अथवा अन्य प्रकृति रूप परिणाम ने के शक्य नहीं है वह निघत कहलाता है। उससे विपरीत अनिघत है।

निकाचित—जो प्रदेशाग्र अपकर्षण के लिए, उत्कर्षण के लिए, अन्य प्रकृति रूप परिणाम ने के लिए, और उदय में देने के लिए शक्य नहीं है वह निकाचित कहलाता है। इससे विपरीत अनिकाचित है। कहा भी है कि—

उदए संकम उदए च दुसु वि दादुं कमेण णो सक्कं।
उवसंतं च णिधत्तं णिकाचिदं चावि जं कम्मं ॥ ७८ ॥ गो० क० ४४० ॥

अर्थ—जो कर्म उदय में नहीं दिया जा सके वह उपशान्त कहलाता है। जो कर्म संक्रमण व उदय में नहीं दिया जा सके वह निघत है। जो कर्म उदय, संक्रमण, उत्कर्षण व अपकर्षण इन चारों में ही नहीं दिया जा सकता है वह निकाचित कहा जाता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ३३५-३३६ पुस्तक नं० ९ तथा पृष्ठ नं० २९५ पुस्तक नं० ६।

शंका क्षय किसे कहते हैं?

समाधान—कर्म की अत्यन्त निवृत्ति को क्षय कहते है। अर्थात् जिस कर्म का क्षय किया जाता है उस कर्म का आत्म प्रदेश से अत्यन्त अभाव हो जाने का नाम क्षय संज्ञा है।

विपरिणामोपक्रम अधिकार और मोक्षानुयोग द्वार में क्या भेद है ?

विपरिणामोपक्रम अधिकार, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों की देश निर्जरा और सकल निर्जरा की प्ररूपणा करता है। मोक्षानुयोग द्वारा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों के मोक्ष का वर्णन करते हैं।

शंका—मोक्ष और विपरिणामोपक्रम में क्या भेद हैं ?

समाधान—विपरिणामोपक्रम अधिकार, देश निर्जरा तथा सकल निर्जरा की प्ररूपणा करता है परन्तु मोक्षानुयोग द्वार देश निर्जरा व सकल निर्जरा के साथ पर प्रकृति संक्रमण, अपकर्षण, उत्कर्षण और काल स्थिति गलन से प्रकृति, स्थिति अनुभाग और प्रदेश बन्ध के भेद से भेद को प्राप्त मोक्ष का वर्णन करता है। ये दोनों में भेद हैं। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २३४ पुस्तक नम्बर ६।

सब कर्म की प्रकृतियों में बहुभाग।

पयडि अट्ठदाए सव्वत्थोवा गोदस्स कम्मस्स पयडीओ ॥ सूत्र नं० ३ ॥
वेयणीयस्स कम्मस्स पयडीओ तत्तियायो चेव ॥ सूत्र नं० ४ ॥
आउअस्स कम्मस्स पयडीओ संखेज्जगुणाओ ॥ सूत्र नं० ५ ॥
अंतराइयस्स कम्मस्स पयडीओ विसेसाहियाओ ॥ सूत्र नं० ६ ॥
मोहणीयस्स कम्मस्स पयडीओ संखेज्जगुणाओ ॥ सूत्र नं० ७ ॥
णामस्स कम्मस्स पयडीओ असंखेज्जगुणाओ ॥ सूत्र नं० ८ ॥
दंसणावरणीयस्स कम्मस्स पयडीओ असंखेज्जगुणाओ ॥ सूत्र नं० ९ ॥
णाणावरणीयस्स कम्मस्स पयडीओ विसेसाहियाओ ॥ सूत्र नं० १० ॥

अर्थ—प्रकृत्यर्थता की अपेक्षा गोत्र कर्म की प्रकृतियां सबसे स्तोक है। ३ ॥
क्योंकि वह दो अङ्क प्रमाण है।
अर्थ—वेदनीय कर्म की भी उतनी ही प्रकृतियां है। ४ ॥
क्योंकि साता व असाता के भेद से उनकी भी दो संख्या पाई जाती हैं।
अर्थ—आयु कर्म की प्रकृतियां उनसे संख्यात गुणी है। ५ ॥
गुणाकार क्या है ? गुणाकार दो का अङ्क है।
अर्थ—अन्तराय कर्म की प्रकृतियां उनसे विशेष अधिक है ॥६॥
कितने मात्र से वे अधिक हैं ? वे अपने चतुर्थ भाग मात्र से अधिक हैं।
अर्थ—मोहनीय कर्म की प्रकृतियां उनसे असंख्यातगुणी हैं ॥७॥
गुणाकार क्या है ? गुणाकार दो बटे पांच भाग से कम छह अङ्क है।
अर्थ—नाम कर्म की प्रकृतियां उनसे असंख्यात गुणी हैं ॥८॥
यहां गुणाकार का प्रमाण असंख्यात लोक है।
अर्थ—दर्शनावरणीय की प्रकृतियां उनसे असंख्यात गुणी हैं ॥९॥

यहाँ भी गुणाकार असंख्यात लोक प्रमाण है।

अर्थ—ज्ञानावरणीय की प्रकृतियाँ उनसे विशेष अधिक हैं ॥१०॥

विशेष कितना है ? यह असंख्यात कल्प प्रमाण है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ५०९ पुस्तक नं० १२।

उदय विच्छेद किस प्रकार होता है ? (दोमत)

मिथ्यात्व, एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, आताप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण इन दश प्रकृतियों का उदय विच्छेद मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के अन्तिम समय में होता है। यह महाकर्म प्रकृति प्राभृत का उपदेश है। चूर्णि सूत्रों के कर्ता यति वृषभाचार्य के उपदेश से मिथ्यात्व गुणस्थान के अन्तिम समय में पांच प्रकृतियों का उदय विच्छेद होता है, क्योंकि, चार जाति और स्थावर प्रकृतियों का उदय विच्छेद सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में माना गया है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ का उदय विच्छेद सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान के अन्तिम समय में होता है। सम्यग्मिथ्यात्व का उदय विच्छेद सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में होता है। अप्रत्याख्यानावरण, क्रोध, मान, माया, लोभ, नरकायु, देवायु, नरकगति, देवगति, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक अङ्गोपांग, चार आनुपूर्वी, दूर्भग, अनादेय और अयशः कीर्ति इन सत्तरह प्रकृतियों का उदय विच्छेद असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में होता है। प्रत्याख्यानावरण, क्रोध, मान, माया, लोभ, तिर्यंचायु, तिर्यंच गति, उद्योत और नीच गोत्र इन आठ प्रकृतियों का उदय विच्छेद संयमासंयम गुणस्थान में होता है। निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि, आहारक शरीर, आहारक शरीर अंगोपांग, इन पांच प्रकृतियों का उदय विच्छेद प्रमत संयत गुणस्थान में होता है। अर्धनाराच, कीलित, असंप्राप्त सृपाटिका संहनन और सम्यक्त्व प्रकृति इन चार प्रकृतियों का उदय विच्छेद अप्रमत संयत गुणस्थान में होता है। हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा इन छह प्रकृतियों का उदय विच्छेद अपूर्व करण गुणस्थान में होता है। स्त्री, नपुंसक वेद और पुरुष वेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया इन छह प्रकृतियों का उदय विच्छेद अनिवृति गुणस्थान में होता है। केवल एक लोभ का उदय विच्छेद सूक्ष्म साम्परायिक गुणस्थान के अन्तिम समय में होता है। वज्रनाराच और नाराच शरीर संहनन इन दो प्रकृतियों का उदय विच्छेद उपशान्त कषाय गुणस्थान में होता है। निद्रा और प्रचला दोनों प्रकृतियों का उदय विच्छेद क्षीण कषाय गुणस्थान के द्विचरम समय में होता है। पाँच ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरणीय और पांच अन्तराय इन चौदह प्रकृतियों का उदय विच्छेद क्षीण कषाय गुणस्थान के अन्तिम समय में होता है। औदारिक, तैजस, कार्मण शरीर, छह संस्थान, औदारिक शरीर अंगोपांग, वज्रर्षभनाराच संहनन, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, दो विहायोगतियां प्रत्येक शरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुस्वर और निर्माण इन उन्तीस प्रकृतियों का उदय विच्छेद सयोगि केवली गुणस्थान में होता है। दो वेदनीय, मनुष्यायु, मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस, वादर, पर्याप्त, शुभग, आदेय, यशः कीर्ति, तीर्थंकर और उच्च गोत्र इन तेरह प्रकृतियों का उदय विच्छेद अयोगि केवली गुणस्थान में होता है। यहाँ उपसंहार गाथा—

दश-चदुरिगि-सत्तारस, अट्ठ य तह पंच चेव चउरो य।

छच्छक्क एग दुग दुग चोद्दस उगुतीस तेरसुदयविही ॥६॥

अर्थ – दश, चार, एक, सत्तरह, आठ, पांच, चार, छह, छह, एक, दो, दो, चौदह, उन्तीस, और तेरह (इस प्रकार क्रमशः मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानों में उदय विच्छुति प्रकृतियों की संख्या है) ॥६॥ धवल ग्रन्थ पृष्ठ ९-११ पुस्तक नम्बर ८ गोमट्टसार कर्म काण्ड गाथा २६५ से २७१।

उदय विच्छेद बाद में बन्ध विच्छेद प्रकृतियां—

देवायु, देवगति, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक अंगोपांग, देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग और अयशः कीर्ति इन आठ प्रकृतियों का प्रथम उदय का विच्छेद होता है बाद में बन्ध का विच्छेद होता है। उपसंहार गाथा—

देवायु देवचउक्काहारदुअं च अजसमएहं।
पढमुदओ विणस्सदि पच्छावधो मुणयेव्वो ॥७॥

"गो० क० ४०० धवल ग्रन्थ पृष्ठ ११ पुस्तक नम्बर ८"

बन्ध व उदय साथ में विच्छेद प्रकृतियाँ—

मिथ्यात्व, चार अनन्तानुबन्धी, चार अप्रत्याख्यानावरण, चार प्रत्याख्यानावरण, तीन संज्वलन, (लोभ छोड़कर) पुरुष वेद, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, मनुष्य गति प्रायोग्यानु पूर्वी, आताप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण इन इक्कतीस प्रकृतियों का बंन्ध व उदय दोनों साथ विच्छिन होती है। गो० क० गाथा ४००-४०१ धवल ग्रन्थ पृष्ठ १२ पुस्तक नं० ८

बन्ध विच्छेद बाद उदय विच्छेद प्रकृतियाँ—

पांच ज्ञानावरणीय, नौदर्शनावरणीय, दो वेदनीय, संज्वलन लोभ, स्त्री वेद, नपुंसक वेद, अरति, शोक, नरकायु, तिर्यचायु, मनुष्यायु, नरक गति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर, छह संस्थान, औदारिक शरीर अंगोपाग, छह संहनन, वर्णादिक चार, नरक गत्यानु पूर्वी, तिर्यंचगत्यानु पूर्वी, अगुरु लघु आदि चार, उद्योत, दो विहायो गति, त्रस, बादर, पर्याप्ति, प्रत्येक शरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुस्वर, आदेय, अनादेय, यशः कीर्ति, निर्माण, तीर्थंकर, नीच गोत्र, उच्च गोत्र और पांच अन्तराय, इन इक्यासी प्रकृतियों का पहले बन्ध नष्ट होता है बाद में उदय नष्ट होता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १२-१३ पुस्तक नम्बर ८

पर उदय से बन्ध ने वाली प्रकृतियाँ—

नरकायु, देवायु, नरक गति, देवगति, नरक गत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक अंगोपांग, आहारक अंगोपांग और तीर्थंकर ये ग्यारह प्रकृतियाँ परोदय से बन्धती। उपसंहार गाथा—

तित्थयर, णिरय, देवाउअ वेउव्वियछक्क दो वि आहारा।
एक्कारस पयडीणं बंधो हू परोदए वुत्तो ॥११॥

अर्थ—तीर्थंकर, नरकायु, देवायु, वैक्रियिक शरीर आदि छह और दोनों आहारक इन ग्यारह प्रकृतियों का बन्ध परोदय से कहा गया है ॥११॥ धवल ग्रन्थ पृष्ठ १३ पुस्तक नम्बर ८

स्वोदय परोदय से बन्धने वाली प्रकृतियाँ—

पाँच ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरणीय, मिथ्यात्व, तैजस और कार्मण शरीर, वर्णादिक चार, अगुरु लघु, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, निर्माण और पाँच अन्तराय ये सत्ताईस प्रकृतियाँ स्वोदय से बन्धती है।

पाँच दर्शनावरणीय, दो वेदनीय, सोलह कषाय, नौ नोकषाय, तिर्यंचायु, मनुष्यायु, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, छह संस्थान, औदारिक शरीर अंगोपांग, छह संहनन, तिर्यंचगत्यानु पूर्वी, मनुष्य गत्यानु पूर्वी, उपघात, परघात, उच्छ्वास आताप, उद्योत, दो विहायोगति, त्रस, स्थावर, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त, प्रत्येक, साधारण, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुस्वर, आदेय, अनादेय, यशः कीर्ति, अयशः कीर्ति, नीच गोत्र और उच्च गोत्र ये ब्यासी प्रकृतियाँ स्वोदय, परोदय से अर्थात् दोनों प्रकार से बन्धती है। यहां उपसंहार गाथा—

णाणंतराय, दंसण थिरादिचउ तेज कम्म देहाइं।
णिमिणं-अगुरु वल हुअं वण्णचउक्कं च मिच्छतं ॥१२॥
सत्तावीसेदाओ बज्झंति हु सोदएण पयडीयो।
सोदय, परोदेएण, वि बज्झंत व से सियाओ दु ॥१३॥

अर्थ—पाँच ज्ञानावरण, पाँच अन्तराय, दर्शनावरण चार, स्थिर आदिक चार, तेजस और कार्मण शरीर, निर्माण, अगुरु लघु, वर्णादिक चार और मिथ्यात्व ये सत्ताईस प्रकृतियाँ तो स्वोदय से बन्धती है और शेष प्रकृतियाँ स्वोदय, परोदय से बन्धती हैं ॥१२-१३॥ धवल ग्रन्थ पृष्ठ १५ पुस्तक नं० ८

निरन्तर बन्ध ने वाली प्रकृतियाँ—

पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, मिथ्यात्व, सोलह कपाय, भय, जुगुप्सा, आयुचार, आहारक शरीर, तेजस शरीर, कार्मण शरीर, आहारक शरीर अंगोपांग, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्स, अगुरु लघु, उपघात, निर्माण, तीर्थंकर और पाँच अन्तराय ये चौवन प्रकृतियाँ निरन्तर बन्धती है। यहाँ उपसंहार गाथा—

सत्तेताल धुवाओ, तित्थयराहार आउचत्तारि।
चउवण्णं पयडीओ, बज्झंति णिरंतरं सव्वा ॥१४॥ गो. क. ४०४

अर्थ—सेंतालीस ध्रुव प्रकृतियाँ तीर्थंकर आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग और चार आयु ये सब चौवन प्रकृतियाँ निरंतर बन्धती है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १६ पुस्तक नम्बर ८

ध्रुव बन्धी प्रकृतियाँ—

शंका—ध्रुव बन्धी प्रकृतियाँ कौनसी है ?

समाधान—चार आयु, तीर्थंकर और दो आहार से रहित ये उपर्युक्त प्रकृतियाँ ही ध्रुव प्रकृतियाँ है। इन प्रकृतियों की निरूपक गाथाएँ—

णाणंतराय दसयं दंसण णव मिच्छ सोलस कसाया।
भय कम्म दुगुंछा वि य तेजा कम्मं च वण्णच दु ॥१५॥
अगुरू अलहु उवघादं णिमिणं णामं च होंति सगदालं।
बंधो चउव्वियप्पो धुव बंधीणं पयडि बंधो ॥ १६ ॥ गो० क० १२४

अर्थ—ज्ञानावरण और अन्तराय की दस, नौ दर्शनावरण, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, भय, जुगुप्सा, तैजस और कार्मण शरीर, वर्णादिक चार, अगुरु लघु, उपघात और निर्माण नाम कर्म यह सैंता-

लीस ध्रुव बन्धी प्रकृतियां हैं। इनका प्रकृति बन्ध सादि अनादि ध्रुव एवं अध्रुव से चार प्रकार का होता है। १५-१६॥

शंका—निरन्तर बन्ध और ध्रुव बन्ध में क्या भेद है ?

समाधान—जिस प्रकृति का प्रत्यय जिस किसी भी जीव में अनादि एवं ध्रुव भाव से पाया जाता है व ध्रुव बन्ध प्रकृति है और जिस प्रकृति का प्रत्यय, नियम से सादी एवं अध्रुव तथा अन्तर्मुहूर्त आदि काल तक अवस्थित रहने वाला है वह निरन्तर बन्ध प्रकृति है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ १७ पुस्तक नम्बर ८।

सान्तरबन्ध प्रकृति कौनसी है ?

असाता वेदनीय, स्त्री वेद, नपुंसक वेद, अरति, नरक गति, जाति चार, अधस्तन पांच संस्थान पांच संहनन, नरक गत्यानुपूर्वी, आताप, उद्योत, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय और अयशः कीर्ति ये चौतीस प्रकृतियां सान्तर रूप से बन्धती हैं। यहां उपसंहार गाथा।

इत्थि णउंसयवेदा जाइचउक्कं असाद णिरय दुगं।
आदाउज्जोवारइ सोगासुह पंच संठाणा ॥ १७ ॥
पंचासुह संघडणा विहागयइ अप्पसत्थिया अण्णे।
थावर सुहमासुह दस चोतीसिह सांतरा बंधा ॥१८॥ गो० क० ४०४-४०५

धवल ग्रन्थ पृष्ठ १७ पुस्तक नम्बर ८।

सान्तर निरन्तर बन्ध प्रकृतियां।

साता वेदनीय, पुरुष वेद, हास्य, रति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति, देव गति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक अंगोपांग, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक अंगोपांग, समचतुरस्र संस्थान, वज्रषभनाराच संहनन, तिर्यंच गत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, स्थावर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशः कीर्ति, नीच गोत्र, ये सान्तर निरन्तर रूप से बन्धने वाली प्रकृतियां है। यहां उपसंहार गाथा।

सांतर णिरंतरेण य बतीस वसेसियाओ पयडीओ।
वज्झंति पच्चयाणं दुपयाराणं वसगयाओ ॥ १९ ॥

गो० क० ४०६-४०७ धवल ग्रन्थ पृष्ठ १८ पुस्तक नं ८।

क्षीण अक्षीण स्थितिक का स्वरूप।

जिस स्थिति में स्थिति कर्म, प्रदेशाग्र अपकर्षण के अयोग्य होते हैं, उन्हें अपकर्षण से क्षीण स्थितिक कहते हैं। और जिस स्थिति में स्थित कर्म प्रदेशाग्र अपकर्षण के योग्य होते हैं उन्हें अपकर्षण से अक्षीण स्थितिक कहते हैं। इसी प्रकार जिस स्थिति के कर्म परमायु उत्कर्षण के अयोग्य होते हैं उन्हें उत्कर्षण से क्षीण स्थितिक और उत्कर्षण के योग्य कर्म परमाणुओं को उत्कर्षण से अक्षीण स्थितिक कहते हैं। संक्रमण के अयोग्य कर्म परमाणुओं को सक्रमण से क्षीण स्थितिक और संक्रमण के योग्य कर्म

परमाणुओं को संक्रमण से अक्षीण स्थितिक कहते हैं। जिस स्थिति में स्थिति कर्म परमाणु उदय से निर्जीर्ण हो रहे हैं उन्हें उदय से क्षीण स्थितिक कहते हैं, और जो उदय के योग्य हैं अर्थात् आगे निर्जीर्ण होंगे उन्हें उदय से अक्षीण स्थितिक कहते हैं। चूर्णि सूत्र नं० १-३ पृष्ठ नं० २१३-१४ कषाय पाहुड सुत्त।

किस कर्म की उदीरणा होती है ?

शंका—कौन से कर्म प्रदेश अपकर्षण से क्षीण स्थितिक है ? सूत्र नं० ४।

समाधान—जो कर्म प्रदेश उदयावली के भीतर स्थिति है, वे अपकर्षण से क्षीण स्थितिक हैं। जो कर्म प्रदेश उदयावली के वाहिर स्थिति है वे अपकर्षण से अक्षीण स्थितिक है। सूत्र नं० ५।

विशेपार्थ—उदयावली के भीतर जो कर्म प्रदेश स्थित है उनकी स्थिति का अपकर्षण नहीं हो सकता है। किन्तु जो प्रदेश उदयावली के वाहिर अवस्थित है वे अपकर्षण से अयोग्य हैं अर्थात् उनकी स्थिति को घटाया जा सकता है।

शंका—कौनसे कर्म प्रदेश उत्कर्षण से क्षीण स्थितिक हैं ? सूत्र नं० ६।

समाधान—जो कर्म प्रदेश उदयावली में प्रविष्ट है, वे उत्कर्षण से क्षीण स्थितिक है। किन्तु जो कर्म प्रदेशाग्र उदयावली से वाहिर भी अवस्थित है वे भी अपकर्षण से क्षीण स्थितिक होते हैं। इसका निर्दर्शन इस प्रकार है। सूत्र नं ७-८।

एक समय अधिक उदयावली के अन्तिम समय में जो स्थित, अवस्थित है उस स्थिति के जो प्रदेशाग्र है वे यहाँ पर आदिष्ट अर्थात विवक्षित है। उस कर्म प्रदेशाग्र की यदि वन्धने के समय से लेकर एक समयाधिक आवली से कर्म स्थिति व्यतीत हुई है, तो उस कर्म प्रदेशाग्र का उत्कर्षण नहीं किया जा सकता है। उस ही कर्म प्रदेशाग्र की यदि दो समय से अधिक आवली से कम स्थिति व्यतीत हुई, तो वह भी उत्कर्षण क्षीण स्थितिक है। अर्थात उस कर्म प्रदेशाग्र का भी उत्कर्षण नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार एक एक समय वढ़ाते हुए यदि जघन्य आवाधा से कम कर्म स्थिति व्यतीत हुई है तो वह कर्म प्रदेशाग्र भी उत्कर्षण से क्षीण स्थितिक हैं। 'अर्थात उसका भी उत्कर्षण नहीं किया जा सकता है। सूत्र नम्बर ९-१२।

समयोत्तर उदयावली में अर्थात् एक समय अधिक उदयावली के अन्तिम समयमें जो स्थिति अवस्थित है, उस स्थिति के जो प्रदेशाग्र है उस प्रदेशाग्र की यदि समयाधिक जघन्य आबाधा से कम कर्म स्थिति बीत चुकी है, तो जघन्य आबाधा प्रमाण, प्रदेशाग्र का, उत्कर्षण किया जा सकता है, और उसे उपरिम, अनन्तर एक स्थिति में निषिक्त किया जा सकता है। यदि उस कर्म प्रदेशाग्र की दो समय आबाधा से कम कर्म स्थिति बीत चुकी है, अथवा तीन समय अधिक आबाधा से कम कर्म स्थिति बीत चुकी है, इस प्रकार समयोत्तर वृद्धि के क्रम से आगे जाकर वर्ष से या वर्ष पृथक्त्व से या सागरोपम से या सागरोपम पृथक्त्व से कम कर्म स्थिति व्यतिक्रान्त हो चुकी है, तो वह सर्व कर्म प्रदेशाग्र उत्कर्षण से अक्षीण स्थितिक है, अर्थात उनका उत्कर्षण किया जा सकता है। और अनन्तर उपरिम स्थिति में उसे निषिक्त भी किया जा सकता है। चूर्णि सूत्र नम्बर १३-१४।

जो पूर्व में आदिष्ट अर्थात विवक्षित समयाधिक उदयावली की अन्तिम स्थिति है उसही स्थितिके प्रदेशाग्र का वन्धने के समय से यदि एक समय अतिक्रान्त हुआ है तो वह अवस्तु है, अर्थात उसके प्रदेशाग्र इस विवक्षित स्थिति में नहीं है। यदि दो समय बन्ध काल से व्यतीत हुए हैं तो वह भी अवस्तु है। इस

प्रकार निरन्तर आगे जाकर यदि बन्ध काल से एक आवली व्यतीत हुई है, तो वह भी अवस्तु है। इस प्रकार निरन्तर आगे जाकर यदि बन्ध काल से एक आवली व्यतीत हुई है तो वह भी अवस्तु है। अर्थात् तत्प्रमाण कर्म प्रदेशाग्रों का उत्कर्षण नहीं किया जा सकता है। यदि उसी विवक्षित स्थिति के प्रदेशाग्र की बन्ध काल से आगे समयाधिक आवली व्यतीत हुई है, तो वह आदेश होगी, अर्थात् उसके कर्म प्रदेशाग्रों का विवक्षित स्थिति में वस्तु रूप से अवस्थित होना सम्भव है। यदि वह प्रदेशाग्र कर्म स्थिति पमाण है तो उनका उत्कर्षण नहीं किया जा सकता है। और यदि समयाधिक आवली से कम कर्म स्थिति प्रमाण है तो उनका उत्कर्षण किया जा सकता है। जो समयाधिक उदयावली है उसकी स्थिति के कर्म प्रदेशाग्र के भी ये सब सम्पूर्ण विकल्प जानना चाहिए। उस प्रकार त्रिसमयाधिक चतुःसमयाधिक से लगाकर एक आवली से कम आबाधा काल तक ये सर्व विकल्प जानना चाहिए। सूत्र नम्बर १५-२०।

शंका—एक समय कम आवली से हीन आवाधा की इस मध्यवर्ती स्थिति में जो कर्म प्रदेशाग्र है उसके कितने विकल्प हैं ? सूत्र नम्बर २१।

समाधान—जिस प्रदेशाग्र की समयाधिक आवली से कम कर्म स्थिति बीत चुकी है वह प्रदेशाग्र भी इस स्थिति में नहीं है। जिस प्रदेशाग्र की दो समय अधिक आवली से हीन कर्म स्थिति बीत चुकी है वह प्रदेशाग्र भी नहीं है। इस प्रकार एक-एक समय अधिक के क्रम से आगे जाकर जितनी यह स्थिति है, उससे हीन कर्म स्थिति जिस प्रदेशाग्र की बीत चुकी है उसका प्रदेशाग्र इस स्थिति में होना सम्भव है। किन्तु वह उत्कर्षण से क्षीण स्थितिक है। इस स्थिति को आदि करके जघन्य आबाधा तक इस मध्यवर्ती स्थिति से हीन कर्म स्थिति जिस प्रदेशाग्र की बीत चुकी हैं उस प्रदेशाग्र का भी इस स्थिति में होना सम्भव है। यह सर्व कर्म प्रदेशाग्र उत्कर्षण से क्षीण स्थितिक है। एक समय आबाधा से हीन कर्म स्थिति जिस प्रदेशाग्र की बीत चुकी है उस प्रदेशाग्र का भी इस स्थिति में होना सम्भव है। वह प्रदेशाग्र भी उत्कर्षण से क्षीण स्थितिक है। उससे परवर्ती प्रदेशाग्र अक्षीण स्थितिक जानना चाहिए। इस प्रकार एक समय कम आवली से हीन जो आबाधा है उसकी स्थिति के विकल्प समाप्त हुए। सूत्र नं० २२-२८ पृष्ठ २१४-२१७ कषाय पाहुड सुत्त।

इस स्थिति के वस्तु विकल्प इतने ही होते हैं। किन्तु अवस्तु विकल्प एक रूप से अधिक होते हैं। यह क्रम समयोतर जघन्य आवाधा तक जानना चाहिए। दो समय अधिक जघन्य आबाधा से लेकर ऊपर उत्कर्षण से प्रदेशाग्र क्षीण स्थितिक नहीं है। इस प्रकार उत्कर्षण से क्षीण स्थितिक प्रदेशाग्र का अर्थपद समाप्त हुआ। सूत्र नम्बर ४४-४७।

अब इससे आगे संक्रमण से क्षीण स्थितिक को कहेंगे। जो कर्म प्रदेशाग्र उदयावली में प्रविष्ट है वह संक्रमण से क्षीण स्थितिक है, अर्थात् संक्रमण से अप्रायोग्य है। किन्तु जो प्रदेशाग्र उदयावली के बाहर स्थित है और जिनकी बन्धावली बीत चुकी है वे संक्रमण से अक्षीण स्थितिक है। अर्थात् संक्रमण होने योग्य है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प यहाँ सम्भव नहीं है। सूत्र नम्बर ४८-४९।

अब उदय से क्षीण स्थितिक को कहेंगे। जो कर्म प्रदेशाग्र उदीर्ण है अर्थात् उदय में आकर फल को देकर तत्काल गल रहा है वह उदय से क्षीण स्थितिक है। इसके अतिरिक्त अन्य समस्त स्थितियों के प्रदेशाग्र उदय से अक्षीण स्थितिक है। अर्थात् उदय के योग्य वह जानना चाहिए। यहाँ पर और अन्य विकल्प सम्भव नहीं हैं। चुर्णि सूत्र नम्बर ५०-५१ कषाय पाहुड सुत्त पृष्ठ नम्बर २१९।

क्षीण स्थितिक अक्षीण स्थितिक के स्वामी—

शंका—अपकर्षण की अपेक्षा मिथ्यात्व का उत्कृष्ट क्षीण स्थितिक प्रदेशाग्र किसके होता है? सूत्र नम्बर ५४।

समाधान—गुणित कर्मांशिक और सर्व लघु काल से दर्शन मोहनीय के क्षपण करने वाले जीव के होता है जिसने कि संक्रमण किये जाने योग्य मिथ्यात्व के अन्तिम स्थिति काण्डक का सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति में संक्रमण कर दिया है और जिसके एक समय कम आवली शेष रही है उसके मिथ्यात्व का अपकर्षण से उत्कृष्ट क्षीण स्थितिक प्रदेशाग्र होता है। उस ही जीव के उत्कर्षण और संक्रमण से भी मिथ्यात्व का उत्कृष्ट क्षीण स्थितिक प्रदेशाग्र होता है। सूत्र नम्बर ५५-५६।

शंका—उदय की अपेक्षा मिथ्यात्व का उत्कृष्ट क्षीण स्थितिक प्रदेशाग्र किसके होता है? सूत्र नम्बर ५७।

समाधान—जो गुणित कर्मांशिक जीव, संयमा-संयम गुण श्रेणी और संयम गुण श्रेणी इन दोनों ही गुण श्रेणियों को करके मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ उस प्रथम समयवर्ती मिथ्यादृष्टि के जिस समय के दोनों ही गुण श्रेणी शीर्षक एकीभूत होकर उदय को प्राप्त होता है उस समय मिथ्यात्व का उदय से उत्कृष्ट क्षीण स्थितिक प्रदेशाग्र होता है। सूत्र नम्बर ५८।

शंका—सम्यक्त्व प्रकृति का अपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण और उदय की अपेक्षा क्षीण स्थितिक प्रदेशाग्र किसके होता है? सूत्र नम्बर ५९।

समाधान—जिस गुणित कर्मांशिक जीव ने सर्व लघु काल के द्वारा दर्शन मोहनीय कर्म का क्षपण करना प्रारम्भ किया। और अपूर्व करण, अनुवृत्ति करण परिणामों के द्वारा अनेक स्थिति काण्डक और अनुभाग काण्डकों को घात कर मिथ्यात्व के द्रव्य को सम्यग्मिथ्यात्व में संक्रान्त किया। पुनः पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र अन्तिम स्थिति काण्डक को चरम फाली स्वरूप से सम्यक्त्व प्रकृति में संक्रान्त किया और सम्यक्त्व प्रकृति के भी पल्योपम संख्येय भागी तात्कालिक स्थिति काण्डक से अष्ट वर्ष प्रमाण सत् कर्म को करके और उसमें संक्रान्त करके फिर भी संख्यात सहस्र स्थिति काण्डक के द्वारा सम्यक्त्व प्रकृति की स्थिति को अत्यल्प करके जो कृत्य-कृत्य वेदक होकर अवस्थित है, उसके अधः स्थिति से गलता हुआ सम्यक्त्व प्रकृति का प्रदेशाग्र जिस समय क्रम से उदयावली में प्रवेश करता हुआ निरवशेष रूप से प्रविष्ट हो जाता है उस समय उक्त जीव के अपकर्षण से, उत्कर्षण से और संक्रमण से सम्यक्त्व प्रकृति का उत्कृष्ट क्षीण स्थिति प्रदेशाग्र होता है। उस ही चरम समयवर्ती अक्षीण दर्शन मोही जीव के जो दर्शन मोहनीय कर्म का सर्वोदयान्त्य प्रदेशाग्र है वह सम्यक्त्व प्रकृति का उदय से उत्कृष्ट क्षीण स्थितिक प्रदेशाग्र है। सूत्र नम्बर ६०-६१।

विशेषार्थ—सर्व उदयों के अन्त में उदय होने वाले कर्म प्रदेशाग्र को सर्वोदयान्त्य प्रदेशाग्र कहते हैं।

शंका—सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का अपकर्षण से, उत्कर्षण से और संक्रमण से उत्कृष्ट क्षीण स्थितिक प्रदेशाग्र किसके होता है? सूत्र नम्बर ६२

समाधान—जिस गुणित कर्मांशिक जीव ने सर्व लघु काल से दर्शन मोहनीय को क्षपण करते हुए सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के संक्रम्यमाण अन्तिम स्थिति काण्डक को संक्रान्त कर दिया और उदय समय

को छोड़कर उदयावली को परि पूर्ण कर दिया, उसके सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का अपकर्षण से, उत्कर्षण से और संक्रमण से उत्कृष्ट क्षीण स्थितिक प्रदेशाग्र होता है। सूत्र नम्बर ६३

शंका—सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय से उत्कृष्ट क्षीण स्थितिक प्रदेशाग्र किसके होता है? सूत्र नं० ६४

समाधान—जो गुणित कर्मांशिक जीव, संयमासंयम और संयम गुण श्रेणी को करके, उस समय सम्यग्मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ जबकि प्रथम समयवर्ती सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव के गुण श्रेणी शीर्षक उदय को प्राप्त हुए, उस समय उस प्रथम समयवर्ती, सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव के सम्यग्मिथ्यात्व का उदय से उत्कृष्ट क्षीण स्थितिक प्रदेशाग्र होता है। सूत्र नम्बर ६५

शंका—अनन्तानुबन्धी चारों कषायों का अपकर्षण आदि तीनों की अपेक्षा उत्कृष्ट क्षीण स्थितिक प्रदेशाग्र किसके होता है? सूत्र नं० ६६

समाधान—जिस गुणित कर्मांशिक जीव ने अविनष्ट संयमासंयम और संयम गुणस्थान के द्वारा अनन्तानुबन्धी कषाय का विसंयोजन आरम्भ किया और उसके संक्रम्यमाण अन्तिम स्थिति काण्डको अप्रत्याख्यानादि कषायों में संक्रान्त किया, उस समय उस जीव के अनन्तानुबन्धी कषाय का अपकर्षण आदि तीनों की अपेक्षा उत्कृष्ट क्षीण स्थितिक प्रदेशाग्र होता है। सूत्र नं० ६७

शंका—उदय की अपेक्षा अनन्तानुबन्धी कषाय का उत्कृष्ट क्षीण स्थितिक प्रदेशाग्र किसको होता है? सूत्र नं० ६८

समाधान—जो संयमासंयम और संयम गुण श्रेणी को करके मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ। उस समयवर्ती मिथ्यादृष्टि के जिस दोनों गुण श्रेणी शीर्षक उदय को प्राप्त हुए, उस समय उस प्रथम समयवर्ती मिथ्यादृष्टि के उदय की अपेक्षा अनन्तानुबन्धी कषाय का उत्कृष्ट क्षीण स्थितिक प्रदेशाग्र होता है। सूत्र नम्बर ६९

शंका—आठों कषायों का अपकर्षणादि तीनों की अपेक्षा उत्कृष्ट क्षीण स्थितिक प्रदेशाग्र किसको होता है? सूत्र नं० ७०

समाधान—जो गुणित कर्मांशिक जीव कषायों की क्षपणा के लिये उद्यत हुआ, वह जिस समय आठों कषायों के संक्रम्यमान अन्तिम स्थिति काण्डक को संक्रान्त कर लेता है, उस समय आठों कषायों का अपकर्षणादि तीनों की अपेक्षा उत्कृष्ट क्षीण स्थितिक प्रदेशाग्र होता है। सूत्र नं० ७१

शंका—उदय की अपेक्षा आठों कषायों का उत्कृष्ट क्षीण स्थितिक प्रदेशाग्र किसके होता है? सूत्र नं० ७२

समाधान—जो गुणित कर्मांशिक जीक संयमासंयम गुण श्रेणी संयम गुण श्रेणी और दर्शन क्षपणा सम्बन्धी गुण श्रेणी इन तीनों गुणश्रेणियों को करके असंयम को प्राप्त हुआ। उस प्रथम समयवर्ती असंयत के जिस समय में गुण श्रेणी शीर्षक उदय को प्राप्त हुए उस समय उस असंयत के उदय की अपेक्षा आठों कषायों का उत्कृष्ट क्षीण स्थितिक प्रदेशाग्र होता है। सूत्र नं० ७३

शंका—संज्वलन क्रोध का अपकर्षणादि तीनों की अपेक्षा उत्कृष्ट क्षीण स्थितिक प्रदेशाग्र किसके होता है? सूत्र नं० ७४

समाधान—जो गुणित कर्मांशिक जीव संज्वलन क्रोध को क्षपण करते हुए क्रोध के अन्तिम

स्थिति काण्डक के अन्तिम समय में असंक्षोभ कषाय से अवस्थित है अर्थात् किसी का भी संक्रमण नहीं कर रहा है उस समय उसके संज्वलन क्रोध का अपकर्षणादि तीनों को अपेक्षा उत्कृष्ट क्षीण स्थितिक प्रदेशाग्र होता हैं। चूर्णि सूत्र नं० ७५ कषाय पाहुड सुत्त पृष्ठ २२०-२२२

क्षीण स्थितक प्रदेशाग्र के जघन्य स्वामित्व का स्वरूप।

शंका—मिथ्यात्व का अपकर्षण, उत्कर्षण और संक्रमण की अपेक्षा जघन्य क्षीण स्थितिक प्रदेशाग्र किसके होती है? सूत्र नं० ९९।

समाधान—जो दर्शन मोहनीय कर्म का उपशमन करने वाला उपशम सम्यग्दृष्टि जीव उपशम सम्यक्त्व के काल में, छह आवलियों के शेष रहने पर सासादन गुणस्थान को प्राप्त हुआ, और वहाँ अनन्तानुबन्धी के तीव्र उदय से प्रति समय अनन्त गुणित संक्लेश की वृद्धि के साथ सासादन गुणस्थान का काल समाप्त करके मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त हुआ। उस प्रथम समयवर्ती मिथ्यादृष्टि के अपकर्षण, उत्कर्षण और संक्रमण की अपेक्षा मिथ्यात्व का जघन्य क्षीण स्थितिक प्रदेशाग्र होता है। सूत्र नं० १००॥ उसी उपर्युक्त जीव के जब मिथ्यात्व गुणस्थान में प्रवेश करने के पश्चात एक आवली काल बीत जाता है तब उस आवलिक मिथ्यादृष्टि के उदय की अपेक्षा मिथ्यात्व का जघन्य क्षीण स्थितिक प्रदेशाग्र होता है। सूत्र नम्बर १०१।

शंका—सम्यक्त्व प्रकृति का अपकर्षणादि तीनों की अपेक्षा क्षीण स्थितिक प्रदेशाग्र किसको होता है? सूत्र नम्बर १०२।

समाधान—उपशम सम्यक्त्व को पीछा किया है जिसने, ऐसे अर्थात् उपशम सम्यक्त्व के पश्चात वेदक सम्यक्त्व को ग्रहण करने वाले, ऐसे प्रथम समयवर्ती वेदक सम्यग्दृष्टि के अपकर्षण से, उत्कर्षण से, और संक्रमण से, सम्यक्त्व प्रकृति का जघन्य क्षीण स्थितिक प्रदेशाग्र होता है। जिसे एक आवली काल वेदक सम्यक्त्व को धारण किए हुए होगया है, ऐसी उसी वेदक सम्यग्दृष्टि जीव के उदय की अपेक्षा सम्यक्त्व प्रकृति का जघन्य क्षीण स्थितिक प्रदेशाग्र होता है। सूत्र नं० १०३-१०४।

इसी प्रकार सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के अपकर्षणादि चारों की अपेक्षा से क्षीण स्थितिक प्रदेशाग्र का जघन्य स्वामित्व जानना। केवल इतनी विशेषता है कि प्रथम समयवर्ती सम्यग्मिथ्यादृष्टि के अपकर्षणादि तीनों की अपेक्षा जघन्य स्वामित्व होता है। और एक आवली बिता देने वाले सम्यग्मिथ्यादृष्टि के उदय की अपेक्षा जघन्य स्वामित्व होता है। सूत्र नं० १०५-१०६।

शंका—आठ मध्यम कषाय चार संज्वलन, पुरुष वेद, हास्य, रति, भय और जुगुप्सा का अपकर्षण उत्कर्षण और संक्रमण की अपेक्षा क्षीण स्थितिक प्रदेशाग्र किसके होता है? सूत्र नं० १०७।

समाधान—जो उपशान्त कषाय वीतराग, छद्मस्थ संयत मरकर देव हुआ उस प्रथम समयवर्ती देव के अपकर्षण, उत्कर्षण और संक्रमण की अपेक्षा उपर्युक्त प्रकृतियों का जघन्य क्षीण स्थितिक प्रदेशाग्र होता है। उसी देव के जब उत्पन्न होने के अनन्तर एक आवली काल बीत जाता है, तब उसके उदय की अपेक्षा उन्हीं प्रकृतियों के क्षीण स्थितिक प्रदेशाग्र का जघन्य स्वामित्व होता है। सूत्र नं० १०८-१०९।

शंका—जब अनन्तानुबन्धी कषायों का अपकर्षण, उत्कर्षण और संक्रमण की अपेक्षा जघन्य क्षीण स्थितिक प्रदेशाग्र किसके होता हैं? सूत्र नम्बर ११०।

समाधान—जिसने सूक्ष्म निगोदिया जीवों में कर्म स्थितिक काल प्रमाण रहकर और वहाँ से

निकल करके संयमा संयम और संयम को बहुत वार प्राप्त किया तथा चार बार कषायों का उपशमन कर तदनन्तर अनन्तानुवन्धी का विसंयोजन कर और पुन: अन्तुर्मुहूर्त के पश्चात ही उसका संयोजन किया। तदनन्तर दो बार छयासठ सागरोपम काल तक सम्यक्त्व को परिपालन कर पुन: मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ, उस प्रथम समयवर्ती मिथ्यादृष्टि के अनन्तानुबन्धी कषायों का अपकर्षणादि तीनों की अपेक्षा जघन्य क्षीण स्थितिक प्रदशाग्र होता है। उसही जीव के मिथ्यादृष्टि होने के एक आवली काल के अन्तिम समय में अनन्तानुवन्धी कषायों का उदय की अपेक्षा जघन्य स्थितिक प्रदेशाग्र होता है। सूत्र नं० १११-११३ कपाय पाहुड सुत्त पृष्ठ २२६-२२८।

प्रदेशाग्र का भेद—

समुत्कीर्तना की अपेक्षा चार प्रकार प्रदेशाग्र होता है। (१) उत्कृष्ट स्थिति प्राप्तक (२) निषेक स्थिति प्राप्तक (३) यथा निषेक प्राप्तक (४) उदय स्थिति प्राप्तक। चूर्णि सूत्र नम्बर १३ स्थिति अधिकार।

शंका—उत्कृष्ट स्थिति प्राप्तक नाम किसका है ? सूत्र नम्बर ४।

समाधान—जो कर्म प्रदेशाग्र बन्ध समय से लेकर कर्म स्थिति प्रमाण काल तक सत्ता में रहकर अपनी कर्म स्थिति के अन्तिम समय में उदय में दिखाई देता है अर्थात् उदय को प्राप्त होता है उसे उत्कृष्ट स्थिति प्रातक कहते हैं। सूत्र नम्बर ५।

शंका—निषेक स्थिति प्राप्तक नाम किसका है ? सूत्र नम्बर ६।

समाधान—जो कर्म प्रदेशाग्र बन्धन के समय में ही जिस स्थिति में निषिक्त कर दिए गये अथवा अपवर्तित कर दिये गये वे उसी स्थिति में होकर यदि उदय में दिखाई देते हैं तो उन्हें निषेक स्थिति प्राप्तक कहते है। सूत्र नम्बर ७।

शंका—यथा निषेक स्थिति प्राप्तक किसे कहते हैं। सूत्र नम्बर ८।

समाधान—जो कर्म प्रदेशाग्र बन्ध के समय जिस स्थिति में निषिक्त कर दिये गये व अपवर्तना उर्ध्वर्तना को प्राप्त न होकर सत्ता में तदवस्थ रहते हुए यथा क्रम से उस ही स्थिति में होकर उदय में दिखाई दे उसे यथा निषेक स्थिति प्राप्तक कहते हैं। सूत्र नं० ९।

शंका—उदय स्थिति प्राप्तक किसे कहते हैं ? सूत्र नं० १०।

समाधान—जो कर्म प्रदेशाग्र वन्ध के अनन्तर जहाँ कहीं भी जिस किसी स्थिति में होकर उदय को प्राप्त होता है उसे उदय स्थिति प्राप्तक कहते हैं। चूर्णि सूत्र नम्बर ११ पाहुड सुत्त पृष्ठ २३५-२३६।

निषेक स्थिति तथा उदय स्थिति का जघन्य स्वरूप।

शंका—मिथ्यात्व का जघन्य निषेक स्थिति प्राप्त और जघन्य उदय स्थिति प्राप्त प्रदेशाग्र किसके होता है ? सूत्र नम्बर ६९।

समाधान—उपशम सम्यक्त्व के पीछे आए हुए और तत्प्रयोग्य उत्कृष्ट संक्लेश से युक्त ऐसे प्रथम समयवर्ती मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व का जघन्य निषेक स्थिति प्राप्त और जघन्य उदय स्थिति प्राप्त प्रदेशाग्र होता है। सूत्र नम्बर ७०।

शंका—मिथ्यात्व का जघन्य यथा निषेक स्थितिक प्रदेशाग्र होता है। सूत्र नम्बर ७१।

समाधान—जो जीव जघन्य-एकेन्द्रिय स्थिति सत्कर्म के साथ त्रसों में उत्पन्न हुआ और अन्त-

मुहूर्त से सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ। पुनः दो बार छयासठ सागरोपम काल तक सम्यक्त्व परिपालन कर मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ। उसके योग्य मिथ्यात्व की जितनी उत्कृष्ट आबाधा है उतने समय तक मिथ्यादृष्टि रहने वाले उसी जीव के मिथ्यात्व का जघन्य तथा निषेक स्थिति को प्राप्त प्रदेशाग्र होता है। सूत्र नम्बर ७२।

जिस जीव के मिथ्यात्व का यथा निषेक रचा है उसी ही जीव के सम्यक्त्व प्रकृति का भी यथा निषेक कहना चाहिए। विशेषता केवल यह है कि उस सम्यक्त्व प्रकृति के उत्कृष्ट काल में अन्तिम समय में वर्तमान उस चरम समयवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव के सम्यक्त्व प्रकृति का जघन्य तथा निषेक स्थिति को प्राप्त प्रदेशाग्र होता है। सूत्र नम्बर ७४।

शंका—सम्यक्त्व प्रकृति का निषेक से और उदय जघन्य से स्थिति प्राप्त प्रदेशाग्र किसके होता है। सूत्र नम्बर ७४।

समाधान—उपशम सम्यक्त्व को पीछे करके आए हुए तथा तत्प्रायोग्य उत्कृष्ट संक्लेश से युक्त ऐसे प्रथम समयवर्ती वेदक सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व प्रकृति का निषेक से और उदय से जघन्य स्थिति को प्राप्त प्रदेशाग्र होता है। सूत्र नम्बर ७५।

जिस प्रकार से सम्यक्त्व प्रकृति के जघन्य यथा निषेक की प्ररूपणा की उस ही प्ररूपणा से सम्यग्मिथ्यात्व की प्ररूपणा भी की हुई समझना चाहिए। उससे यहाँ पर केवल इतना भेद है कि उत्कृष्ट सम्यग्मिथ्यात्व काल के चरम समय मे सम्यग्मिथ्यात्व का जघन्य यथा निषेक स्थिति प्राप्त प्रदेशाग्र होता है। सूत्र नम्बर ७६।

शंका—सम्यग्मिथ्यात्व का निषेक से और उदय से जघन्य स्थिति प्राप्त प्रदेशाग्र किसके होता है ? सूत्र नम्बर ७७।

समाधान—उपशम सम्यक्त्व से पीछे आए हुए तथा तत्प्रायोग्य उत्कृष्ट संक्लेश को प्राप्त ऐसे प्रथम समयवर्ती सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव के सम्यग्मिथ्यात्व का निषेक से और उदय से जघन्य स्थिति को प्राप्त प्रदेशाग्र होता है। सूत्र नम्बर ७७।

शंका—अनन्तानुबन्धी चारों कषायों का निषेक से और यथा निषेक से जघन्य स्थिति प्राप्त प्रदेशाग्र किसके होते हैं ? सूत्र नम्बर ७८।—

समाधान—जो जीव जघन्य एकेन्द्रिय स्थिति सत्कर्म से साथ पंचेन्द्रियों में उत्पन्न हुआ और अन्तमुहूर्त के द्वारा सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ। पुनः अनन्तानुबन्धी कषायों का विसंयोजन करके गिरा और सर्व लघु से अनन्तानुबन्धी कषायों का पुनः संयोजन किया। पुनः अति लघु अन्तमुहूर्त से सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ। मिथ्यात्व को प्राप्त होने के एक आवली काल के पश्चात् उस मिथ्यादृष्टि जीव के अनान्तानुबन्धी कषायों का निषेक से और यथा निषेक से जघन्य स्थिति को प्राप्त प्रदेशाग्र होता है। सूत्र नम्बर ८०।

शंका—अनन्तानुबन्धी कषायों का जघन्य उदय स्थिति को प्राप्त प्रदेशाग्र किसको होता है। सूत्र नम्बर ८१।

समाधान—जो जीव जघन्य एकेन्द्रिय सत्कर्म के साथ त्रसों में उत्पन्न हुआ। वहाँ पर संयमासंयम और संयम को बहुत बार प्राप्त करके तथा चार बार कषायों को भी उपशम करके एकेन्द्रियों में चला गया। वहाँ पर असंख्यात वर्ष तक रह कर उपशामक समय प्रबद्धों के गल जाने पर पंचेन्द्रियों में आया। अन्तमुहूर्त से अनन्तानुबन्धी कषाय का विसंयोजन करके पुनः सागरोपम काल तक सम्यक्त्व का

परिपालन किया, और अनन्तानुबन्धी के समय प्रबद्धों के गला दिया। तदनन्तर वह मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ तब उस आवली प्रविष्ट मिथ्यादृष्टि के अनन्तानुबन्धी कषायों का जघन्य उदय स्थिति को प्राप्त प्रदेशाग्र होता है। चूर्णि सूत्र नम्बर ८२ कषाय पाहुड सुत्त पृष्ठ २४२-२४४।

बन्ध कितने प्रकार के हैं ?

बन्ध दो प्रकार का है।(१) अकर्म बन्ध (२) कर्म बन्ध। अकर्म रूप से अवस्थित कार्मण वर्गणाओं का आत्मा के साथ संबंध होना अकर्म बन्ध है। और विवक्षित कर्म रूप से बन्धे हुए पुद्गल स्कन्धों का अन्य प्रकृति रूप से परिणमन होना कर्म बन्ध है जैसे असाता वेदनीय रूप से बन्धे हुए कर्म का साता वेदनीय रूप से परिणमन होना। इस प्रकार से संक्रमण भी बन्ध के ही अन्तर्गत आजाता है। कषाय पाहुड सूत्त पृष्ठ २४८।

मिथ्यात्वादि प्रकृति का स्वामी तथा कैसे संक्रमण होता है ?

शंका—मिथ्यात्व का संक्रमण करने वाला कौन जीव है ? सूत्र नं० ३८।

समाधान—नियम से सम्यग्दृष्टि है। संक्रमण के योग्य मिथ्यात्व की सत्ता वाले सर्व वेदक सम्यग्दृष्टि मिथ्यात्व का संक्रमण करते हैं। तथा निरासान अर्थात आसादना या विराधना से रहित सभी उपशम सम्यग्दृष्टि जीव भी मिथ्यात्व का संक्रमण करते हैं। सूत्र नं० ३९-४१।

शंका—सम्यक्त्व प्रकृति का संक्रामक कौन जीव है ? सूत्र नं० ४२।

समाधान—सम्यक्त्व प्रकृति की सत्ता रखने वाला मिथ्यादृष्टि जीव नियम से सम्यक्त्व प्रकृति का संक्रामक होता है। केवल आवली प्रविष्ट सम्यक्त्व सत्कर्मक मिथ्यादृष्टि जीव को छोड़ देना चाहिए, अर्थात जिसके एक आवली काल प्रमाण ही सम्यक्त्व प्रकृति की सत्ता शेष रह गई हो वह मिथ्यादृष्टि जीव सम्यक्त्व प्रकृति संक्रमण नहीं करता। सूत्र नं० ४३-४४।

शंका—सम्यग्मिथ्यात्व का संक्रामक कौन जीव है ? सूत्र नं० ४५।

समाधान—सम्यग्मिथ्यात्व की उद्वेलना करने वाला मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्मिथ्यात्व का संक्रामक होता है। आसादना से रहित, उपशम सम्यग्दृष्टि जीव भी सम्यग् मिथ्यात्व का संक्रामक होता है। तथा प्रथम समय में सम्यग् मिथ्यात्व की सत्ता वाले जीव को छोड़कर सर्व वेदक सम्यग्दृष्टि भी सम्यग् मिथ्यात्व के संक्रामक होता है। सूत्र नं० ४६-४८।

दर्शन मोहनीय कर्म, चारित्र मोहनीय कर्म में संक्रमण नहीं करता। चारित्र मोहनीय कर्म भी दर्शन मोहनीय कर्म में संक्रमण नहीं करता है। चारित्र मोहनीय कर्म की जितनी कर्म प्रकृतियां बन्धती हैं उन सब में अनन्तानुबन्धी का संक्रमण होता है। इसी प्रकार सर्व चारित्र मोहनीय प्रकृतियां भी अनन्तानुबन्धी संक्रमण करती हैं। चारित्र मोहनीय की ये पचीसों ही प्रकृतियां किसी भी एक प्रकृति में संक्रमण करती है। सूत्र नं० ४९-५३ कषाय पाहुड सूत्तपृष्ठ २५५-२५६।

प्रकृति संक्रमण का अन्तर काल।

शंका—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति के संक्रमण का अन्तर काल कितना है ? सूत्र नं० ६७।

समाधान—इन तीनों प्रकृतियों के संक्रमण का जघन्य अन्तर काल अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट

अन्तर काल उपार्ध पुद्‌गल परिवर्तन है। केवल सम्यग्मिथ्यात्व के संक्रमण का जघन्य अन्तरकाल एक समय होता है। सूत्र नं० ६८-७०।

शका—अनन्तानुबन्धी कषायों के संक्रमण का अन्तर काल कितना है? सूत्र नं० ७१।

समाधान—अनन्तानुबन्धी कषायों के संक्रमण का जघन्य अन्तर काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर काल साधिक दो बार छयासठ सागरोपम हैं। सूत्र नं० ७२-७३।

शका—चारित्र मोहनीय की शेष इक्कीस प्रकृतियों के संक्रमण का अन्तर काल कितना है? सूत्र नं० ७४।

समाधान—चारित्र मोहनीय की शेष इक्कीस प्रकृतियों के संक्रमण का जघन्य अन्तरकाल एक समय है और उत्कृष्ट अन्तरकाल अन्तर्मुहूर्त है। सूत्र नं० ७५-७६ कषाय पाहुड सुत्त पृष्ठ २५७।

जघन्य स्थिति संक्रमण का स्वामित्व।

शंका—मिथ्यात्व का जघन्य स्थिति संक्रम किसके होते हैं? सूत्र नं० ५४।

समाधान—मिथ्यात्व को क्षपण करने वाले जीव के अन्तिम स्थिति काण्डक के अन्तिम समयवर्ती द्रव्य के संक्रमण करने पर उसके मिथ्यात्व का जघन्य स्थिति संक्रम होता है। सूत्र नं० ५५।

शंका—सम्यक्त्व प्रकृति का जघन्य स्थिति संक्रम किसके होता है। सूत्र नं० ५६।

समाधान—एक समय अधिक आवली काल जिसके दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय होने में अविशिष्ट रहा है, ऐसे जीव के सम्यक्त्व प्रकृति का जघन्य स्थिति संक्रम होता है। सूत्र नं० ५७।

शंका—सम्यग्मिथ्यात्व का जघन्य स्थिति संक्रम किसके होता है। सूत्र नं० ५८।

समाधान—सम्यग्मिथ्यात्व के अन्तिम स्थिति काण्डक को चरम समय में संक्रमण करने वाले जीव के सम्यग्मिथ्यात्व का जघन्य स्थिति संक्रमण होता है। सूत्र नं० ५९।

शंका—अनन्तानुबन्धी कषायों का जघन्य स्थिति संक्रमण किसके होता है? सूत्र नं० ६०।

समाधान—अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करने वाले जीव के उन्हीं कषायों की अन्तिम स्थिति काण्डक के चरम समय में संक्रमण करने पर अनन्तानुबन्धी कषायों का जघन्य स्थिति संक्रमण होता है। सूत्र नं० ६१।

शंका—अप्रत्याख्यानावरणादि आठ मध्यम कषायों का जघन्य स्थिति संक्रमण किसके होता है? सूत्र नं० ६२।

समाधान—उन्हीं आठ मध्यम कषायों के अन्तिम स्थिति काण्डक को चरम समय में संक्रमण करने वाले क्षपक के उक्त आठों कषायों का जघन्य स्थिति संक्रमण होता है। सूत्र नं० ६३।

शंका—संज्वलन क्रोध का जघन्य स्थिति संक्रमण किसके होता है? सूत्र नं० ६४।

समाधान—संज्वलन क्रोध के उदय के साथ क्षपक श्रेणि पर चढ़े हुए जीव के संज्वलन क्रोध के अन्तिम स्थिति वन्ध द्रव्य को चरम समय में संक्रमण करने वाले क्षपक के संज्वलन क्रोध का जघन्य स्थिति संक्रमण होता है। सूत्र नं० ६५।

इस प्रकार संज्वलन मान, माया और पुरुष वेद के जघन्य स्थिति संक्रमण का स्वामित्व जानना चाहिए। सूत्र नं० ६६।

शंका—संज्वलन लोभ का स्थिति संक्रमण किसके होता है ? सूत्र नं० ६७।

समाधान—एक समय अधिक आवली काल वाले सकषाय अर्थात् दशम गुणस्थानवर्ती क्षपक जीव के संज्वलन लोभ का जघन्य स्थिति संक्रमण होता है। सूत्र नं० ६८।

शंका—स्त्री वेद का जघन्य स्थिति संक्रमण किसके होता है ? सूत्र नं० ६९।

समाधान—स्त्री वेद के उदय से श्रेणि चढ़ने वाले क्षपक के जब स्त्री वेद के अन्तिम स्थिति काण्डक का संकमरण होता है तब उसके स्त्री वेद का जघन्य स्थिति संक्रमण होता है। सूत्र नं ७०।

शंका—नपुंसक वेद का जघन्य स्थिति संक्रमण किसके होता है ? सूत्र नं० ७१।

समाधान—नपुंसक वेद के उदय के साथ श्रेणि चढ़ने वाले क्षपक के जब नपुंसक वेद का अन्तिम काण्डक का संक्रमण होता है तब उस जीव के नपुंसक वेद का जघन्य स्थिति संक्रमण होता है। सूत्र नं० ७२ कषाय पाहुड सुत्त पृष्ठ ३२०-३२२।

भुजाकार संक्रमण का स्वामी।

अतीत समय में जितनी स्थितियों का संक्रमण करता था उसमे इस वर्तमान समय में अधिक स्थितियों का संक्रमण करना भुजाकार संक्रमण है। अतीत समय में जितनी स्थितियों का संक्रमण करता था उससे इस वर्तमान समय में कम स्थितियों का संक्रमण करना यह अल्पतर संक्रमण कहलाता है। जितनी स्थितियों का अतीत समय में संक्रमण करता था उतनी का ही वर्तमान समय में संक्रमण है। अतीत समय में किसी भी स्थिति का संक्रमण न करके वर्तमान समय में संक्रमण करना अवक्तव्य संक्रमण हैं। यह भुजाकार संक्रमण का अर्थ पद है।

शंका—मिथ्यात्व के भुजाकार संक्रमण अल्पतर संक्रमण और अवस्थित संक्रमण का करने वाला कौन जीव है ? सूत्र नम्बर १५१।

समाधान—चारों गतियों में से किसी भी एक गति का जीव उक्त संक्रमण का करने वाला होता है। सूत्र नम्बर १५२।

मिथ्यात्व का अवक्तव्य संक्रमण सम्भव नहीं इसलिए इसका संक्रामक भी कोई नहीं है। इसी प्रकार शेष प्रकृतियों के भुजाकार आदि संक्रमणों का स्वामित्व जानना चाहिए। विशेषता केवल यह है कि उन प्रकृतियों का अवक्तय संक्रमण होता है। सूत्र नम्बर १५३-१५४ कषाय पाहुड सुत्त पृष्ठ ३२८।

भुजाकार संक्रमणों के काल का वर्णन—

शंका—मिथ्यात्व के भुजाकार संक्रमण का कितना काल है ? सूत्र नम्बर १५६।

समाधान—मिथ्यात्व के भुजाकार संक्रमण का जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल चार समय है। सूत्र नम्बर १५७-१५८।

शंका—मिथ्यात्व के अल्पतर संक्रमण का कितना काल है। सूत्र नम्बर १५९।

समाधान—मिथ्यात्व के अल्पतर संक्रमण का जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल साधिक एकसो तिरेसठ सागरोपम है। सूत्र नम्बर १६०-१६१।

शंका—मिथ्यात्व के अवस्थित संक्रमण का कितना काल है ? सूत्र नम्बर १६२।

समाधान—मिथ्यात्व के अवस्थित संक्रमण का जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। सूत्र नम्बर १६३-१६४।

शंका—सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व के भुजाकार अवस्थित और अवक्तव्य संक्रमण का कितना काल है? सूत्र नं० १६५।

समाधान—इनके संक्रमण का जघन्य व उत्कृष्ट काल एक समय है। सूत्र नं० १६६।

शंका—सम्यक्त्व प्रकृति तथा सम्यग्मिथ्यात्व के अल्पतर संक्रमण का कितना काल है? सूत्र नं० १६७।

समाधान—इन दोनों प्रकृतियों के अल्पतर संक्रमण का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल कुछ अधिक एकसो बत्तीस सागरोपम है। सूत्र नं० १६८-१६९।

शंका—शेष कर्मो का भुजाकार संक्रमण का कितना काल है? सूत्र नं० १७०।

समाधान—शेष कर्मो के भुजाकार संक्रमण का जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल उन्नीस समय है। सूत्र नं० १७१-१७२ कषाय पाहुड सुत्त पृष्ठ नं० ३२९-३३०।

अनुभाग संक्रमण—

अनुभाग संक्रमण दो प्रकार का है। मूल प्रकृति अनुभाग संक्रमण, और उत्तर प्रकृति अनुभाग संक्रमण। उनके विषय में यह अर्थ पद है—

अपकर्षित भी अनुभाग संक्रमण होता है। उत्कर्षित भी अनुभाग संक्रमण है और अन्य प्रकृति रूप से परिणत भी अनुभाग संक्रमण होता है। सूत्र नम्बर १-३।

विशेषार्थ—अनुभाग नाम कर्मो के स्वकार्योत्पादन या फल प्रदान करने की शक्ति का नाम है। उसके संक्रमण अर्थात् स्वभावान्तर करने को अनुभाग संक्रमण कहते हैं। वह स्वभावान्तरावाप्ति तीन प्रकार से की जा सकती है। फल देने की शक्ति को घटाकर, बढ़ाकर या पर प्रकृति रूप से परिवर्तित कर। इनमें से कर्मो की आठों मूल प्रकृतियों के अनुभाग में पर प्रकृति रूप संक्रमण नहीं होता केवल अनुभाग शक्ति के घटाने रूप अपकर्षण संक्रमण और बढ़ाने रूप उत्कर्षण संक्रमण होता है। परन्तु उत्तर प्रकृतियों में अपकर्षण संक्रमण, उत्कर्षण संक्रमण और पर प्रकृति संक्रमण ये तीनों ही होते हैं। पृष्ठ ३४५।

शंका—मिथ्यात्व का जघन्य अनुभाग संक्रमण किससे होते हैं। सूत्र नं० ४७।

समाधान—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के होता है। अथवा हत समुत्पतिक कर्म से उपलक्षित जो कोई एकेन्द्रिय अथवा द्विन्द्रिय अथवा त्रिन्द्रिय अथवा चतुरिन्द्रिय अथवा पंचेन्द्रिय जीव है वह मिथ्यात्व के जघन्य अनुभाग संक्रमण के स्वामी हैं। सूत्र नम्बर ४८-४९।

विशेषार्थ—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के मिथ्यात्व के अनुभाग सत्व का जितना घात शक्य है उतना घात करके अवस्थित जीव को हतसमुत्पातिक कर्म से उपलक्षित कहते हैं। मिथ्यात्व के इस प्रकार जघन्य अनुभाग सत्व से युक्त उक्त प्रकार का एकेन्द्रिय जीव भी अनुभाग संक्रमण करता है अथवा उतने ही अनुभाग सत्व वाला द्विन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक का कोई जीव मिथ्यात्व का जघन्य अनुभाग संक्रमण कर सकता है।

इसी प्रकार आठों मध्यम कषायों के जघन्य अनुभाग संक्रमण के स्वामित्व को जानना चाहिए। सूत्र नम्बर ५०।

शंका—सम्यक्त्व प्रकृति का जघन्य अनुभाग संक्रमण कौन करता है ? सूत्र नम्बर ५१।

समाधान –जिसके दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय करने में एक समय अधिक आवली काल अवशिष्ट है, ऐसा जीव सम्यक्त्व प्रकृति के जघन्य अनुभाग का संक्रमण करता है। सूत्र नम्बर ५२।

शंका सम्यग्मिथ्यात्व के जघन्य अनुभाग का संक्रामक कौन है ? सूत्र नं० ५३।

समाधान—सम्यग्मिथ्यात्व के अन्तिम अनुभाग काण्डक का संक्रमण करने वाला जीव सम्यग्मिथ्यात्व का जघन्य अनुभाग का संक्रामक होता है। सूत्र नम्बर ५४।

शंका—अनन्तानुबन्धी चारों कषायों के जघन्य अनुभाग का संक्रामक कौन है ? सूत्र नंबर ५५।

समाधान—अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करके पुनः तत्प्रायोग्य विशुद्धि परिणाम के द्वारा उसे संयोजित करके अर्थात् पुनः नवीन बन्ध कर के एक आवली काल व्यतीत करने वाला जीव अनन्तानुबन्धी कषायों के जघन्य अनुभाग का संक्रामक होता है। सूत्र नं० ५६।

शंका—संज्वलन क्रोध के जघन्य अनुभाग का संक्रामक कौन है ? सूत्र नं० ५७।

समाधान—क्रोध वेदक क्षपक का जो अन्तिम अनुभाग बन्ध है उसके अन्तिम समय का अनिर्लेपक जो जीव है अर्थात् मान वेदक काल के दो समय कम दो आवलियों के अन्तिम समय में वर्तमान जो जीव है वह संज्वलन क्रोध के जघन्य अनुभाग का संक्रामक होता है। सूत्र नं० ५८।

इसी प्रकार संज्वलन मान, माया और पुरुष वेद के जघन्य अनुभाग का संक्रमण का स्वामित्व जानना चाहिए। सूत्र नं० ५९।

शंका—संज्वलन लोभ का जघन्य अनुभाग का संक्रामक कौन है ? सूत्र नं० ६०।

समाधान—एक समय अधिक आवली के अन्तिम समय में वर्तमान सकषाय क्षपक अर्थात् सूक्ष्म साम्पराय संयत संज्वलन लोभ के जघन्य अनुभाग का संक्रामक है। सूत्र नम्बर ६१ पृष्ठ ३५२-३५३ कषाय पाहुड सुत्त।

प्रदेश संक्रमण का भेद—

मूल प्रकृतियों के प्रदेशों का संक्रमण नहीं होता। उत्तर प्रकृतियों के प्रदेशों का संक्रमण होता है। वह प्रदेश संक्रमण पांच प्रकार का है—(१) उद्वेलन संक्रमण (२) विध्यात संक्रमण (३) अधः प्रवृत संक्रमण (४) गुण संक्रमण (५) सर्व संक्रमण। सूत्र नम्बर १-११।

उद्वेल संक्रमण—अधः प्रवृत आदि तीन करण परिणामों के बिना ही प्रकृतियों के परमाणुओं का अन्य प्रकृति रूप परिणमित होना उद्वेल संक्रमण कहलाता है। जैसे सम्यक्त्व मिथ्यात्व- तथा सम्यग्मिथ्यात्व का मिथ्यात्व रूप परिणमन कर जाना।

विध्यात संक्रमण—जिन कर्मों का गुण प्रत्यय या भव प्रत्यय से जहाँ पर बन्ध नहीं होता वहाँ पर उन कर्मों का जो प्रदेश संक्रमण होता है उसे विध्यात संक्रमण कहते हैं। जैसे मिथ्यात्व आदि सोलह प्रकृतियों का मिथ्यात्व के निमित्त से बन्ध होता है आगे नहीं होता है। अतएव वहाँ पर उक्त प्रकृतियों का जो प्रदेश, सत्व है उसका जो पर प्रकृतियों में संक्रमण होते हैं उसे आगम में विध्यात संक्रमण कहा है। जिन प्रकृतियों का मिथ्यात्व आदि गुणस्थानों में बन्ध सम्भव है फिर भी जो भव प्रत्यय से अर्थात् नारक देवादि पर्याय विशेष के निमित्त से वहाँ पर नही बंधती है उनका उन गुणस्थानों में भव प्रत्यय से अबन्ध

कहलाता है। जैसे मिथ्यात्व गुणस्थान में एकेन्द्रिय जाति, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण आदि प्रकृतियों का बन्ध सामान्यतः होता है, परन्तु, नारकियों के नारक भव में उनका बन्ध नहीं होता, क्योंकि, वे मर कर एकेन्द्रियादि में उत्पन्न ही नहीं होते। अतः नारक भव में एकेन्द्रियादि प्रकृतियों का बन्ध नहीं है। अतः वहाँ पर जो उनके प्रदेशों का संक्रमण पर प्रकृतियों में होता रहता है उसे भी विध्यात संक्रमण कहते हैं।

अधः प्रवृत संक्रमण—सभी संसारी जीवों के ध्रुव बन्धनी प्रकृतियों के बन्ध होने पर तथास्वः स्वभाव बन्धयोग्य परावर्तमान प्रकृतियों के बन्ध या अबन्ध की दशा में जो स्वभावतः प्रकृतियों के प्रदेशों का पर प्रकृति रूप संक्रमण होता रहता है उसे अधः प्रवृत संक्रमण कहते हैं। जैसे जिस गुणस्थान में चारित्र मोहनीय की जितनी प्रकृतियों का बन्ध होता है उन बध्यमान प्रकृतियों में चारित्र मोहनीय की जितनी सत्व प्रकृतियाँ हैं उनके प्रदेशों का जो प्रदेश संक्रमण होता हैं वह अधः प्रवृत संक्रमण है।

गुण संक्रमण—अपूर्व करणादि परिणाम विशेषों का निमित्त पाकर प्रति समय जो असंख्यात गुण श्रेणी रूप से प्रदेशों का संक्रमण होता है, उसे गुण संक्रमण कहते हैं। यह गुण संक्रमण, अपूर्व करण के प्रथम समय से लेकर दर्शन मोहनीय के क्षपण काल में उपशम श्रेणी में अनन्तानुबन्धी के विसंयोजन में सम्यक्त्व की उत्पत्ति काल में तथा सम्यक्त्व प्रकृति तथा सम्यग्मिथ्यात्व की उद्वेलना के चरम स्थिति खण्ड के प्रदेश संक्रमण के समय होता है।

सर्व संक्रमण—विवक्षित प्रकृति के सभी कर्म प्रदेशों का जो एक साथ पर प्रकृति में संक्रमण होता है, उसे सर्व संक्रमण कहते हैं। यह सर्व संक्रमण उद्वेलन, विसंयोजन और क्षपण काल में चरम स्थिति खण्ड के चरम समयवर्ती प्रदेशों का ही होता है अन्य का नहीं ऐसा जानना। पृष्ठ ३९९-४०० कषाय पाहुड सुत्त

उत्कृष्ट प्रदेश संक्रमण का स्वरूप तथा स्वामित्व—

शंका—मिथ्यात्व का उत्कृष्ट प्रदेश संक्रमण किसके होता है? सूत्र नं० १८

समाधान—जो गुणित कर्मांशिक जीव सातवीं पृथ्वी में से निकला। पुनः पंचेन्द्रिय तिर्यंच पर्याप्तकों में दो तीन भव ग्रहण करके एकेन्द्रियों में उत्पन्न हुआ, और अन्तर्मुहूर्त से ही मनुष्यों में आगया। मनुष्यों में उत्पन्न होकर सर्व लघु काल से दर्शन मोहनीय का क्षपण प्रारम्भ किया। जिस समय सर्व संक्रम्यमाण मिथ्यात्व द्रव्य को सम्यग्मिथ्यात्व में संक्रान्त करता है उस समय उस जीव के मिथ्यात्व का उत्कृष्ट प्रदेश संक्रमण होता है। सूत्र नं० १९-२३

शंका—गुणित कर्मांशिक जीव किसे कहते हैं?

समाधान—जो जीव पूर्व कोटी पृथक्त्व से अधिक दो हजार सागरोपम बादर त्रस काल से हीन सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण, कर्म स्थिति तक, बादर पृथ्वी कायिक जीवों में परिभ्रमण करता रहा। वहाँ पर उसने बहुत से पर्याप्तक भव और थोड़े अपर्याप्तक भव धारण किया। उनमें पर्याप्त काल दीर्घ और अपर्याप्त काल ह्रस्व ग्रहण किया। उस पृथ्वी कायिक में रहते हुये, वह बार-बार बहुत से उत्कृष्ट योग स्थानों को और उत्कृष्ट संक्लेश को प्राप्त हुआ। वहां पर जब भी नवीन आयु बन्ध किया, तब जघन्य योग स्थान में वर्तमान होकर किया। वहां पर उसने उपरितन स्थितियों में कर्म प्रदेशों का बहुत निक्षेपण किया। इस प्रकार बादर पृथ्वी कायिकों में परिभ्रमण करके निकला और बादर त्रस कायिकों में उत्पन्न हुआ। वहां पर भी साधिक दो हजार सागर तक उपर्युक्त विधि से परिभ्रमण करके अन्त में

सातवीं पृथ्वी में उत्पन्न हुआ। वहां पर बार बार उत्कृष्ट योग स्थान और उत्कृष्ट संक्लेश को प्रात हुआ । इस प्रकार उत्तरोत्तर, गुणित क्रम से, कर्म प्रदेशों का संचय करने वाले जीव को गुणित कर्मांशिक कहते हैं।

शंका — सम्यक्त्व प्रकृति का उत्कृष्ट प्रदेश संक्रमण किसके होता है ? सूत्र नम्बर २४

समाधान—सातवीं पृथ्वी में जो गुणित कर्मांशिक नारकी जीव है, और जिसके मिथ्यात्व का उत्कृष्ट प्रदेश सत्कर्म अन्तर्मुहूर्त में होगा। उसने सम्यक्त्व उत्पन्न किया, और सर्वोत्कृष्ट पूरणा से अर्थात् सर्व जघन्य गुण संक्रमण भागहार से और सर्वोत्कृष्ट गुण संक्रमण पूरण काल से सम्यक्त्व प्रकृति को पूरित किया। तदनन्तर, उपशम काल के पूर्ण होने पर मिथ्यात्व की उदीरणा करने वाले उस प्रथम समयवर्ती मिथ्यादृष्टि के सम्यक्त्व प्रकृति का उत्कृष्ट प्रदेश संक्रमण होता हैं। और यह अधः प्रवृत संक्रमण है। सूत्र नं० २५-२६

शंका—सम्यग्मिथ्यात्व का उत्कृष्ट प्रदेश संक्रमण किसके होते हैं ? सूत्र नं० २७

समाधान—जिसने मिथ्यात्व के उत्कृष्ट प्रदेशाग्र को सम्यग्मिथ्यात्व में प्रक्षिप्त किया उसने ही जिस समय सम्यग्मिथ्यात्व को सम्यक्त्व प्रकृति में प्रक्षित किया उस समय उसके सम्यग्मिथ्यात्व का उत्कृष्ट प्रदेश संक्रमण होता है। सूत्र नं० २८

शंका—अनन्तानुबन्धी कषायों का उत्कृष्ट प्रदेश संमक्रण किसके होता है ? सूत्र नं० २९

समाधान—वही सातवीं पृथ्वी का गुणित कर्मांशिक नारकी, जब कि अन्तर्मुहूर्त से ही उसके उन ही अनन्तानुबन्धी कषायों का उत्कृष्ट प्रदेश सत्कर्म होगा, उस समय उत्कृष्ट योग और उत्कृष्ट संक्लेश से परिणत हुआ। तदनन्तर उसने लघु काल शेष रहने पर विशुद्धि को पूरित करके सम्यक्त्व को उत्पन्न किया। पुनः वही सर्व लघु काल से अनन्तानुबन्धी कषायों के विसंयोजन के लिए प्रवृत हुआ। उसके चरम स्थिति खण्ड के चरम समय में संक्रमण करने पर अनन्तानुबन्धी कषायों का उत्कृष्ट प्रदेश संक्रमण होता है। सूत्र नं० ३०

शंका—आठों मध्यम कषायों का उत्कृष्ट प्रदेश संक्रमण किसके होता है ? सूत्र नं० ३१

समाधान—वही पूर्वोक्त गुणित कर्मांशिक नारकी सर्व लघु काल से मनुष्यगति में आया और आठ वर्ष का होकर चारित्र मोह की क्षपणा के लिए अभ्युद्यत हुआ। तदनन्तर आठों कषायों के अन्तिम स्थिति कान्ड को चरम समय में संक्रमण करने वाले उसके आठों मध्यम कषायों का उत्कृष्ट प्रदेश संक्रमण होता है। सूत्र नं० ३२ कषाय पाहुड सुत्त पृष्ठ ४०१-४०३

जघन्य प्रदेश संक्रमण का स्वरूप तथा स्वामित्व—

शंका—मिथ्यात्व का जघन्य प्रदेश संक्रमण किसके होता है ? सूत्र नं० ४७

समाधान—जो क्षपित कर्मांशिक जीव एकेन्द्रिय प्रायोग्य जघन्य सत्कर्म के साथ मनुष्यों में आया और सर्व लघु काल से ही सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ। (पुनः उसी और विभिन्न भवों में) संयम और संयमासंयम को बहुत बार प्राप्त किया, चार बार कषायों का उपशमन करके दो बार सातिरेक छयासठ सागरोपम काल तक सम्यक्त्व का परिपालन किया। तदनन्तर, मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ और अन्तर्मुहूर्त से ही पुनः उसने सम्यक्त्व को प्राप्त किया। पुनः सागरोपम पृथक्त्व तक सम्यक्त्व का परिपालन किया। तदनन्तर दर्शन मोहनीय की क्षपणा के लिए अभ्युद्यत हुआ। वह जीव जब अधः प्रवृत करण के चरम समय में वर्तमान हो, तब उसके मिथ्यात्व का जघन्य प्रदेश संक्रमण होता है। सूत्र नम्बर ४८

शंका—क्षपित कर्मांशिक किसको कहते हैं ?

समाधान—जो जीव पल्य के असंख्यातवें भाग से कम स्थिति काल तक सूक्ष्म निगोदिया में रह कर और अभव्य के योग्य जघन्य कर्म स्थिति को करके बादर पृथ्वी कायिकों में उत्पन्न हुआ और अन्तर्मुहूर्त में ही मरण कर पूर्व कोटि की आयु वाले मनुष्यों में उत्पन्न हुआ। वहाँ आठ वर्ष की अवस्था में ही संयम को धारण कर और देशोनपूर्व कोटि वर्ष तक संयम को पालन कर जीवन के अल्प अविशिष्ट रहने पर मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ। मिथ्यात्व और असंयम में सर्व लघु काल रहकर मरा और दश हजार वर्ष की आयु वाले देवों में उत्पन्न हुआ। वहां पर्याप्तक हो अन्तर्मुहूर्त में सम्यक्त्व को प्राप्त किया। दश हजार वर्ष तक सम्यक्त्व के साथ जीवित रहकर अन्त में मिथ्यात्व को प्राप्त होकर मरा और बादर पृथ्वी कायिकों में उत्पन्न हुआ। वहां से अन्तर्मुहूर्त में निकल कर मनुष्यों में उत्पन्न हुआ और उनमें सम्यक्त्व और संयमासंयम को धारण किया। इस प्रकार वह असंख्य वार देव और मनुष्यों में उत्पन्न होकर पल्योपम के असंख्यातवें भाग वार सम्यक्त्व और संयमा संयम को आठ वार संयम और अनन्तानुबन्धी विसंयोजना को तथा चार वार उपशम श्रेणी को प्राप्त हुआ। अन्तिम मनुष्य भव में उत्पन्न होकर जो लघु काल से ही मोह क्षपणा के लिए उद्यत हुआ। वह जीव क्षपित कर्मांशिक कहलाता है।

शंका—सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व का जघन्य प्रदेश संक्रमण किसके होता है ? सूत्र नम्बर ४९

समाधान—यही उपर्युक्त कर्मांशिक जीव (दर्शन मोहनीय की क्षपणा के लिए उद्यत होने के पूर्व ही) मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ। (वहाँ पर अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व की उद्वेलना प्रारम्भ कर और) पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल तक उद्वेलना करके उक्त दोनों कर्मों के अपने अपने द्विचरम स्थिति खण्ड के चरम समयवर्ती द्रव्य की जब वह उद्वेलना करता है तब वह जीव सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व का जघन्य प्रदेश संक्रमण होता है। सूत्र नं० ५०

शंका—अनन्तानुबन्धी कषायों का जघन्य प्रदेश संक्रमण किसके होता है। सूत्र नम्बर ५१

समाधान—जो जीव एकेन्द्रियों के योग्य जघन्य सत्कर्म के साथ त्रसों में आया। वहां पर संयम और संयमासंयम को बहुत वार प्राप्त कर और चार वार कषायों का उपशमन करके तदनन्तर एकेन्द्रियोंमें पल्योपम के असंख्यातवे भाग काल तक रहा जब तक कि उपशामक काल में बन्धे हुये समय प्रबध्य निर्गलित हुए। तदनन्तर वह पुनः त्रसों में आया और सर्व लघु काल में सम्यक्त्व को प्राप्त किया। और अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना की। पुनः मिथ्यात्व को प्राप्त होकर और अन्तर्मुहूर्त तक अनन्तानुबन्धी की संयोजना करके पुनः उसने सम्यक्त्व को प्राप्त किया। तब उसने दो वार छयासठ सागरोपम काल तक सम्यक्त्व का परिपालन किया। तदनन्तर अनन्तानुबन्धी की विसयोजना आरम्भ की। ऐसे जीव के अधः प्रवृत करण के चरण समय में अनन्तानुबन्धी कषायों का जघन्य प्रदेश संक्रमण होता है। सूत्र नं० ५२।

शंका—आठों मध्यम कषायों का जघन्य प्रदेश सक्रमण किसके होता है। सूत्र नं० ५३।

समाधान—जो जीव एकेन्द्रियों के योग्य जघन्य सत्कर्म के साथ त्रसों में आया। वहाँ पर संयमासंयम और संयम को बहुत बार प्राप्त हुआ। चार बार कषायों का उपशम करके तदनन्तर एकेन्द्रियों में गया। वहाँ पर जितने समय में उपशामक काल मे बन्धे हुए समय प्रबद्ध गलते हैं उतनी असंख्यातवर्षों तक रहा। तदनन्तर त्रसों में आया और सर्व लघु काल में संयम को प्राप्त हुआ। पुनः कषायों की क्षपणा के लिए उद्यत हुआ। ऐसे जीव के अधः प्रवृत करण के चरम समय में आठों मध्यम कषायों का जघन्य प्रदेश संक्रमण होता है। चुर्णि सूत्र नं० ५४ कषायपाहुड सुत्त पृष्ठ ४०५-४०८।

भुजाकार प्रदेश संक्रमण के स्वामित्व का स्वरूप—

शंका—मिथ्यात्व का भुजाकार संक्रामक कौन है ? सूत्र नं० २६९।

समाधान—प्रथमोपशम सम्यक्त्व को उत्पन्न करने वाला जीव प्रथम समय में मिथ्यात्व का अवक्तव्य संक्रामक है। शेष समयों में जब तक गुण संक्रमण रहता है तब तक वह मिथ्यात्व का संक्रामक है। सूत्र नं० २७०।

अब प्रकारान्तर से भुजाकार संक्रमक के स्वामित्व को कहते हैं।

जो दर्शन मोहनीय का क्षपण कर रहा है वह अपूर्व करण के प्रथम समय को आदि लेकर जब तक सर्व संक्रमण से मिथ्यात्व का संक्रमण करता है तब तक मिथ्यात्व का भुजाकार संक्रामक रहता है। तथा जिसने पूर्व में सम्यक्त्व उत्पन्न किया है वह जीव मिथ्यात्व से सम्यक्त्व में आया। उस प्रथम समयवर्ती सम्यग्दृष्टि के जो बन्ध समय के पश्चात् एक आवली अतीत काल तक के मिथ्यात्व के प्रदेशाग्र हैं उन्हें विध्यात संक्रमण से संक्रमित करता है। चरम आवली काल वाले चरम समयवर्ती मिथ्यादृष्टि को आदि करके जब तक वह चरम समयवर्ती मिथ्यादृष्टि है तब तक इस अन्तराल में जो समय प्रबद्ध बांधे हैं, उन समय प्रबद्ध को प्रथम समयवर्ती सम्यग्दृष्टि होने तक संक्रमण नहीं करता है। तदनन्तर काल से लेकर जिन-जिनकी बन्धावली पूर्ण हो जाती है, उन-उन कर्म प्रदेशों को वह संक्रमण करता है। इस प्रकार पूर्वोत्पादित सम्यक्त्व के साथ जो सम्यक्त्व को प्राप्त होता है उस द्वितीय समयवर्ती सम्यग्दृष्टि को आदि करके जब तक आवली कालवर्ती सम्यग्दृष्टि रहता है तब तक उसके मिथ्यात्व का भुजाकार संक्रमण होता रहता है। आवली के भीतर सर्वत्र भुजाकार संक्रमण नहीं होता, किन्तु जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से एक समय कम आवली काल तक होता है। सूत्र नं० २७१-२७४।

अब चूर्णिकार उपर्युक्त अर्थ का उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार तीन अवसरों में जीव मिथ्यात्व का भुजाकार संक्रमण करता है। वे तीन अवसर इस प्रकार हैं। उपशामक द्वितीय समयवर्ती सम्यग्दृष्टि को आदि लेकर जब तक गुण संक्रमण रहता है तब तक निरन्तर भुजाकार संक्रमण होता है। अथवा क्षपक के जब तक गुण संक्रमण से मिथ्यात्व क्षपित किया जाता है तब तक निरन्तर भुजाकार संक्रमण होता है। अथवा जिसने पूर्व में सम्यक्त्व उत्पन्न किया है ऐसा जो जीव सम्यक्त्व को प्राप्त होता है उस द्वितीय समयवर्ती सम्यग्दृष्टि को आदि करके आवली के पूर्ण होने तक उस सम्यग्दृष्टि के इस अवसर में जहाँ कहीं जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से एक समय कम आवली तक भुजाकार संक्रमण हो सकता है। इस प्रकार तीन कालों में मिथ्यात्व का भुजाकार संक्रमण होता है। सूत्र नं० २७५-२८०।

उक्त तीनों अवसरों के शेष समयों में यदि संक्रमण करता है तो या तो अल्पतर संक्रमण करता है, अथवा अवक्तव्य संक्रमण करता है। सूत्र नं० २८१।

शंका—मिथ्यात्व का अवस्थित संक्रामक कौन है ? सूत्र नं० २८२।

समाधान—जिसने पूर्व में सम्यक्त्व उत्पन्न किया है ऐसा जो जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है वह जब तक आवली प्रविष्ट सम्यग्दृष्टि है तब तक इस अन्तराल में व अवस्थित संक्रामक हो सकता है। अन्य अवसर में अवस्थित संक्रामक नहीं होता। सूत्र नं० २८३।

शंका—सम्यक्त्व प्रकृति का भुजाकार संक्रमण कौन करता है ? सूत्र नम्बर २८४।

समाधान—सम्यक्त्व प्रकृति की उद्वेलना करने वाले जीव के अन्तिम स्थिति खण्ड के सर्व ही काल में भुजाकार संक्रमण होता है। भुजाकार संक्रमण के अतिरिक्त यदि वह संक्रामक है तो यातो अल्पतर संक्रमण करता है, अथवा अवक्तव्य संक्रमण करता है। सूत्र नं० २८५-२८६।

शंका—सम्यग्मिथ्यात्व का भुजाकार संक्रमण कौन करता है ? सूत्र नं० २८७

समाधान—सम्यग्मिथ्यात्व की उद्वेलना करने वाले जीव के अन्तिम स्थिति खण्ड के सर्व ही काल में सम्यग्मिथ्यात्व का भुजाकार संक्रमण होता है, अथवा क्षपक के जब तक वह गुण संक्रमण से सम्यग्मिथ्यात्व को संक्रमित करता है, तब तक वह भुजाकार सक्रामक है। अथवा क्षपक के जब तक वह गुण संक्रमण से सम्यग्मिथ्यात्व को संक्रमित करता है, तब तक वह भुजाकार संक्रामक है। अथवा प्रथमोपशम सम्यक्त्व को उत्पन्न करने वाले जीव के तृतीय समय से लेकर विध्यात संक्रमण के प्रथम समय तक सम्यग्मिथ्यात्व का भुजाकार संक्रमण होता है। सम्यग्मिथ्यात्व के भुजाकार संक्रमण के अतिरिक्त यदि वह संक्रामक है, तो या तो अल्पतर संक्रामक है अथवा अवक्तव्य संक्रामक है। सूत्र नं० २८८-२९१

विशेषार्थ—सम्यग्मिथ्यात्व का भुजाकार संक्रमण तीन प्रकार से वतलाया है। इनमें प्रथम और द्वितीय प्रकार तो स्पष्ट है। तीसरे प्रकार का स्पष्टीकरण इस प्रकार है। सम्यग्मिथ्यात्व की सत्ता से रहित मिथ्यादृष्टि जीव जब प्रथमोपशम सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है, तब उसके प्रथम समय में सम्यग्मिथ्यात्व की सत्ता होती है। और द्वितीय समय में अवक्तव्य संक्रमण होता है। पुनः उसके तृतीयादि समयों में गुण संक्रमण के वश से भुजाकार संक्रमण होता है। यह क्रम विध्यात संक्रमण को प्रारम्भ करने के प्रथम समय तक जारी रहता है। यह कथन सम्यग्मिथ्यात्व की सत्ता नहीं रखने वाले मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से किया गया है। किन्तु जिस मिथ्यादृष्टि के उसकी सत्ता है वह जब उपशम सम्यक्त्व उत्पन्न करता है तब उसके प्रथम समय से लेकर गुण संक्रमण के अन्तिम समय तक भुजाकार संक्रमण होता रहता है। अतः यह सूत्र देशामर्शक है, अतः यह भी सूचित करता है कि सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व को प्राप्त होने पर उसके प्रथम समय में अधः प्रवृत संक्रमण होने से भुजाकार संक्रमण होता है। तथा सम्यग्मिथ्यात्व की उद्वेलना करने वाला मिथ्यादृष्टि जब वेदक सम्यक्त्व को ग्रहण करता है तब उसके प्रथम समय में भी विध्यात संक्रमण के होने से भूजाकार का संक्रमण का होना सम्भव है।

शंका—अनन्तानुबन्धी सोलह कषायों का भुजाकार संक्रमण अल्पतर संक्रामक अवस्थित संक्रामक और अवक्तव्य संक्रामक कौन है ? सूत्र नम्बर २९२

समाधान—यथा सम्भव कोई एक सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि जीव चारों प्रकार के संक्रमणों का संक्रामक होता है। सूत्र नम्बर २९३ कषाय पाहुड सुत्त पृष्ठ ४२४-४२७।

उदीरणा के स्वामित्व—

शंका—मिथ्यात्व की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा किसके होती है ? सूत्र नम्बर २५१।

समाधान—सर्व पर्याप्तियों से पर्याप्त और उत्कृष्ट संक्लेश को प्राप्त संज्ञीपंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि के होती है। सूत्र नम्बर २५२।

इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी आदि सोलह कषायों की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा का स्वामित्व जानना चाहिए। अर्थात् उत्कृष्ट संक्लेश को प्राप्त संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीव ही सोलह कषायों की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा का स्वामी है। सूत्र नम्बर २५३।

शंका—सम्यक्त्व प्रकृति की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा किसके होती है। सूत्र नम्बर २५४।

समाधान—सर्वोत्कृष्ट संक्लेश को प्राप्त और मिथ्यात्व के अभिमुख चरम समयवर्ती असंयत सम्यग्दृष्टि के होती है। सूत्र नम्बर २५५।

शंका—सम्यग्मिथ्यात्व की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा किसके होती है ? सूत्र नम्बर २५६।

समाधान—सर्वाधिक संक्लेशयुक्त एवं मिथ्यात्व को प्राप्त होने के सन्मुख चरम समयवर्ती सम्यग्मिथ्यादृष्टि के होती है। सूत्र नम्बर २५७।

शंका—स्त्री वेद और पुरुष वेद की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा किसके होती है। सूत्र नंबर २५८।

समाधान– अष्टवर्षायुष्क सर्वाधिक संक्लिष्ट पंचेन्द्रिय तिर्यंच करम अर्थात् ऊँट और ऊँटनी के होती है। सूत्र नम्बर २५९।

शंका—नपुंसक वेद, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा किसके होती है ? सूत्र नम्बर २६०।

समाधान—सातवीं पृथ्वी के सर्वोत्कृष्ट संक्लेश को प्राप्त नारकी ही होती है। सूत्र नम्बर २६१।

विशेषार्थ—ये नपुंसक वेदादि सुत्रोक्त प्रकृतियां अत्यन्त अप्रशस्त स्वरूप होने से नितरां महा दुःखोत्पादन स्वभाव वाली है। फिर त्रिभुवन में सातवें नरक से अधिक दुःख भी और कहीं नहीं है। और नपुंसक वेद, अरति, शोकादिक की उदीरणा के निमित्त कारण रूप अशुभतम बाह्य द्रव्य सप्तम नरक से बढ़कर अन्यत्र सम्भव नहीं है इन्ही सब कारणों से उक्त प्रकृतियों की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा सप्तम नरक के सर्व संक्लिष्ट नारकी के बतलाई गई है।

शंका—हास्य और रति प्रकृति की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा किसके होती है। सूत्र नं० २६२।

समाधान—सर्वाधिक संक्लिष्ट सत्तार, सहसार, कल्पवासी देवों के होती है। सूत्र नं० २६३।

विशेषार्थ—क्योकि, उक्त राग बहुल देवों में हास्य और रति के कारण प्रचुरता से पाये जाते हैं। उक्त देवों के हास्य, रति का छह मास तक निरन्तर एकसा "उदय" बना रहता है। अर्थात् वहां के देव छह मास तक लगातार हँसते हुए रह सकते हैं।

नोट—विशेषार्थ में "एकसा उदय" शब्द है वहाँ एकसी उदीरणा लिखना चाहिए, क्योंकि, यह उदीरणा का विषय है। कषाय पाहुड सुत्त पृष्ठ ५०३-५०५।

जघन्य अनुभाग उदीरणा के स्वामित्व—

शंका—मिथ्यात्व की जघन्य अनुभाग उदीरणा किसके होती है ? सूत्र नम्बर २६५।

समाधान—(सम्यक्त्व और) संयम को ग्रहण करने के अभिमुख सर्व विशुद्ध चरम समयवर्ती मिथ्यादृष्टि के होती है। सूत्र नम्बर २६६।

शंका—सम्यक्त्व प्रकृति की जघन्य अनुभाग उदीरणा किसके होती है। सूत्र नम्बर २६७।

समाधान—एक समय अधिक आवली काल वाले अक्षीण दर्शन मोह सम्यग्दृष्टि के होती है, अर्थात् जिसने दर्शन मोह का क्षपण प्रारम्भ कर दिया है पर अभी जिसके क्षय में एक समय अधिक एक आवली प्रमाण काल बाकी है ऐसे वेदक सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व प्रकृति की जघन्य अनुभाग उदीरणा होती है। सूत्र नम्बर २६८।

शंका—सम्यग्मिथ्यात्व की जघन्य अनुभाग उदीरणा किसके होती है? सूत्र नम्बर २६९।

समाधान—सम्यक्त्व के ग्रहण करने के अभिमुख सर्व विशुद्ध चरम समयवर्ती सम्यग्मिथ्यादृष्टि के होती है। सूत्र नम्बर २७०।

विशेषार्थ—यहाँ संयम के अभिमुख ऐसा न कहने का कारण यह है कि कोई भी जीव तीसरे गुणस्थान से सम्यक्त्व और संयम को एक साथ ग्रहण नहीं कर सकता है।

शंका—अनन्तानुबन्धी कषायों की जघन्य अनुभाग उदीरणा किसके होती है? सूत्र नं० २७१।

समाधान—संयम के अभिमुख सर्व विशुद्ध चरम समयवर्ती मिथ्यादृष्टि के होती है। सूत्र नम्बर २७२।

शंका—अप्रत्याख्यानावरण की जघन्य अनुभाग उदीरणा किसके होती है? सूत्र नम्बर २७३।

समाधान—संयम के अभिमुख सर्व विशुद्ध चरम समयवर्ती असंयत सम्यग्दृष्टि के होती है। सूत्र नम्बर २७४।

शंका—प्रत्याख्यानावरण कषाय की जघन्य अनुभाग उदीरणा किसके होती है? सूत्र नं० २७५।

समाधान—संयम के अभिमुख सर्व विशुद्ध चरम समयवर्ती संयतासंयत के होती है। सूत्र नम्बर २७६।

शंका—संज्वलन क्रोध की जघन्य अनुभाग उदीरणा किसके होती है। सूत्र नम्बर २७७।

समाधान—चरम समयवर्ती क्रोध का वेदन करने वाले अनिवृति संयत क्षपक के होती हैं। सूत्र नम्बर २७८

शंका—स्त्री वेद की जघन्य अनुभाग उदीरणा किसके होती हैं? सूत्र नम्बर २८५

समाधान—समयाधिक आवली के चरम समयवर्ती सवेदी स्त्रीवेद क्षपक के होती है। सूत्रनं०२८६

शंका— पुरुष वेद की जघन्य अनुभाग उदीरणा किसके होती है? सूत्र नं० २८७

समाधान—समयाधिक आवली के चरम समयवर्ती सवेदी पुरुष वेद क्षपक के होती हैं। सूत्र नम्बर २८८

शंका—हास्यादिक छह नोकषायों की जघन्य अनुभाग उदीरणा किसके होती है? सूत्र नं० २९१

समाधान—अपूर्व करण गुणस्थान के अन्तिम समय में वर्तमान क्षपक के होती है। चूर्णि सूत्र नम्बर २९२ कषाय पाहुड सुत्त पृष्ठ ५०५-५०७

अनुभाग उदीरणा के काल का स्वरूप—

शंका—मिथ्यात्व के उत्कृष्ट अनुभाग की उदीरणा का कितना काल है? सूत्र नम्बर २९४

समाधान—जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल दो समय है। सूत्र नम्बर २९५-२९६

शंका—मिथ्यात्व के अनुत्कृष्ट अनुभाग की उदीरणा का कितना काल है? सूत्र नं० २९७

समाधान—जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल असंख्यात पुद्गल है। सूत्र नम्बर २९८-२९९

शंका— सम्यक्त्व प्रकृति की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा का कितना काल है? सूत्र नं० ३००

समाधान—जघन्य और उत्कृष्ट काल एक समय मात्र है। सूत्र नं० ३०१

शंका—सम्यक्त्व प्रकृति की अनुत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा का कितना काल है ? सूत्र नं० ३०२

समाधान—जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल आवली कम छयासठ सागरोपम है। सूत्र नं० ३०३-३०४

शंका—सम्यग्मिथ्यात्व की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा का कितना काल है ? सूत्र नं० ३०५

समाधान—जघन्य और उत्कृष्ट काल एक समय है। सूत्र नं० ३०६

शंका—सम्यग्मिथ्यात्व की अनुत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा का कितना काल है ? सूत्र नं० ३०६

समाधान—जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। सूत्र नं० ३०८

मोह की शेष पचीस प्रकृतियों की अनुभाग उदीरणा का काल मिथ्यात्व के समान जानना चाहिए। विशेषता केवल यह है कि उक्त पचीसों प्रकृतियों की अनुत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा के उत्कृष्ट काल का निरूपण प्रकृति उदीरणा के उत्कृष्ट काल के समान करना चाहिए। चूर्णि सूत्र नं० ३०९-३१० कषाय पाहुड सुत्त पृष्ठ ५०८-५१०

उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा का स्वरूप—

शंका—मिथ्यात्व कर्म की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा किसके होती हैं ? सूत्र नं० ३८७

समाधान—संयम ग्रहण के अभिमुख चरम समयवर्ती मिथ्यादृष्टि जीव के होती है, जोकि तदनन्तर समय में सम्यक्त्व और संयम को एक साथ ग्रहण करने वाला है। सूत्र नं० ३८८

शंका—सम्यक्त्व प्रकृति की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा किसके होती है ? सूत्र नं० ३८९

समाधान—समयाधिक आवली काल के युक्त अक्षीण दर्शन मोही कृत-कृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि के होती है। सूत्र नं० ३९०

शंका—सम्यग्मिथ्यात्व की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा किसके होती है ? सूत्र नं० ३९१

समाधान—सर्व विशुद्ध और सम्यक्त्व के अभिमुख चरम समयवर्ती सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव के होती है। सूत्र ३९२

शंका—अनन्तानुबन्धी चारों कषायों की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा किसके होती है ? सूत्र नं० ३९३

समाधान—सर्व विशुद्ध और संयम के अभिमुख चरम समयवर्ती मिथ्यादृष्टि के होती है। सूत्र नम्बर ३९४

शंका—अप्रत्याख्यानावरण कषायों की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा किसके होती है ? सूत्र नं० ३९५

समाधान—सर्व विशुद्ध या ईषन्मध्यम परिणाम वाले और संयम के अभिमुख चरम समयवर्ती असंयत सम्यग्दृष्टि को होती है। सूत्र नं० ३९६

शंका—ईषन्मध्यम परिणाम किसका नाम है ?

समाधान—संयम ग्रहण करने के अभिमुख चरम समयवर्ती असंयत सम्यग्दृष्टि के जघन्य स्थान से लेकर षट वृद्धि रूप से अवस्थित विशुद्ध परिणाम असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं। उनके इस आयाम को आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण भाग हार से खण्डित करने पर उनमें का जो अन्तिम खण्ड रूप उत्कृष्ट परिणाम है, वह तो सर्व विशुद्ध परिणाम कहलाता हैं, और उसी खण्ड का जो जघन्य परिणाम है वह ईषन्मध्यम परिणाम कहलाता है।

शंका—प्रत्याख्यानावरण कषायों की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा किसके होती हैं ? सूत्र नं० ३६७

समाधान—सर्व विशुद्ध या ईषन्मध्यम परिणाम वाले संयमाभिमुख चरम समयवर्ती संयता संयत के होती है। सूत्र नं० ३६८

शंका—संज्वलन क्रोध की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा किसके होती है ? सूत्र नं० ३६६

समाधात—चरम समयवर्ती क्रोध का वेदन करने वाले क्षपक के होती है। सूत्र नं० ४००

शंका—स्त्री वेद की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा किसके होती है ? सूत्र नं० ४०१

समाधान—समयाधिक आवली काल वाले चरम समय वर्ती स्त्री वेद का वेदन करने वाले क्षपक के होती है। सूत्र नं० ४०२ कषाय पाहुड सुत्त पृष्ठ ५१६-५२२

जघन्य प्रदेश उदीरणा के स्वामित्व—

शंका—मिथ्यात्व की जघन्य प्रदेश उदीरणा किसके होती है ? सूत्र नं० ४१४।

समाधान—उत्कृष्ट संक्लेश वाले या ईषन्मध्यम परिणाम वाले संज्ञी मिथ्यादृष्टि के होती है। सूत्र न० ४१४।

शंका—सम्यक्त्व प्रकृति की जघन्य प्रदेश उदीरणा किसके होती है ? सूत्र नं० ४१५

समाधान – (चतुर्थ गुण स्थान के योग्य) सर्वोत्कृष्ट संक्लेश को प्राप्त या ईषन्मध्यम परिणाम वाले मिथ्यात्व के अभिमुख चरम समय वर्ती असंयत सम्यग्दृष्टि के होती है। सूत्र नं० ४१६।

शंका—सम्यग्मिथ्यात्व की जघन्य प्रदेश उदीरणा किसके होती है ? सूत्र० नं० ४१७।

समाधान—तृतीय गुण स्थान के योग्य सर्वोत्कृष्ट संक्लेश को प्राप्त या ईषन्मध्यम परिणाम वाले मिथ्यात्व के अभिमुख चरम समयवर्ती सम्यग्मिथ्यादृष्टि के होती है ? सूत्र नं० ४१७।

शंका—सोलह कषाय और नौ नोकषायों की जघन्य प्रदेश उदीरणा किसके होती हैं ? सूत्र नं० ४१६

समाधान – सोलह कषाय और नौ नोकषायों की जघन्य प्रदेश उदीरणा का स्वामित्व मिथ्यात्व के अभिमुख चरम समयवर्ती सम्यग्मिथ्यादृष्टि के होती है। सूत्र नं० ४२०।

शंका – मिथ्यात्व की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा का कितना काल है ? सूत्र नं० ४२१।

समाधान—जघन्य और उत्कृष्ट काल एक समय है। सूत्र नं० ४२२।

शंका—मिथ्यात्व की अनुत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा का काल कितना है ? सूत्र नं० ४२३।

समाधान—इस विषय में तीन भंग हैं। अनादि अनन्त, अनादिसान्त और सादिसान्त। इसमें से मिथ्यात्व की सादिसान्त अनुत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा का जघन्य काल अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट काल उपार्ध पुद्गल परिवर्तन है। सूत्र नं० ४२४-४२६ कषाय पाहुड सुत्त पृष्ठ ५२२-५२३।

अप्रशस्तोय शामना का स्वरूप—

शंका – अप्रशस्तोय शामना किसे कहते हैं ?

समाधान—कितने ही कर्म परमाणुओं का बाह्य और अन्तरंग कारण के वश से तथा कितने ही कर्म परमाणुओं का उदीरणा के वश से उदय में नहीं आने को अप्रशस्तोपशामना कहते हैं। इसी को देशोपशामना तथा अगुणोपशामना भी कहते हैं। कषाय पाहुड सुत्त पृष्ठ ६४७।

अश्वादिकरण का स्वरूप—

शंका—अश्व कर्ण करण, आदोलकरण, और अपवर्तनोद्वर्तनाकरण किसे कहते हैं ?

समाधान—ये तीनों एकार्थ नाम हैं। अश्व अर्थात् घोड़े के कान के समान जो करण परिणाम क्रम से हीयमान होते हुए चले जाते हैं उन परिणामों को अश्व कर्म करण कहते हैं। आदोल नाम हिंडोला का है। जिस प्रकार हिंडोले का स्तम्भ और रस्सी का अन्तराल में त्रिकोण आकार घोड़े के कान सरीखा दीखता है उसी प्रकार यहाँ पर भी क्रोधादि संज्वलन कषाय के अनुभाग का सन्निवेश भी क्रम में घटता हुआ दीखता है, इसलिए इसे आदोल करण भी कहते हैं। क्रोधादि कषायों का अनुभाग हानि वृद्धि रूप से दिखाई देने के कारण इसको अपवर्तना उद्वर्तना करण भी कहते हैं। कषाय पाहुड सुत्त पृष्ठ ७८७।

अपूर्व स्पर्धक—

शंका—अपूर्व स्पर्धक किसे कहते है ?

समाधान—जिन स्पर्धकों को पहले कभी प्राप्त नहीं किया किन्तु जो क्षपक श्रेणि में ही अश्व करण के काल में होते हैं और जो संसार अवस्था में प्राप्त होने वाले पूर्व स्पर्धकों से अनन्तगुणित हानि के द्वारा क्रमशः हीयमान स्वभाव वाले हैं उन्हें अपूर्व स्पर्धक कहते हैं। कषाय पाहुड सुत्त पृष्ठ ७८६।

उष्ट्रकूट श्रेणि—

शंका—उष्ट्रकूट श्रेणि किसे कहते हैं ?

समाधान—जिस प्रकार ऊंट की पीठ पिछले भाग में पहले ऊंची होती है पुनः मध्य में नीची होती है फिर आगे नीची-ऊंची होती है, उसी प्रकार यहाँ पर भी प्रदेशों का निषेक आदि में बहुत होकर फिर थोड़ा रह जाता है। पुनः संधि विशेषो में अधिक और हीन होता हुआ जाता है इस कारण से यहाँ पर होने वाली प्रदेश श्रेणि की रचना को उष्ट्रकूट श्रेणी कहा है। कषाय पाहुड सुत्त पृष्ठ ८०३।

समय प्रबद्ध शेष और भव बद्ध शेष—

शंका—समय प्रबद्ध शेष और भव बद्ध शेष में क्या अन्तर है ?

समाधान—समय प्रबद्ध शेष में तो एक समय प्रबद्ध के परमाणुओं का ग्रहण किया जाता है। किन्तु भव बद्ध शेष में कम से कम अन्तर्मुहूर्त मात्र एक भव बद्ध समय बद्ध को कर्म परमाणु ग्रहण किया जाता है। ये दोनों में अन्तर है। कषाय पाहुड सुत्त पृष्ठ ८३३।

अभव्य सिद्धिक प्रायोग्य—

जिस स्थान पर भव्य जीव और अभव्य जीवों के स्थिति अनुभाग बन्धादिक के परिणाम सदृश रूप से प्रवृत होता है या एक से रहते हैं उन्हें अभव्य सिद्धिक प्रायोग्य जानना चाहिए। कषाय पाहुड सुत्त पृष्ठ ८३८।

निर्लेपस्थान में दो मत—

कर्म लेप दूर होने के स्थान को निर्लेप स्थान कहते हैं अर्थात् समय में बन्धे हुए कर्म परमाणु बन्धावली के पश्चात् क्रमशः उदय में प्रविष्ट होकर और सान्तर या निरन्तर रूप से अपना फल देते हुए जिस समय में सभी निःशेष रूप से निर्जीर्ण होते हैं, उसे निर्लेप स्थान कहते है। उस निर्लेप स्थान को

संख्या कितनी होती है इस विषय में दो मत है। एक प्रवाह्य मान उपदेश और दूसरा अप्रवाह्यमान उपदेश। प्रवाह्यमान उपदेश के अनुसार निर्लेपन स्थानों का प्रमाण पल्योपम के असंख्यातवें भाग है। किन्तु अप्रवाह्यमान उपदेश के अनुसार निर्लेपन स्थानों की संख्या कर्म स्थिति के असंख्यात बहुभाग प्रमाण है। कषाय पाहुड़ सुत्त पृष्ठ ८३८ चुर्णि सूत्र नं० ६६४- ६६८

परस्थान अल्प बहुत्व स्थान—

शंका – परस्थान किसे कहते है ?

समाधान—बादर, सूक्ष्म, द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रय तथा असंज्ञी व पंचेन्द्रिय जीवों के मध्य में लब्ध्यपर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त, व निर्वृतिपर्याप्त के भेद से भेद को प्राप्त हुए प्रत्येक जीव के जघन्य व उत्कृष्ट भेद से भिन्न उपपाद एकान्तानु वृद्धि एवं परिणाम योग स्थानों का जो अल्प बहुत्व है वह परस्थान अल्पबहुत्व कहलाता है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ ४०६ पुस्तक नम्बर १०

कषायोदय आवली के असंख्यातवें भाग हैं या असंख्यात लोक प्रमाण हैं ? दो मत—

शंका—कषाय पाहुड में उपयोग नाम का अर्थाधिकार है। उनमें कषायोदय स्थान असंख्यात लोक प्रमाण है। उनमें वर्तमान काल में जितने त्रस जीव हैं उतने मात्र पूर्ण हैं ऐसा कषाय पाहुड सूत्र के द्वारा बतलाया गया हैं। इसलिए यह वेदना सूत्र "निरन्तर स्थान जीव प्रमाणगम से जीवों से रहित स्थान एक अथवा दो अथवा तीन इस प्रकार उत्कृष्ट से आवली के असंख्यात भाग तक होते हैं। सूत्र नं० २७०" का अर्थ घटित नहीं होता हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिन भगवान् के मुख से निकले और अविरुद्ध आचार्य परम्परा से आये हुए सूत्र के अप्रमाण होने का विरोध है।

शंका—फिर इन दोनों सूत्रों में अविरोध कैसे होगा ?

समाधान—इसका उत्तर कहते हैं—यहाँ वेदना अधिकार में जीव सहित स्थान यदि निरन्तर होते हैं तो आवली के असंख्यात भाग मात्र हो होते हैं ऐसा कहा गया है। परन्तु कषाय पाहुड में जीव सहित निरन्तर स्थानों के प्रमाण की प्ररूपणा नहीं की गई है। किन्तु वहाँ वर्तमान काल में निरन्तर वा सान्तर विशेषण के बिना जीव सहित स्थानों के प्रमाण की प्ररूपणा की गई है। इसलिए जीव सहित स्थान वहां प्रतर के असख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं। उतने होकर के भी त्रस जीवों के बराबर स्थान त्रस जोवों के सहित वर्तमान काल में होते हैं, क्योंकि, एक-एक उदय स्थान में एक एक त्रस जीवको स्थापित करने पर जीवों सहित स्थान त्रस जीवों के बराबर पाये जाते हैं। यहाँ अनुभाग बन्ध अध्यवसान स्थानों में जीव समुदाहार की प्ररूपणा की गई है परन्तु वहां कषाय पाहुड में कषायोदय स्थानों में प्ररूपणा की गई हैं। अतः उन दोनों समुदाहारों का एक आधार न होने से विरोध बतलाना अनुचित है। इस कारण उन सूत्रों में कोई विरोध नहीं है यह सिद्ध है। धवल ग्रन्थ पृष्ठ २४४-२४५ पुस्तक नं० १२

॥ इति जिनागम संपूर्णम् ॥